❋ श्रीमद् भगवद् गीता ❋

[मूल, अन्वय, शब्दार्थ, भावार्थ तथा अन्य टीकाकारों के मन्तव्य सहित]

भूमिका-लेखक

प्रधान मंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री

भाष्यकार

विद्यामार्तण्ड डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

अखिल-भारतीय-मंगलाप्रसाद-पारितोषिक-विजेता

(भूतपूर्व) संसद्-सदस्य तथा उपकुलपति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

प्राप्ति-स्थान

विजयकृष्ण लखनपाल, 4/24 आसफ़ अली रोड

नई दिल्ली-1

मिलने का पता :-
विजयकृष्ण लखनपाल
४/२४ आसफ़ अली रोड, नई दिल्ली

वितरक :
गोविन्दराम हासानन्द
नई सड़क, दिल्ली-६

राजपाल एण्ड सन्स
कश्मीरी गेट, दिल्ली-६

सार्वदेशिक सभा
रामलीला मैदान, नई दिल्ली-१

द्वितीय संस्करण : १९७८

मूल्य : ४० रुपये
विदेश : ७.५० डालर या ४ पौंड

मुद्रक : न्यू मदन हाफटोन कम्पनी, दिल्ली

भूमिका

(प्रधान-मंत्री श्री लाल बहादुर जी शास्त्री)

'गीता' ऐसा ग्रन्थ है जिस पर अनेक टीकाएँ तथा भाष्य लिखे गये हैं। आज से साढ़े ग्यारह सौ वर्ष पहले केरल-प्रदेश के श्री शंकराचार्य ने, जो दक्षिण-भारत के होते हुए भी संपूर्ण भारत के हो गये थे, इस ग्रन्थ पर विद्वत्तापूर्ण भाष्य लिखा। उसके बाद श्री रामानुजाचार्य तथा श्री मध्वाचार्य ने अपने-अपने दृष्टि-कोण से गीता पर भाष्य लिखे। आधुनिक युग में लोकमान्य तिलक तथा श्री अरविन्द ने गीता के सिद्धान्तों पर विस्तृत शास्त्रीय विवेचना की। महात्मा गांधी ने भी 'अनासक्ति-योग' नाम से गीता को सरल भाषा में लिखा। उनका जीवन तो गीता की शिक्षा का क्रियात्मक प्रत्यक्ष रूप था। गीता के सम्बन्ध में महात्मा जी ने 'यंग इंडिया' में लिखा था : "मुझे भगवद्गीता में एक ऐसी सान्त्वना मिलती है जो मुझे बायबल के 'सर्मन ऑन दी माउंट' तक में नहीं मिलती। जब निराशा मेरे सामने आ खड़ी होती है, जब मैं अपने को बिल्कुल एकाकी अनुभव करता हूँ, जब मुझे प्रकाश की कोई किरण नहीं दिखलाई पड़ती, तब मैं गीता की शरण लेता हूँ, और तब मुझे गीता में कोई-न-कोई ऐसा श्लोक दीख पड़ जाता है जिसे पढ़कर मैं विषम विपत्तियों में भी मुस्कराने लगता हूँ।" श्री शंकराचार्य से महात्मा गांधी तक इस देश के महान् विचारक, समाज-सुधारक, शिक्षक तथा राजनीतिक-चिंतक गीता की शिक्षाओं को जीवन का पथ-प्रदर्शक मानते रहे हैं और यह ग्रन्थ सदियों से विद्वानों का ही नहीं, सर्वसाधारण का भी समान-रूप से मान्य ग्रन्थ रहा है। इतनी दीर्घकालीन परम्परा में इसका स्थान हमारे हृदयों में इतना ऊँचा इसीलिये बन गया है क्योंकि इसमें सार्वभौम सिद्धान्तों का दिग्दर्शन है और उसका मन्तव्य, गहन होते हुए भी, जीवन का स्पष्ट मार्ग-प्रदर्शन करता है।

गीता का 'निष्काम-कर्म' का सिद्धान्त एक ऐसा सिद्धान्त है जिसे पकड़ लेने से जीवन की उलझनभरी समस्याएँ अपने-आप सुलझने लगती हैं। जब मनुष्य कामना का, फलासक्ति का त्याग करके, कर्त्तव्य कर्म में जुट जाता है, तब वह सुख-दुःख के विक्षोभ से ऊपर उठ जाता है। गीता ने मनुष्य की इस मानसिक-स्थिति का बड़े सुन्दर शब्दों में वर्णन करते हुए कहा है :—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥२-३८॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्ठाश्मकांचनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।।
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ।।

—१४-२४, २५।।

सुख-दुःख में, लाभ-हानि में, मान-अपमान में, निन्दा-स्तुति में सम-भाव से रहना, किसी भावावेश में उद्वेलित न होना, अपने को सन्तुलित रखना—गीता की यह ऐसी सीख है जो जीवन की पगडंडियों में भटकते मानव को जीवन के राज-पथ पर डाल देती है। दुःख को भी सुख की कोटि में, हानि को भी लाभ की कोटि में, अपमान को भी मान की कोटि में, निन्दा को भी स्तुति की कोटि में ला बैठालना, इन विरोधी-तत्वों को एक स्तर पर ले आना, इनमें से किसी से भी उद्विग्न न होना —यह एक ऐसा अद्भुत विचार है, जो विश्व की विचार-धारा को गीता की अपूर्व देन कहा जा सकता है। गीता के रचयिता तो विश्व की रचना को अपनी पैनी आध्यात्मिक-दृष्टि से देखते हुए सृष्टि के विधान में, अपना नहीं, उसका हाथ देखते हुए, दुःख में भी सुख लेते प्रतीत होते हैं, हानि, अपमान तथा निन्दा में भी एक तरह का मज़ा लूटते जान पड़ते हैं। इस प्रकार की मनःस्थिति तभी संभव हो सकती है जब जीवन का ढाँचा गीता के निष्काम-कर्म के साँचे में ढला हो। निष्काम-कर्म द्वारा मानसिक सन्तुलन बनाये रखना—यह तथा इसी कोटि के सार्वभौम सिद्धान्तों के कारण गीता जैसा मूल-ग्रन्थ मिलना ही कठिन है, और इसीलिये इन सिद्धान्तों को स्पष्ट करके हृदय के अन्तस्तल में पहुँचा देने के लिये इसके भाष्य की उप-योगिता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। गीता के गूढ़ विचारों को सरल बनाना और उन्हें अधिक-से-अधिक लोगों तक पहुँचाना—यह साहित्य की ही सेवा नहीं है, देश की भी सेवा है।

मैंने प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार का किया हुआ गीता का अनुवाद तथा भाष्य देखा है। वह विवेकपूर्ण है, उसकी भाषा प्रांजल तथा सुन्दर है। इसकी रचना उन्होंने इस प्रकार की है ताकि इससे पंडित-वर्ग तथा सर्व-साधारण जनता दोनों लाभ उठा सकें। मैं उनके इस सफल प्रयास के लिए उन्हें बधाई देता हूँ।

प्रधान मंत्री सचिवालय
नई दिल्ली
११–४–६५

—लाल बहादुर

प्राक्कथन

गीता भारतीय-साहित्य की अमर निधि है। संस्कृत-वाङ्मय के प्रमुख आचार्यों ने अन्य ग्रन्थों के साथ इस ग्रन्थ पर टीका अवश्य लिखी है। गांडीव फेंक कर, युद्ध से पीठ फेर कर खड़े अर्जुन को गीता की ललकार ने युद्ध में सन्नद्ध कर दिया, **'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि'** का गायत्री की तरह जप करते हुए देशभक्तों ने फांसी की रस्सी पर झूल कर हँसते-हँसते प्राणों का उत्सर्ग कर दिया, शंकराचार्य से लेकर आधुनिक युग के तिलक, अरविंद, गांधी, विनोबा ने इस ग्रन्थ का मंथन किया, आज भी घर-घर इसका पाठ होता है, महलों में गीता है, झोंपड़ियों में गीता है, हज़ारों साल पुराने इस ग्रन्थ से देश-विदेश में मानव को जीवन की दिशा निर्धारण करने में प्रेरणा मिलती रही है, मिल रही है, मिलती रहेगी—यही-सब क्या गीता की विचार-धारा को जानने-समझने के लिये हमारे-आपके अन्तःकरण में उत्सुकता उत्पन्न करने के लिये पर्याप्त नहीं है? गीता का सरल हिन्दी में अनुवाद तथा भाष्य हमने अपनी तथा दूसरों की इसी उत्सुक जिज्ञासा की तृप्ति के लिए किया है।

१. गीता का काल

गीता बहुत पुराना ग्रन्थ है। पाश्चात्य-विद्वान् इस का काल ईसा से २००–३०० साल पूर्व का बतलाते हैं। गर्बे का गहना है कि मूल-गीता ईसा से २०० साल पहले लिखी गई थी, इसको वर्तमान रूप ईसा के २०० साल बाद किसी वेदान्ती ने दिया। भारतीय-परंपरा के अनुसार गीता इससे बहुत अधिक प्राचीन-काल की रचना है। गीता के १८ अध्याय महाभारत के भीष्म-पर्व के २३ से ४० तक के अध्याय हैं। महाभारत के रचयिता व्यास हैं, और व्यास के अनुसार गीता के रचयिता श्रीकृष्ण हैं। ऐसी हालत में श्रीकृष्ण का काल ही महाभारत का तथा गीता का काल है। प्रश्न यह है कि श्रीकृष्ण का काल क्या है?

मैगस्थनीज़ एक यूनानी यात्री था। वह भारत आया। उसने 'मथुरा' को 'मैथोरा' लिखा है। इस स्थान का वर्णन करते हुए उसका कहना है कि वहाँ के लोग 'हिरैक्लीज़' की पूजा करते थे। यह 'हिरैक्लीज़' क्या है? भाषा-विज्ञान के अनुसार 'हिरैक्लीज़' अपभ्रंश है—'श्रीकृष्ण' का। वह कैसे? 'श्री' का 'सरी' और 'सरी' का 'सिरै' हो जाना तो साधारण बात है। 'स' को 'ह' हो जाना भाषा-विज्ञान का ही सिद्धान्त है। इस दृष्टि से 'श्री' का 'सिरी', 'सिरी' का 'सिरै', 'सिरै' का 'हिरै' हो गया; 'कृष्ण' का यूनानी भाषा में 'क्लीज़' हो गया। यूनानी भाषा में नाम के अन्त में 'ईज़' लग जाता है—जैसे 'मैगस्थनीज़'। 'श्री कृष्ण' का यूनानी भाषा में 'हिरैक्लीज़' हो गया—'श्री' का 'हिरै' और 'कृष्ण' का 'क्लीज़'। अब प्रश्न यह है कि यूनानियों के अनुसार 'हिरैक्लीज़' का क्या काल है?

मैगस्थनीज़ चन्द्रगुप्त के दरबार में यूनान का राजदूत बन कर आया था। उसका कहना है कि डायोनिसियस से चन्द्रगुप्त तक १५३ पीढ़ियाँ हो चुकी हैं, और डायोनिसियस से १५ पीढ़ी बाद हिरैक्लीज़ हुआ। इसका अर्थ यह हुआ कि चन्द्रगुप्त से १५३–१५=१३८ पीढ़ी पूर्व हिरैक्लीज़, अर्थात श्रीकृष्ण हुए। १३८ पीढ़ियों में कितना समय गुज़रा? ऐतिहासिक लोग प्राचीन वंशों की गणना करते हुए एक पीढ़ी को २० वर्ष का समय देते हैं। इस प्रकार चन्द्रगुप्त से १३८×२०=२,७६०वर्ष पूर्व हिरैक्लीज़ या श्रीकृष्ण हुए। चन्द्रगुप्त का क्या काल है?

चन्द्रगुप्त का काल ईसा से ३१२ वर्ष पूर्व माना जाता है। ऐसी हालत में हिरैक्लीज़ अर्थात् श्रीकृष्ण ईसा से २,७६०+३१२=३,०७२ वर्ष पूर्व हुए। आजकल ईस्वी सन् १९६५ चल रहा है। श्रीकृष्ण ईसा से ३,०७२ वर्ष पूर्व हुए, और ईसा से अब तक १९६५ वर्ष बीत चुके हैं, इसलिए श्रीकृष्ण आज से ३,०७२+१९६५=५,०३७ वर्ष पूर्व हुए। यही गीता का काल है।

गीता महाभारत का ही अंग है। महाभारत के युद्ध के विषय में इस देश की परंपरा भी यही चली आती है कि उस युद्ध को हुए ५,००० वर्ष बीत गये। मैगस्थनीज़ के कथन के आधार पर गीता के जिस काल का हमने उल्लेख किया वह भारतीय परंपरा के भी अनुकूल है।

२. गीता का प्रतिपाद्य विषय

भगवद्गीता पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। एक दृष्टि 'सैद्धान्तिक' या 'पारमार्थिक' (Doctrinal or Metaphysical) है; दूसरी दृष्टि 'नैतिक' या 'व्यावहारिक' (Ethical or Practical) है। सैद्धान्तिक-दृष्टि से गीता में भिन्न-भिन्न, परस्पर-विरोधी सिद्धान्त पाये जाते हैं; नैतिक या व्यावहारिक-दृष्टि से गीता में आधारभूत सिर्फ़ एक विचार—निष्कामता, निस्संगता का विचार—पाया जाता है। हम पहले 'सैद्धान्तिक'-पक्ष पर कुछ लिखेंगे, फिर 'नैतिक' या 'व्यावहारिक'-पक्ष पर प्रकाश डालेंगे।

(क) गीता पर सैद्धान्तिक-दृष्टि से विचार—गीता को पढ़ने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय मुख्य तौर पर 'सांख्य'-'योग'-'वेदान्त'—इन तीन दार्शनिक आधारों को लेकर विचार होता था। गीता में 'सांख्य' और 'योग' शब्दों की इतनी अधिक चर्चा है, और 'वेदान्त'-शब्द की चर्चा का इतना अधिक अभाव है कि गीता का गहन अध्ययन करने वाले के ध्यान में यह बात आये बग़ैर नहीं रह सकती। **'ज्ञानयोगेन सांख्यानाम् कर्मयोगेन योगिनाम्'** (३–३), **'सांख्य-योगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः'** (५–४, ५), **'अन्ये सांख्येन योगेन'** (१३–२५)—इन सब स्थलों में सांख्य तथा योग का सिद्धान्त रूप में वर्णन है। 'वेदान्त'-शब्द का प्रयोग सिर्फ एक स्थल पर पाया जाता है—**'वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्'** (१५–१५), और वेदान्त के 'ब्रह्मसूत्र'—शब्द का प्रयोग भी सिर्फ़ एक जगह मिलता है—**'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव'** (१३–५)। इन दो स्थलों में वेदान्त के सिद्धान्त

के तौर पर नहीं, परन्तु 'वेदान्त' तथा 'ब्रह्मसूत्रों' का ज़िक्र यह बतलाने के लिए किया गया है कि इनमें उसी ब्रह्म का वर्णन है, अन्य-कुछ नहीं। इससे यह स्पष्ट है कि सिद्धान्त की दृष्टि से गीता की अन्तःसाक्षी यह कहती है कि इस ग्रन्थ का मुख्य दार्शनिक आधार सांख्य तथा योग है, वेदान्त—जिसे नवीन वेदान्त कहा जाता है—गीता का मुख्य दार्शनिक आधार नहीं है।

यही कारण है कि सांख्य तथा योग के सिद्धान्त गीता में सर्वत्र पाये जाते हैं। सांख्य के कौन-से सिद्धान्त गीता में पाये जाते हैं? सांख्य के अनुसार सृष्टि की रचना 'प्रकृति' (Matter) तथा 'पुरुष' (Spirit) से हुई। गीता ने प्रकृति को 'क्षेत्र' तथा पुरुष को 'क्षेत्रज्ञ' (१३–१) का नाम दिया है। सांख्य प्रकृति को सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणों वाला मानता है—**'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः'**, गीता में जगह-जगह (७–१२; १४–५) सत्व, रज, तम का वर्णन है। सांख्य के सिद्धान्त के अनुसार जीव अकर्ता है, गीता के अनुसार भी प्रकृति के गुण ही काम करते हैं, जीव काम नहीं करता—**'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते'** (३–२७)। सांख्य के इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए गीता में कहा है: **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'** (१८–६१)—ईश्वर हमारे भीतर बैठा हुआ **'यंत्रवत्'** हमारा संचालन कर रहा है। इस सिद्धान्त का यह अर्थ नहीं है कि हम कुछ नहीं करते, वही सब-कुछ करता है, हम तो मशीन की तरह चल रहे हैं। इसका यह अर्थ है कि हम चाहे जो करें, कर्म करने में तो हम स्वतंत्र हैं, स्वतंत्र तो दीखते ही हैं—इससे कौन इन्कार कर सकता है, परन्तु कर्म का फ़ल तो हमारे हाथ में नहीं, वह तो **'यंत्रवत्'** चल रहा है, उसमें कारण-कार्य का अखंड नियम (Law of Cause and Effect) काम कर रहा है, उसमें कोई दया नहीं, रियायत नहीं। सांख्य के इसी सिद्धान्त को गीता ने **'निमित्तमात्र'**—यह संज्ञा दी है। जीव कर्म करने में स्वतंत्र होता हुआ भी फल भोगने में परतंत्र है, **'यंत्रवत्'** है, कारण-कार्य के नियम के अधीन है। सृष्ट्युत्पत्ति के संबंध में भी गीता ने सांख्य के सिद्धान्त को ही स्वीकर किया है। सांख्य में **'प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारः'**—इस प्रकार सृष्ट्युत्पत्ति का जो वर्णन किया है, गीता (७–४; १३–५, १९) में भी सांख्य के अनुसार ही सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। इस विषय की विशेष चर्चा हमने इस पुस्तक के ४२५ पृष्ठ में की है। कहने का अभिप्राय यह है कि गीता ने सांख्य के सिद्धान्तों को अपने में पचा लिया है।

सांख्य के सिद्धान्तों की तरह गीता में योग के सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी अनेक स्थानों पर पाया जाता है। गीता (१२–९) में कहा है: **'अभ्यासयोगेन'**; छठे अध्याय (१०–१५) में कहा है: **'योगी युञ्जीत सततम्'**—**'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य'**—**'तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा'**—इस सारे प्रकरण में योग के क्रियात्मक पक्ष पर बल दिया गया है, और बार-बार 'योग'-शब्द को दोहराया गया है।

सांख्य तथा योग का गीता में जिस प्रकार जगह-जगह उल्लेख है, वैसे नवीन वेदान्त का नहीं है। इसी प्रकार सांख्य तथा योग के सिद्धान्तों का जिस प्रकार प्रचुरता से गीता में प्रयोग किया गया है, उस प्रकार नवीन वेदान्त के सिद्धान्तों का खुल कर प्रयोग नहीं किया गया। इस सब से स्पष्ट है कि गीताकार का सैद्धान्तिक दृष्टि-कोण नवीन वेदान्त के अनुसार न होकर सांख्य तथा योग के अनुसार है।

परन्तु जैसा हमने पहले कहा, सैद्धान्तिक-दृष्टि से गीता में परस्पर-विरोधी भिन्न-भिन्न सिद्धान्त पाये जाते हैं। गीता में सांख्य का मत दिखलाई पड़ता है, परन्तु सांख्य से भेद भी दिखलाई पड़ता है। सांख्य को अनीश्वरवादी कहा जाता है, परन्तु **ऋषि दयानन्द** सांख्य को अनीश्वरवादी न मानकर ईश्वरवादी[1] मानते हैं, गीता का सांख्य भी अनीश्वरवादी न होकर ईश्वरवादी है। इस दृष्टि से वह योग के अधिक निकट है क्योंकि सांख्य के विषय में टीकाकारों का भले ही मत-भेद हो, योग तो टीकाकारों के मत में भी असन्दिग्ध तौर पर ईश्वरवादी है।

ईश्वरवाद के दो रूप हैं। एक है—'ईश्वरवाद' (Theism); दूसरा है—'ब्रह्मात्मैकत्ववाद' (Pantheism)—नवीन-वेदान्तवाद—शंकर के अनुसार ब्रह्म तथा आत्मा के एकत्व का वाद। 'प्रकृति' तथा 'पुरुष' (जीव)—इन दो के साथ 'ईश्वर' को जोड़ दिया जाय, तो इस प्रकार का 'ईश्वरवाद' (Theism) 'त्रैतवाद' बन जाता है; ब्रह्म की ही एकमात्र सत्ता मानी जाय, प्रकृति तथा पुरुष (जीव) को ब्रह्म का ही रूपांतर माना जाय, तो इस प्रकार का 'ब्रह्मवाद' (Pantheism) 'एकत्ववाद' बन जाता है। जैसा हमने कहा, गीता में सैद्धान्तिक-दृष्टि से भिन्न-भिन्न सिद्धान्त पाये जाते हैं, परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले सिद्धान्त भी पाये जाते हैं। गीता में 'त्रैतवाद' तथा 'ब्रह्मात्मैकत्व-वाद' दोनों पाये जाते हैं।

उदाहरणार्थ, गीता में 'त्रैतवाद' १३वें अध्याय में पाया जाता है। इस अध्याय के २२वें श्लोक में कहा है: **'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्'**—पुरुष, अर्थात् जीव प्रकृति के गुणों का उपभोग करता है। इसका आशय यह है कि पुरुष अर्थात् जीव तथा प्रकृति—ये दो अलग-अलग तत्व हैं। इसी से अगले २३वें श्लोक में कहा है: **'परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः'**—पुरुष, अर्थात् जीव के अतिरिक्त 'परमात्मा' नाम का एक परम पुरुष है। इससे स्पष्ट है कि गीता ने यहां पुरुष, प्रकृति, परमात्मा—इन तीन तत्वों का प्रति-पादन करते हुए 'त्रैतवाद' का समर्थन किया है। गीता के १५वें अध्याय के १६वें श्लोक में कहा है: **'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च'**—इस लोक में क्षर अर्थात् प्रकृति तथा अक्षर अर्थात् जीव—ये दो तत्व हैं। इसी से अगले १७वें श्लोक में कहा है: **'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रय-**

---

१ कई विद्वानों का कहना है कि 'स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता' (३-५६); 'समाधिसुषुप्ति-मोक्षेषु ब्रह्मरूपता' (५.११)—इन सूत्रों में सांख्य ने ईश्वर की सत्ता को माना है।

मानविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः'--इन दोनों के अतिरिक्त 'परमात्मा' या 'ईश्वर' नाम का एक अन्य तत्व है। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि जहाँ प्रचलित टीकाओं के अनुसार सांख्य प्रकृति तथा पुरुष—इन दो तत्वों को मानता है, वहां गीता सांख्य के प्रचलिन दो तत्त्वों से एक कदम आगे जाकर योग की तरह प्रकृति, पुरुष तथा ईश्वर—इन तीन तत्वों को मानती है। संस्कृत ग्रन्थों में सांख्य को निरीश्वरवादी सांख्य और योग को सेश्वरवादी सांख्य कहा जाता है। गीता सेश्वरवादी सांख्य है, और गीता का यह सेश्वरवादी सांख्य प्रकृति, पुरुष तथा ईश्वर---इन तीन तत्वों को मानता है।

इसका यह अर्थ नहीं कि गीता में 'ब्रह्मात्मैकत्ववाद' (Pantheism) या 'नवीन वेदान्त' नहीं है। गीता के दूसरे अध्याय के ७२वें श्लोक में **'ब्रह्मनिर्वाण'**-शब्द आया है; ५वें अध्याय के २४वें श्लोक में कहा है: **'स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति'**—यहां **'ब्रह्मनिर्वाण'** तथा **'ब्रह्मभूत'**-शब्द आये हैं; १७वें अध्याय के १९वें श्लोक में **'वासुदेवः सर्वम्'** कहा है। जीवात्मा का 'ब्रह्म-निर्वाण', उसका 'ब्रह्मभूत' होना, सब-कुछ वासुदेव होना—यह 'ब्रह्मात्मैकत्ववाद' या 'नवीन-वेदान्त' (Pantheism) है।

'त्रैतवाद' तथा 'एकत्ववाद'—इन दो परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों की तरह गीता में 'अवतारवाद' भी पाया जाता है, अवतारवाद का विरोधी वाद भी पाया जाता हैं। **'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्'** (४–७)—इसे अवतारवाद का पोषक कहा जाता है, परन्तु अगर सब वही है—**'वासुदेवः सर्वम्'**—तब अवतार कैसा? ११वें अध्याय में जब श्रीकृष्ण ने अपना **'विश्वरूप'** दिखलाया है, तब अवतारवाद कहाँ रहता है, तब तो वही सब-कुछ है। अवतार तो सब-कुछ से भिन्न, एक निराला व्यक्तित्व है।

इसी तरह गीता में कहीं कर्म को, कहीं भक्ति को, कहीं ज्ञान को सर्व-श्रेष्ठ कहा है। जिज्ञासु संशय में पड़ जाता है कि वह इन तीनों में से किसे अपने लिए सर्वोत्तम माने क्योंकि गीता तो जब कर्म की बात कहती है तब उसे भक्ति तथा ज्ञान से ऊँचे आसन पर बैठा देती है, जब भक्ति तथा ज्ञान की बात कहने लगती है तब इन्हें सर्वोच्च कह जाती है। यह सब विरोधी जँचने लगता है।

गीता के इन सब परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों का क्या समाधान है?

इसका एक समाधान तो यह दिया जाता है कि आज जो गीता उपलब्ध है वह मूल-गीता नहीं है, इसमें समय-समय पर नये श्लोक मिलते रहे हैं, इसीलिए इसमें **'त्रैतवाद'** भी पाया जाता है, **'ब्रह्मात्मैकत्ववाद'** भी पाया जाता है, इसमें **'अवतारवाद'** भी पाया जाता है, **'विश्वरूपवाद'** भी पाया जाता है, इसमें **'कर्मयोग'** भी पाया जाता है, **'भक्तियोग'** तथा **'ज्ञानयोग'** भी पाया जाता है, इसमें **'कर्मकांड'** का खंडन भी पाया जाता है, कर्मकांड के स्थूल रूप **'यज्ञ'** का नया अर्थ करके उसका समर्थन भी पाया जाता है।

इसका दूसरा समाधान यह दिया जाता है कि गीता का सैद्धान्तिक-दृष्टि से किसी विशेष सिद्धान्त पर आग्रह नहीं है। गीताकार के समय जो भी सिद्धान्त प्रचलित थे उन सब का उसने आश्रय लिया है। गीता का मुख्य विषय एकत्व-वाद, द्वित्ववाद, त्रैतवाद, अवतारवाद, विश्वरूपवाद या किसी भी वाद का प्रति-पादन करना नहीं है, गीता में सब वादों का उल्लेख है, परस्पर-विरोधी वादों का भी उल्लेख है, परन्तु गीता उन सब में विरोध देखने के स्थान में उनका समन्वय करने का प्रयत्न करती है, और उन सब की दिशा को मोड़कर अपने मुख्य विषय—'नैतिकता' तथा 'व्यावहारिकता'—की तरफ़ लाने का प्रयत्न करती है। गीता का लक्ष्य किसी पारमार्थिक या पारलौकिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करना नहीं है, उसका मुख्य विषय जीवन की व्यावहारिक-समस्या को, नैतिक समस्या को हल करना है। यह ठीक है कि कई विद्वान्—विशेषकर **श्री अरविंद**—इस बात को नहीं मानते, उनका मत है कि गीता नैतिक या व्यावहारिक समस्याओं को हल करने वाला ग्रन्थ न होकर पारमार्थिक-सत्य को प्रकट करनेवाला ग्रन्थ है, हमने उनका मत पुस्तक में जगह-जगह विस्तार से दिया है, परन्तु हम जो-कुछ लिख रहे हैं यह भी एक ऐसा पक्ष है जिसपर अनेक विद्वान् सहमत हैं।

(ख) गीता पर नैतिक या व्यावहारिक-दृष्टि से विचार—हमने अभी कहा कि गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय पारमार्थिक-समस्याओं का हल करना नहीं, जीवन की व्यावहारिक-समस्याओं को हल करना है। व्यावहारिक-समस्याओं में सब से बड़ी समस्या कर्तव्य तथा अकर्तव्य की है, यह समस्या कि हम क्या करें, क्या न करें, क्या उचित है, क्या अनुचित है। कर्तव्य-अकर्तव्य, उचित-अनुचित की व्यावहारिक-समस्या ही नैतिक कहलाती है। अर्जुन के सम्मुख व्यावहारिक-जगत की यही नैतिक-समस्या उठ खड़ी हुई थी। वह निश्चय ही नहीं कर पा रहा था कि जो स्थिति उसके सम्मुख उपस्थित हो गई है उसमें क्या करे, क्या न करे। गीता का मुख्य-विषय इसी समस्या को हल करना है। इस समस्या का हल करने के लिए श्रीकृष्ण ने जिस नवीन तथा अद्भुत विचार को जन्म दिया उसे उसने **'निष्कामता'**, **'निस्संगता'**, **'फलासक्ति-त्याग'**, **'निमित्तमात्रता'**, **'भगवदर्पणता'** का नाम दिया। इसी विचार को केन्द्र में रख कर गीता ने सब पारमार्थिक-सिद्धान्तों का आश्रय लिया है, भले ही वे एक-दूसरे से विरोधी हों, या विरोधी प्रतीत होते हैं, परन्तु वास्तव में सत्य हों। पारमार्थिक-सिद्धान्तों का आश्रय लेते हुए गीता का किसी भी एक सिद्धान्त पर आग्रह नहीं है, सब पारमार्थिक-सिद्धान्त ठीक भी हो सकते हैं, सब ग़लत भी हो सकते हैं; गीता का आग्रह है तो सिर्फ़ एक बात पर, और वह यह कि तू जो-कुछ कर, निष्काम-भाव से कर, आसक्ति छोड़कर कर, निस्संग-भाव से कर, फल की आशा से मत कर, फिर भले ही पारमार्थिक-दृष्टि से कुछ भी मान कर चल।

संभवतः इसी आशय से गीताकार ने कहा है : **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः'** (४–११)—जो जिस मार्ग

से भी चले, द्वैत से, त्रैत से, अद्वैत से, सगुण से, निर्गुण से, अवतार से, विश्वरूप से, कर्म से, भक्ति से, ज्ञान से—सब पारमार्थिक सिद्धान्तों का परिणाम एक है, यह एक कि सब पारमार्थिक-सिद्धान्तों का प्रवाह उसी एक दिशा की तरफ़ ले जा रहा है, वह एक दिशा कि मानव-जीवन का सार निस्संगता और निष्कामता है, मनुष्य निमित्त-मात्र है, वह अहंकार के नशे में डूबा व्यर्थ ही समझता है कि मैं कर्ता हूँ, वस्तुतः सृष्टि का चक्र मनुष्य नहीं, वह चला रहा है, इसलिए जो-कुछ है वही है, वही है।

गीता का सार यही है, गीता के एक-एक शब्द, उसकी एक-एक पंक्ति से यही ध्वनि निकलती है। **'निष्कामता'**—यह एक ऐसा नवीन तथा अद्भुत विचार है कि सदियाँ बीत जाने पर भी इस विचार की नवीनता आज भी वैसी ही बनी हुई है जैसे पाँच हज़ार साल पहले थी। इसी अद्भुत विचार के कारण गीता विश्व-साहित्य का मूर्धन्य तथा अमर ग्रन्थ बना हुआ है।

गीता पर श्री शंकराचार्य, श्री मध्वाचार्य, लोकमान्य तिलक, श्री अरविंद, महात्मा गांधी, आचार्य विनोबा भावे, श्री सातवलेकर के सार-गर्भित ग्रन्थ हैं। हमने अपने इस हिन्दी-भाष्य में अपने विचारों के साथ-साथ इन सब विद्वानों के विचार दिये हैं, ताकि पाठक सब के विचारों को जानें, और जहाँ तक संभव हो, सब के विचारों को जानकर अपना स्वतंत्र विचार कर सकें।

३. हमारे भाष्य की विशेषताएँ

वैसे तो गीता की अनेक टीकाएँ हैं, इसके अनेक भाष्य हैं, फिर इस ग्रन्थ की क्या आवश्यकता हुई? हमारे भाष्य की निम्न विशेषताएँ हैं:

(क) जन-तंत्र के इस युग में इस भाष्य को संस्कृत-प्रधान रखने के स्थान में हिन्दी-प्रधान बना दिया गया है। ऊपर मोटे-मोटे अक्षरों में गीता का धारा-वाही हिन्दी में सिलसिलेवार अनुवाद दिया गया है जो संस्कृत-भाग को पढ़े बिना भाव को स्पष्ट कर देता है। इस दृष्टि से यह जनता के लिये लिखी गई पुस्तक है।

(ख) इस अनुवाद तथा भाष्य की दूसरी विशेषता यह है कि यद्यपि इसमें संस्कृत का मूल भाग हिन्दी-अनुवाद के नीचे दिया गया है, यद्यपि इसे जन-साधारण की पुस्तक का रूप दिया गया है, तथापि संस्कृत के पंडितों के लिए, या जो गीता के श्लोक पढ़ना चाहें, उनके लिए, श्लोक देकर, प्रत्येक श्लोक का पदच्छेद दिया गया है, प्रत्येक पद का अर्थ हिन्दी में दिया गया है, प्रत्येक पद के ऊपर अंक दिये गये हैं ताकि उन अंकों के आधार पर श्लोक का अन्वय किया जा सके। इससे जहाँ गीता का भाव स्पष्ट होता है वहां संस्कृत न जाननेवाले गीता का अध्ययन करने के साथ-साथ संस्कृत भाषा का भी ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से हमने जो-कुछ कहना था वह हिन्दी-भाग में दिया गया है, संस्कृत-भाग में नहीं; शास्त्रीय-विवेचन की दृष्टि से हमने जो-कुछ कहना था वह संस्कृत-भाग में दिया गया है, हिन्दी-भाग में नहीं।

(ग) इस अनुवाद की तीसरी विशेषता यह है कि प्रत्येक अध्याय के अन्त में उपसंहार देते हुए उस अध्याय के संबंध में गीता के मुख्य-मुख्य टीकाकारों ने जो विशेष विचार व्यक्त किये हैं उनका सरल भाषा में प्रतिपादन कर दिया गया है। गीता पर शंकराचार्य, मध्वाचार्य, रामानुजाचार्य की प्राचीन टीकाओं के अतिरिक्त लोकमान्य तिलक, श्री अरविंद, आचार्य विनोबा तथा पं० सातवलेकर की अर्वाचीन टीकाएँ हैं। इन सब के विचारों को बिना टीका-टिप्पणी के हमने यथास्थान दे दिया है। जहाँ-जहाँ आवश्यकता अनुभव हुई हमने अपने विचार भी व्यक्त किये हैं।

(घ) इस अनुवाद तथा भाष्य को आदरणीय प्रधान मंत्री श्री लालबहादुर जी शास्त्री ने देखा, इसे सराहा, और अपने व्यस्त कार्य-क्रम में से समय निकाल कर इसकी भूमिका लिख कर हमें सम्मानित किया, इसके लिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं। उनका सम्पूर्ण जीवन गीता के निष्काम-कर्म का साकार भाष्य है, इसलिए उनसे उत्तम इस ग्रन्थ की भूमिका किससे लिखवाई जाती।

४. धन्यवाद

यह पुस्तक का नवीन संस्करण है। इसके प्रकाशन में मेरे चिर-मित्र श्री रामकुमार जी भुवालका, श्री बी० पी० खेतान, श्री एल० एन० बिड़ला, चौ० प्रतापसिंह, श्री यशराज पटेल, श्री सत्यदेव जी भारद्वाज, रायबहादुर बिस्सेसरलाल मोतीलाल हलवासिया ट्रस्ट एवं रघुमल चैरिटी ट्रस्ट से जो सहयोग प्राप्त हुआ है उसके लिए उनका धन्यवाद है।

W-77 A, ग्रेटर कैलाश (१), नई दिल्ली-४८ — **सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार**

श्री जयप्रकाश नारायण तथा यह गीता-भाष्य

अपनी **'जेल डायरी'** में श्री जयप्रकाश जी लिखते हैं: "सत्यव्रत जी का गीता-टीका-ग्रन्थ कल (१५ अक्तूबर, १९७५) समाप्त किया। यह टीका मुझे बड़ी अच्छी लगी। सरल और युक्ति-संगत। स्थान-स्थान पर श्री अरविन्द, लोकमान्य तिलक, सन्त विनोबा, डॉ० राधाकृष्णन आदि के भाष्यों का भी उल्लेख किया है।

सत्यव्रत जी गीता के १८ अध्यायों को तीन भागों में बाँटते हैं। पहले भाग में प्रारंभिक ६ अध्याय कर्मयोग-विषयक, बीच के ६ अध्याय भक्ति-विषयक, अन्त के ६ अध्याय ज्ञान-विषयक—इस प्रकार तीन भाग किये हैं। परन्तु उनका कहना है कि ये तीनों योग या मार्ग एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं। केवल इतना है कि प्रत्येक भाग में इन तीनों योगों में से एक पर अधिक बल दिया है. परन्तु बाकी दो योग भी शेष में मिले हुए हैं।"

—*Extract from* Jayaprakash Narayan's Prison Diary

विषय सूची

चौथा अध्याय

पाँचवाँ अध्याय

छठा अध्याय

सातवाँ अध्याय

आठवाँ अध्याय

नौवां अध्याय

दसवां अध्याय

ग्यारहवां अध्याय

बारहवां अध्याय

तेरहवाँ अध्याय

चौदहवाँ अध्याय

पन्द्रहवाँ अध्याय

सोलहवाँ अध्याय

सत्रहवाँ अध्याय

अठारहवाँ अध्याय

डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार की रचनाएँ

1.	धारावाही हिन्दी में सचित्र एकादशोपनिषद् (मूल-सहित) दो भागों में—भूमिका : राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन	
2.	धारावाही हिन्दी में गीता-भाष्य (मूल-सहित) भूमिका : प्रधान मन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री	
3.	वैदिक-संस्कृति के मूल-तत्व	6.00
4.	ब्रह्मचर्य-सन्देश	7.00
5.	वैदिक-विचारधारा का वैज्ञानिक आधार [गंगाप्रसाद उपाध्याय पारितोषिक-प्राप्त-ग्रन्थ	20.00
6.	संस्कार-चन्द्रिका [संस्कार-विधि की वैज्ञानिक व्याख्या]	45.00
7.	Heritage of Vedic Culture	39.00
8.	Confidential Talks to Youngmen	3.00
9.	बुढ़ापे से जवानी की ओर	25.00
10.	सामाजिक मानव-शास्त्र	15.00
11.	समाजशास्त्र के मूल-तत्व [मंगलाप्रसाद-पारितोषिक-प्राप्त-ग्रन्थ]	15.00
12.	सामाजिक विचारों का इतिहास	12.50
13.	समाज-कल्याण तथा सुरक्षा	9.00
14.	भारत की जन-जातियां तथा संस्थाएं	12.50
15.	प्रारंभिक समाज-शास्त्र	3.00
16.	भारतीय सामाजिक संगठन	3.00
17.	समाज-शास्त्र तथा बाल-कल्याण	6.00
18.	शिक्षा-शास्त्र	4.00
19.	होम्योपैथिक औषधियों का सजीव-चित्रण [अपने विषय का सर्वोत्तम ग्रन्थ घोषित तथा पुरस्कृत]	40.00
20.	रोग तथा उनकी होम्योपैथिक चिकित्सा [राष्ट्रपति वी० वी० गिरि द्वारा विमोचित]	50.00
21.	बायोकैमिस्ट्री की औषधियों का तुलनात्मक चार्ट	5.00
22.	Scientific Basis of Vedic Thought (प्रेस में)	

श्रीमद्भगवद्गीता

पहला अध्याय

अर्जुन-विषाद-योग

१. गीता की आध्यात्मिक पृष्ठ-भूमि

प्राचीन आध्यात्मिक-साहित्य में 'प्रस्थान-त्रयी'-शब्द प्रसिद्ध है। 'प्रस्थान-त्रयी' इस देश के सर्वोच्च आध्यात्मिक-साहित्य का नाम है। 'प्रस्थान' का अर्थ है—जीवन की यात्रा में प्रस्थान, किसी उद्देश्य के लिए चल पड़ना, निरुद्देश्य न भटकते रहना। इस प्रकार के जीवन की दिशा का निर्धारण करने वाले संस्कृत-साहित्य में तीन ग्रंथ हैं—उपनिषद्, गीता तथा वेदान्त दर्शन। ये तीनों संस्कृत के अमर साहित्य हैं, इन तीनों का लक्ष्य मानव-जीवन को सोद्देश्य बना देना है। हम उपनिषदों का हिन्दी-भाष्य लिख चुके हैं, यह हिन्दी-भाष्य 'प्रस्थान-त्रयी' के द्वितीय अंग 'गीता' का है।

'गीता' महाभारत के भीष्म-पर्व का एक भाग है। भीष्म-पर्व में २५ से ४२ तक जो १८ अध्याय हैं वे ही 'गीता' कहलाते हैं। महाभारत के रचयिता वेदव्यास हैं, इसलिए 'गीता' के रचयिता भी वेद-व्यास ही हैं।

'गीता' उपनिषदों का सार है। गीता-ध्यान में इस ग्रन्थ के विषय में लिखा है :

"सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥"

सब उपनिषद् मानो गौएँ हैं; ग्वालों का प्यारा श्रीकृष्ण मानो इन गौओं का दूध दूहने वाला ग्वाला है; अर्जुन मानो इन गौओं को पौसाने वाला बछड़ा है; गौओं के पौस आने पर उस रस का भोगने वाला हर-एक जिज्ञासु है; यह जिज्ञासु जिस अमृत का पान करता है वह गीता-गोमाता का महान् ज्ञानामृतरूपी दूध है।

उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि गीता ज्ञानामृत अर्जुन के लिए ही नहीं है, इसकी धारा अमरत्व के हर-एक पिपासु के लिए बह रही है। जो भी इस अमृत का पान करे वही अर्जुन है।

'कुरुक्षेत्र' में कौरवों-पांडवों का घमासान युद्ध हुआ। कुरुक्षेत्र का अर्थ है—'कुरु' का 'क्षेत्र'। 'कुरु'-शब्द 'कृञ् करणे' धातु से बना है, 'कुरु' अर्थात् 'कर', हाथ-पर-हाथ धर कर बैठने के स्थान में 'कर्म करने का क्षेत्र'—'कुरुक्षेत्र' है। कुरुक्षेत्र के विषय में पौराणिक आख्यान यह प्रसिद्ध है कि यहाँ पहले कभी बड़ा भारी जंगल था, 'कुरु' ने इस जंगल को साफ़ किया, हल चलाना शुरू किया और इस क्षेत्र को अपने कर्म, साहस तथा बल से हरा-भरा किया। इसलिए कुरु-क्षेत्र जहाँ कुरु के खेतों का नाम है वहाँ मेहनत करने वाले, कर्म करने वाले व्यक्ति की 'कर्म-भूमि' भी है। जीवन के 'कुरु-क्षेत्र' में जो 'कर्म-क्षेत्र' का ही दूसरा नाम है, दुर्योधन के १०० भाई एक तरफ़ हैं, युधिष्ठिर के ५ भाई दूसरी तरफ़ हैं। सौ और पाँच का क्या अर्थ है ? जीवन में आसुरी प्रवृत्तियाँ सैकड़ों हैं, दैवीय प्रवृत्तियों का साधन तो केवल पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ही हैं। पाँच का मुकाबिला सौ से रहता है, इनमें घमासान युद्ध छिड़ा रहता है, है इन सभी की जड़ एक ही जगह, ऐसा है जीवन का यह 'कुरु-क्षेत्र'। ये पाँच और ये सौ—दोनों का वंश एक ही है, व्यक्ति की मानस-रूपी कर्म-भूमि ही कौरव-वंश है जिसकी दो शाखाएं आपस में संघर्ष कर रही हैं। इस संघर्ष में सैकड़ों आसुरी प्रवृत्तियाँ घोर संग्राम करती हैं, दुर्धर्ष आक्रमण करती हैं, इन्हें जीतना दुष्कर है—यही आध्यात्मिक अर्थ है 'दुर्योधन' का—'दुः' अर्थात् बुरी तरह, 'योधन' अर्थात् युद्ध करने वाला। इन आसुरी प्रवृत्तियों के मुकाबिले में दैवी प्रवृत्तियाँ तभी टिक सकती हैं जब वे इन आक्रमणों का डटकर मुकाबिला करें—यही अर्थ है 'युधिष्ठिर' का—'युधि' अर्थात् देवासुरों के इस संग्राम में जो 'स्थिर' रहे, डटा रहे, पीठ न दिखाये वह 'युधिष्ठिर'। आपस में लड़-मरने वाले इस वंश का बड़ेरा 'धृतराष्ट्र' है, वह अन्धा है। 'धृतराष्ट्र' का अर्थ है—राष्ट्र को धृत करने वाला, टिकाये रखने वाला। राजा का काम राष्ट्र को टिकाये रखना है, इसीलिए इस राष्ट्र के नायक का नाम 'धृतराष्ट्र' है। परन्तु अगर राष्ट्र को टिकाने वाला अन्धा हो, सही-गलत में भेद न कर सकता हो, तो उसके सामने ही राष्ट्र नष्ट हो जाता है। 'धृतराष्ट्र' अन्धा था। किस बात में अन्धा था ? दुर्योधन जो-कुछ अनर्थ करता था, पुत्र-मोह के कारण उसे वह अनर्थ नहीं दीखता था। होगा वह आँखों से अन्धा, परन्तु दुर्योधन की करतूतों को जानता हुआ भी वह उन्हें नहीं जानता था, राष्ट्र को नष्ट होते देखता हुआ भी कुछ नहीं देखता था, इसलिए भी वह अन्धा था। हम जीवन रूपी अपने राष्ट्र को तभी टिकाये रख सकते हैं, सही मानों में 'धृतराष्ट्र' तभी कहला सकते हैं जब हम आँखें खोल कर चलें, अन्धे होकर न चलें। आसुरी प्रवृत्तियों में हम ऐसे फँसे रहते हैं कि सुजाखे होते हुए भी अन्धों के समान हैं, ठीक ऐसे जैसे धृतराष्ट्र अपने पुत्र दुर्योधन के पापाचरणों को जानता हुआ भी नहीं जानता था, दुष्टताओं को देखता हुआ भी नहीं देखता था। 'दुर्योधन', 'युधिष्ठिर', 'धृतराष्ट्र', 'कुरु-क्षेत्र'—ये शब्द निरर्थक नहीं हैं। 'दुर्योधन' तथा 'युधिष्ठिर' नामों में 'युद्ध'-शब्द, 'धृतराष्ट्र' नाम में 'राष्ट्र'-शब्द और साथ

ही धृत-राष्ट्र का अन्धा होना, 'कुरु-क्षेत्र' में 'कुरु' अर्थात् 'कर्म' करने का अभिप्राय निहित होना, और 'कुरु-क्षेत्र' को गीता में 'धर्म-क्षेत्र' कहना—यह सब अर्थपूर्ण है। जीवन की कर्म-भूमि में जो धर्म-अधर्म की, उचित-अनुचित की लड़ाई होती है, इस कुरु-क्षेत्र अर्थात् धर्म-क्षेत्र में सैकड़ों असुरों तथा पाँच देवों का युद्ध धर्म-अधर्म का, उचित-अनुचित का, कर्तव्य-अकर्तव्य का युद्ध है। यह जीवन-रूपी राष्ट्र इस युद्ध के संहारकारी परिणामों से तभी बच सकता है जब इस राष्ट्र का धारण करने वाला अन्धा न हो। आसुरी प्रवृत्तियों के माया-जाल में फँसकर उचित-अनुचित को भूलने न लगे, कुरु-क्षेत्र को धर्म-क्षेत्र समझे, ममता-क्षेत्र न समझे।

इस आध्यात्मिक पृष्ठ-भूमि में प्रत्येक व्यक्ति कर्म-मय जीवन को कुरु-क्षेत्र की रण-भूमि समझता हुआ, सौ के मुकाबिले में पाँच वीरों के सहारे इस घनघोर संग्राम में तभी सफल हो सकता है अगर वह गीता की दृष्टि से पग पर पग बढ़ाता चला जाय। गीता की दृष्टि क्या है—यह हम ज्यों-ज्यों गीता का पारायण करेंगे त्यों-त्यों उसे समझते जायेंगे। एक शब्द में गीता की दृष्टि है—'निष्काम-कर्म', परन्तु 'निष्काम-कर्म' को समझाने का यह स्थल नहीं है। 'निष्काम-कर्म' क्या है—यह तो गीता के अध्ययन से स्पष्ट होगा। गीता के 'निष्काम-कर्म' की इसी आध्यात्मिक-दृष्टि को प्रत्येक के हृदय में उतारने के लिए महर्षि वेदव्यास ने कौरव-पांडवों के युद्ध का सहारा लिया है। गूढ़ रहस्य की बातें कह देने भर से हृदय में नहीं उतरतीं। उन्हें किसी उपाख्यान के साथ बाँध देने से सरल-बुद्धि के लोग भी बहुत-कुछ समझ जाते हैं। ऋषियों-मुनियों का आध्यात्मिक-रहस्यों को समझाने का यही तरीका था। उपनिषदों में भी उपाख्यानों के सहारे ही आध्यात्मिक-रहस्यों की गुत्थियाँ खोली गई हैं।

कुरु-क्षेत्र, धर्म-क्षेत्र, दुर्योधन, युधिष्ठिर, धृतराष्ट्र आदि शब्दों में आध्यात्मिक अर्थ छिपा है—इसका यह अभिप्राय नहीं कि महाभारत का युद्ध कल्पित है, कौरव-पांडव हुए ही नहीं, सब-कुछ आध्यात्मिक उपाख्यान है। महाभारत का युद्ध हुआ, कौरव-पांडव हुए, दुर्योधन-युधिष्ठिर-धृतराष्ट्र भी हुए, परन्तु क्योंकि हुए, और क्योंकि उन्हें सब-कोई जानते थे, इसीलिए तो उपाख्यान में उनके नामों का सहारा लिया गया। वे सब कल्पित थे, तो कल्पित बात के सहारे कोई गूढ़ रहस्य थोड़े ही समझाया जाता है। समझाया तो उसी घटना से जाता है जिसे समझनेवाला जानता-बूझता हो, कल्पित रूप में न जानकर सत्य रूप में जानता हो।

तो वह उपाख्यान क्या था जिसके साथ गीता का गूढ़ आध्यात्मिक-रहस्य इस तरह बाँध दिया गया जिससे साधारण बुद्धि के लोग भी कठिन को सरल समझने लगें?

बहुत दूर से इस उपाख्यान को पकड़ने की कोई आवश्यकता नहीं। जहाँ से 'गीता' का सूत्र बँधा-सा दीखता है वहीं से इस उपाख्यान को प्रारंभ करना पर्याप्त है।

२. महाभारत का गीता से संबद्ध उपाख्यान

कहते हैं, इस देश में किसी समय दुष्यन्त नाम का एक राजा राज करता था। उसने कण्व-ऋषि की पालिता कन्या शकुन्तला से विवाह किया। इनका पुत्र भरत हुआ। भरत इस देश का बड़ा प्रतापी राजा था, इससे उसके नाम पर इस देश को भारत कहा जाने लगा। भरत के वंश में अनेक राजा हुए जिनमें से आगे चल कर एक का नाम कुरु था। कुरु के कारण जो राज-वंश चला वह कौरव कहलाया। कौरव वंश के इन राजाओं में सदियाँ बीत जाने पर एक राजा हुआ जिसका नाम शान्तनु था। शान्तनु की रानी का नाम गंगा था जिससे उसका पुत्र हुआ वेदव्रत। एक बार शान्तनु विहार के लिए निकले तो निषाद-राज की कन्या सत्यवती पर मोहित हो गए। उन्होंने सत्यवती से विवाह करना चाहा, परन्तु निषादराज ने यह शर्त रखी कि विवाह तभी हो सकेगा अगर वेदव्रत को राजगद्दी न मिलकर सत्यवती के पुत्रों को गद्दी मिले। वेदव्रत को जब इस बात का पता चला, उसने प्रतिज्ञा की कि वह राज्य के अपने अधिकार को छोड़ता है। इसके साथ ही उसने प्रतिज्ञा की कि वह विवाह भी नहीं करेगा ताकि उसका कोई पुत्र ही न हो, जो राज्य करने के अधिकार की बात कर सके। यह भीषण प्रतिज्ञा थी, इसलिए वेदव्रत का नाम भीष्म पड़ा। शान्तनु ने निषादराज की कन्या सत्यवती से विवाह किया जिससे उसके दो पुत्र हुए––चित्रांगद तथा विचित्र-वीर्य। चित्रांगद लड़ाई में मारा गया, विचित्रवीर्य राजा बना। विचित्रवीर्य की दो पत्नियाँ थीं––अम्बिका तथा अम्बालिका। विचित्रवीर्य अत्यन्त विषयी था, उसे जवानी में ही क्षय हो गया और वह मर गया।

अम्बिका के पुत्र का नाम धृतराष्ट्र था, अम्बालिका के पुत्र का नाम पांडु था। धृतराष्ट्र तथा पांडु के पिता विचित्रवीर्य का देहान्त हो चुका था। इसलिए भीष्म जो विचित्रवीर्य के सौतेले भाई थे, धृतराष्ट्र तथा पांडु की शिक्षा-दीक्षा, विवाह आदि का प्रबन्ध करते रहे। भीष्म ने धृतराष्ट्र का विवाह गान्धारराज सुबल की पुत्री गांधारी से और पांडु का विवाह कुंतिभोज की धर्मपुत्री पृथा अथवा कुंती से करवा दिया। धृतराष्ट्र जन्म का अन्धा था इसलिए वह राज्य का अधिकारी नहीं था, पांडु को राज्य का अधिकारी माना गया। किसी ग़लती से पांडु ने एक ब्राह्मण की हत्या कर दी जिसका प्रायश्चित्त करने वह तपश्चर्या के लिए घर छोड़कर वनों को निकल गया, धृतराष्ट्र अन्धा होते हुए भी राज-काज करने लगा।

धृतराष्ट्र के १०० पुत्र थे जिनके नाम दुर्योधन, दुःशासन, दुस्सह, दुश्शल, दुर्द्धर्ष, दुष्प्रकर्षण, दुर्मर्षण, दुर्मुख, दुष्कर्ण, दुर्विमोचन आदि थे; पांडु के पाँच पुत्र थे जिनके नाम युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल तथा सहदेव थे। ये सभी 'कुरु'-वंश के होने के कारण कौरव थे, परन्तु मुख्य तौर पर दुर्योधन आदि ही 'कौरव' कहे जाते हैं, युधिष्ठिर आदि पांडु के पुत्र होने के कारण 'पांडव' तथा

'पृथा' अर्थात् कुंती की सन्तान होने के कारण 'पार्थ' कहलाते हैं। वैसे युधिष्ठिर तथा दुर्योधन मूल रूप से दोनों 'कौरव' वंश के थे।

महाभारत का युद्ध एक ही वंश के, एक ही घर के लोगों की लड़ाई है, तभी इस उपाख्यान का सहारा लेकर व्यक्ति के मानस में हो रहे अपनी ही वृत्तियों के संघर्ष का महर्षि वेदव्यास ने चित्रण किया है।

युधिष्ठिर सारे परिवार में बड़ा था इसलिए वह राज्य का अधिकारी था, परन्तु दुर्योधन इस बात को सहन नहीं कर सकता था। मनुष्य का मानस भी तो धर्म की वृत्ति के लिए बना है, परन्तु दुर्भावनाएँ इन धार्मिक प्रवृत्तियों को सहती कब हैं? महाभारत का युद्ध तो पीछे हुआ, व्यक्ति के मानस में भी वह युद्ध तो पीछे होता है जिसमें इस तरफ़ या उस तरफ़ का अन्तिम फ़ैसला हो जाता है, वह व्यक्ति के मानस का महाभारत होता है, परन्तु छोटा-मोटा महाभारत तो कौरवों-पांडवों में बाल्य-काल से ही प्रारंभ हो गया, ठीक ऐसे जैसे व्यक्ति के मानस में छोटे-मोटे आन्तरिक संघर्ष तो हर समय चलते रहते हैं। दुर्योधन ने एक बार जल-विहार के बहाने अपने सब भाइयों को निमन्त्रित किया और पिकनिक के समय भीम को विष मिला भोजन देकर पानी में बहा दिया। भीम किसी तरह बच गया, परन्तु इस घटना से दोनों कुलों में द्वेष का बीज जड़ पकड़ गया।

पांडु था नहीं, धृतराष्ट्र अन्धा था, इसलिए कौरवों-पांडवों की शिक्षा-दीक्षा का भार भीष्म पर था, पिता न हो, पितामह हो, तो उस पर परिवार का बोझ आ पड़ता है। भीष्म कौरवों-पांडवों को शस्त्रास्त्र की विद्या देने के उत्सुक रहते थे, क्षत्रिय शस्त्रास्त्र में निपुण नहीं तो वह क्षत्रिय ही नहीं। उन्होंने द्रोणाचार्य को इन सब का शिक्षक नियत किया। शिक्षा समाप्त होने पर एक दिन द्रोणाचार्य ने सब बुज़ुर्गों को राजकुमारों की अस्त्र-विद्या के कौशल दिखाने के लिए निमन्त्रित किया। इस समय भीम तथा दुर्योधन अपना हुनर दिखलाने के लिए रंगभूमि में उतरे। इन दोनों में जो आन्तरिक वैमनस्य था उसके कारण वे इसे खेल न समझ कर जानी दुश्मनों की तरह एक-दूसरे पर वार करने लगे। द्रोणाचार्य ने बीच में पड़कर स्थिति को संभाला, और अर्जुन को अपने कर्तब दिखलाने के लिए रंगभूमि में पुकारा। अर्जुन की बाण-विद्या में निपुणता को देखकर जब चारों तरफ़ से हर्षनाद होने लगा तब अर्जुन को ललकारता हुआ कर्ण रंगभूमि की तरफ़ बढ़ा। चारों तरफ़ हलचल मच गई। स्थिति को देखकर नीति-निपुण द्रोणाचार्य ने आगे बढ़कर कहा: "कर्ण! अर्जुन राजघराने का राजकुमार है, तुम भी अपने माँ-बाप का परिचय दो, तभी तुम दोनों का मुकाबिला हो सकता है, जिसके विषय में कुछ ज्ञात ही नहीं, उसे रंगभूमि में कैसे उतारा जा सकता है?" कर्ण क्योंकि अपने को सूत-पुत्र समझता था इसलिए उसका सिर लज्जा से झुक गया। इस पर दुर्योधन चिल्ला उठा: "यदि अर्जुन कर्ण के साथ इसलिए नहीं लड़ना चाहते क्योंकि वह राजा नहीं है तो मैं कर्ण को इसी समय अंग देश का राज्य देता हूँ।" इन सब घटनाओं से कौरव-पांडवों का दिनोंदिन बढ़ता हुआ पारस्परिक वैमनस्य

और अधिक प्रचण्ड हो उठा। मानव के मानस में भी तो संघर्ष की प्रत्येक घटना अगले संघर्ष को उग्र बना देने का काम करती है।

इस समय युधिष्ठिर-दुर्योधन आदि बड़े होते जा रहे थे। राजसिंहासन पर कौन बैठे—यह चर्चा चल पड़ी थी। युधिष्ठिर सबसे बड़ा था इसलिए जनता उसी को चाहती थी। दुर्योधन इन सबको कैसे सहन कर सकता था? जब भी उत्तराधिकारी का प्रश्न उठता है तब हर-जगह दुर्योधन पैदा हो जाते हैं, अपने प्रतिद्वन्द्वी के नाश के षड्यन्त्र रचने लगते हैं। उन दिनों वारणावत में एक मेला हो रहा था। दुर्योधन ने धृतराष्ट्र को समझा-बुझा कर पांडवों को वारणावत भेजने का षड्यन्त्र रचा। धृतराष्ट्र का कर्तव्य यद्यपि राष्ट्र के सूत्र का संचालन करते हुए अपने तथा पांडु-पुत्रों के साथ एक-समान वर्ताव करना था, तो भी आँखों से अन्धा होने के साथ-साथ दुर्योधन के प्रति मोह में भी अन्धा था। वह जानता था कि पांडवों को वारणावत क्यों भेजा जा रहा है, परन्तु इस बात में उसने दुर्योधन का साथ दिया। दुर्योधन ने वहाँ एक लाक्षा-गृह बनवाया जहाँ मेला देखने के लिए पांडव जाकर टिके। पांडवों को एक गुप्तचर से यह पता चल गया कि यह गृह लाख का बना है, इसमें कभी भी आग लगाई जा सकती है। दुर्योधन का कोई दूत आग लगाये, इसके स्थान में भीम ने ही रात को उसमें आग लगा दी और पाँचों भाई सही-सलामत सुरंग से भाग निकले। दुर्योधन ने समझा कि पांडव भस्म हो गये, उसने उनकी अन्त्येष्टि-क्रिया कर दी। व्यक्ति के मानस में भी ऐसे समय अनेक बार आते हैं जब आसुरी-वृत्तियाँ समझती हैं कि उन्होंने दैवीय-वृत्तियों को भस्म कर दिया है, परन्तु मनुष्य के हृदय के किसी-न-किसी कोने में दैवीय वृत्तियाँ सजीव छिपी बैठी होती हैं जो समय आने पर प्राणवान् होकर व्यक्ति के दिव्य-भाव को चमका देती हैं।

इधर पांडव जंगल-जंगल भटकते रहे। उन्होंने ब्राह्मणों का वेश धारण कर लिया और दुर्योधन की जालसाजियों से बचने के लिए अपने को छिपाये रहे। इन्हीं दिनों उन्होंने पांचाल देश (आगरा-ग्वालियर) के राजा द्रुपद की पुत्री द्रौपदी के स्वयंवर की चर्चा सुनी। कौतूहलवश ब्राह्मण-वेश में वे लोग भी वहाँ पहुँचे। स्वयंवर की शर्त बड़ी विकट थी। आसमान में एक चक्र घूम रहा था जिसमें एक मछली टाँग दी गई थी। नीचे पानी का एक तालाब था। शर्त यह थी कि घूमते चक्र में टँगी मछली की उस तालाब में छाया देखकर जो योद्धा मछली की आँख को एक बार में बींध देगा उसी के गले में द्रौपदी वरमाला डालेगी। सैकड़ों योद्धाओं में कोई इस बात में सफल न हुआ। तब एक ब्राह्मण-युवक उठा, लोग हँसने लगे, परन्तु वह गंभीरता से कदम बढ़ाता हुआ परीक्षा-स्थल पर पहुँचा। एक ही तीर में उसने मछली की आँख को बींध दिया। पांडवों के साथ द्रौपदी का विवाह हो गया, परन्तु इस विवाह का परिणाम यह हुआ कि पांडव छिपे न रह सके, सबको मालूम हो गया कि पांडव मरे नहीं, जीवित हैं। दुर्योधन के हृदय की बुझी आग फिर भभक उठी और वह बेचैन हो गया।

दुर्योधन ने धृतराष्ट्र के पास जा कर यह माँग की कि हम लोगों का बँटवारा कर दिया जाय। धृतराष्ट्र ने पांडवों को बुलाकर कहा कि तुम लोग अलग-अलग रहो तो एक-दूसरे के वैमनस्य से बचे रहोगे। दुर्योधन हस्तिनापुर में राज्य करे, युधिष्ठिर को खांडव वन दे दिया जाय। पांडवों ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और खांडव वन को साफ़ करके एक नवीन राज्य की नींव रखी। इस स्थान में थोड़े ही दिनों में विशाल भवन उठ खड़े हुए, इसका नाम इन्द्रप्रस्थ रखा गया। यह वही स्थान है जहाँ आजकल दिल्ली बसी है। उन दिनों जो राजा चक्रवर्ती सम्राट् बनना चाहता था, वह राजसूय यज्ञ करता था। युधिष्ठिर ने भी राजसूय यज्ञ किया। देश-विदेश से राजा आये, हस्तिनापुर से दुर्योधन भी आया। जलता तो वह पांडवों से पहले से ही था, उनका वैभव देख कर वह और अधिक जला, और पांडवों को किस प्रकार तहस-नहस किया जाय—इस सोच में पड़ गया। राजनीति में अपने प्रतिद्वन्द्वी को नष्ट करने के षड्यन्त्र रचना आदि काल से चला आया है।

शकुनि दुर्योधन का मामा था। जूआ खेलने में उसका सानी दूसरा नहीं था। युधिष्ठिर को भी जूआ खेलने का व्यसन तो था, परन्तु वह इसमें निपुण नहीं था। शकुनि तथा दुर्योधन ने आपस में मन्त्रणा करके युधिष्ठिर को इन्द्रप्रस्थ से हस्तिनापुर में आ कर द्यूत खेलने का निमन्त्रण दिया। युधिष्ठिर ने निमन्त्रण स्वीकार किया, और जूए में अपना राज, अपने भाई, अपनी पत्नी सब दाँव पर रखता चला गया और हारता चला गया। मानव-मानस जब कमज़ोर होता है, तब दुर्वासनाओं के सामने सब-कुछ हारता जाता है। युधिष्ठिर जब द्रौपदी को हार गया तब दुर्योधन ने द्रौपदी को धर पकड़ मँगवाया। दुर्योधन के आदेश पर दुःशासन ने उसे निर्वस्त्र करने के लिए उसका चीर खींचने का प्रयत्न किया परन्तु सती-साध्वी देवी के तेज के सम्मुख वह चीर खींच न सका। स्त्री का सतीत्व स्वयं उसकी नर-पिशाचों से रक्षा करता है। इस निर्लज्जता के सम्मुख धृतराष्ट्र का सिर भी लज्जा से झुक गया, वह जानता था कि जब स्त्री के सतीत्व पर प्रहार होता है तब उसकी आह राज्यों को भस्म कर देती है। उसने द्रौपदी को अपने पास बुला कर कहा: "देवि! तुम्हारे इस घोर अपमान का मैं प्रायश्चित्त करना चाहता हूँ। तू मुझसे तीन वर माँग।" द्रौपदी ने कहा—पहले वर से मैं यह माँगती हूँ कि युधिष्ठिर को मुक्त कर दिया जाय, दूसरे वर से मैं यह माँगती हूँ कि युधिष्ठिर के अन्य भाइयों को भी बंधन से मुक्त कर दिया जाय। जब द्रौपदी दो वर माँग चुकी तब धृतराष्ट्र ने पूछा, तीसरा क्या वर माँगती है? द्रौपदी ने उत्तर दिया—जब पांडव बंधन-मुक्त हो जायेंगे तब वे अपना बदला अपने-आप लेने में समर्थ होंगे इसलिए मुझे तीसरा कोई वर नहीं माँगना। इसके बाद पांडव बंधन-मुक्त हो गये, उन्हें उनका राज वापस मिल गया, वे अपनी राजधानी को लौट गये।

परन्तु दुर्योधन चुप बैठने वाला कहाँ था? उसने फिर धृतराष्ट्र के कान भरे और दुबारा युधिष्ठिर को द्यूत-क्रीड़ा के लिए निमन्त्रित किया। धर्मराज

कहलाने वाले युधिष्ठिर की बुद्धि पर भी पत्थर पड़े थे कि वह दोबारा द्यूत के लिए तैयार हो गया। भले-से-भले आदमी प्रलोभन आने पर अपने को संभाल नहीं पाते। इस बार शर्त यह थी कि जो हारे वह १२ वर्ष तक वन में रहे और तेरहवें वर्ष किसी नगर में अज्ञात वास करे। यदि उस समय कोई उसे पहचान ले तब फिर बारह वर्ष वन में रहे। दुर्योधन ने यह शर्त पांडवों से सदा के लिए पीछा छुड़ाने के लिए रखी थी। इस दोबारा के खेल में भी युधिष्ठिर सब-कुछ हार गये। तब राज छोड़ कर, सब भाइयों तथा द्रौपदी के साथ वनवास के लिए चल दिये। राम-लक्ष्मण-सीता चौदह वर्ष वनवास में रहे थे, अन्तिम वर्ष में उनका युद्ध हुआ था। युधिष्ठिर-अर्जुन-द्रौपदी भी तेरह वर्ष वनवास में रहने के बाद चौदहवें वर्ष महाभारत के घमासान युद्ध में लिपट कर अपना राज्य वापस लेने के लिए लौटे।

इन तेरह वर्ष के अर्से में हस्तिनापुर तथा इन्द्रप्रस्थ—दोनों स्थानों का सारा राज्य दुर्योधन के अधिकार में था। इन्द्रप्रस्थ का एक तरह से वह ट्रस्टी था, पांडवों के लौट आने के बाद वह उसे लौटाने के लिए तैयार नहीं हुआ। पांडव चाहते थे कि अब जबकि वे सब शर्तें पूरी करके लौटे हैं उनका आधा राज्य उन्हें वापस कर दिया जाय। इस उद्देश्य से उन्होंने धृतराष्ट्र के पास अपने दूत भेजे, परन्तु इस बीच वे यह भी समझते रहे कि जैसा दुर्योधन का रवैय्या रहा है वह उनकी बात मानने को तैयार न होगा, युद्ध होकर ही रहेगा। वे शान्ति के लिए प्रयत्न करने के साथ-साथ युद्ध की मन्त्रणा भी करते रहे। इसी सिलसिले में कौरवों की तरफ़ से दुर्योधन तथा पांडवों की तरफ़ से अर्जुन युद्ध छिड़ जाने की हालत में श्रीकृष्ण की सहायता पाने के लिए द्वारिका पहुँचे। श्रीकृष्ण उस युग के महापुरुष थे। वे राजा होते हुए भी निस्संग-भाव से रहते थे। उनके जीवन का मूल मंत्र था 'निष्काम-कर्म'। जो-कुछ करते थे कर्तव्य समझ कर करते थे, फल भगवदर्पण करके काम में जुट जाते थे। जब दुर्योधन तथा अर्जुन उनकी सहायता पाने के लिए उनके पास पहुँचे, उन्होंने दोनों के सामने दो विकल्प रखे। उन्होंने कहा कि हमारे पास एक अर्बुद नारायणी सेना है, यह एक तरफ़ होगी; दूसरी तरफ़ हम अकेले रहेंगे, अकेले रहते हुए भी न हथियार लेंगे, न लड़ेंगे, बहुत हुआ तो युद्ध में सारथि का काम कर देंगे। अर्जुन ने श्रीकृष्ण को माँगा, दुर्योधन अर्बुद नारायणी सेना पाकर बेहद प्रसन्न हुआ। दुर्योधन यह न समझ सका कि राजनीति का आधार सेना नहीं, सही रास्ते को पकड़ लेना है। जिसके जीवन के रथ को श्रीकृष्ण-जैसा सारथि मिल जाता है वह रथ अपने लक्ष्य पर जाकर ही टिकता है।

युद्ध छिड़ने से पहले सन्धि की चर्चा चला करती है, युद्ध समाप्त होने पर भी सन्धि की शर्तें पेश हुआ करती हैं। महाभारत के युद्ध के छिड़ने से पूर्व भी संन्धि की चर्चा चली। दोनों पक्ष चाहते थे कि युद्ध न छिड़े और उनकी बात मान ली जाय। कौरवों की तरफ़ से संजय को पांडवों से बातचीत करने के लिए भेजा गया। युधिष्ठिर ने कहा, हम और कुछ नहीं चाहते, सिर्फ़ इतना चाहते हैं कि वनवास से पहले हम इन्द्रप्रस्थ पर राज्य करते थे, वह हमें दे दिया जाय; इतना भी

नहीं किया जा सकता हो तो सिर्फ़ ५ गाँव हमें दे दिये जायँ, हम उन्हीं में अपने दिन काट लेंगे; हमारे साथ अगर बिल्कुल अन्याय का बर्ताव किया जायगा, तब हमारे सामने युद्ध के सिवाय अन्य कोई चारा नहीं रहेगा। संजय ने युधिष्ठिर का संदेश कौरवों को ला सुनाया। दुर्योधन किसी प्रकार की रियायत करने के लिए तैयार नहीं हुआ। यह समाचार जब युधिष्ठिर को मिला तब वह समझ गया कि अब युद्ध टाले नहीं टलेगा। दुर्योधन जब पांडवों को मटियामेट करने पर उतारू है तब युद्ध में मर जाना या बिना युद्ध किये मरे के समान जीना—दोनों एक-समान हैं; युद्ध करने पर विजय की संभावना तो है, बिना युद्ध के मरे-ही-मरे हैं। ये विचार युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण के सम्मुख रखे। श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया कि मैं स्वयं एक बार हस्तिनापुर जाकर दोनों पक्षों की सुलह कराने की चेष्टा करूँगा, यह अन्तिम प्रयास होगा, अगर इसमें भी कुछ न हुआ तब युद्ध करना ही पड़ेगा।

कृष्ण दूत के रूप में हस्तिनापुर पहुँचे। उन्होंने दुर्योधन के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा कि जैसे पहले आधा राज्य पांडवों को दिया गया था, अब जब कि वे अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार तेरह वर्ष वनों तथा अज्ञातवास में रहकर लौट आये हैं, उनका वह राज्य उन्हें लौटा दिया जाय। इससे भाई-भाई का संहार नहीं होगा, सब शान्ति से रहेंगे। दुर्योधन यह सुनकर तन गया। उसने कहा : 'सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव !'—हे केशव ! बिना युद्ध के मैं सूई की नोक बराबर ज़मीन भी पांडवों को नहीं दूँगा। मनुष्य का यह स्वभाव है कि जब कोई दबता है तो दूसरा उसे दबाता ही जाता है। कृष्ण दुर्योधन की अहंकार-भरी बात सुनकर लौट आये, और दोनों पक्षों में युद्ध के लिए ज़ोर-शोर से तैयारी होने लगी।

कुरुक्षेत्र को युद्ध का मैदान चुना गया। द्रुपद, विराट, शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, सात्यकि, चेकितान तथा भीमसेन—ये सात सेनापति पांडवों की सेनाओं में नियुक्त हुए; कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, शल्य, जयद्रथ, काम्बोज नरेश सुदक्षिण, भोजराज कृतवर्मा, अश्वत्थामा, कर्ण, भूरिश्रवा, शकुनि तथा बाल्हीक—ये ग्यारह सेनापति कौरवों की सेनाओं में नियुक्त हुए।

यह पृष्ठ-भूमि है उस उपाख्यान की जिसके साथ महर्षि वेदव्यास ने गीता के सूत्र को बाँध दिया है। कहते हैं कि जब युद्ध की पूरी तैयारी हो गई, दोनों पक्षों की सेनाएँ एक दूसरे के सम्मुख डट कर खड़ी हो गईं, तब धृतराष्ट्र को भी सब-कुछ जानने की इच्छा हुई। धृतराष्ट्र अन्धा था, वह देख तो सकता नहीं था। फिर क्या करता ? उसने संजय को कहा कि कुरुक्षेत्र के मैदान में जो घटनाएँ घट रही हैं उनका अविकल विवरण मुझे सुनाओ ताकि मैं जान सकूँ कि वहाँ क्या हो रहा है ! गीता में जो-कुछ है वह संजय की धृतराष्ट्र को दी गई ही रिपोर्ट है।

सूचना—आगे श्लोकों के अर्थ करते हुए जो संस्कृत के शब्द दिये हैं, उनके ऊपर अंग्रेजी के अंक दिये गये हैं। इन अंकों का अभिप्राय 'अन्वय' से है। अगर इन अंकों के अनुसार शब्द इकट्ठे पढ़े जायें तो संपूर्ण वाक्य सीधा अर्थ दे देता है।

[अर्जुन का विषाद]

धृतराष्ट्र ने संजय से पूछा : **हे संजय ! जब मेरे और पांडु के पुत्र युद्ध करने की इच्छा से कुरुक्षेत्र की पुण्य-भूमि में एकत्रित हुए तब उन्होंने क्या किया ? ॥१॥**

संजय ने कहा : **तब राजा दुर्योधन पांडवों की सेना को व्यूह रच कर खड़ी देखकर द्रोणाचार्य के निकट पहुँच कर उनसे कहने लगा ॥२॥**

हे आचार्य द्रोण ! पाण्डु पुत्रों की इस बड़ी सेना को देखिये, जिसकी व्यूह-रचना आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न ने की है ॥३॥

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥१॥

धर्मक्षेत्रे[2]–धर्म के क्षेत्र में, पुण्यभूमि में; **कुरुक्षेत्रे**[3]–कुरुक्षेत्र के मैदान में; **समवेताः**[4]–इकट्ठे हुए; **युयुत्सवः**[5]–युद्ध करने की इच्छा वाले; **मामकाः**[6]–मेरे लोग; **पांडवाः**[9]–पांडु के पुत्र; **च**[7]–और; **एव**[8]–भी; **किम्**[10]–क्या; **अकुर्वत**[11]–किया; **संजय**[1]–हे संजय !

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

दृष्ट्वा[6]–देखकर; **तु**[7]–निस्संदेह; **पाण्डवानीकम्**[5]–पाण्डवों की सेना को; **व्यूढम्**[4]–व्यूह रच कर खड़ी; **दुर्योधनः**[3]–दुर्योधन; **तदा**[1]–तब; **आचार्यम्**[8]–द्रोणाचार्य को; **उपसंगम्य**[9]–निकट पहुँच कर; **राजा**[2]–राजा दुर्योधन; **वचनम्**[10]–बात; **अब्रवीत्**[11]–कहने लगा ।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

पश्य[11]–देख; **एताम्**[8]–इस; **पाण्डुपुत्राणाम्**[7]–पाण्डु के पुत्रों की; **आचार्य**[1]–हे आचार्य द्रोण; **महतीम्**[9]–बड़ी; **चमूम्**[10]–सेना को; **व्यूढाम्**[6]–व्यूह रचना में खड़ी; **द्रुपदपुत्रेण**[5]–द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा; **तव**[2]–तेरे; **शिष्येण**[4]–शिष्य द्वारा; **धीमता**[3]–बुद्धिमान् द्वारा ।

युद्ध के इस रणांगन में बड़े-बड़े धनुर्धारी योद्धा दीख रहे हैं। भीम और अर्जुन तो लड़ ही रहे हैं, पांडवों के ये योद्धा युयुधान, विराट और महारथी द्रुपद जो उनकी तरफ़ से लड़ने को खड़े हैं, बल में भीम और अर्जुन के समान ही हैं ॥४॥

इनके अतिरिक्त धृष्टकेतु, चेकितान, वीर काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज और मनुष्यों में श्रेष्ठ शिवि देश का राजा शैव्य ॥५॥

इसी प्रकार पराक्रमी युधामन्यु, वीर उत्तमौजा, सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु, द्रौपदी के पाँचों पुत्र––ये सभी महारथी हैं जो लड़ाई में हमारे सामने खड़े हैं ॥६॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥

अत्र[1]–यहाँ; **शूराः**[5]–शूरवीर; **महेष्वासाः**[2]–बड़े-बड़े धनुर्धारी; **भीमार्जुनसमाः**[4]–भीम तथा अर्जुन के समान; **युधि**[3]–युद्ध में; **युयुधानः**[6]–सात्यकि का नाम है जो कृष्ण का सारथि था; **विराटः**[8]–यह भी एक राजा का नाम है जिसके राज्य में पांडव लोग तेरहवें वर्ष गुप्त रूप से रहे थे; **च**[7]–और; **द्रुपदः**[11]–द्रुपद भी एक राजा का नाम है जिसकी पुत्री द्रौपदी थी और पुत्र धृष्टद्युम्न था; **च**[9]–और; **महारथः**[10]–बड़े भारी रथ का मालिक।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित् कुन्तिभोजश्च शैव्यश्च नरपुंगवः ॥५॥

धृष्टकेतुः[2]–चेदियों के राजा का नाम है; **चेकितानः**[3]–यह पांडवों के एक प्रसिद्ध योद्धा का नाम है; **काशिराजः**[6]–काशी का राजा; **च**[1]–और; **वीर्यवान्**[5]–वीर; **पुरुजित्**[7]–एक राजा का नाम है; **कुन्तिभोजः**[8]–एक राजा जिसकी धर्मपुत्री कुंती थी; **च**[4]–और; **शैव्यः**[11]–शिवि जाति का राजा; **च**[9]–और; **नरपुंगवः**[10]–मनुष्यों में श्रेष्ठ।

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ आचार्य ! अब हमारी सेना के जो मुख्य-मुख्य नायक हैं उनके नाम भी आप जान लीजिये। आपकी जानकारी के लिये मैं उनके नाम आपको कह सुनाता हूँ ॥७॥

हमारी सेना में आप हैं, भीष्म हैं, कर्ण हैं, युद्ध में सदा विजय प्राप्त करनेवाले कृपाचार्य हैं, अश्वत्थामा हैं, मेरे भाई विकर्ण हैं, वाहीकों के राजा सोमदत्त के पुत्र सौमदत्ति भूरिश्रवा हैं ॥८॥

युधामन्युः[3]–एक राजा का नाम है; **च**[1]–और; **विक्रान्तः**[2]–पराक्रमी; **उत्तमौजाः**[6]–एक राजा का नाम है; **च**[4]–और; **वीर्यवान्**[5]–वीर; **सौभद्रः**[7]–सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु; **द्रौपदेयाः**[9]–द्रौपदी के सब पुत्र; **च**[8]–और; **सर्वे**[10]–सब; **एव**[11]–ही; **महारथाः**[12]–महारथी।

महाभारत काल में दस हजार धनुर्धारी योद्धाओं के साथ अकेले युद्ध करने वाले को 'महारथी' कहते थे। 'महारथ' का यह भी अर्थ है जिसके पास बड़ा भारी रथ हो, आजकल की भाषा में जिसके पास ब्यूक गाड़ी हो वह महारथ कहलायेगा।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥७॥

अस्माकम्[2]–हमारे; **तु**[3]–तो; **विशिष्टाः**[5]–विशेष गुणों के कारण मुख्य-मुख्य; **ये**[4]–जो; **तान्**[6]–उन्हें; **निबोध**[7]–जानिये; **द्विजोत्तम**[1]–ब्राह्मणों में श्रेष्ठ; **नायकाः**[12]–नेता; **मम**[10]–मेरी; **सैन्यस्य**[11]–सेना के; **संज्ञार्थम्**[9]–जानकारी के लिए; **तान्**[13]–उन्हें; **ब्रवीमि**[14]–कहता हूँ; **ते**[8]–आपको।

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥

भवान्[1]–आप; **भीष्मः**[3]–भीष्म; **च**[2]–और; **कर्णः**[5]–कर्ण; **च**[4]–और; **कृपः**[8]–द्रोणाचार्य के साले कृपाचार्य; **च**[6]–और; **समितिंजयः**[7]–युद्ध में जीतनेवाले; **अश्वत्थामा**[12]–द्रोणाचार्य का पुत्र; **विकर्णः**[13]–विकर्ण जो धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों में से तीसरा पुत्र था; **च**[9]–और;

इनके सिवा मेरे लिये अपने प्राण त्याग कर लड़ने वाले अन्य भी अनेक शूरवीर हैं जो भिन्न-भिन्न शस्त्रों के चलाने में निपुण हैं और सब-के-सब युद्ध में प्रवीण हैं ।।९।।

इस प्रकार हमारी यह सेना जिसकी रक्षा स्वयं भीष्म कर रहे हैं अपरिमित है, जबकि पांडवों की सेना जिसकी रक्षा भीम कर रहे हैं बहुत परिमित है ।।१०।।

सौमदत्तिः[15]–वाह्लीकों के राजा सोमदत्त का पुत्र; **तथा**[10]–वैसे; **एव**[11]–ही; **च**[14]–और ।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ।।९।।

अन्ये[1]–दूसरे; **च**[2]–और; **बहवः**[3]–अनेक; **शूराः**[4]–शूरवीर; **मदर्थे**[6]–मेरे लिये; **त्यक्तजीविताः**[7]–जीवन त्यागने वाले; **नानाशस्त्रप्रहरणाः**[5]–भिन्न-भिन्न शस्त्रों के चलाने में निपुण; **सर्वे**[8]–सब; **युद्धविशारदाः**[9]–युद्ध में प्रवीण ।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ।।१०।।

अपर्याप्तम्[5]–अपरिमित या नाकाफ़ी; **तद्**[3]–वह; **अस्माकम्**[2]–हमारी; **बलम्**[4]–सेना; **भीष्माभिरक्षितम्**[1]–जिसकी रक्षा भीष्म कर रहे हैं; **पर्याप्तम्**[11]–परिमित या काफ़ी; **तु**[6]–तो; **इदम्**[9]–यह; **एतेषाम्**[8]–इनकी; **बलम्**[10]–सेना; **भीमाभिरक्षितम्**[7]–जिसकी रक्षा भीम कर रहे हैं ।

वैसे तो पांडवों की सेना का प्रधान सेनापति धृष्टद्युम्न था, कौरवों की सेना का प्रधान सेनापति द्रोणाचार्य था, परन्तु प्रधान सेनापति के साथ-साथ सेना का एक मुख्य रक्षक भी हुआ करता था। मुख्य रक्षक के तौर पर पांडवों की सेना का मुख्य रक्षक भीम था, कौरवों की सेना का मुख्य रक्षक भीष्म था।

इस श्लोक में आये 'अपर्याप्ति' तथा 'पर्याप्ति'—शब्दों के संबंध में टीकाकारों में मतभेद है। संस्कृत भाषा में 'अपर्याप्ति'-शब्द के दो अर्थ हैं। 'अपर्याप्ति' का एक अर्थ तो है—'अपरिमित'। यह अर्थ शंकराचार्य के भाष्य के टीकाकार आनन्दगिरि का है। इसका दूसरा अर्थ है—'नाकाफ़ी'। प्रचलित अर्थ यही है। यह अर्थ श्रीधर स्वामी ने किया है। श्रीधर स्वामी का कथन है कि दुर्योधन ने आचार्य द्रोण को कहा कि यद्यपि हमारी सेना के रक्षक भीष्म पितामह हैं, हमारी सेना

तो अब आप सब लोग, जिसको जो-जो काम सौंपा गया है उसके अनुसार, अपने-अपने मोर्चों पर डट जायें और भीष्म की रक्षा करें ।।११।।

यह सब देखकर दुर्योधन के हृदय में हर्ष उत्पन्न करने के लिये कौरवों में वृद्ध प्रतापी भीष्म पितामह ने सिंह की तरह गर्जना करके अपना शंख फूँका ।।१२।।

उसके बाद शंख, भेरियाँ, ढोल, नगाड़े और लड़ाई के बाजे एकदम बज उठे और इससे इनका नाद चारों ओर गूँज उठा ।।१३।।

बहुत बड़ी है, तब भी वह अपर्याप्त है, नाकाफ़ी है; पांडवों की सेना का रक्षक भीम है, सेना भी थोड़ी है, परन्तु वह पर्याप्त है, काफ़ी है। यह अर्थ सारे संदर्भ में ठीक नहीं जँचता। दुर्योधन अहंकार में भरा हुआ था, वह कैसे कहता कि हमारी सेना नाकाफ़ी है। इसलिए इस सन्दर्भ में 'पर्याप्त' का अर्थ 'परिमित' तथा 'अपर्याप्त' का अर्थ 'अपरिमित' ही ठीक प्रतीत होता है।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ।।११।।

अयनेषु[3]–मोर्चों पर; **च**[1]–और; **सर्वेषु**[2]–सब; **यथाभागम्**[4]–अपने-अपने भाग या हिस्से के अनुसार; **अवस्थिताः**[5]–ठहरे हुए; **भीष्मम्**[10]–भीष्म को; **एव**[11]–ही; **अभिरक्षन्तु**[12]–सुरक्षित करें; **भवन्तः**[6]–आप; **सर्वे**[7]–सब लोग; **एव**[8]–ही; **हि**[9]–निश्चय से।

तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ।।१२।।

तस्य[4]–उसके; **संजनयन्**[6]–उत्पन्न करते हुए; **हर्षं**[5]–हर्ष; **कुरुवृद्धः**[1]–कौरवों में वृद्ध; **पितामहः**[3]–भीष्म पितामह; **सिंहनादम्**[8]–सिंह के नाद के समान; **विनद्य**[9]–गर्जकर; **उच्चैः**[7]–उच्च स्वर से; **शंखम्**[10]–शंख को; **दध्मौ**[11]–बजाया; **प्रतापवान्**[2]–प्रतापी।

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ।।१३।।

ततः[1]–उसके बाद; **शंखाः**[2]–शंख; **च**[3]–और; **भेर्यः**[4]–भेरियाँ; **च**[5]–और; **पणवानकगोमुखाः**[6]–ढोल तथा नगाड़े; **सहसा**[7]–एक

जब कौरवों की तरफ़ से युद्ध के शंख फूँके जाने लगे, भेरियाँ, ढोल और नगाड़े बज उठे तब अन्तिम क्षण में सन्धि की जो धीमी-सी आशा थी वह जाती रही। इसके बाद सफ़ेद घोड़ों से जुते हुए विशाल रथ में बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुन ने भी अपने दिव्य शंख बजाये जिससे यह सबको सूचित हो गया कि अगर कौरव युद्ध के लिये कटिबद्ध हैं तो पांडव भी युद्ध के लिये तय्यार हैं ॥१४॥

कृष्ण ने अपना पांचजन्य, अर्जुन ने अपना देवदत्त और भयंकर कर्म करनेवाले, भेड़िये के समान खानेवाले भीम ने अपना पौण्ड्र नामक शंख बजाया ॥१५॥

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अपना अनन्तविजय नामक शंख बजाया; नकुल और सहदेव ने अपने सुघोष और मणिपुष्पक नाम वाले शंख बजाये ॥१६॥

साथ; **एव**[8]–ही; **अभ्यहन्यन्त**[9]–बजे; **सः**[10]–वह; **शब्दः**[11]–आवाज़; **तुमुलः**[12]–बड़ा भयंकर; **अभवत्**[13]–हुआ।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

ततः[1]–तब; **श्वेतैः**[2]–सफ़ेद; **हयैः**[3]–घोड़ों से; **युक्ते**[4]–जुड़े हुए; **महति**[5]–विशाल, वड़े; **स्यन्दने**[6]–रथ में; **स्थितौ**[7]–बैठे हुए; **माधवः**[8]–श्रीकृष्ण; **पाण्डवः**[10]–अर्जुन; **च**[9]–और; **एव**[11]–भी; **दिव्यौ**[12]–दिव्यगुण युक्त; **शंखौ**[13]–शंख; **प्रदध्मतुः**[14]–बजाये।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

पाञ्चजन्यम्[2]–पांचजन्य नामक शंख को; **हृषीकेशः**[1]–श्रीकृष्ण; **देवदत्तम्**[4]–देवदत्त नामक शंख को; **धनञ्जयः**[3]–अर्जुन; **पौण्ड्रम्**[7]–पौण्ड्र नामक शंख को; **दध्मौ**[9]–बजाया; **महाशंखं**[8]–महाशंख को; **भीमकर्मा**[5]–भयंकर कर्म वाले; **वृकोदरः**[6]–भेड़िये के समान उदर वाले भीम ने।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

श्रेष्ठ धनुषवाले काशिराज ने, महारथी शिखंडी ने, धृष्टद्युम्न, राजा विराट और अजेय सात्यकि ने ।।१७।।

द्रुपद ने, द्रौपदी के पाँचों पुत्रों ने और विशाल भुजाओं वाले सुभद्रा के पुत्र अभिमन्यु ने—हे राजन् !—इन सबने अपने-अपने अलग-अलग शंख बजाये ।।१८।।

पांडव-सेना के बीच में इन शंखों के बज उठने से जो भयानक घोष उत्पन्न हुआ, जिसने आकाश और पृथ्वी को भी गुँजा दिया, वह धृष्टराष्ट्र के पुत्रों के हृदयों को विदीर्ण करने लगा ।।१९।।

अनन्तविजयम्[4]—अनन्तविजय अर्थात् जो सदा जीतनेवाला है, यह नाम है जिस शंख का; **राजा**[2]—राजा; **कुन्तीपुत्रः**[1]—कुंती का पुत्र; **युधिष्ठिरः**[3]—युधिष्ठिर; **नकुलः**[5]—नकुल; **सहदेवः**[7]—सहदेव; **च**[6]—और; **सुघोषमणिपुष्पकौ**[8]—सुघोष और मणिपुष्पक नामक शंखों को ।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ।।१७।।

काश्यः[2]—काशी का राजा; **च**[3]—और; **परमेष्वासः**[1]—श्रेष्ठ धनुष-वाला; **शिखंडी**[5]—शिखंडी; **च**[6]—और; **महारथः**[4]—महारथी; **धृष्टद्युम्नः**[7]—धृष्टद्युम्न; **विराटः**[9]—विराट; **च**[8]—और; **सात्यकिः**[12]—सात्यकि; **च**[10]—और; **अपराजितः**[11]—पराजित न होनेवाला ।

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक् पृथक् ।।१८।।

द्रुपदः[1]—द्रुपद; **द्रौपदेयाः**[3]—द्रौपदी के पुत्र; **च**[2]—और; **सर्वशः**[7]—इन सबने; **पृथिवीपते**[8]—हे पृथिवी के पति धृतराष्ट्र !; **सौभद्रः**[6]—सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु; **च**[4]—और; **महाबाहुः**[5]—बड़ी भुजाओंवाला; **शंखान्**[11]—शंखों को; **दध्मुः**[12]—बजाये; **पृथक्**[9]-**पृथक्**[10]—अलग-अलग ।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ।।१९।।

सः[2]—वह; **घोषः**[4]—शब्द; **धार्तराष्ट्राणाम्**[10]—धृतराष्ट्र के पुत्रों के; **हृदयानि**[11]—हृदयों को; **व्यदारयत्**[12]—विदीर्ण कर दिया; **नभः**[5]—आकाश; **च**[1]—और; **पृथिवीम्**[7]—पृथिवी को; **च**[6]—और; **एव**[8]—

हे राजन् ! जब चारों तरफ़ से भयानक घोष उत्पन्न हो रहा था, शस्त्र चलने की तय्यारी हो चुकी थी, धृतराष्ट्र के पुत्र व्यूह-रचना में अपने-अपने मोर्चे पर खड़े थे, तब इस सबको देखकर अर्जुन ने अपना धनुष उठाकर ॥२०॥

हृषीकेश (श्री कृष्ण) को यह वाक्य कहा कि हे अच्युत ! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में ले जाकर खड़ा कीजिये ॥२१॥

जिससे मैं उन लोगों को देख सकूँ जो युद्ध के लिए

भी; तुमुल:[3]–भयानक; वि अनुनादयन्[9] (व्यनुनादयन्)–नाद अर्थात् शब्दायमान करते हुए।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पांडवः ॥२०॥

अथ[1]–इसके बाद; **व्यवस्थितान्**[4]–अपने-अपने स्थान पर खड़े हुओं को; **दृष्ट्वा**[6]–देखकर; **धार्तराष्ट्रान्**[5]–धृतराष्ट्र के पुत्रों को; **कपिध्वजः**[2]–जिसके झंडे पर हनुमान् का चिह्न था; **प्रवृत्ते**[7]–अभी तय्यारी ही थी; **शस्त्रसंपाते**[8]–शस्त्रों के चलने की; **धनुः**[9]–धनुष; **उद्यम्य**[10]–उठाकर; **पांडवः**[3]–अर्जुन।

प्राचीन-काल में युद्ध की यह मर्यादा थी कि जो योद्धा जिस स्थिति का होता था उससे उसी स्थिति का प्रतिद्वन्द्वी युद्ध करता था। इसलिए प्रत्येक योद्धा का अपना युद्ध-चिह्न रहता था जिससे पहचाना जा सके कि उस रथ में कौन योद्धा है। इस प्रकार के चिह्नों की मर्यादा आजतक सेनाओं में चली आती है। कप्तान, मेजर, कर्नल, ब्रिगेडियर आदि के अपने-अपने चिह्न होते हैं, इनकी मोटर गाड़ियों में भी उनके अपने चिह्न रहते हैं जिनसे सैनिक की सेना में रैंक पहचानी जाती है। चिह्नों की यह मर्यादा प्राचीनकाल से चली आती है।

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

हृषीकेशम्[3]–श्रीकृष्ण को; **तदा**[2]–तब; **वाक्यम्**[5]–वचन; **इदम्**[4]–यह; **आह**[6]–बोला; **महीपते**[1]–हे राजन् !; **सेनयोः**[11]–सेनाओं के; **उभयोः**[10]–दोनों; **मध्ये**[12]–बीच में; **रथम्**[9]–रथ को; **स्थापय**[13]–खड़ा करो; **मे**[8]–मेरे; **अच्युत**[7]–हे अडिग रहनेवाले कृष्ण।

उत्सुक खड़े हैं। मैं यह देखना चाहता हूँ कि किनके साथ इस युद्ध में मुझे लड़ना है ॥२२॥

युद्ध में दुर्बुद्धि दुर्योधन का भला चाहने की इच्छा से यहाँ जो लड़ने वाले खड़े हुए हैं, उन्हें मैं देख लूँ ॥२३॥

हे भारत—भरत वंश से उत्पन्न होने वाले धृतराष्ट्र ! गुडाकेश (अर्जुन) के ऐसा कहने पर हृषीकेश (कृष्ण) ने उस उत्तम रथ को दोनों सेनाओं के बीच में ले जाकर खड़ा कर दिया ॥२४॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यम् अस्मिन् रणसमुद्यमे ॥२२॥

यावत्[1]–जब तक; **एतान्**[3]–इनको; **निरीक्षे**[6]–अच्छी तरह देख लूं; **अहम्**[2]–मैं; **योद्धु**[5]–युद्ध करने के लिये; **कामान्**[5]–इच्छा वाले; **अवस्थितान्**[4]–खड़े हुए; **कैः**[10]–किन के साथ; **मया**[9]–मुझे; **सह**[11]–साथ; **योद्धव्यम्**[12]–युद्ध करना है; **अस्मिन्**[7]–इस; **रण**[8]–युद्धरूपी; **समुद्यमे**[8]–उद्यम में ।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

योत्स्यमानान्[9]–युद्ध करने वालों को; **अवेक्षे**[11]–देखूंगा; **अहम्**–[10]–मैं; **ये**[5]–जो-जो; **एते**[6]–ये लोग; **अत्र**[7]–यहाँ; **समागताः**[8]–आये हैं; **धार्तराष्ट्रस्य**[2]–धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन के; **दुर्बुद्धेः**[1]–दुर्बुद्धि वाले; **युद्धे**[3]–युद्ध में; **प्रिय**[4]–भला; **चिकीर्षवः**[4]–चाहने वाले।

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥

एवम्[3]–इस प्रकार; **उक्तः**[4]–कहा गया; **हृषीकेशः**[5]–श्रीकृष्ण; **गुडाकेशेन**[2]–अर्जुन द्वारा; **भारत**[1]–हे धृतराष्ट्र !; **सेनयोः**[7]–दोनों सेनाओं के; **उभयोः**[6]–दोनों के; **मध्ये**[8]–बीच में; **स्थापयित्वा**[10]–खड़ा करके; **रथोत्तमम्**[9]–उत्तम रथ को ।

इस श्लोक में कृष्ण के लिए हृषीकेश तथा अर्जुन के लिए गुडाकेश शब्द आये हैं। इनके संबंध में टीकाकारों में मत-भेद है। 'हृषीक'-शब्द 'हृष्'-धातु से बना है जिससे हर्ष शब्द बनता है। 'हृषीक' का अर्थ है—हर्ष देने वाली 'इन्द्रियाँ'।

भीष्म, द्रोण तथा अन्य सब राजाओं के सामने रथ को खड़ा करके श्री कृष्ण ने अर्जुन को कहा : 'हे पार्थ ! इन सब इकट्ठे खड़े हुए कौरवों को देख लो' ॥२५॥

वहाँ पार्थ (पृथा के पुत्र अर्जुन) ने देखा कि पिता, पितामह, आचार्य, मातुल, भ्राता, पुत्र, पौत्र तथा सखा—सब युद्ध के लिए खड़े थे ॥२६॥

'इन्द्रियाँ' मनुष्य को हर्ष देती हैं। इन इन्द्रियों का जो ईश है वह 'हृषीकेश' है, इन्द्रियों को जीतने वाला 'श्रीकृष्ण'। इसी प्रकार 'गुडाकेश' की व्युत्पत्ति करते हुए टीकाकार कहते हैं कि 'गुडाका' का अर्थ है—'आलस्य', उसका जो ईश हो, उसे जीतने वाला 'अर्जुन' है, इसलिए उसे 'गुडाकेश' कहा गया है। इन दो अर्थों के अलावा टीकाकार इन शब्दों का अन्य अर्थ भी करते हैं। इस अर्थ में 'केश'-शब्द को प्रधानता दी गई है। प्राचीन-काल में योद्धा लोग बड़े-बड़े केश रखा करते थे। 'हृषी' अर्थात् हर्ष से जिसके 'केश' फैल रहे हैं वह 'हृषीकेश' श्रीकृष्ण; हर्ष उन्हें इसलिए था क्योंकि इस युद्ध से पापियों का संहार होने जा रहा था। इसी प्रकार 'गुडा' अर्थात् गूढ़ या घने जिसके 'केश' हो रहे हैं वह 'गुडाकेश' अर्जुन; श्रीकृष्ण तो हर्ष में थे, परन्तु अर्जुन विषाद में था क्योंकि वह बन्धु-बान्धवों का संहार करने जा रहा था, इसलिए उसके बालों तक में विषाद की घटा छा गई थी। श्रीकृष्ण तथा अर्जुन की युद्ध के समय की मनोदशा को व्यक्त करने के लिए इस स्थल में जहाँ श्रीकृष्ण के लिए हर्षसूचक नाम का प्रयोग किया गया है, वहाँ अर्जुन के लिए विषादसूचक नाम का प्रयोग किया गया है।

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥२५॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः[1]—भीष्म और द्रोण के सामने; **सर्वेषाम्**[3]—सबके; **च**[2]—और; **महीक्षिताम्**[4]—राजाओं के; **उवाच**[11]—कहा; **पार्थ**[5]—हे अर्जुन !; **पश्य**[6]—देख; **एतान्**[7]—इनको; **समवेतान्**[8]—इकट्ठे हुओं को; **कुरून्**[9]—कौरवों को; **इति**[10]—ऐसे।

तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः पितृनथ पितामहान् ।
आचार्यान् मातुलान् भ्रातृन् पुत्रान् पौत्रान् सखींस्तथा ॥२६॥

तत्र[3]—वहाँ; **अपश्यत्**[14]—देखा; **स्थितान्**[4]—खड़े हुए; **पार्थः**[2]—अर्जुन ने; **पितृन्**[5]—बुजुर्गों को; **अथ**[1]—और; **पितामहान्**[6]—पितामहों को; **आचार्यान्**[7]—गुरुओं को; **मातुलान्**[8]—मामों को; **भ्रातृन्**[9]—भाइयों को; **पुत्रान्**[10]—पुत्रों को; **पौत्रान्**[11]—पौत्रों को; **सखीन्**[13]—मित्रों को; **तथा**[12]—और।

युद्ध करने वालों में श्वसुर भी थे, सुहृद् भी थे, दोनों सेनाओं में इस प्रकार के निकटतम संबंधी मौजूद थे। इन सब बन्धु-बान्धवों को कुन्ती-पुत्र अर्जुन युद्ध के लिए आमने-सामने खड़ा देखकर ॥२७॥

परम करुणा से, भरे हुए हृदय से, उदास होकर इस प्रकार कहने लगा : हे कृष्ण! इन अपने लोगों को युद्ध के लिए व्याकुल होकर अपने सामने खड़े देख कर ॥२८॥

मेरे अंग शिथिल हो रहे हैं, मुँह सूखा जा रहा है, शरीर में कँपकपी उठ रही है, रोम खड़े हो रहे हैं ॥२९॥

श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥

श्वशुरान्[1]–द्रुपद आदि श्वसुरों को; **सुहृदः**[3]–मित्र राजा लोगों को; **च**[2]–और; **एव**[4]–भी; **सेनयोः**[6]–सेनाओं में; **उभयोः**[5]–दोनों; **अपि**[7]–ही; **तान्**[8]–उन्हें; **समीक्ष्य**[12]–देखकर; **सः**[13]–वह; **कौन्तेयः**[14]–कुन्ती का पुत्र अर्जुन; **सर्वान्**[10]–सबको; **बन्धून्**[11]–बन्धुओं को; **अवस्थितान्**[9]–खड़े हुओं को।

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥

कृपया[2]–करुणा से; **परया**[1]–परम; **आविष्टः**[3]–भरा हुआ; **विषीदन्**[4]–उदास होकर; **इदम्**[5]–यह; **अब्रवीत्**[6]–बोला; **दृष्ट्वा**[12]–देखकर; **इमम्**[8]–इस; **स्वजनं**[11]–अपने लोगों को; **कृष्ण**[7]–हे कृष्ण; **युयुत्सुम्**[9]–युद्ध के लिये व्याकुल को; **समुपस्थितम्**[10]–सामने खड़े हुए को।

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

सीदन्ति[3]–शिथिल हुए जाते हैं; **मम**[1]–मेरे; **गात्राणि**[2]–अंग; **मुखम्**[5]–मुख; **च**[4]–और; **परिशुष्यति**[6]–सूखा जा रहा है; **वेपथुः**[10]–कँपकपी; **च**[7]–और; **शरीरे**[9]–शरीर में; **मे**[8]–मेरे; **रोमहर्षः**[12]–रोमांच; **च**[11]–और; **जायते**[13]–होता है।

गांडीव-धनुष मेरे हाथ से फिसला जा रहा है, त्वचा में दाह हो रहा है, मुझ से खड़ा नहीं रहा जाता और मन चकरा रहा है ॥३०॥

हे केशव! मुझे सब लक्षण विपरीत दिखाई दे रहे हैं, युद्ध में अपने बन्धु-बान्धवों की हत्या करके कुछ भला होने वाला मुझे नहीं दीख पड़ता ॥३१॥

हे कृष्ण! मुझे विजय की इच्छा नहीं रही, अब न राज्य की इच्छा है, न सुखों की इच्छा है। हे गोविन्द! हमें राज्य लेकर क्या करना है, भोगों को भोग कर क्या करना है, जीवित रह कर भी क्या करना है ॥३२॥

गांडीवं स्रंसते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

गांडीवम्[2]–गांडीव धनुष; **स्रंसते**[3]–फिसलता है; **हस्तात्**[1]–हाथ से; **त्वक्**[5]–त्वचा; **च**[4]–और; **एव**[6]–भी; **परिदह्यते**[7]–जल रही है; **न**[14]–नहीं; **च**[8]–और; **शक्नोमि**[14]–सकता हूँ; **अवस्थातुम्**[12]–खड़ा रहने के लिये; **भ्रमति**[11]–चकराता है; **इव**[11]–मानों; **च**[13]–और; **मे**[9]–मेरा; **मनः**[10]–मन ।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

निमित्तानि[2]–लक्षण; **च**[3]–और; **पश्यामि**[5]–देखता हूँ; **विपरीतानि**[4]–उल्टे; **केशव**[1]–हे कृष्ण!; **न**[11]–नहीं; **च**[10]–और; **श्रेयः**[9]–भलाई; **अनुपश्यामि**[12]–देखता हूँ; **हत्वा**[8]–मार कर; **स्वजनम्**[7]–अपने लोगों को; **आहवे**[6]–युद्ध में ।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

न[3]–नहीं; **काङ्क्षे**[4]–चाहता हूँ; **विजयम्**[2]–जीत को; **कृष्ण**[1]–हे कृष्ण!; **न**[9]–नहीं; **च**[5]–और; **राज्यम्**[6]–राज्य को; **सुखानि**[8]–सुखों को; **च**[7]–और; **किं**[17]–क्या है; **नः**[11]–हमें; **राज्येन**[12]–राज्य से; **गोविन्द**[10]–हे कृष्ण!; **किं**[13]–क्या है; **भोगैः**[15]–भोगों से; **जीवितेन**[16]–जीवन से; **वा**[14]–अथवा ।

जिनके लिये हमने राज्य, भोग तथा सुख की इच्छा की थी, वे सब प्राण तथा धन का मोह त्याग कर युद्ध में आ खड़े हुए हैं ।।३३।।

आचार्य, पिता, पुत्र, पितामह, मामा, श्वशुर, पौत्र, साले तथा अन्य सम्बन्धी युद्ध-भूमि में आ खड़े हुए हैं ।।३४।।

हे मधुसूदन! अगर इन लोगों द्वारा मैं मार भी दिया जाऊँ, या तीनों लोकों के राज्य के हेतु भी मैं इनको मारने की इच्छा नहीं करता, फिर इस पृथ्वी के राज्य का तो कहना ही क्या ? ।।३५।।

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणान् त्यक्त्वा धनानि च ।।३३।।

येषाम्[2]–जिनके; **अर्थे**[3]–लिये; **काङ्क्षितम्**[8]–इच्छित है; **नः**[1]–हमें; **राज्यम्**[4]–राज्य; **भोगाः**[5]–भोग; **सुखानि**[7]–सुख; **च**[6]–और; **ते**[9]–वे; **इमे**[10]–ये; **अवस्थिताः**[16]–खड़े हैं; **युद्धे**[15]–युद्ध में; **प्राणान्**[13]–प्राणों को; **त्यक्त्वा**[14]–छोड़कर; **धनानि**[11]–धनों को; **च**[12]–और ।

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ।।३४।।

आचार्याः[1]–आचार्य; **पितरः**[2]–बुजुर्ग; **पुत्राः**[3]–पुत्र; **तथा**[5]–वैसे; **एव**[6]–ही; **च**[4]–और; **पितामहाः**[7]–दादा; **मातुलाः**[8]–मामा; **श्वशुराः**[9]–ससुर; **पौत्राः**[10]–पोते; **श्यालाः**[11]–साले; **सम्बन्धिनः**[13]–रिश्तेदार; **तथा**[12]–और ।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ।।३५।।

एतान्[7]–इनको; **न**[9]–नहीं **हन्तुम्**[8]–मारने को; **इच्छामि**[10]–चाहता हूँ; **घ्नतः**[2]–मारे जाने पर; **अपि**[3]–भी; **मधुसूदन**[1]–मधु नामक राक्षस को मारनेवाले हे श्रीकृष्ण; **अपि**[6]–भले ही; **त्रैलोक्य-राज्यस्य**[4]–तीनों लोकों के राज्य के; **हेतोः**[5]–लिये; **किम् नु**[12]–कहना ही क्या है; **महीकृते**[11]–पृथिवी के लिये ।

हे जनार्दन ! धृतराष्ट्र के इन पुत्रों का हनन करने से हमें क्या सुख प्राप्त हो सकता है । यद्यपि ये आततायी हैं, दुष्ट हैं, तो भी इन्हें मारने से हमें पाप ही लगेगा ।।३६।।

इसलिये अपने संबंधी धृतराष्ट्र के इन पुत्रों को मारना हमारे लिये उचित नहीं है । हे माधव ! अपने ही जनों को मार कर हम किस प्रकार सुखी हो सकते हैं ।।३७।।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ।।३६।।

निहत्य[3]–मारकर; **धार्तराष्ट्रान्**[2]–धृतराष्ट्र के पुत्रों को; **नः**[4]–हमें; **का**[5]–क्या; **प्रीतिः**[6]–सुख; **स्यात्**[7]–होगी; **जनार्दन**[1]–हे जनार्दन (कृष्ण); **पापम्**[12]–पाप; **एव**[13]–ही; **आश्रयेत्**[14]–लगेगा; **अस्मान्**[11]–हमें; **हत्वा**[10]–मार कर; **एतान्**[8]–इनको; **आततायिनः**[9]–आततायियों को ।

वसिष्ठ स्मृति ३-१६ में आततायी का लक्षण करते हुए लिखा है : 'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिः धनापहः । क्षेत्र-दारहरश्चैव षडेत आततायिनः ।।'—घर में आग लगाने वाला, विष देने वाला, हाथ में शस्त्र लेकर मारने के लिए आने वाला, धन लूटने वाला, खेत तथा स्त्री का हरण करने वाला—ये छः आततायी हैं। आततायी के लिए मनु ८-३५० में लिखा है : 'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।'—आततायी को आते देखकर बहुत सोच-विचार न करे, उसे मार दे। अर्जुन कहता है कि यद्यपि ये आततायी हैं तब भी इन्हें भी मारने में मुझे पाप दीखता है। इस समय अर्जुन के मन में जो लहर चल पड़ी थी वह वही थी जिसके अनुसार शास्त्रकारों ने कहा–'न पापे प्रतिपापः स्यात्।'–एक पाप के बदले दूसरा पाप न करो। इसी भावना को प्रकट करते हुए महाभारत के उद्योग पर्व, ३८, ७३, ७४ में कहा है : 'अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्, असाधुं साधुना जयेत् । जयेत् कदर्यं दानेन सत्येनानृतं जयेत्।।'—अक्रोध से क्रोध को, साधु से असाधु को, दान से कंजूस को और सत्य से असत्य को जीते। अपने सामने आततायियों को देख कर उन्हें मारने के स्थान में अर्जुन इन विचारों की लहर में डूब गया।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्व-बान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ।।३७।।

तस्मात्[1]–इसलिये; **न**[7]–नहीं; **अर्हाः**[7]–योग्य हैं, उचित है; **वयम्**[6]–हम; **हन्तुम्**[5]–मारने के लिये; **धार्तराष्ट्रान्**[4]–धृतराष्ट्र के पुत्रों को; **स्व**[3]–अपने; **बान्धवान्**[3]–संबंधियों को; **स्व**[9]–अपने;

यद्यपि ये लोग लोभ से बुद्धि खो बैठने के कारण कुल के क्षय से होने वाले दोष तथा मित्र-द्रोह करने के पाप को नहीं देख पा रहे ॥३८॥

तो भी हे जनार्दन ! हमें तो, जो कुल-क्षय करने वाले इस दोष को स्पष्ट देख रहे हैं, इस पाप से दूर रहने की समझ होनी चाहिये ॥३९॥

कुल के क्षय हो जाने पर कुल के जो सनातन धर्म हैं, कुल की जो सनातन पुरानी परंपराएँ हैं, सदियों के अनुभव के आधार पर कुल की जो मर्यादाएँ बन चुकी हैं, वे नष्ट हो जाती हैं। जब कुल की परंपराएँ, मर्यादाएँ नष्ट हो गईं

जनम्[9]—व्यक्ति को; **हि**[8]—निश्चय से; **कथम्**[11]—कैसे; **हत्वा**[10]—मारकर; **सुखिनः**[12]—सुखी; **स्याम**[13]—होंगे; **माधव**[2]—हे श्रीकृष्ण !

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥

यद्यपि[1]—यद्यपि; **एते**[3]—ये; **न**[9]—नहीं; **पश्यन्ति**[10]—देखते हैं; **लोभ**[2]—लोभ से; **उपहत**[2]—मारा गया है; **चेतसः**[2]—चित्त जिनका; **कुलक्षयकृतम्**[4]—कुल के नाश करनेवाले; **दोषम्**[5]—दोष को; **मित्रद्रोहे**[7]—मित्रों के साथ द्रोह करने में; **च**[6]—और; **पातकम्**[8]—पाप को।

'कुल' का अर्थ परिवार ही नहीं है, अपना निकट का सारा सामाजिक-समुदाय भी है जिसमें परिवार भी आ जाता है। अर्जुन का कथन है कि हम इस युद्ध में अपने परिवार का तो नाश कर ही रहे हैं, अपने सारे निकट के सामाजिक-समुदाय का भी नाश कर रहे हैं। इस में हमारे परिवार के लोग हैं, अन्य भी हमारे मित्र-बन्धु-बान्धव सभी युद्ध के लिए आ खड़े हुए हैं। यह कुल-क्षय का उपक्रम है। 'कुल' का अर्थ परिवार, कुटुम्ब, समुदाय, समूह—यह सब है।

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥

कथम्[9]—कैसे; **न**[10]—नहीं; **ज्ञेयम्**[11]—विचार करना चाहिये; **अस्माभिः**[5]—हम लोगों को; **पापात्**[7]—पाप से; **अस्मात्**[6]—इससे; **निवर्तितुम्**[8]—दूर रहने के लिये; **कुलक्षयकृतम्**[2]—कुल के क्षय करनेवाले; **दोषम्**[3]—दोष को; **प्रपश्यद्भिः**[4]—स्पष्ट देखनेवाले; **जनार्दन**[1]—हे जनार्दन !

तब इन परंपराओं के नष्ट हो जाने पर संपूर्ण कुटुम्ब में, संपूर्ण समाज में अधर्म का बोलबाला हो जाता है ।।४०।।

इस स्थल पर अर्जुन ने कुल-धर्म पर विशेष बल दिया है। इसका कारण है। समाज का जीवन दो आधार-स्तम्भों पर खड़ा है—सभ्यता तथा संस्कृति। 'सभ्यता' भौतिक-विकास का नाम है। हम दिनों दिन भौतिक-क्षेत्र में उन्नति कर रहे हैं। रेल-तार-टैलीफ़ोन-हवाई जहाज़—यह सब भौतिक-विकास है, इसमें हम आगे-ही-आगे बढ़ते जा रहे हैं। इसी प्रकार सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक विकास भी 'सभ्यता' के अन्तर्गत है। समाज में कभी बहु-पत्नी-विवाह था आज एक-पत्नी-विवाह है; कभी रुपये-पैसे का चलन नहीं था, वस्तुओं के आदान-प्रदान से आर्थिक काम चलता था, आज रुपये-पैसे, नोट-हुंडी, चेक चल पड़े हैं; कभी एक राजा राज्य करता था, आज गणतंत्र हो गया है। 'सभ्यता' के इन सब क्षेत्रों में हम उन्नति कर रहे हैं, बदल रहे हैं। 'संस्कृति' इस प्रकार का परिवर्तनशील, बदलने वाला तत्व नहीं है, यह एक स्थिर तत्व है जो किसी समाज को दूसरों से भिन्न बनाता है। 'सभ्यता' के तत्वों को सब-कोई अपना लेते हैं, उनमें हिन्दुस्तानी, अंग्रेज़, जर्मन का भेद नहीं होता। रेल-तार सब देशों में एक-समान हैं; सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक संस्थाएँ भी सब देशों की एक-समान हैं या होती जा रही हैं; परन्तु संस्कृति सब की भिन्न-भिन्न है, अपनी-अपनी है। 'संस्कृति' का निर्माण कुटुम्बों में, कुलों में, सीमित समुदायों में हुआ है, उस अपनी 'संस्कृति' के कारण ही हमारा दूसरों से पृथक् अस्तित्व है, उस 'संस्कृति' के कारण ही हम अपने को दूसरों में गँवा देने के स्थान में अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को बनाये रखते हैं। यह 'संस्कृति' जो हमारे लिए प्राणों के समान है, 'कुल' से, 'कुटुम्ब' से, अपने 'समुदाय' से उत्पन्न होती है क्योंकि कुल, कुटुम्ब, समुदाय की सनातन काल से चली आ रही परंपराओं, मर्यादाओं का नाम ही 'संस्कृति' है। क्योंकि 'संस्कृति' हमारे स्वतंत्र व्यक्तित्व का निर्माण करती है, और इसका उद्भव-स्थान 'कुल' है, 'परिवार' है, इसलिए अर्जुन कहता है कि अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए हमें 'कुल' को नष्ट होने से बचाना होगा, 'कुल' नष्ट हो जायगा तो समाज के जीवन का यह दूसरा आधार-स्तम्भ ही टूट जायगा।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ।।४०।।

कुलक्षये[1]–कुल के नाश होने से; **प्रणश्यन्ति**[4]–नष्ट हो जाते हैं; **कुलधर्माः**[3]–कुल की परम्पराएँ; **सनातनाः**[2]–पुरानी; **धर्मे**[5]–धर्म के; **नष्टे**[6]–नष्ट होजाने पर; **कुलम्**[8]–कुल; **कृत्स्नम्**[7]–सारा; **अधर्मः**[9]–अधर्म; **अभिभवति**[11]–दबा लेता है; **उत**[10]–भी ।

जब कुटुम्ब तथा समाज में अधर्म फैल जाता है, तब हे वार्ष्णेय ! कुटुम्ब तथा समाज की स्त्रियाँ बिगड़ जाती हैं, भ्रष्ट हो जाती हैं; जब स्त्रियाँ भ्रष्ट हो जाती हैं, तब वर्ण-संकर हो जाता है, विभिन्न जातियों का मिश्रण हो जाता है ।।४१।।

जब स्त्रियाँ भ्रष्ट हो जाती हैं तब संकर उत्पन्न हो जाता है—इसका क्या अर्थ है ? स्त्रियों के भ्रष्ट होने तथा संकरता में क्या संबंध है ? जिस समाज में धर्म लुप्त हो जाता है उसमें स्त्रियों में से भी धर्म चला जाता है, स्त्रियाँ मनमाना चलने लगती हैं, किसी की नहीं सुनतीं, समाज की किसी मर्यादा, परंपरा को नहीं मानतीं। यह अवस्था 'व्यक्तिवाद' की अवस्था है, कोई किसी दूसरे का ख्याल नहीं करता, अपना ही ख्याल करता है। जब ऐसी अवस्था आ जाती है तब गुण-कर्मानुसार विवाह नहीं होते, प्रेम-विवाह होते हैं, विवाह का आधारभूत तत्व जो प्रवृत्तियों का एक-दूसरे से मेल था वह लुप्त हो जाता है। प्रवृत्ति को विवाह का आधार न बनाकर प्रेम को, वासना को इसका आधार बनाना ही संकरता है।

और यह वर्ण-संकरता कुल नष्ट करनेवालों को और कुल को—दोनों को निश्चय से नरक में ले जाती है क्योंकि इनके पितरों को, बुजुर्गों को, बड़े-बूढ़ों को दाना-पानी देनेवाला कोई नहीं रहता और वे बेचारे जीवन में ही नरक भोगने लगते हैं ।।४२।।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।

स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ।।४१।।

अधर्माभिभवात्[2]—अधर्म द्वारा दबा लेने से; **कृष्ण**[1]—हे कृष्ण; **प्रदुष्यन्ति**[4]—बिगड़ जाती हैं; **कुलस्त्रियः**[3]—कुल की स्त्रियाँ; **स्त्रीषु**[6]—स्त्रियों के; **दुष्टासु**[7]—बिगड़ जाने पर; **वार्ष्णेय**[5]—हे कृष्ण; **जायते**[9]—उत्पन्न हो जाता है; **वर्णसंकरः**[8]—जातियों का मिश्रण ।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।

पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदक-क्रियाः ।।४२।।

संकरः[1]—वर्णसंकरता; **नरकाय**[5]—नरक के लिये; **एव**[6]—ही; **कुलघ्नानाम्**[2]—कुल को नष्ट करने वालों के; **कुलस्य**[4]—कुल के; **च**[3]—और; **पतन्ति**[11]—जा गिरते हैं; **पितरः**[9]—बुजुर्ग, बड़ेरे; **हि**[10]—निश्चय

यह वर्तमान-युग का भी अनुभव है कि जो युवक-युवति अपने कुल तथा समाज की मर्यादाएँ, परंपराएँ तोड़ देते हैं, अपनी संस्कृति को त्याग देते हैं, वे स्वार्थ में इतने लीन हो जाते हैं कि उनके वृद्ध माता-पिता दाने-पानी के लिए तरसते-तरसते जीवन में ही नरक भोगते हैं।

कुल का हनन करनेवाले लोगों के वर्ण-संकरता उत्पन्न करनेवाले इन दोषों के कारण जाति-धर्म तथा सदा से चले

से; **एषाम्**[8]–इनके; **लुप्त**[7]–नष्ट; **पिण्ड**[7]–भोजन; **उदक**[7]–जल; **क्रिया:**[7]–व्यवहार।

इस श्लोक में 'वर्णसंकर' तथा 'लुप्तपिण्डोदक'—ये दो शब्द आये हैं, जिन पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है। आजकल 'वर्ण-व्यवस्था' तथा 'जाति-व्यवस्था' को एक ही समझ कर इस व्यवस्था की आलोचना की जाती है। अगर वर्ण-व्यवस्था वही-कुछ है जो जात-पात के नाम से समझी जाती है तब तो यह आलोचना ठीक ही है, परन्तु ऐसी बात नहीं है। आजकल की 'जाति-व्यवस्था' प्राचीन-काल की 'वर्ण-व्यवस्था' का विकृत तथा अपभ्रंश रूप है। 'वर्ण-व्यवस्था' का शुद्ध रूप है—समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार प्रवृत्तियों वाले कार्यों में बाँटना। जिन लोगों की पढ़ने-पढ़ाने, विद्याभ्यास करने की त्यागमयी वृत्ति हो वे ब्राह्मण का कार्य करें, जो देश की बाहर और भीतर के शत्रुओं से रक्षा करें वे क्षत्रिय का कार्य करें, जो कृषि तथा बणिज से देश को सम्पन्न बनायें, वे वैश्य का कार्य करें, जो सेवा-भाव से जीवन-यापन करें वे शूद्र कहलायें—इस प्रकार मनुष्य की रुचि के आधार पर समाज के कार्यों के वर्गीकरण को वर्ण-व्यवस्था कहते हैं। जो व्यक्ति जिस योग्यता का हो वह उसी कार्य को करे—यह वर्ण-व्यवस्था है, जो जिस योग्यता का न हो उसे करने लगे तो यह वर्ण-संकरता है। डाक्टर पुल बँधवाने लगे और इंजीनीयर बीमारों को दवा देने लगे—यह वर्ण-संकरता है, और इस प्रकार की संकरता जिस समाज में फैल जाती है वह नरक में जा पड़ता है।

इस श्लोक में दूसरा पद 'लुप्त-पिण्डोदक-क्रिया:'—यह आया है। इसका सनातनी भाई अर्थ यह करते हैं कि जब किसी समाज में वर्ण-संकरता फैल जाती है तब कुल नष्ट हो जाते हैं, और कुल की पितरों के तर्पण की जो परंपरा है वह नष्ट हो जाती है, पितरों को न कोई पिंडदान करता है, न उनका कोई तर्पण करता है, इसलिए इनके पितर गिर पड़ते हैं। आज के प्रगतिशील युग में इसका यह अर्थ करना अधिक संगत है कि जिस समाज में परंपराएँ लुप्त हो जाती हैं, व्यक्तिवाद घर कर लेता है, उस समाज में बड़ों-बूढ़ों को भोजन-पानी के लिए भी कोई नहीं पूछता, वे बेचारे जीते-जी नरक भोगने लगते हैं। 'पिण्ड' का अर्थ है—भोजन, 'उदक' का अर्थ है—पानी; पिण्डोदक के लुप्त होने का अर्थ हुआ—'दाना-पानी उठ जाना'।

आ रहे कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं—न समाज की परंपराएँ बनी रहती हैं, न कुल की परंपराएँ बनी रहती हैं ।।४३।।

हे जनार्दन ! हम यह सुनते आये हैं कि जिन मनुष्यों के कुल-धर्म, कुल की मर्यादाएँ, परंपराएँ, कुल की संस्कृति नष्ट हो जाती है वे अनियत काल के लिये नरक में बसते हैं ।।४४।।

अहो ! हम लोग बड़ा भारी पाप करने लगे हैं जो राज्य के सुख के लोभ से अपने बन्धु-बान्धवों की हत्या करने के लिये तय्यार हो गये हैं ।।४५।।

यदि धृतराष्ट्र के पुत्र हाथ में शस्त्र लेकर मुझ निःशस्त्र को रण में मार दें और मैं कुछ भी प्रतीकार न करूँ, उनका

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ।।४३।।

दोषैः[3]—दोषों से; **एतैः**[1]—इन; **कुलघ्नानाम्**[4]—कुल का हनन करने वाले लोगों के; **वर्णसंकरकारकैः**[2]—वर्णसंकरता उत्पन्न करनेवाले; **उत्साद्यन्ते**[9]—नष्ट हो जाते हैं; **जातिधर्माः**[8]—जाति-धर्म; **कुलधर्माः**[6]—कुल-धर्म; **च**[7]—और; **शाश्वताः**[5]—सदा से चले आ रहे ।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ।।४४।।

उत्सन्न[2]—नष्ट हुए; **कुलधर्माणाम्**[2]—कुल-धर्म हैं जिनके; **मनुष्याणाम्**[3]—मनुष्यों के; **जनार्दन**[1]—हे कृष्ण; **नरके**[5]—नरक में; **अनियतम्**[4]—अनियत काल, अनन्त काल तक; **वासः**[6]—निवास; **भवति**[7]—होता है; **इति**[8]—यह; **अनुशुश्रुम**[9]—सुनते हैं ।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ।।४५।।

अहो[1] **बत**[2]—शोक है कि; **महत्**[4]—बड़े; **पापम्**[4]—पाप को; **कर्तुम्**[5]—करने के लिये; **व्यवसिताः**[6]—तैयार हुए हैं; **वयम्**[3]—हम; **यत्**[7]—जो; **राज्यसुखलोभेन**[8]—राज्य और सुख के लोभ से; **हन्तुम्**[10]—मारने के लिये; **स्वजनम्**[9]—अपने कुटुम्बियों को; **उद्यताः**[11]—तैयार हो गये हैं ।

मुकाबिला न करूँ तो मेरे लिए तो यह कहीं अधिक अच्छा होगा ॥४६॥

संजय बोले : **हे धृतराष्ट्र ! ऐसा कहकर शोकाकुल अर्जुन युद्ध-भूमि में अपना धनुष-बाण छोड़कर रथ के पिछले भाग में बैठ गया ॥४७॥**

श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् में जो ब्रह्म-विद्या का वर्णन किया गया है, उसके अन्तर्गत जो योगशास्त्र है, उसमें जो कृष्णार्जुन-संवाद है, उस संवाद का 'अर्जुन-विषाद-योग' नामक यह प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।*

इस कथन से गीता के प्रथम अध्याय को समाप्त किया गया है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि गीता का स्थान उपनिषद् के समान है। जैसे उपनिषद् में ब्रह्म-विद्या का प्रतिपादन है, वैसे गीता में भी ब्रह्म-विद्या का प्रतिपादन है। ब्रह्म-विद्या का वर्णन योग-शास्त्र में किया जाता है इसलिए गीता जैसे उपनिषद् के समान है वैसे यह योग-शास्त्र के समान भी है। गीता में योग-शास्त्र की बात आ जाती है। गीता में ब्रह्म-विद्या तथा योग-शास्त्र की चर्चा श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में है। इस संवाद में अर्जुन के विषाद का, उसके शोकमग्न हो जाने का

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

यदि[1]—अगर; **माम्**[2]—मुझे; **अप्रतीकारम्**[4]—मुकाबिला न करने-वाले को; **अशस्त्रम्**[3]—बिना शस्त्रवाले को; **शस्त्रपाणयः**[5]—हाथ में शस्त्र लेने वाले; **धार्तराष्ट्राः**[6]—धृतराष्ट्र के पुत्र; **रणे**[7]—युद्ध में; **हन्युः**[8]—मार दें; **तत्**[9]—वह; **मे**[10]—मेरे लिये; **क्षेमतरम्**[11]—कहीं अधिक अच्छा; **भवेत्**[12]—हो।

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

एवम्[4]—इस प्रकार; **उक्त्वा**[5]—कहकर; **अर्जुनः**[3]—अर्जुन; **संख्ये**[1]—युद्ध में; **रथोपस्थे**[9]—रथ के पिछले भाग में; **उपाविशत्**[10]—बैठ गया; **विसृज्य**[8]—छोड़कर; **सशरम्**[6]—बाण सहित; **चापम्**[7]—धनुष को; **शोकसंविग्न**[2]—शोक से व्याकुल; **मानसः**[2]—मनवाला।

*** श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे अर्जुन-विषाद-योगो नाम प्रथमोऽध्यायः ।**

वर्णन है—इसलिए इसे 'अर्जुन-विषाद-योग' कहा गया है। विषाद या शोक भी योग के लिए मनुष्य को तैयार करता है क्योंकि विषाद की मनोदशा में मनुष्य एक प्रकार की मानसिक दशा को छोड़ रहा होता है, और दूसरे प्रकार की मानसिक दशा के लिए तैयार हो रहा होता है।

उपसंहार

हम इस ग्रन्थ के प्रारंभ में लिख आये हैं कि उपनिषदों का सार गीता है, और गीतामृत-रूपी दुग्ध का पान प्रत्येक जिज्ञासु कर सकता है। प्राचीन-काल में पुस्तकों के अध्याय के अन्त में पुस्तक का संक्षिप्त सार एक 'संकल्प' के रूप में कह दिया जाता था। गीता के प्रथम अध्याय के अन्त में दिये गये जिस 'संकल्प' का हमने ऊपर उल्लेख किया है उसमें भी गीता को उपनिषद्, ब्रह्म-विद्या, योग-शास्त्र —इन नामों से पुकारा गया है। इससे स्पष्ट है कि महर्षि वेद-व्यास ने महाभारत के उपाख्यान का सहारा लेकर, श्रीकृष्ण तथा अर्जुन को साधन बना कर उपनिषदों की ब्रह्म-विद्या के रहस्यों को खोलने का प्रयत्न किया है! नहीं तो, यह कैसे संभव है कि कौरवों-पांडवों की सेनाएँ युद्ध के मोर्चे पर तनी खड़ी हों, और श्रीकृष्ण तथा अर्जुन सेनाओं के बीच में खड़े होकर अठारह अध्यायों की बहस करने लगें। लड़ाई के समय इस प्रकार की बहस कौन करने देता है।

श्रीकृष्ण तथा अर्जुन का संवाद मानव-जीवन में प्रत्येक व्यक्ति के मानस में हो रहे अन्तर्द्वन्द्व का प्रतीक है। इस अन्तर्द्वन्द्व का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने के कारण ही तो गीता को उपनिषद्, ब्रह्मविद्या, योगशास्त्र कहा जा सकता है, अन्यथा यह उपनिषद् क्यों है, ब्रह्मविद्या क्यों है, योगशास्त्र क्यों है?

मनुष्य के मानस में क्या अन्तर्द्वन्द्व चला करता है? अर्जुन के मन में जो संघर्ष पैदा हुआ वही तो हर व्यक्ति के मानस में चलता है। एक तरफ़ धर्म है, कर्तव्य-निष्ठा है; दूसरी तरफ़ अधर्म है, मोह-माया जाल है; धर्म-अधर्म, मोह-कर्तव्य की रस्साकशी हमारे भीतर ही से पैदा होती है जैसे एक ही वंश से युधिष्ठिर तथा दुर्योधन पैदा हुए। अधर्म की, मोह की शक्ति प्रबल है, दल-बल सहित वह आँधी की तरह उमड़ता है, ठीक ऐसे जैसे कुरुक्षेत्र के मैदान में कौरवों की सेना उमड़ पड़ी। भीतरी संघर्ष के ऐसे समय में मनुष्य की आत्मा निर्बल पड़ जाती है, अर्जुन की तरह उसके हाथ से धनुष गिर पड़ता है, वह हताश होकर अपने को ही धोखा देने के लिए अपनी निर्बलता को, माया-मोह की फँसावट को उच्च आदर्शों का बाना पहनाने लगता है। जब हमारे भीतर अधर्म प्रबल होने लगता है, संघर्ष में हम पराजित-से होने लगते हैं, मोह के रज्जु-पाश में कसे जाते हैं, तब हम अपनी कमज़ोरी को छिपाने के लिए ऐसी युक्तियाँ ढूँढ निकालते हैं जिनके ज़ोर पर हम संघर्ष की स्थिति से निकल भागें। अर्जुन ऐसा ही कर रहा है। वह मोह के कारण उत्पन्न होने वाले संघर्ष से बचना चाहता है, और उससे बचने के लिए बड़ी ऊँची-ऊँची बातें करने लगा है।

अर्जुन ने क्या किया ? अर्जुन ने युद्ध में सैंकड़ों को मारा था, इकला न-जाने कितनों से लड़ा था और विजयी हुआ था। आज वह क्यों युद्ध के ही विरुद्ध एक के बाद दूसरी युक्ति देने लगा। वह अर्जुन जो सदा युद्ध के लिए तैयार बैठा रहता था क्यों कुरुक्षेत्र के मैदान में खड़ा होकर उन सब युक्तियों को देने लगा जो युद्ध-विरोधी लोग सदा से देते आये हैं, और आज भी देते हैं। अर्जुन की युद्ध-विरोधी युक्तियों को पढ़कर ऐसा जान पड़ता है कि युद्ध के विरोध में आवाज़ उठाने वाला संसार का वह पहला व्यक्ति था।

परन्तु अर्जुन युद्ध के विरुद्ध बोल क्यों रहा था ? वह एकदम अशोक तो बन नहीं गया था। असल बात यह थी कि युद्ध तो उसकी प्रकृति में बसा हुआ था, उसके स्वभाव का अंग था, परन्तु जब उसने अपनी आँखों के सामने अपने सगे-संबंधियों को देखा, यह देखा कि इन्हीं रिश्तेदारों को मार कर इनके खून से सने भोगों को भोगने के लिए यह युद्ध लड़ा जा रहा है, तब उसके हृदय में मोह उत्पन्न हो गया। आचार्य विनोबा ने इस स्थिति का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि अर्जुन की स्थिति ठीक ऐसी थी जैसी स्थिति उस न्यायाधीश की होती है जो सैंकड़ों अपराधियों को रोज़ फाँसी की सज़ा देता है, परन्तु दुर्भाग्य से कभी उसका अपना लड़का खून का अपराध कर बैठा, तब वह बुद्धिवाद बघारने लगा, कहने लगा कि फाँसी की सज़ा बड़ी अमानुषी है, इससे अपराधी का सुधार नहीं होता, यह सज़ा मानवता पर कलंक है। परन्तु यह प्रज्ञावाद उसे तभी याद आता है जब उसका अपना लड़का अपराधी बनकर उसके सामने खड़ा हो, तब उस पर मोह का पर्दा पड़ जाता है। अर्जुन भी खून बहाने से कभी नहीं हिचकिचाया था, परन्तु जब अपने ही लोगों पर हाथ उठाने की नौबत आ गई तब उस पर भी मोह छा गया, उसके अन्तरात्मा में संघर्ष, अन्तर्द्वन्द्व उठ खड़ा हुआ, और वह अपनी कमज़ोरी को छिपाने के लिए बड़ी ऊँची-ऊँची बातें करने लगा, कृष्ण से उपदेश लेने की जगह उसी को उपदेश देने लगा।

परन्तु जीवन के मार्ग में उजेला देखने के लिए इस प्रकार के संघर्ष की, अन्तर्द्वन्द्व की, अर्जुन के-से विषाद की स्थिति का उत्पन्न होना आवश्यक है। जबतक मनुष्य जीवन-यात्रा में उस बिन्दु पर आकर नहीं खड़ा हो जाता जहाँ से रास्ता दो तरफ़ फटता है, जबतक वह दुविधा की मनोदशा में नहीं आ जाता, तबतक वह सही रास्ते का चुनाव भी तो नहीं कर सकता। अर्जुन उन सब नवयुवकों का प्रतिनिधि है जो जीवन के अंधकारमय मार्ग में प्रकाश की खोज में शोकाकुल भटक रहे हैं। मनुष्य की अन्तरात्मा का देवासुर-संग्राम जब अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है, जब उसके हृदयाकाश में विषाद के अंधकार की घनघोर घटाएँ उमड़-उमड़ पड़ती हैं, तब कहीं से प्रकाश की रेखा फूट कर उसे सही मार्ग दिखलाती है। अर्जुन जब विषाद से हार मान कर चारों खाने चित्त होकर बैठ गया तभी श्रीकृष्ण ने उसका मार्ग-दर्शन किया। अन्धकार जब प्रगाढ़तम होता है तब प्रकाश के वह निकटतम होता है।

जैसे मनुष्य के मानस में अन्तर्द्वन्द्व चलता है वैसे समाज में भी हमें विकट परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। अर्जुन के जीवन में क्या हुआ ? एक तरफ़ धर्म था, दूसरी तरफ़ अधर्म था; एक तरफ़ उचित था, दूसरी तरफ़ अनुचित था; एक तरफ़ मोह था, दूसरी तरफ़ कर्तव्य था। द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, भीष्म पितामह, अन्य सगे-संबंधी अधर्म का, अनुचित का साथ दे रहे थे। अर्जुन ऐसे मौके पर क्या करता ? वह ऐसे मौके पर लड़ने के लिए आया था, परन्तु सब सगे-संबंधियों को सामने देखकर सोच में पड़ गया। क्या मैं अपने ही लोगों पर हाथ उठाऊँ ? अर्जुन की यह समस्या हर नवयुवक की समस्या है। धर्म एक तरफ़ है, और अपने सगे-संबंधी दूसरी तरफ़ हैं। हम किसका साथ दें, और किससे लड़ें ? अगर धर्म का, उचित का, सचाई का, ईमानदारी का, निर्मोह का, कर्तव्य का साथ दें तो सगे-संबंधियों से लड़ना पड़ता है; अगर मोह में सगे-संबंधियों का साथ दें तो धर्म, उचित, सचाई, ईमानदारी, कर्तव्य को छोड़ना पड़ता है। मोहवश सांसारिकता की तरफ़ बढ़ें तो मोह को काटनेवाली आध्यात्मिकता हाथ से जाती है, आध्यात्मिकता की तरफ़ चलें तो संसार छूटता है। इन दोनों का समन्वय किस प्रकार हो—यह अर्जुन की समस्या है, दो शब्दों में यह समस्या कि मोह को कैसे काटें ? अर्जुन मोहजनित इसी दुविधा में पड़ा हुआ है, अर्जुन से पहले के युवक भी इस दुविधा में, अर्जुन के बाद से आजतक के युवक भी इसी दुविधा में हैं। गीता ने मानव-जीवन की दुविधा की इस समस्या को जिसका कारण 'मोह' है, बड़े स्पष्ट रूप में लाकर रख ही नहीं दिया, परन्तु मोहनाशक अध्यात्मवाद तथा मोहपरक भौतिकवाद के उस विरोध को, जिसकी अर्जुन दुहाई दे रहा था, समन्वयात्मक दृष्टि से दूर कर दिया।

उच्च-कोटि के स्थिर साहित्य के दो पहलू होते हैं—एक तो अपने समय की समस्या के हल पर प्रकाश डालना, दूसरा कुछ ऐसे तथ्यों को प्रकट करना जो हर देश-काल के लिए स्थिर तत्व हैं। गीता ने महाभारत के युद्ध के समय अर्जुन के मन में मोहवश जो उथल-पुथल मच गई थी उस समस्या का हल किया, यह इस साहित्य का सामयिक पहलू था, परन्तु साथ ही गीता ने अर्जुन को साधन बनाकर हर व्यक्ति के मानस में चल रहे मोहजनित अन्तर्द्वन्द्व तथा मानव-समाज में हो रहे संघर्ष का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके ऐसे तथ्यों को प्रकट किया जो हर देश-काल के लिए उपयोगी हैं, यह इस साहित्य का स्थिर पहलू था।

'कृष्ण'-शब्द 'कृष् विलेखने' धातु से बना है, जिसका अर्थ है गहरा खोदने वाला। 'कृषि'-शब्द भी इसी धातु से बना है क्योंकि खेती में भी गहरा खोदा जाता है। 'अर्जुन'-शब्द 'ऋजु'-शब्द से बना है जिसका अर्थ है—सरल। अर्जुन जिस प्रकार अपनी मनोदशा को प्रकट कर रहा है उससे सरल मनोदशा क्या हो सकती है। सरल प्रकृति के व्यक्ति की उपजाऊ हृदय-भूमि में खोद-खोद करके ज्ञान का बीज बोया गया है इस 'कृष्णार्जुन-संवाद' में। वह बीज कैसे बोया गया—इसका वर्णन गीता के दूसरे अध्याय में किया गया है।

श्रीकृष्ण ने क्या किया? उसने अर्जुन की दुविधा के मूल-कारण 'मोह' को काट दिया। सब दुविधाओं का कारण 'मोह' है, सब कष्टों का कारण 'मोह' है। तभी गीता के १८वें अध्याय में श्रीकृष्ण का लम्बा उपदेश सुनने के बाद अर्जुन कहता है—'नष्टो मोहः'—आपके उपदेश से मेरा 'मोह', जिसमें मैं दुविधा में पड़ गया था, नष्ट होगया। अर्जुन का गीता के अन्त में 'नष्टो मोहः' कहना सिद्ध करता है कि गीता का प्रतिपाद्य विषय 'मोह' का नाश करना है। २य अध्याय के ७वें श्लोक में अर्जुन ने अपने को 'धर्मसंमूढचेताः' कहा है। 'संमूढ' का अर्थ भी 'मोह-ग्रस्त' है। 'मोह' के कारण ही तो हम सब भी दुविधा में पड़े रहते हैं।

'मोह'-शब्द का क्या अर्थ है? धातुपाठ के अनुसार 'मोह'-शब्द 'मुह वैचित्त्ये'—इस धातु से बना है। मन की वह अवस्था जिसमें मनुष्य 'विचित्त' हो जाय, अपने चित्त में, विवेक में न रहे, मोह की अवस्था कहलाती है। अर्जुन ने विवेक खो दिया था। परन्तु 'मोह' इतने तक ही सीमित नहीं है। योगदर्शन में पाँच क्लेश गिनाये गये हैं—**'अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः'**—सबसे बड़ा क्लेश, सब क्लेशों की जड़ 'अविद्या' है। अविद्या से 'अस्मिता' उत्पन्न होती है। 'अस्मिता'—अर्थात्, जो 'मैं' नहीं हूँ, उसे 'मैं' समझ लेना, 'अहम्-अस्मि' समझ लेना, 'अस्मिता' है। इसी 'अस्मिता' की व्याख्या करते हुए सांख्य-दर्शन ने कहा है—**'दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मता इव अस्मिता'**—अर्थात्, देखनेवाले और दीखनेवाले को एक समझ लेना ही 'अस्मिता' है। पुत्र-कलत्र जो दीखता है उसमें देखनेवाला आत्मा, 'मैं-पना' अनुभव करके सुखी होता है, दुःखी होता है, यही 'अस्मिता' है, योग-शास्त्र की इसी 'अस्मिता' को गीता ने 'मोह' कहा है। 'अस्मिता' अर्थात् 'मोह' में फँसकर ही तो अर्जुन युद्ध से भाग रहा था, अपने सगे-सम्बन्धियों के मोह-जाल में फँस गया था। इस 'अस्मिता' को, 'संग-भाव' को, अनासक्ति के उपदेश से श्रीकृष्ण ने काट दिया। अर्जुन की तरह हम सब भी तो 'अस्मिता' से, 'मोह' से ग्रस्त हैं। प्रश्न यह है कि हमारा 'मोह' कैसे दूर हो, हमारी दुविधा कैसे मिटे? इसके लिए हमें भी 'अर्जुन' जैसा ऋजु होना चाहिए, सरल होना चाहिए, मन में जो दुविधा हो उसे अर्जुन की तरह बेखटके गुरु के सामने रख देना चाहिए। जो अर्जुन-जैसा सरल शिष्य बन जाता है उसे श्री कृष्ण-जैसा गुरु मिल ही जाता है। गुरु का काम शिष्य के चित्त को चारों तरफ़ से घेर लेनेवाली 'अस्मिता' को, उसे 'विचित्त' कर देनेवाले 'मोह' को, 'लगाव' को, 'संग' को 'अनासक्ति' के उपदेश से काट देना है। गीता का यही मर्म है।

दूसरा अध्याय

सांख्य और योग

संजय ने कहा : हे धृतराष्ट्र ! इस प्रकार करुणा से भरे हुए, आँखों में आँसू छलक रहे, दुःखित-हृदय अर्जुन से श्रीकृष्ण ने यह वचन कहा ॥१॥

श्री भगवान् ने अर्जुन से कहा : हे अर्जुन ! इस विषम समय में तुझे यह मोह कहाँ से आ लगा। ऐसे समय में इस प्रकार का मोह आर्य लोगों के लिये अनजाना है, स्वर्ग ले जाने वाला नहीं है, कीर्ति पर धब्बा लगानेवाला है ॥२॥

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

तम्[6]–उस; तथा[1]–; इस प्रकार; कृपया[2]–करुणा से; आविष्टम्[3]–भरे हुए; अश्रूपूर्ण[4]–आँसुओं से भरे हुए; आकुलेक्षणम्[4]–व्याकुल नेत्रोंवाले; विषीदन्तम्[5]–दुःखित को; इदम्[8]–यह; वाक्यम्[9]–वचन; उवाच[10]–कहा; मधुसूदनः[7]–कृष्ण ने ।

श्री भगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥

कुतः[6]–कहाँ से; त्वा[2]–तुझे; कश्मलम्[5]–मोह, कलंक; इदम्[4]–यह; विषमे[3]–विषम समय में; समुपस्थितम्[7]–आ पहुँचा; अनार्यजुष्टम्[8]–जो आर्य लोगों के लिये अनजाना है; अस्वर्ग्यम्[9]–जो स्वर्ग ले जानेवाला नहीं है; अकीर्तिकरम्[10]–जो बदनामी करानेवाला है; अर्जुन[1]–हे अर्जुन !

हे पार्थ ! नामर्दी की तरफ़ पग मत बढ़ाओ, तुम्हें यह शोभा नहीं देता। अरे शत्रुओं को सता देनेवाले ! हृदय की इस दुर्बलता को छोड़कर उठ खड़े हो जाओ ।।३।।

अर्जुन ने श्रीकृष्ण को उत्तर दिया : **हे मधुसूदन ! मैं युद्ध में भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य के प्रति बाणों से कैसे युद्ध कर सकूँगा ? हे शत्रुओं का संहार करनेवाले कृष्ण, ये दोनों तो पूजा के योग्य हैं ।।४।।**

इन पूजनीय गुरुओं, बड़े-बूढ़ों को मारकर जीने की अपेक्षा इस संसार में भीख माँगकर पेट भर लेना कहीं अधिक अच्छा है। यद्यपि ये बड़े-बूढ़े 'अर्थ-काम' हैं, धन-दौलत के लोभ में युद्ध में आ खड़े हुए हैं, तथापि अगर मैं इन्हें मारूँगा

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ।।३।।

क्लैब्यम्[2]–नामर्दी को; **मा स्म गमः**[3]–मत जा; **पार्थ**[1]–हे पृथा (कुन्ती) के पुत्र अर्जुन ! **न**[6]–नहीं; **एतत्**[4]–यह; **त्वयि**[5]–तुझ में; **उपपद्यते**[6]–ठीक लगता है; **क्षुद्रम्**[8]–तुच्छ; **हृदयदौर्बल्यम्**[9]–हृदय की दुर्बलता को; **त्यक्त्वा**[10]–छोड़कर; **उत्तिष्ठ**[11]–उठ खड़ा हो; **परंतप**[7]–शत्रुओं को सता देनेवाले।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ।।४।।

कथम्[8]–कैसे; **भीष्मम्**[4]–भीष्म को; **अहम्**[2]–मैं; **संख्ये**[3]–युद्ध में; **द्रोणम्**[6]–द्रोण को; **च**[5]–और; **मधुसूदन**[1]–हे कृष्ण; **इषुभिः**[9]–बाणों से; **प्रति**[7]–उनके विरुद्ध; **योत्स्यामि**[10]–युद्ध करूँगा; **पूजार्हौ**[12]–दोनों पूजा के योग्य हैं; **अरिसूदन**[11]–हे शत्रुओं का संहार करनेवाले कृष्ण।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ।।५।।

गुरून्[2]–गुरुओं को, बड़े-बूढ़ों को; **अहत्वा**[3]–बिना मारे; **हि**[10]–निश्चय से; **महानुभावान्**[1]–पूजनीयों को; **श्रेयः**[9]–श्रेय है, अच्छा है;

तब तो इसी जगत् में मुझे इनके रक्त से सने हुए --'रुधिर-प्रदिग्ध'--भोग भोगने होंगे ।।५।।

हम तो यह भी नहीं जानते कि हमारे लिये भले की बात क्या है--क्या हमारे लिये यह भले की बात है कि हम उन्हें जीत लें, या यह भले की बात है कि वे हमें जीत लें। जिन लोगों की हत्या करने के बाद हमारे भीतर खुद जीने की इच्छा नहीं रहेगी, वे धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे सामने आ खड़े हुए हैं ।।६।।

दया की भावना ने दोष बनकर मेरे स्वभाव को ग्रस लिया है; इस संकट-काल में मेरा धर्म क्या है--इस विषय में मेरा मन मूढ़ हो गया है। हे कृष्ण ! मैं तुझे पूछता हूँ : जो

भोक्तुम्[8]--खाना, पेट भर लेना; **भैक्ष्यम्**[6]--भिक्षा माँग लेना; **अपि**[7]--भी; **इह**[4]--इस; **लोके**[5]--संसार में; **हत्वा**[13]--मार कर; **अर्थकामान्**[11]--धन की कामना वाले; **तु**[18]--तो; **गुरून्**[12]--बड़े-बूढ़ों को; **इह**[14]--यहाँ; **एव**[17]--ही; **भुंजीय**[19]--भोगूँगा; **भोगान्**[16]--भोगों को; **रुधिर-प्रदिग्धान्**[15]--रुधिर से सने हुओं को।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ।।६।।

न[3]--नहीं; **च**[2]--भी; **एतद्**[1]--यह; **विद्मः**[4]--जानते हैं; **कतरत्**[6]--कौन-सा; **नः**[5]--हमारे लिये; **गरीयः**[7]--श्रेष्ठ है; **यद्वा**[8]--अथवा; **जयेम**[9]--हम जीतेंगे; **यदि वा**[10]--अथवा; **नः**[11]--हम को; **जयेयुः**[12]--वे जीतेंगे; **यान्**[13]--जिनको; **एव**[17]--ही; **हत्वा**[14]--मार कर; **न**[15]--नहीं; **जिजीविषामः**[15]--जीना चाहते हैं; **ते**[16]--वे; **अवस्थिताः**[20]--खड़े हैं; **प्रमुखे**[19]--सामने; **धार्तराष्ट्राः**[18]--धृतराष्ट्र के पुत्र।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।।७।।

कार्पण्य[1]--दया; **दोषोपहत**[1]--दोषग्रस्त; **स्वभावः**[1]--स्वभाववाला; **पृच्छामि**[4]--पूछता हूँ; **त्वाम्**[3]--तुझे; **धर्म-संमूढ-चेताः**[2]--धर्म के विषय में मूढ़ हो गया है चित्त जिसका; **यत्**[5]--जो; **श्रेयः**[7]--भला; **स्यात्**[8]--

निश्चित रूप से मेरे लिये भले की बात हो वह बतला। मैं तेरा शिष्य हूँ; तेरी शरण में आया हूँ, मुझे उपदेश दे ॥७॥

भले ही मुझे सारी पृथिवी में निष्कंटक, धन-धान्य-सम्पन्न राज्य मिल जाय, भले ही मुझे स्वर्ग लोक के देवताओं पर शासन करना मिल जाय, परन्तु मुझे कोई ऐसी वस्तु नहीं दिखाई देती जो इन्द्रियों को सुखा डालनेवाले इस शोक को दूर कर सके ॥८॥

अर्जुन की उक्त बात धृतराष्ट्र को सुनाकर फिर संजय ने कहा : **हे पराक्रमी राजन् ! इस प्रकार गुडाकेश (अर्जुन) हृषीकेश को उक्त बात कहने के बाद यह कहकर चुप हो गया कि हे गोविन्द !—'न योत्स्ये'—मैं नहीं लड़ूँगा ॥९॥**

हो; **निश्चितम्**[6]—निश्चित रूप से; **ब्रूहि**[11]—कह; **तत्**[9]—वह; **मे**[10]—मुझे; **शिष्यः**[14]—शिष्य; **ते**[13]—तेरा; **अहम्**[12]—मैं; **शाधि**[18]—शिक्षा दो; **माम्**[17]—मुझे; **त्वां**[15]—तुझे; **प्रपन्नम्**[16]—शरणागत को।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्यात् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

न[11] नहीं; **हि**[1]—क्योंकि; **प्रपश्यामि**[12]—देखता हूँ; **मम**[14]—मेरे; **अपनुद्यात्**[18]—दूर कर सके; **यत्**[13]—जो; **शोकम्**[17]—शोक को; **उच्छोषणम्**[16]—सुखानेवाले को; **इन्द्रियाणाम्**[15]—इन्द्रियों के; **अवाप्य**[9]—प्राप्त करके; **भूमौ**[2]—भूमि में; **असपत्नम्**[3]—निष्कंटक; **ऋद्धम्**[4]—समृद्ध; **राज्यम्**[5]—राज्य को; **सुराणाम्**[7]—देवताओं के; **अपि**[10]—भी; **च**[6]—और; **आधिपत्यम्**[8]—शासन को।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

एवम्[4]—इस प्रकार; **उक्त्वा**[5]—कहकर; **हृषीकेशं**[3]—श्रीकृष्ण को; **गुडाकेशः**[2]—अर्जुन; **परंतप**[1]—हे पराक्रमी; **न**[7]—नहीं; **योत्स्ये**[7]—युद्ध करूँगा; **इति**[8]—यह; **गोविन्दम्**[6]—गोविन्द (कृष्ण) को; **उक्त्वा**[10]—कहकर; **तूष्णीम्**[11]—चुप; **बभूव**[12]—होगया; **ह**[9]—यह स्पष्ट है।

हे भरतवंशी धृतराष्ट्र ! दोनों सेनाओं के मध्य में खड़े होकर विषाद से ग्रसे हुए अर्जुन को श्रीकृष्ण ने हँसते हुए ये वचन कहे ॥१०॥

['सांख्य' या 'वैराग्य' की दृष्टि के द्वारा अर्जुन के मोह का निरसन]

श्रीभगवान् ने अर्जुन से कहा : **जिनके लिये शोक नहीं करना चाहिये, उनके लिये तू शोक कर रहा है, और साथ ही ज्ञान की बातें करता है। पण्डित लोग न मरों के लिए शोक करते हैं, न जीवितों के लिये ॥११॥**

गीता का वास्तविक उपदेश इसी श्लोक से प्रारंभ होता है। शंकराचार्य ने गीता का भाष्य भी इसी श्लोक से प्रारंभ किया है। कई लोगों का कथन है कि वर्णमाला में अकार प्रथम है, गीता में भी 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्'--इस श्लोक में 'अकार' पहले आया है, इसलिए यहीं से गीता प्रारंभ होती है। यह ठीक है कि

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

तम्[6]–उसे; **उवाच**[11]–बोला; **हृषीकेशः**[2]–श्रीकृष्ण; **प्रहसन्**[8]–हँसते हुए; **इव**[8]–मानो; **भारत**[1]–हे भरतवंशी धृतराष्ट्र; **सेनयोः**[4]–सेनाओं के; **उभयोः**[3]–दोनों; **मध्ये**[5]–बीच में; **विषीदन्तम्**[7]–विषाद, शोक करते हुए को; **इदम्**[9]–यह; **वचः**[10]–वचन।

श्री भगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

अशोच्यान्[2]–जिनके लिये शोक करना उचित नहीं है उनके लिये; **अन्वशोचः**[3]–शोक करता है; **त्वं**[1]–तू; **प्रज्ञावादान्**[5]–ज्ञान की बातें; **च**[4]–और; **भाषसे**[6]–बोलता है; **गतासून्**[8]–जिनके प्राण चले गये हैं उनके लिये; **अगतासून्**[10]–जिनके प्राण नहीं गये उनके लिये; **च**[9]–और; **न**[11]–नहीं; **अनुशोचन्ति**[12]–शोक करते हैं; **पण्डिताः**[7]–पण्डित लोग।

इस श्लोक में 'मरे हुओं' और 'जीवितों' के लिए पंडित लोग शोक नहीं करते—यह कहा है। मरों के लिए तो शोक किया जाता है, जीवितों के लिए तो कोई शोक नहीं करता, फिर गीता में 'मरे हुओं' और 'जीवितों'—दोनों को क्यों

गीता का उपदेश यहीं से प्रारंभ होता है, परन्तु इस उपदेश की भूमिका का होना भी तो आवश्यक है। किस परिस्थिति में यह उपदेश दिया गया—इसी भूमिका का विवरण प्रथम अध्याय तथा इस श्लोक से पहले श्लोकों में पाया जाता है। गीता के इन श्लोकों को 'अर्जुन-विषाद-योग' का नाम दिया गया है। अर्जुन का विषाद हर-एक हृदय का विषाद है। जबतक हृदय रो नहीं देता तबतक आशा की किरण भी तो नहीं फूटती। जब दुविधा में मनुष्य रो देता है तब कहीं से प्रकाश भी हृदय में झाँकने लगता है। दूसरे अध्याय में इसी प्रकाश की झाँकी है।

अर्जुन के मोह को कैसे दूर किया जाय? उसकी दुविधा, उसके अन्तर्द्वन्द्व को कैसे मिटाया जाय? इस उद्देश्य से श्रीकृष्ण तीन दृष्टियों से अर्जुन को समझाते हैं। ये तीन दृष्टियाँ हैं—(क) सांख्य-दृष्टि, (ख) स्व-धर्म-दृष्टि तथा (ग) योग-दृष्टि। यहाँ सांख्य एवं योग शब्द से प्रचलित सांख्य-दर्शन एवं योग-दर्शन से अभिप्राय नहीं, ये गीता के अपने शब्द हैं, अपने ही उनके अर्थ हैं। सांख्य-दृष्टि से अर्थ है—संन्यास की, वैराग्य की दृष्टि। उदाहरणार्थ, साधु-संन्यासी आनन्द से भिक्षा माँग कर जीवन बिताते हैं, शुक आदि महात्माओं ने इसी साधुभाव से जीवन निर्वाह किया, अर्जुन भी कुछ ऐसी ही संन्यास की बातें कर रहा था। श्रीकृष्ण ने पहले इस सांख्य-दृष्टि, संन्यास-दृष्टि से अर्जुन के मोह को काटने का प्रयत्न किया। यह सांख्य-दृष्टि ११वें से ३०वें श्लोक तक है। ३१ से ३८ श्लोक तक 'स्व-धर्म-दृष्टि' से विचार किया गया है। अर्जुन का धर्म क्षात्र-धर्म है। क्षत्रिय युद्ध से टले—यह अनहोनी घटना है। जिसका जो धर्म हो उसे उसका पालन करना ही चाहिए। यह दृष्टि है—'स्वधर्म की दृष्टि'। उसके बाद ३९वें श्लोक से योग-दृष्टि से अर्जुन के मोह पर प्रहार किया गया है। योग-दृष्टि से अर्थ है—'कर्म की दृष्टि'। उदाहरणार्थ, जनक-सरीखे राजा राज-काज भी करते थे, दुनिया के सब कारोबार भी करते थे, शत्रुओं से लड़ते भी थे, परन्तु सब-कुछ निस्संगभाव से करते थे, कर्म में लिप्त नहीं होते थे। इस अध्याय में इन तीनों—वैराग्य, स्वधर्म तथा कर्म—की दृष्टियों से अर्जुन की समस्या का समाधान किया गया है।

जोड़ दिया गया? इस पर गीता के टीकाकारों ने बहुत-कुछ लिखा है। कई टीकाकार कहते हैं कि भीष्मादि जैसे जीवितावस्था में अशोच्य हैं, वैसे मृतावस्था में भी अशोच्य हैं, क्योंकि जीवितावस्था में शोचनीय वही होता है जो दुराचारी हो। भीष्मादि ऐसे नहीं हैं इसलिए जीवितावस्था में शोचनीय नहीं हैं; मरकर वे सद्गति प्राप्त करेंगे इसलिए मरने के बाद भी वे अशोच्य हैं। कई लोग कहते हैं कि 'गतासून्' का अर्थ है—'शरीर'—जिसमें से 'असु' अर्थात् प्राण निकल गया; 'अगतासून्' का अर्थ है—'आत्मा'—जिसका प्राण निकलता ही नहीं। 'शरीर' तो मरता ही है उसके लिए क्या शोक करना; 'आत्मा' मरता ही नहीं इसलिए उसके लिए भी क्या शोक। असल में, यहाँ मुहाविरे के तौर पर 'गतासून्'-'अगतासून्' कह दिया गया है, इस कथन में अन्य कोई गहरा भाव नहीं है।

न तो ऐसा ही है कि मैं किसी समय नहीं था; न ऐसा ही है कि तू नहीं था; न ऐसा ही है कि ये सब राजा नहीं थे; और न कभी कोई ऐसा समय आयेगा जब कि हम सब इसके बाद नहीं रहेंगे ॥१२॥

संसार को तीन भागों में बाँटा जा सकता है : 'मैं'-'तू'-'वह'। संस्कृत में इसे 'अहम्'-'त्वम्'-'इदम्' कहा जाता है। इस श्लोक में श्रीकृष्ण ने संपूर्ण विश्व पर दार्शनिक-दृष्टि से विचार करते हुए कहा है कि कोई समय नहीं था जब 'मैं' नहीं था, या 'तू' नहीं था, या 'ये' दूसरे योद्धा लोग जो युद्ध-भूमि में खड़े हुए हैं, नहीं थे। यह भूतकाल की बात हुई; वर्तमान काल में तो ये तीनों मौजूद हैं ही; भविष्यकाल में भी कोई समय ऐसा नहीं होगा जब ये तीनों नहीं होंगे। इससे स्पष्ट है कि आत्मा नित्य है, 'मेरा', 'तेरा', 'इनका' आत्मा 'था', 'है', 'होगा'—फिर हे अर्जुन! तू इनके मरने की बात क्यों सोचता है? वास्तव में, देह अलग है, देही अलग है; 'देह' को शरीर कहते हैं जो मरता है, 'देही' को आत्मा कहते हैं जो शाश्वत है, अमर है। हे अर्जुन! तू इन दोनों में भेद कर।

जैसे देह धारण करनेवाले आत्मा को इस देह में बालपन, यौवन और बुढ़ापा प्राप्त होता है, उसी प्रकार आत्मा को दूसरे देह की प्राप्ति हो जाती है। धीर व्यक्ति को इस बात से मोह में नहीं पड़ जाना चाहिये ॥१३॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

न[1]—नहीं; **तु**[2]—तो; **एव**[3]—भी; **अहम्**[4]—मैं; **जातु**[5]—किसी काल में; **न**[6]—नहीं; **आसम्**[7]—था; **न**[9]—नहीं; **त्वम्**[8]—तू; **न**[12]—नहीं; **इमे**[10]—ये; **जनाधिपाः**[11]—राजा लोग; **न**[14]—नहीं; **च**[13]—और; **एव**[15]—ही; **न**[20]—नहीं; **भविष्यामः**[21]—होंगे; **सर्वे**[19]—सब; **वयम्**[18]—हम; **अतः**[16]—इससे; **परम्**[17]—आगे।

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तर-प्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

देहिनः[2]—देह धारण करनेवाले जीवात्मा को; **अस्मिन्**[3]—इस; **यथा**[1]—जैसे; **देहे**[4]—शरीर में; **कौमारम्**[5]—बालपन; **यौवनम्**[6]—युवावस्था; **जरा**[7]—बुढ़ापा; **तथा**[8]—वैसे; **देहान्तर**[9]—दूसरा देह; **प्राप्तिः**[9]—

इस जन्म में हम सब तीन अवस्थाओं में से गुजरते हैं। बाल्यावस्था आती है, परन्तु समय आने पर यह मर जाती है, यौवनावस्था जन्म लेती है; फिर यौवनावस्था मर जाती है, वृद्धावस्था जन्म लेती है। जब इस जन्म में यह चक्र चल रहा है तब यह क्यों न माना जाय कि जब वृद्धावस्था मर जाती है, यह शरीर नष्ट हो जाता है, तब अगली अवस्था आ जाती है, यह शरीर काम के लायक न रहा इसलिए आत्मा अगला नया शरीर धारण कर लेता है। इस प्रकार आत्मा एक के बाद दूसरा शरीर धारण करता है, नया जन्म लेता है, पुनर्जन्म लेता है; इस दृष्टि से हे अर्जुन ! तू आत्मा के मरने की बात क्यों सोचता है ? यह तो तेरा 'मोह' है, इस शरीर में बंध जाना, इसमें आसक्ति है। यह मत समझ कि यह शरीर नित्य है, भीष्म और द्रोण का शरीर नित्य नहीं है, उनसे मोह क्यों करता है, नित्य तो इन शरीरों में रहनेवाला आत्मा है, वह मरता ही नहीं, फिर उसके लिए मोह कैसा, विषाद कैसा, घबराहट कैसी ?

श्री शंकराचार्य का कहना है कि इस बात पर शंका होती है कि अगर आत्मा नहीं मरता, वह नित्य है, अमर है, तो हमें रोजमर्रा के जीवन में यह अनुभव क्यों होता है कि हम दुःखी हैं, हमें सर्दी-गर्मी लगती है, हम मर रहे हैं ? इसका उत्तर देते हुए श्रीकृष्ण १४ में श्लोक में कहते हैं :

हे कुन्ती के पुत्र ! आत्मा के अमर होते हुए भी आत्मा को उल्टा भान इसलिये होता है, उसे सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख की अनुभूति इसलिये होती है क्योंकि आत्मा का 'मात्रा' से—इन्द्रियों से—स्पर्श रहता है। सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख का भान इन्द्रियों को होता है, शरीर को होता है, परन्तु इन्द्रियों तथा शरीर का आत्मा के साथ संपर्क होने के कारण वह भान आत्मा पर आरोपित हो जाता है। ये स्पर्श तो आते हैं-जाते हैं, अनित्य हैं, सदा नहीं रहते, इसलिये हे भारत ! इन्हें सहन कर ॥१४॥

प्राप्त हो जाना है; **धीरः**[11]—धीर पुरुष; **तत्र**[10]—उस विषय में; **न**[12]—नहीं; **मुह्यति**[13]—मोह को प्राप्त होता है।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

मात्रास्पर्शाः[3]—इन्द्रियों के स्पर्श (मीयते एभिरिति मात्राः—जिनसे संसार के बाह्य पदार्थ मापे जाते हैं वे 'मात्रा' अर्थात् 'इन्द्रियां'; उन इन्द्रियों के आत्मा के साथ स्पर्श को यहाँ मात्रास्पर्श कहा गया है);

अगर सर्दी-गर्मी, इन्द्रियों का सुख-दुःख शरीर का स्वभाव न होकर आत्मा का स्वभाव होता, वही जन्मता, वही मरता, तो 'अन्यत्रमना अभूवम् नापश्यम्'—मेरा ध्यान दूसरी तरफ़ था इसलिए मैं आंखों के खुला होते हुए भी न देख सका—ऐसी बात न होती। आत्मा जब अपने-आप को इन्द्रियों के विषयों से अलग कर लेता है तब गर्मी होने पर गर्मी नहीं महसूस होती, सर्दी होने पर सर्दी नहीं महसूस होती, सुख की बात होने पर हर्ष नहीं होता, दुःख की बात होने पर कष्ट नहीं होता। संसार का सुख-दुःख क्यों है? 'मात्रास्पर्श' के कारण। 'मात्रा' का अर्थ है—'इन्द्रिय'—संसार के विषयों को इन्द्रियाँ मापती हैं इसलिए वे 'मात्रा' कहलाती हैं। इन्द्रियों के साथ स्पर्श से ही आत्मा को शीतोष्ण, सुख-दुःख का अनुभव होता है। परन्तु आत्मा का इन्द्रियों के साथ स्पर्श—'मात्रास्पर्श'—तो आगमापायी है, आता है, जाता है, टिका थोड़े ही रहता है। आत्मा जब अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है तब मात्रास्पर्श अपने-आप टूट जाता है, और तब इन्द्रियाँ उसे न सुख की अनुभूति देती हैं, न दुःख की, न सर्दी की अनुभूति देती हैं, न गर्मी की। अगर आत्मा की ऐसी स्थिति आ जाती है, जैसा सब का अनुभव है कि आती है, तब यह स्पष्ट है कि 'मात्रास्पर्श' अनित्य है, आत्मा का इन्द्रियों के साथ स्पर्श का संबंध सदा का और सदा के लिए नहीं है। आत्मा और इन्द्रियों के संबंध, या इन्द्रियों और विषयों के संबंध को गीता में 'मात्रास्पर्श' कहा है, 'मात्रा' अर्थात् इन्द्रियों या विषयों के 'स्पर्श' अर्थात् छू जाने का संबंध। सुख-दुःख की उत्पत्ति दो के आपस में स्पर्श से, छू जाने से, मिलने से, संयोग से होती है। 'संयोग' से जिसकी उत्पत्ति हो वह 'संयोगज' कहलाती है। जो वस्तु 'संयोगज' है, दो के संबंध से बनी है वह नित्य कैसे हो सकती है? दो के संयोग से बनी, तो वह संयोग के हट जाने से नष्ट हो जायगी। सुख-दुःख जब दो के संयोग से उत्पन्न होते हैं तब ये नित्य तो नहीं हो सकते, तब इनसे आविष्ट होना, सुखी होना या दुःखी होना अनुचित है। अनुचित होते हुए भी ऐसी अवस्था में क्या किया जाय? यह समझते हुए कि आत्मा का इन्द्रियों के साथ अनित्य संबंध है, जब तक वह अनित्य संबंध बना हुआ है तब तक के लिए सुख-दुःख, शीतोष्ण को बर्दाश्त करना होगा, इसलिए हे अर्जुन! तुम्हें जो दुःख हो रहा है उसे क्षणिक समझकर सहन करना होगा।

तु[4]—तो; **कौन्तेय**[1]—हे कुन्ती के पुत्र; **शीतोष्ण**[2]—सर्दी-गर्मी; **सुख-दुःखदाः**[2]—सुख-दुःख देनेवाले हैं; **आगम**[5]—आनेवाले; **अपायिनः**[5]—जानेवाले; **अनित्याः**[6]—अनित्य हैं; **तान्**[8]—उनको; **तितिक्षस्व**[9]—सहन कर; **भारत**[7]—हे भरतकुल के।

'मात्रास्पर्श' के भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों ने भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं। जगद्गुरु शंकराचार्य ने 'मात्रा' का अर्थ 'इन्द्रिय' किया है। लोकमान्य तिलक ने 'मात्रा' का अर्थ शब्द-रूप आदि बाह्य-पदार्थ अर्थात् संसार के विषय किया है।

हे पुरुषों में श्रेष्ठ अर्जुन! जिस पुरुष को ये दुःखी नहीं करते, जो दुःख और सुख में समान रहता है, जो धीर है, विचलित नहीं होता, वह अमर जीवन प्राप्त करने में समर्थ होता है ॥१५॥

अमरत्व की अभिलाषा भारतीय शास्त्रों की मुख्य समस्या है। उपनिषदों में अमरत्व की खोज में ही ऋषि-महर्षि दर-दर चक्कर काटते हैं। याज्ञवल्क्य ने जब मैत्रेयी को धन-धान्य देना चाहा तब उसने भी कह दिया—'किमहं तेन कुर्याम् येन नामृता स्याम्'—जिससे मुझे अमरत्व प्राप्त न हो उसे पाकर मैं क्या करूंगी? मृत्यु का दुःख इतना सर्वव्यापी है कि ऋषियों ने मृत्यु को जीतने के लिए ही अपनी सारी शक्ति लगा दी है। तो वह मृत्यु कैसे जीती जाय? श्रीकृष्ण कहते हैं कि जब हम समझ लें कि देह अलग है, देही अलग है, शरीर अलग है, आत्मा अलग है, तब हम शरीर में रहना छोड़ देते हैं, और शरीर में रहना छोड़ते ही हमारे लिए सुख-दुःख समान हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, सन्तान के लिए हम कष्टों को झेलते हैं परन्तु उन कष्टों को दुःख नहीं मानते; देश के लिए अपने प्राणों का बलिदान करनेवाले फाँसी की रस्सियों में झूल जाते हैं परन्तु आँसू बहाने के स्थान में आनन्द से उछलते हैं। ये लोग शरीर में रहते हुए भी शरीर में नहीं रहते। शरीर में रहते हुए भी शरीर में न रहना कोई अनहोनी बात नहीं है। हम सब के जीवन में यह होता ही है। जब इस प्रकार की अवस्था स्थिर हो जाय, तब सुख-दुःख में समान रहने की अवस्था आ जाती है, यही अमरत्व है। मन में एकरसता का आ जाना और सुख-दुःख में समान स्थिति उत्पन्न हो जाना अन्य कारणों से भी आवश्यक है। उन्हीं का वर्णन १६वें श्लोक में किया गया है।

दोनों अर्थों में अभिप्राय एक ही निकलता है। अगर 'मात्रा' का अर्थ इन्द्रिय माना जाय, तो अर्थ यह निकलता है कि आत्मा तथा इन्द्रिय के स्पर्श से सुख-दुःख अनुभव होता है; यह संबंध हट जाये तो सुख-दुःख भी नहीं होता। अगर 'मात्रा' का अर्थ बाह्य-पदार्थ अर्थात् संसार के विषय माना जाय, तो अर्थ यह निकलता है कि इन्द्रिय के विषयों के साथ स्पर्श से सुख-दुःख होता है; इन्द्रिय का विषय के साथ संबंध हट जाये तो सुख-दुःख नहीं होता। हर हालत में सुख-दुःख आत्मा का गुण नहीं है, इन्द्रियों के आत्मा के साथ स्पर्श से या विषयों के इन्द्रियों के साथ स्पर्श से सुख-दुःख, शीत-उष्ण का भान होता है।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

यम्[4]—जिसको; **हि**[1]—निश्चय से; **न**[8]—नहीं; **व्यथयन्ति**[8]—दुःख देते हैं; **एते**[7]—ये; **पुरुषम्**[6]—पुरुष को; **पुरुषर्षभ**[2]—पुरुषों में श्रेष्ठ;

जो 'नहीं' (असत्) है वह 'हो' (सत्) नहीं सकता, जो 'है' (सत्) उसका 'अभाव' नहीं हो सकता। तत्वदर्शी लोगों ने इन दोनों बातों के अन्ततक विचार करके यह ठीक-ठीक निष्कर्ष निकाल लिया है ॥१६॥

जब जो है उसका अभाव नहीं हो सकता तब आत्मा जो 'सत्' है उसका नाश कैसे होगा? आत्मा तो अमर है। ऐसी अवस्था में अर्जुन का यह कहकर विषाद करना कि —'ये सब मर जायेंगे तो मैं क्या करूँगा'—ठीक नहीं है।

जिस आत्म-सत्ता से हमारा यह सारा शरीर व्याप्त है, वह अविनाशी है। इस अव्यय आत्म-सत्ता का कोई भी विनाश नहीं कर सकता ॥१७॥

समदुःखसुखम्[3]—दुःख तथा सुख को एक-समान समझनेवाले; **धीरम्**[5]—धीर पुरुष को; **सः**[9]—वह; **अमृतत्वाय**[10]—अमरत्व के लिये; **कल्पते**[11]—समर्थ होता है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

न[3]—नहीं; **असतः**[1]—असत् का; **विद्यते**[4]—होता है; **भावः**[2]—अस्तित्व; **न**[7]—नहीं; **अभावः**[6]—अभाव; **विद्यते**[8]—होता है; **सतः**[5]—सत् का; **उभयोः**[10]—दोनों का; **अपि**[11]—भी; **दृष्टः**[15]—देखा गया है; **अन्तः**[12]—अन्त, तत्त्व-ज्ञान; **तु**[13]—तो; **अनयोः**[9]—इन; **तत्वदर्शिभिः**[14]—तत्वज्ञानियों द्वारा।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्त्तुमर्हति ॥१७॥

अविनाशि[1]—नाशरहित; **तु**[2]—तो; **तत्**[3]—उसे; **विद्धि**[4]—जान; **येन**[5]—जिससे; **सर्वम्**[7]—सब; **इदम्**[6]—यह; **ततम्**[8]—व्याप्त है; **विनाशम्**[11]—नाश; **अव्ययस्य**[10]—नाशरहित का; **अस्य**[9]—इसका; **न**[14]—नहीं; **कश्चित्**[13]—कोई भी; **कर्त्तुम्**[12]—करने को; **अर्हति**[14]—समर्थ है, सकता है।

यह देह 'शरीर' है, वह आत्मा 'शरीरी' है, इसलिये 'शरीरी' है क्योंकि यह शरीर उसका है (शरीर जिसका हो संस्कृत में उसे 'शरीरी' कहते हैं)। उस नित्य 'शरीरी' के, आत्मा के, ये देह तो अन्तवाले हैं, नष्ट हो जानेवाले हैं, परन्तु वह आत्मा स्वयं अविनाशी है, अज्ञेय है। इसलिये हे अर्जुन! तू युद्ध कर ॥१८॥

आत्मा के विषय में जो यह समझता है कि यह मारता है, या जो यह समझता है कि यह मारा जाता है, वे दोनों ही सत्य बात को नहीं जानते, यह आत्मा न तो मारता है, न मारा जाता है ॥१९॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत ॥१८॥

अन्तवन्तः[7]—नाशवान्; **इमे**[5]—ये; **देहाः**[6]—सब शरीर; **नित्यस्य**[3]—नित्यस्वरूप के; **उक्ताः**[8]—कहे गये हैं; **शरीरिणः**[4]—शरीर जिसके लिये है उस जीवात्मा के; **अनाशिनः**[1]—नाशरहित के; **अप्रमेयस्य**[2]—अज्ञेय के; **तस्मात्**[9]—इसलिये; **युध्यस्व**[11]—युद्ध कर; **भारत**[10]—हे भरत-वंश के पुत्र !

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

यः[1]—जो; **एनम्**[2]—इस आत्मा को; **वेत्ति**[4]—समझता है; **हन्तारम्**[3]—मारनेवाला; **यः**[6]—जो; **च**[5]—और; **एनम्**[7]—इसको; **मन्यते**[9]—समझता है; **हतम्**[8]—मारा हुआ; **उभौ**[11]—दोनों; **तौ**[10]— वे दोनों; **न**[12]—नहीं; **विजानीतः**[13]—जानते हैं; **न**[15]—नहीं; **अयम्**[14]—यह आत्मा; **हन्ति**[16]—मारता है; **न**[17]—नहीं; **हन्यते**[18]—मारा जाता है।

तुलना कीजिये—'हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥' —कठ, द्वितीय वल्ली, १९।

यह आत्मा न कभी उत्पन्न होता है, न कभी मरता है। ऐसा भी नहीं है कि एक बार जब यह अस्तित्व में आ गया तब फिर दोबारा होने का नहीं। यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है, पुरातन है। शरीर के वध हो जाने पर भी यह मरता नहीं है ॥२०॥

हे पार्थ ! जो यह जान जाता है कि आत्मा अविनाशी है, नित्य है, जो इस आत्मा को अजन्मा और अपरिवर्तनशील जान जाता है, वह पुरुष कैसे किसी को दूसरे से मरवा सकता है या स्वयं मार सकता है ? ॥२१॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन् नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

न[3]–नहीं; **जायते**[4]–उत्पन्न होता है; **म्रियते**[7]–मरता है; **वा**[5]–और; **कदाचित्**[2]–कभी; **न**[6]–नहीं; **अयम्**[1]–यह आत्मा; **भूत्वा**[10]–अस्तित्व में आकर; **भविता**[12]–होनेवाला है; **वा**[8]–अथवा; **न**[9]–नहीं; **भूयः**[11]–फिर; **अजः**[14]–अजन्मा; **नित्यः**[15]–नित्य; **शाश्वतः**[16]–परिवर्तनरहित; **अयम्**[13]–यह आत्मा; **पुराणः**[17]–पुरातन; **न**[20]–नहीं; **हन्यते**[20]–मरता है; **हन्यमाने**[19]–वध हो जाने पर; **शरीरे**[18]–शरीर के।

तुलना कीजिये—'न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चित् न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥'
—कठ, २, १८।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

वेद[8]–जान जाता है; **अविनाशिनम्**[4]–अविनाशी; **नित्यम्**[5]–नित्य; **यः**[2]–जो व्यक्ति; **एनम्**[3]–इस आत्मा को; **अजम्**–[6]–अजन्मा को; **अव्ययम्**[7]–अपरिवर्तनशील को; **कथम्**[11]–कैसे; **सः**[9]–वह; **पुरुषः**[10]–पुरुष; **पार्थ**[1]–हे अर्जुन; **कम्**[12]–किसको; **घातयति**[13] मरवाता है; **हन्ति**[15]–मारता है; **कम्**[14]–किसको।

जैसे मनुष्य फटे-पुराने वस्त्रों को छोड़कर दूसरे नये वस्त्र पहन लेता है वैसे ही यह देही, जीवात्मा, पुराने-पुराने, जीर्ण-शीर्ण शरीरों को छोड़कर नये शरीरों को प्राप्त करता है, धारण कर लेता है ।।२२।।

शरीर और आत्मा के भेद को, शरीर की अनित्यता और आत्मा की नित्यता को दर्शाने के लिए इससे अच्छा दृष्टांत नहीं दिया जा सकता। जैसे फटे-पुराने कपड़े बदल दिये जाते हैं, मनुष्य वही रहता है, वैसे जीर्ण-शीर्ण शरीर बदल जाता है, आत्मा वही रहता है। नये कपड़े की तरह नये शरीर का धारण जन्म है, पुराने कपड़े की तरह पुराने शरीर को छोड़ देना मृत्यु है---इसमें आत्मा वही-का-वही रहता है। आत्मा एक जन्म से दूसरे जन्म में चला जाता है। जब आत्मा की मृत्यु ही नहीं, जिसे हम मृत्यु कहते हैं वह दूसरा जन्म है, तब मरने से क्या डरना ? इसका यह अर्थ नहीं कि झट-से, बेखटके मनुष्य को मार दिया जाय। जैसे वस्त्र का काम सर्दी-गर्मी का निवारण करना है, वैसे इस मानव-शरीर का काम कर्मों का भोग है। जिन कर्मों के कारण यह शरीर मिला है जब उनका भोग समाप्त हो जाता है तब इस शरीर को जीर्ण कहा जाता है, इसीलिए कई व्यक्ति युवावस्था में ही शरीर छोड़ देते हैं, कई वृद्धावस्था में। इस श्लोक में जीर्णता का अर्थ बुढ़ापा नहीं है, इसका अर्थ यह है कि जब शरीर कर्म-फल भोग चुकता है तब आगे यह शरीर निरर्थक हो जाता है, यही शरीर की जीर्णता है, और तब आत्मा इस शरीर को छोड़ कर दूसरा शरीर धारण करता है।

इस आत्मा को शस्त्र छेद नहीं सकते, न इसको अग्नि जला सकती है, और न इसे पानी गीला कर सकता है, न वायु इसे सुखा सकता है ।।२३।।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।२२।।

वासांसि[4]—वस्त्र; **जीर्णानि**[3]—फटे-पुराने; **यथा**[1]—जैसे; **विहाय**[5]—छोड़कर; **नवानि**[7]—नये; **गृह्णाति**[8]—ग्रहण करता है; **नरः**[2]—मनुष्य; **अपराणि**[6]—दूसरे; **तथा**[9]—वैसे; **शरीराणि**[12]—शरीर; **विहाय**[13]—छोड़-कर; **जीर्णानि**[11]—जीर्ण-शीर्ण; **अन्यानि**[14]—अन्य; **संयाति**[16]—प्राप्त करता है; **नवानि**[15]—नये; **देही**[10]—जीवात्मा।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।।२३।।

न[3]—नहीं; **एनम्**[1]—इस आत्मा को; **छिन्दन्ति**[4]—छेद सकते हैं; **शस्त्राणि**[2]—शस्त्र; **न**[7]—नहीं; **एनम्**[5]—इसको; **दहति**[8]—जलाती है;

आत्मा को छेदा नहीं जा सकता, जलाया नहीं जा सकता, गीला नहीं किया जा सकता, सुखाया नहीं जा सकता। यह नित्य है, सबके अन्दर व्याप्त है, स्थिर है, अचल है, सनातन है ॥२४॥

आत्मा 'अव्यक्त' है--इन्द्रियों से ग्रहण करने का विषय नहीं है, 'अचिन्त्य' है--मन से ग्रहण करने का विषय भी नहीं है, 'अविकार्य'--सर्वथा विकार रहित उसे कहा जाता

पावकः[6]–अग्नि; **न**[11]–नहीं; **च**[13]–और; **एनम्**[9]–इसको; **क्लेदयन्ति**[12]–गीला कर सकते हैं; **आपः**[10]–जल; **न**[15]–नहीं; **शोषयति**[16]–सुखाता है; **मारुतः**[14]–वायु।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

अच्छेद्यः[2]–जिसे छेदा नहीं जा सकता; **अयम्**[1]–यह आत्मा; **अदाह्यः**[4]–जिसे जलाया नहीं जा सकता; **अयम्**[3]–यह; **अक्लेद्यः**[5]–जिसे भिगोया नहीं जा सकता; **अशोष्यः**[7]–जिसे सुखाया नहीं जा सकता; **एव**[9]–ही; **च**[6]–और; **नित्यः**[10]–नित्य; **सर्वगतः**[11]–सबके अन्दर व्याप्त; **स्थाणुः**[13]–स्थिर; **अचलः**[12]–अचल; **अयम्**[8]–यह आत्मा; **सनातनः**[14]–प्राचीन।

जो अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य होगा वह नित्य होगा क्योंकि अनित्य ही छेद्य, दाह्य, क्लेद्य और शोष्य हो सकता है। जो नित्य होगा वह किसी स्थान-विशेष में नहीं रह सकता क्योंकि स्थान-विशेष में रहनेवाला अनित्य होता है, इसलिए अगर वह नित्य है तो सर्वगत भी है। सर्वगत है तो स्थाणु भी उसे होना चाहिए, स्थाणु अर्थात् स्थिर, क्योंकि जो सर्वगत होगा वह अस्थिर नहीं हो सकता; जो स्थिर होगा वह अचल भी होगा क्योंकि चल वस्तु स्थिर नहीं हो सकती। इस दृष्टि से नित्य, सर्वगत, स्थाणु तथा अचल सब एक-दूसरे के साथ संबद्ध हैं।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

अव्यक्तः[2]–इन्द्रियों का विषय नहीं है; **अयम्**[1]–यह आत्मा; **अचिन्त्यः**[4]–मन का विषय नहीं है; **अयम्**[3]–यह आत्मा; **अविकार्यः**[6]–

है। इसलिये उसे ऐसा समझकर हे अर्जुन ! तुझे शोक नहीं करना चाहिये ॥२५॥

अर्जुन को समझाते हुए श्रीकृष्ण अभी तक सांख्य-दृष्टि से विचार कर रहे हैं। सांख्य-दृष्टि में पुरुष और प्रकृति—ये दो तत्व माने जाते हैं। ११वें श्लोक से २५वें श्लोक तक तो 'पुरुष' को, आत्मा को प्रधान मानकर सब-कुछ कहा। अर्जुन को समझाया कि आत्मा अमर है, इसे कोई काट नहीं सकता, मार नहीं सकता, इसलिए तुझे इस मोह में नहीं पड़ना चाहिए कि युद्ध करने से तू इसकी हत्या करेगा। अब 'प्रकृति' को प्रधान मान कर श्रीकृष्ण कहते हैं कि अगर तू यह कहे कि होगा आत्मा अमर, दीखता तो यही है कि हम अमर नहीं हैं, प्राकृतिक वस्तुओं की तरह हम पैदा होते हैं, मरते हैं, इसके समाधान के लिए श्रीकृष्ण २६वें श्लोक में कहते हैं कि ऐसी हालत में भी तो तुझे मोह नहीं करना चाहिए, शोक नहीं करना चाहिए।

यदि तू आत्मा को सदा पैदा होनेवाला और सदा मरनेवाला भी समझे तो भी तो हे महाबाहु ! तुझे शोक करना उचित नहीं है ॥२६॥

उक्त श्लोक में 'अभ्युपगमवाद' से अर्जुन की शंका का समाधान किया गया है। 'अभ्युपगमवाद' का अर्थ है—'अच्छा, हम तुम्हारी बात को ही मान लेते हैं, तब भी तो तुम ग़लत रास्ते पर हो'। श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि आत्मा नित्य है, मरता नहीं, जो मरता नहीं उसके लिए यह समझकर कि यह मर जायगा शोक करना असंगत है। अर्जुन कहता था कि युद्ध करने से ये सब मर जायेंगे, इसीलिए उसे शोक भी हो रहा था। २६वें श्लोक में श्रीकृष्ण 'अभ्युपगमवाद' से अर्जुन की बात

विकाररहित; **अयम्**[5]—यह आत्मा; **उच्यते**[7]—कहा जाता है; **तस्मात्**[8]—इसलिये; **एवम्**[10]—इस प्रकार का; **विदित्वा**[11]—समझकर; **एनम्**[9]—इस आत्मा को; **न**[13]—नहीं; **अनुशोचितुम्**[12]—शोक करने को; **अर्हसि**[13]—चाहिये, योग्य है।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

अथ च[1]—और यदि; **एनम्**[3]—इस आत्मा को; **नित्यजातम्**[4]—सदा पैदा होनेवाला; **नित्यम्**[6]—सदा; **वा**[5]—अथवा; **मन्यसे**[8]—समझता है; **मृतम्**[7]—मरनेवाला; **तथापि**[9]—तो भी; **त्वम्**[2]—तू; **महाबाहो**[10]—बड़ी-बड़ी भुजाओंवाले; **न**[13]—नहीं; **एवम्**[11]—इस प्रकार; **शोचितुम्**[12]—(आत्मा को) शोक करने को; **अर्हसि**[13]—योग्य है।

मान कर, शरीर को ही आत्मा मानकर, 'शरीरात्मवाद' को स्वीकार करके अर्जुन का समाधान कर रहे हैं कि शरीर को ही आत्मा मान लें तब भी तो तेरा शोक करना उचित नहीं है क्योंकि अगर मान लें कि ये लोग मर जायेंगे तो फिर पैदा भी तो होंगे, फिर शोक किस बात का।

क्योंकि जो जन्मा है उसकी मृत्यु निश्चित है और जो मर चुका है उसका जन्म निश्चित है। इसलिये इस 'अपरिहार्य'--अर्थात् जिसे टाला नहीं जा सकता--ऐसी बात के लिये तुझे शोक करना उचित नहीं है ॥२७॥

सब प्राणी आरंभ में अव्यक्त हैं, मध्यभाग में व्यक्त और फिर अन्त समय में अव्यक्त हो जाते हैं। हे भारत! इसमें विलाप करने की क्या बात है? ॥२८॥

'अव्यक्त'-शब्द सांख्य-सिद्धान्त का है। सांख्य-शास्त्र में 'प्रकृति' को 'अव्यक्त' कहा है, 'अव्यक्त' अर्थात् इन्द्रियों से न दिखनेवाली। जो पदार्थ इन्द्रियों द्वारा अनुभव होते हैं, वे 'व्यक्त' कहलाते हैं, संसार की सब वस्तुएँ 'व्यक्त' हैं। संसार हमें दीखता है, 'व्यक्त' है, परन्तु यह सदा इसी प्रकार तो टिका नहीं रहता, बदलता रहता है। इस 'व्यक्त' का जो कारण है, आदि-कारण, जो दीखता नहीं,

---

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

जातस्य[2]–जो जन्मा है उसकी; **हि**[1]–निश्चय से; **ध्रुवः**[3]–निश्चित; **मृत्युः**[4]–मौत; **ध्रुवम्**[7]–निश्चित है; **जन्म**[8]–जन्म; **मृतस्य**[6]–मरे हुए का; **च**[5]–और; **तस्मात्**[9]–इसलिये; **अपरिहार्ये**[11]–जो टाला नहीं जा सकता; **अर्थे**[12]–विषय में; **न**[11]–नहीं; **त्वम्**[10]–तू; **शोचितुम्**[13]–शोक के लिये; **अर्हसि**[14]–उचित है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

अव्यक्त[3]–सूक्ष्म; **आदीनि**[3]–आदि अर्थात् प्रारंभ है जिनका; **भूतानि**[2]–सब प्राणी; **व्यक्त**[4]–स्थूल; **मध्यानि**[4]–मध्य है जिनका; **भारत**[1]–हे भरतवंश के; **अव्यक्त**[5]–सूक्ष्म; **निधनानि**[5]–निधन अर्थात् अन्त है जिनका; **एव**[6]–ही; **तत्र**[7]–इसमें; **का**[8]–क्या; **परिदेवना**–[9] विलाप।

वही प्रकृति है, वही 'अव्यक्त' है; इसी प्रकार यह व्यक्त-संसार नष्ट भी होता रहता है, जिस रूप में यह चला जाता है, वह भी 'अव्यक्त' है। संसार का चक्र 'अव्यक्त' से 'व्यक्त' और 'व्यक्त' से 'अव्यक्त'—इस प्रकार चल रहा है। 'अव्यक्त' को 'सूक्ष्म' भी कह सकते हैं, 'व्यक्त' को 'स्थूल' कह सकते हैं। संसार सूक्ष्म से स्थूल और स्थूल से फिर सूक्ष्म की तरफ़ जा रहा है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जब तुम आत्मा की दृष्टि से सोचने को तैयार नहीं, शरीर की दृष्टि से ही सोचना चाहते हो, तब भी तो ये स्थूल, व्यक्त शरीर किसी सूक्ष्म, अव्यक्त से चले होंगे, सदा नहीं टिके रहेंगे, और अपने कारण सूक्ष्म में, अव्यक्त में स्वयं लीन हो जायेंगे, फिर विलाप क्यों करना ?

आत्मा तथा शरीर दोनों द्दा दृष्टियों से विचार करने पर विलाप करना उचित नहीं है।

वैसे तो तात्विक-दृष्टि से 'आत्मा' ही सब-कुछ है, परन्तु क्योंकि अर्जुन 'शरीर' को सब-कुछ मानकर बात कर रहा था इसलिए श्रीकृष्ण ने शरीर की दृष्टि से भी समझाने का प्रयत्न किया। इसके बाद वे फिर अपनी पहले की, 'आत्मा' की दृष्टि पर आ जाते हैं क्योंकि वही दृष्टि यथार्थ-दृष्टि है, तात्विक-दृष्टि है।

आत्मा के विषय में जो-कुछ मैंने कहा है उसे कोई तो आश्चर्य से देखता है; कोई इसका आश्चर्य-सरीखा वर्णन करता है; कोई मानो इन बातों को ऐसे सुनता है जैसे ये आश्चर्य की बातें हों; सुनकर भी इसे कोई भी जान नहीं पाता ॥२९॥

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

आश्चर्यवत्[3]—आश्चर्य की तरह; **पश्यति**[4]—देखता है; **कश्चित्**[1]—कोई; **एनम्**[2]—इस आत्मा को; **आश्चर्यवत्**[9]—आश्चर्य की तरह; **वदति**[10]—वर्णन करता है; **तथा**[6]—वैसे; **एव**[7]—ही; **च**[5]—और; **अन्यः**[8]—दूसरा कोई; **आश्चर्यवत्**[14]—आश्चर्य की तरह; **च**[11]—और; **एनम्**[13]—इस आत्मा को; **अन्यः**[12]—अन्य कोई; **शृणोति**[15]—सुनता है; **श्रुत्वा**[18]—सुनकर; **अपि**[19]—भी; **एनम्**[20]—इसको; **वेद**[23]—जानता है; **न**[21]—नहीं; **च**[16]—और; **एव**[22]—ही; **कश्चित्**[17]—कोई।

यथार्थ-दृष्टि आत्मा की अमरता की है। हे भारत! सबके शरीर में निवास करनेवाला यह 'देही'--देह का स्वामी 'आत्मा'--सदा ही अवध्य है, इसका कोई वध नहीं कर सकता, इसलिये तुझे किसी प्राणी के लिये शोक नहीं करना चाहिये ॥३०॥

['स्व-धर्म' की दृष्टि के द्वारा अर्जुन के मोह का निरसन]

११ से ३० श्लोक तक 'सांख्य-दृष्टि' से अर्जुन के मोह का निरसन किया गया, अब ३१ से ३८ श्लोकों में 'स्वधर्म-दृष्टि' से अर्जुन के मोह का निरसन किया गया है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म का, अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए, फिर भले ही कितना भी कष्ट उठाना पड़े।

इसके अतिरिक्त 'स्व-धर्म'--अपने कर्तव्य--को देखते हुए भी हिम्मत हारना उचित नहीं है। क्षत्रिय के लिये धर्म-युद्ध से बढ़कर और कोई कर्तव्य नहीं है ॥३१॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

देही[3]–देह का स्वामी; **नित्यम्**[6]–सदा ही; **अवध्यः**[7]–जिसका वध न किया जा सके; **अयम्**[2]–यह; **देहे**[5]–देह में; **सर्वस्य**[4]–सबके; **भारत**[1]–हे अर्जुन; **तस्मात्**[8]–इसलिये; **सर्वाणि**[9]–सब; **भूतानि**[10]–प्राणियों के लिये; **न**[13]–नहीं; **त्वम्**[11] तू; **शोचितुम्**[12]–शोक करने को; **अर्हसि**[14]–उचित है।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

स्वधर्मम्[2]–अपने धर्म को; **अपि**[4]–भी; **च**[1]–और; **अवेक्ष्य**[3]–देखकर; **न**[6]–नहीं; **विकम्पितुम्**[5]–हिम्मत हारने को; **अर्हसि**[6]–योग्य है; **हि**[7]–क्योंकि; **धर्म्यात्**[8] **युद्धात्**[9]–धर्म-युद्ध से; **श्रेयः**[11]–बढ़कर; **अन्यत्**[10]–दूसरा कुछ; **क्षत्रियस्य**[12]–क्षत्रिय का; **न**[13]–नहीं; **विद्यते**[14]–होता।

हे पार्थ ! यह युद्ध बिना प्रयत्न के अपने-आप प्राप्त, खुला हुआ स्वर्ग का द्वार है। वे क्षत्रिय सुखी हैं जिन्हें संयोग से इस प्रकार का युद्ध करने को मिलता है ॥३२॥

और यदि तू इस धर्म-युद्ध को न करेगा तो तू स्वधर्म और कीर्ति से च्युत होगा और पाप का भागी बनेगा ॥३३॥

और सब लोग तेरे अपयश की बातें कहते रहेंगे, ऐसा अपयश जो कभी मिटनेवाला नहीं। सम्मानित पुरुष के लिये अपयश होना मरने से भी अधिक बुरा है ॥३४॥

बड़े-बड़े योद्धा लोग, महारथी लोग यह समझेंगे कि तू भय के कारण युद्ध से उपरत हो गया है, विमुख हो गया

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

यदृच्छया[2]–अपने आप; **च**[1]–और; **उपपन्नम्**[3]–प्राप्त हुए; **स्वर्गद्वारम्**[6]–स्वर्ग का द्वार; **अपावृतम्**[5]–खुला हुआ; **सुखिनः**[9]–सुखी लोग; **क्षत्रियाः**[10]–क्षत्रिय लोग; **पार्थ**[1]–हे अर्जुन; **लभन्ते**[11]–प्राप्त करते हैं; **युद्धम्**[8]–युद्ध को; **ईदृशम्**[7]–इस प्रकार के।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

अथ[1]–और; **चेत्**[2]–यदि; **त्वम्**[3]–तू; **इमम्**[4]–इस; **धर्म्यम्**[5]–धर्मवाले; **संग्रामम्**[6]–युद्ध को; **न**[7]–नहीं; **करिष्यसि**[8]–करेगा; **ततः**[9]–तब; **स्वधर्मम्**[10]–स्वधर्म को; **कीर्तिम्**[12]–यश को; **च**[11]–और; **हित्वा**[13]–खोकर; **पापम्**[14]–पाप को; **अवाप्स्यसि**[15]–प्राप्त होगा।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

अकीर्तिम्[5]–अपयश को; **च**[1]–और; **अपि**–भी[6]; **भूतानि**[2]–सब लोग; **कथयिष्यन्ति**[7]–कहेंगे; **ते**[3]–तेरी; **अव्ययाम्**[4]–कभी न समाप्त होनेवाली; **संभावितस्य**[10]–सम्मानित व्यक्ति की; **च**[8]–और; **अकीर्तिः**[9]–अपयश; **मरणात्**[11]–मरने से; **अतिरिच्यते**[12]–अधिक होता है।

है। जिनके लिये तू अबतक बहुत आदरणीय था उनकी दृष्टि में अबतक आदरणीय होकर अब तू छोटा हो जायगा ॥३५॥

और तेरे शत्रु तेरे सामर्थ्य की निन्दा करते हुए बहुत-सी ऐसी बातें कहेंगे जो न कहनी चाहियें। इससे अधिक दुःख की बात और क्या हो सकती है ? ॥३६॥

अगर तू युद्ध में मर गया तो स्वर्ग को जायेगा, और जीत गया तब तो पृथ्वी का राज भोगेगा। इसलिये, हे कुन्ती के पुत्र ! युद्ध के लिये निश्चय करके उठ खड़ा हो ॥३७॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

भयात्[10]–भय के कारण; **रणात्**[11]–युद्ध से; **उपरतम्**[12]–विमुख को; **मंस्यन्ते**[13]–समझेंगे; **त्वाम्**[9]–तुझे; **महारथाः**[8]–बड़े-बड़े योद्धा लोग; **येषाम्**[2]–जिनके लिये; **च**[1]–और; **त्वम्**[3]–तू; **बहुमतः**[4]–आदरणीय; **भूत्वा**[5]–होकर; **यास्यसि**[7]–हो जायगा; **लाघवम्**[6]–छोटेपन को।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

अवाच्यवादान्[8]–न कहने योग्य बातें; **च**[1]–और; **बहून्**[7]–बहुत से; **वदिष्यन्ति**[9]–कहेंगे; **तव**[2]–तेरे; **अहिताः**[3]–अहित चाहनेवाले, शत्रु; **निन्दन्तः**[6]–निन्दा करते हुए; **तव**[4]–तेरे; **सामर्थ्यम्**[5]–सामर्थ्य की; **ततः**[11]–इससे; **दुःखतरम्**[12]–अधिक दुःखदायी बात; **नु**[10]–निश्चय से; **किम्**[13]–क्या है ?

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

हतः[2]–मर गया; **वा**[1]–या; **प्राप्स्यसि**[4]–प्राप्त करेगा, जायेगा; **स्वर्गम्**[3]–स्वर्गलोक को; **जित्वा**[6]–जीतकर; **वा**[5]–या; **भोक्ष्यसे**[8]–भोगेगा; **महीम्**[7]–पृथ्वी को; **तस्मात्**[9]–इसलिये; **उत्तिष्ठ**[13]–उठ खड़ा हो; **कौन्तेय**[10]–हे कुन्ती के पुत्र; **युद्धाय**[11]–युद्ध के लिये; **कृतनिश्चयः**[12]–कर लिया है निश्चय जिसने, निश्चय करके।

सुख-दुःख को, लाभ और हानि को, जय और पराजय को एक-समान समझकर, फिर युद्ध के लिये जुट जा, इस प्रकार तुझे पाप नहीं लगेगा ॥३८॥

['योग' या 'कर्म' की दृष्टि के द्वारा अर्जुन के मोह का निरसन]

अभी तक श्रीकृष्ण ने जो-कुछ कहा वह 'सांख्य-दृष्टि' तथा 'स्वधर्म-दृष्टि' से कहा। गीताकार के शब्दों में ये दोनों दृष्टियाँ 'सांख्य'––इस परिभाषा में आ जाती हैं। सांख्य-दृष्टि का अर्थ है 'संन्यास' की दृष्टि, कर्म-त्याग की दृष्टि, आत्मा को निर्लेप, अमर, नित्य मानने की दृष्टि। इस दृष्टि में आत्मा की नित्यता और शरीर की अनित्यता पर बल दिया जाता है। इसी दृष्टि के भीतर यह भी आ जाता है कि तुम दुनिया के काम-धंधे, लड़ाई-झगड़े न भी करो, तो भी 'स्वधर्म' का परित्याग तो न करो।

अब ३९वें श्लोक से अर्जुन की समस्या पर 'योग-दृष्टि' से विचार प्रारंभ हुआ है। जहाँ सांख्य-दृष्टि कर्म-त्याग की, कर्म-संन्यास की दृष्टि है, वहाँ योग-दृष्टि कर्म करने की, कर्म-योग की दृष्टि है।

श्रीकृष्ण कहते हैं: हे पार्थ! अबतक मैंने जो-कुछ कहा वह सांख्य-बुद्धि के अनुसार कहा; अब योग-बुद्धि के अनुसार तुझे क्या करना चाहिये––यह सुन, जिस योग-बुद्धि से युक्त होकर तू कर्म तो करेगा, परन्तु कर्म के बन्धन को परे फेंक देगा ॥३९॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

सुखदुःखे[1]–सुख और दुःख; **समे**[4]–एक समान; **कृत्वा**[5]–करके, समझकर; **लाभालाभौ**[2]–लाभ और अलाभ (हानि); **जयाजयौ**[3]–जय और अजय (पराजय); **ततः**[6]–तब; **युद्धाय**[7]–युद्ध के लिये; **युज्यस्व**[8]–जुट जा; **न**[11]–नहीं; **एवम्**[9]–इस प्रकार; **पापम्**[10]–पाप को; **अवाप्स्यसि**[12]–प्राप्त होगा।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

एषा[2]–यह; **ते**[4]–तुझे; **अभिहिता**[6]–कही गई; **सांख्ये**[5]–सांख्य-योग में; **बुद्धिः**[3]–ज्ञान; **योगे**[9]–योग मार्ग में; **तु**[7]–तो; **इमाम्**[8]–

गीता में जहाँ 'सांख्य' तथा 'योग'—ये शब्द आते हैं, वहाँ सांख्य-दर्शन तथा योग-दर्शन से अभिप्राय नहीं है। गीता के काल में ये दर्शन अभी निर्माण की दशा में थे। गीता में सांख्य का अर्थ 'संन्यास-मार्ग' और योग का अर्थ 'कर्म-मार्ग' है। संन्यास-मार्ग की दृष्टि से कृष्ण ने अर्जुन को यह समझाने का प्रयत्न किया कि आत्मा अमर है, जब हम कहते हैं कि यह मर गया या मारा गया तब ग़लत बात कह रहे होते हैं, इसलिए युद्ध से भागने का प्रयत्न मत कर। परन्तु संन्यास-मार्गी का अर्थ ही है—कर्म को छोड़ देनेवाला—इसलिए इस मार्ग पर चलकर मूल रूप में अर्जुन की शंका का समाधान नहीं होता। इसीलिए श्रीकृष्ण अब 'योग' की, 'कर्म-योग' या 'कर्म-मार्ग' की दृष्टि पर आ जाते हैं, ऐसा मार्ग जिसमें कर्म तो नहीं छूटता, वह तो करना ही होता है, परन्तु कर्म करने में जो डर बना रहता है—युद्ध करूँगा तो पाप लगेगा—यह डर छूट जाता है।

यहाँ, अर्थात् कर्म-योग में प्रारंभ किये हुए कर्म का कभी नाश नहीं होता, और उलटा फल मिल जाय—ऐसा दोष भी नहीं होता। कर्म-योग रूपी धर्म का थोड़ा-सा भी आचरण बड़े भय से मनुष्य की रक्षा करता है ॥४०॥

उपनिषदों तथा गीता के काल में 'कर्म' का अर्थ उस समय चले हुए वैदिक कर्म-कांड से था जिसकी अवहेलना करते हुए उपनिषद् में लिखा है—'**प्लवा ह्येते अदृढाः यज्ञरूपाः**'—ये कर्म-कांड के पचड़े जीवन रूपी नदी को पार तरानेवाले असुरक्षित बेड़े हैं। अर्जुन कहीं 'कर्म-योग' से उस कर्म-कांड को न समझे इसलिए श्रीकृष्ण पहले कर्म-कांड की निस्सारता दिखाकर तब 'कर्म-योग' का प्रतिपादन करते हैं। कर्म-कांड के विषय में तो कहा जाता था कि अगर यज्ञ पूरा न हुआ तो फल नहीं मिलेगा, बीच में कोई विघ्न आ गया तो फल नहीं मिलेगा। ४०वें

इसको; **शृणु**[10]—सुन; **बुद्ध्या**[12]—बुद्धि से; **युक्तः**[13]—युक्त हुआ; **यया**[11]—जिससे; **पार्थ**[1]—हे पृथा के पुत्र; **कर्मबन्धम्**[14]—कर्म के बन्धन को; **प्रहास्यसि**[15]—परे फेंक देगा।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

न[3]—नहीं; **इह**[1]—यहाँ, कर्म-योग में; **अभिक्रम**[2]—आरंभ किये हुए का; **नाशः**[2]—नाश; **अस्ति**[4]—है; **प्रत्यवायः**[5]—उलटा फल; **न**[6]—नहीं; **विद्यते**[7]—होता है; **स्वल्पम्**[10]—थोड़ा; **अपि**[11]—भी; **अस्य**[8]—इसका; **धर्मस्य**[9]—धर्म का; **त्रायते**[14]—रक्षा करता है; **महतः**[12]—बड़े से; **भयात्**[13]—भय से।

श्लोक में श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'कर्म-कांड' में ये दोनों दोष हैं, परन्तु हमारे 'कर्म-योग' में ये दोनों दोष नहीं हैं। इन दोनों दोषों में पहला दोष 'अभिक्रम-नाश' है, दूसरा है 'प्रत्यवाय'। 'अभिक्रमनाश' का उदाहरण क्या है? कल्पना कीजिये कि हमने कृषि-कर्म प्रारंभ किया। बीज बोने से लेकर खेती के पक जाने तक जितना क्रम है जबतक वह सारा-का-सारा पूरा नहीं हो जाता तब तक फल नहीं मिलता। बीज बोने से पहले हल चलाना पड़ेगा, फिर सुहागा फेरना होगा, फिर समय-समय पर पानी देना होगा। किसी क्रम में भी बाधा पहुँची तो फल नहीं मिलेगा। इसी प्रकार 'प्रत्यवाय' भी एक दोष है। खेती कर रहे हैं, बीज बो दिया है, इस बीच ओले पड़ गये। यह बीच में आ पड़ने वाली रुकावट 'प्रत्यवाय' है। इस रुकावट से भी सारी खेती करी-कराई धरी रह जाती है। लौकिक कार्यों में ये दो दोष आ पड़ते हैं जिनसे कर्म असफल हो जाता है। यज्ञ-यागादि भी कृषि की तरह ही कर्म हैं, भेद इतना है कि कृषि आदि लौकिक कर्म हैं, यज्ञादि वैदिक कर्म हैं, परन्तु ये कर्म भी निष्फल हो जाते हैं अगर इनमें 'अभिक्रमनाश' अथवा 'प्रत्यवाय' आ पड़े। 'कर्म-योग' में ये दोनों दोष नहीं हैं। 'कर्म-योग' में जो कार्य किया जाता है वह अनासक्ति से, ईश्वर को अर्पण कर के किया जाता है, इसलिए उसमें न 'अभिक्रमनाश' होता है, न 'प्रत्यवाय'। निष्काम-भाव से किये गये कर्म में जितना कर्म किया गया न वह नष्ट होता है, न उसमें किसी प्रकार के विघ्न की संभावना है क्योंकि जब कर्म में फल की आशा ही नहीं रखी गई तब फल न मिलने का प्रश्न ही कहाँ उठता है?

हे कुरुनन्दन! कर्म-योग के इस मार्ग में 'व्यवसायात्मिका' बुद्धि तो एक ही है; 'अव्यवसायी' लोगों की बुद्धियाँ एक न होकर अनेक शाखाओं में बँटी होती हैं, और अनन्त होती हैं ॥४१॥

'व्यवसायात्मिका बुद्धि' का क्या अर्थ है? 'व्यवसाय' का अर्थ है—'प्रयत्न'। 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' का अर्थ हुआ—'प्रयत्नपरक बुद्धि'। जिस बुद्धि द्वारा प्रयत्न होता है, वह एकरूपा ही हो सकती है। अगर बुद्धि में एकाग्रता नहीं, वह किसी एक ध्येय को लेकर सचेष्ट नहीं, तो प्रयत्न सफल नहीं हो सकता।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

व्यवसायात्मिका[3]—प्रयत्नपरक; **बुद्धिः**[4]—बुद्धि; **एका**[5]—एक ही है; **इह**[2]—यहाँ; **कुरुनन्दन**[1]—हे अर्जुन; **बहुशाखाः**[9]—बहुत शाखाओं वाली; **हि**[5]—निश्चय से; **अनन्ताः**[10]—बेअन्त; **च**[6]—और; **बुद्धयः**[8]—बुद्धियाँ; **अव्यवसायिनाम्**[7]—निश्चयपूर्वक काम न करनेवालों की।

व्यवसाय को सफल बनाना हो तो बुद्धि की एकाग्रता, एकनिष्ठता आवश्यक है। जो लोग 'अव्यवसायी' होते हैं, किसी प्रयत्न में, कार्य में लग नहीं सकते, उनकी बुद्धि चंचल होती है, अनेक शाखाओं में बँटी, अनन्त दिशाओं में भागा करती है, एक दिशा में नहीं जमती। इस श्लोक में श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिस कर्म-योग का मैं प्रतिपादन करने चला हूँ उसमें व्यवसायात्मिका-बुद्धि काम देती है, निश्चयात्मिका बुद्धि, स्थिर बुद्धि; एक लक्ष्य निश्चित कर लिया तो उसके सिवा अन्य कुछ सामने नहीं। जिन लोगों की बुद्धि चंचल होती है, जो एक लक्ष्य को सामने रखकर नहीं चल सकते, वे 'अव्यवसायी' हैं, चंचल बुद्धि के हैं। 'कर्म-योग' का मार्ग व्यवसायात्मिका-बुद्धि का मार्ग है, एक-निष्ठता का मार्ग है। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने 'कर्म'-शब्द से कहीं 'कर्म-कांड' का अर्थ न ले लिया जाय, 'कर्म-कांड' तथा 'कर्म-योग'—इन दोनों के भेद को स्पष्ट किया। 'कर्म-कांड' में 'अभिक्रम-नाश' तथा 'प्रत्यवाय'—ये दो दोष तो हैं ही, साथ ही इसमें 'व्यवसायात्मिका-बुद्धि' भी नहीं है; 'कर्म-योग' में न 'अभिक्रमनाश' है, न 'प्रत्यवाय' है; साथ ही इसमें 'व्यवसायात्मिका-बुद्धि' है। श्रीकृष्ण ने ४० और ४१ श्लोकों में 'कर्म-कांड' तथा 'कर्म-योग'—इन दोनों के भेद को स्पष्ट किया है। 'कर्म-योग' का सिद्धान्त श्रीकृष्ण का बिल्कुल अपना सिद्धान्त था, एक नवीन सिद्धान्त; और 'कर्म-कांड' उस समय का वेद के नाम से चल रहा एक मार्ग था जिसमें यज्ञों द्वारा स्वर्ग आदि का प्रलोभन दिया जा रहा था इसलिए इन दोनों में भेद करना आवश्यक था।

हे पार्थ ! अविपश्चित् अर्थात् अज्ञानी लोग, वेद का नाम लेकर उसके वाद-विवाद में, कर्म-कांड में उलझे रहते हैं, और जो फूलों के समान सुन्दर वाणी बोल-बोलकर यह कहते हैं कि जो-कुछ हम कह रहे हैं उसके सिवाय दूसरा कोई मार्ग सत्य नहीं ।।४२।।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ।।४२।।

याम्[10]–जिसको; **इमाम्**[9]–इसको; **पुष्पिताम्**[11]–फूलों के समान; **वाचम्**[12]–वाणी को; **प्रवदन्ति**[13]–कहते हैं; **अविपश्चितः**[3]–अज्ञानी (अ+वि+पश्+चित्=जो विशेष रीति से देखता है वह विपश्चित्, जो मन से ठीक देख नहीं सकता वह अविपश्चित्); **वेदवादरताः**[2]–वेद के वाद-विवाद में रत अर्थात् उलझे हुए; **पार्थ**[1]–अर्जुन; **न**[5]–नहीं; **अन्यत्**[4]–अन्य कुछ; **अस्ति**[6]–है; **इति**[7]–यह; **वादिनः**[8]–कहनेवाले।

ये लोग लालसा में फंसे हुए, स्वर्ग के पीछे पड़े हुए, जन्म और कर्म-फल देनेवाली, योग और ऐश्वर्य देनेवाली (यज्ञ-यागादि की) अनेक क्रियाओं की बातें करते हैं--(ऐसा यज्ञ करोगे तो यह कर्म-फल मिलेगा, वैसा करोगे तो वह कर्म-फल मिलेगा--ऐसी बातें करते हैं) ।।४३।।

उक्त प्रकार के लोग जो भोग और ऐश्वर्य की बातों में ही गर्क हैं, जिनके चित्त योग और ऐश्वर्य की कामना से ही हरे हुए हैं, उनकी बुद्धि समाधि में व्यवसायात्मक नहीं होती, स्थिर नहीं होती, (वे जब समाधि में, एकान्त में बैठते हैं तब मन चंचल हो उठता है--हमने इस 'भोग' की आकांक्षा की थी, यह 'ऐश्वर्य' चाहा था, यह नहीं मिला, वह नहीं मिला--इस परेशानी में पड़ जाते हैं, उनका मन शान्त नहीं होता) ।।४४।।

'भोग' (Pleasure) और 'ऐश्वर्य' (Power)--इन दो शब्दों का वर्णन यहां इसलिए है क्योंकि 'कर्म-कांड' में ये दो प्रकार की ही कामनाएँ की जाती हैं। या तो धन-धान्य संबंधी 'भोग' माँगे जाते हैं, या 'ऐश्वर्य' की, 'शक्ति' की कामना की जाती है, इसलिए यहाँ इन दोनों का उल्लेख है।

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ।।४३।।

कामात्मान:[1]–लालसा में फंसे हुए; **स्वर्गपरा:**[2]–स्वर्ग के पीछे पड़े हुए; **जन्मकर्मफलप्रदाम्**[3]–जन्म रूप कर्मफल को देने वाली; **क्रियाविशेषबहुलाम्**[6]–यज्ञ-यागादि की अनेक क्रियाओंवाली; **भोगैश्वर्यगतिम्**[4] **प्रति**[5]–भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये (यह पूर्व-श्लोक के 'वाचं प्रवदन्ति' से संवन्धित है)।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयाऽपहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ।।४४।।

भोगैश्वर्यप्रसक्तनाम्[3]–भोग तथा ऐश्वर्य में फँसे हुए; **तया**[1]–उस वाणी से; **अपहृतचेतसाम्**[2]–हरे हुए चित्तवाले; **व्यवसायात्मिका**[5]–प्रयत्नपरक; **बुद्धिः**[6]–बुद्धि; **समाधौ**[4]–समाधि में, एकान्त में; **न**[7]–नहीं; **विधीयते**[8]–होनी।

४२, ४३, ४४ श्लोकों में कर्म-काण्ड पर जो उपहास किया गया है उसकी कठोपनिषद् २, ५ तथा मुंडकोपनिषद् १, २, १० से तुलना की जा सकती है। इन उपनिषदों में तथा गीता में कर्म-काण्ड के सम्बन्ध में एक-से ही विचार हैं।

हे अर्जुन ! वेदों के वर्णन का विषय (प्रकृति के) तीन गुण हैं, तू तीन गुणों से अलग हो जा, द्वन्द्वों से मुक्त हो जा, योग-क्षेम की चिन्ता छोड़ दे, (आत्मा के) सत्त्व-भाव में नित्य स्थित हो जा, आत्म-बल वाला बन ।।४५।।

'वेदों' से यहाँ अर्थ कर्म-कांड का प्रतिपादन करनेवाले ब्राह्मण-ग्रन्थों से है, ऋक्, यजु, साम, अथर्व वेदों से नहीं, क्योंकि कर्म-कांड का इन्हीं में वर्णन है, इन्हें वेद कहा भी जाता था, और यहाँ सिलसिला भी कर्म-कांड का ही चल रहा है। इन ग्रन्थों में तीन गुणों का वर्णन है। इसका क्या अर्थ हुआ ? प्रकृति के विषय में कहा गया है—'**सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः**'—सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों वाली 'प्रकृति' होती है। तीन गुणों के वर्णन का अभिप्राय यह हुआ कि ब्राह्मण-ग्रन्थों में जिस कर्म-कांड का वर्णन है वह तीन गुणोंवाली प्रकृति का वर्णन है, प्राकृतिक पदार्थों के 'भोग' तथा 'ऐश्वर्य' का वर्णन है। हे अर्जुन ! तू प्रकृति के 'भोग' तथा 'ऐश्वर्य' की लालसा से ऊपर उठ, 'निस्त्रैगुण्य' हो जा। जो कर्मकांडियों की तरह प्रकृति के भौतिक पदार्थों के भोग में फँसे रहते हैं वे द्वन्द्वों में भी उलझे रहते हैं, सुख-दुःख के चक्कर में भी पड़े रहते हैं, योग-क्षेम की चिन्ता भी करते हैं। 'योग' का अर्थ है—अप्राप्त के लिए प्राप्ति का प्रयत्न; 'क्षेम' का अर्थ है—प्राप्त होने पर उसकी रक्षा का यत्न। 'कर्म-कांड' भौतिकवाद (Materialism) है, उसमें तीन गुणोंवाली प्रकृति का मोह, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों का घात-प्रतिघात, अपने पास जो-कुछ है उसे थोड़ा समझकर जोड़ने, जमा करने की प्रवृत्ति (योग) तथा जमा करने के बाद उसे संभालने की चिंता (क्षेम)—यह सब चलना है;

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।।४५।।

त्रैगुण्यविषयाः[3]—प्रकृति के तीन गुण हैं प्रतिपाद्यविषय जिनके; **वेदाः**[2]—वेद (यहाँ ब्राह्मण-ग्रन्थ); **निस्त्रैगुण्यः**[4]—तीन गुणों से अलग; **भव**[9]—हो; **अर्जुन**[1]—हे अर्जुन; **निर्द्वन्द्वः**[5]—सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से मुक्त; **नित्यसत्त्वस्थः**[6]—सदा सत्त्वगुण की वृत्ति में स्थित; **निर्योगक्षेमः**[7]—योग-क्षेम से अलग; **आत्मवान्**[8]—आत्मा के बलवाला, अध्यात्मवादी कर्मयोगी।

'कर्म-योग' अध्यात्मवाद (Spiritualism) है, उसमें मनुष्य राजसिक तथा तामसिक प्रवृत्तियों को छोड़कर सात्विक प्रवृत्ति में हर समय बना रहता है, आत्मबल अनुभव करता है, प्रकृति के मोह में नहीं पड़ता, न सुख-दुःख आदि द्वन्द्व उसे सताते हैं, न वह योग-क्षेम के झंझट में पड़ता है।

हमने यहाँ **'त्रैगुण्यविषया: वेदा:'** का अर्थ त्रिगुणात्मक प्रकृति किया है, 'निस्त्रैगुण्य' का अर्थ त्रिगुणात्मक प्राकृतिक पदार्थों से जुदा होकर अध्यात्म में प्रविष्ट हो जाना किया है, 'सत्त्वस्थ' का अर्थ सात्त्विक प्रवृत्ति का हो जाना किया है। इन अर्थों में कोई परस्पर विरोध नहीं आता क्योंकि त्रिगुणात्मक प्रकृति या भौतिकवाद से अलग होकर ही मनुष्य सात्त्विक प्रवृत्ति का, अर्थात् अध्यात्मवादी हो सकता है। अन्य टीकाकारों ने इस श्लोक का जो अर्थ किया है उसमें परस्पर विरोध दीख पड़ता है। वे इस श्लोक का यह अर्थ करते हैं कि---'तीन गुणों का विषय वेद में है, तू तीन गुणों से परे हो जा, नित्य सत्त्व गुण से युक्त हो जा'। अगर अर्जुन को तीन गुणों से परे हो जाने को कहा गया है तब सत्त्व गुण से युक्त हो जाने का क्या अर्थ है? सत्त्व भी तो तीन गुणों में से एक गुण है। अतः यह अर्थ असंगत है। संगत अर्थ यही है कि तू त्रिगुणात्मक प्रकृति से, भौतिकवाद से अपने को जुदा कर ले, अध्यात्मवाद के सत्त्व गुण को---सात्त्विक प्रवृत्ति को---अपना ले, तभी तू 'प्रकृतिवान्' न होकर 'आत्मवान्' बनेगा।

चारों तरफ़ पानी की बाढ़ आ जाने पर कुएँ का जितना अर्थ या प्रयोजन रह जाता है, उतना ही प्रयोजन ज्ञान-प्राप्त ब्राह्मण (कर्म-योगी) के लिये सब (कर्म-काण्ड) का रह जाता है ॥४६॥

जैसे बाढ़ के समय कूए को कोई नहीं पूछता, वैसे 'कर्म-योग' का ज्ञान होने पर 'कर्म-कांड' को कोई नहीं पूछता। सारे प्रकरण का उद्देश्य 'कर्म-योग' की तुलना में 'कर्म-कांड' को हीन बतलाना है।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

यावान्[4]–जितना; **अर्थ:**[5]–अर्थ, प्रयोजन; **उदपाने**[3]–जलाशय में; **सर्वत:**[1]–चारों ओर से; **संप्लुतोदके**[2]–पानी की बाढ़ आ जाने पर; **तावान्**[10]–उतना; **सर्वेषु**[8]–सब में; **वेदेषु**[9]–वेदों में (यहाँ कर्मकाण्डप्रतिपादक ब्राह्मण-ग्रंथों में); **ब्राह्मणस्य**[7]–ब्राह्मण के; **विजानत:**[6]–जाननेवाले के (लिये), अर्थात् कर्मयोग जाननेवाले के लिये है।

तुझे केवल कर्म करने का अधिकार है--अर्थात् केवल कर्म करना तेरे हाथ में है; कर्मों के फलों पर तेरा अधिकार कभी नहीं है अर्थात् फल मिलना या न मिलना कभी भी तेरे हाथ में नहीं है; इसलिये अमुक कर्म का अमुक फल अवश्य मिले--यह हेतु, यह इच्छा मन में रखकर काम करनेवाला तू न बन; अकर्म अर्थात् कर्म के त्याग के प्रति तेरा अनुराग न हो ।।४७।।

गीता के कर्म-योग का यह सब से मुख्य श्लोक है । इसमें 'कर्म-योग' का सार कह दिया गया है । इसे कर्म-योग की चतुः-सूत्री कहा जा सकता है । 'कर्म-योग' के ये चार सूत्र हैं : (क) कर्म करना तेरे हाथ में है, (ख) कर्म का फल तेरे हाथ में नहीं है; (ग) इसलिए कर्म कर परन्तु अमुक कर्म के अमुक फल की इच्छा छोड़ दे, (घ) कर्म-फल की इच्छा छोड़ देने का यह अर्थ नहीं है कि कर्म करना ही छोड़ दे । श्रीकृष्ण का कहना यह है कि लोग 'कर्म' पर इतना ध्यान केन्द्रित नहीं करते जितना 'कर्म-फल' पर करते हैं। परिणाम यह होता है कि फल मिलेगा या नहीं मिलेगा--यह दुविधा, चिंता और डर उन्हें घेरे रहते हैं। सफलता के लिए फल की चिंता बनी रहना फल के लिए ही घातक है क्योंकि इससे 'कर्म' में शक्ति लगने के स्थान में वह 'फल की चिंता' में नष्ट हो जाती है। असल में, कर्म पूरी शक्ति से होगा तो फल की चिंता की ज़रूरत ही नहीं होगी। फल क्या है ? 'फल' तो 'कर्म' का ही आगे आनेवाला रूप है। 'कर्म' वर्तमान-काल की वस्तु है। 'फल' भविष्यत्-काल की वस्तु है, हैं दोनों एक ही क्रिया के रूप दो कालों में बँटे हुए। 'कर्म' पर सारी शक्ति लगेगी तो उसके साथ भविष्य के गर्भ में बँधा हुआ फल प्रकट होगा ही, फिर फल की चिंता क्यों करना, चिंता करनी हो तो 'कर्म' की करना--यह गीता के 'कर्म-योग' का अर्थ है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ।।४७।।

कर्मणि[2]–कर्म में; **एव**[3]–ही; **अधिकारः**[4]–अधिकार; **ते**[1]–तेरा; **मा**[7]–मत; **फलेषु**[5]–कर्म-फलों में; **कदाचन**[6]–कभी; **मा**[9]–मत; **कर्मफलहेतुः**[8]–अमुक कर्म का अमुक फल मिले यह हेतु मन में रखकर काम करनेवाला; **भूः**[10]–हो; **मा**[14]–मत; **ते**[11]–तेरा; **संगः**[13]–प्रीति; **अस्तु**[15]–हो; **अकर्मणि**[12]–कर्म न करने में।

हे धनंजय ! योगस्थ होकर, कर्म-योग में स्थित होकर, कर्म के फल की आसक्ति को छोड़कर, कर्म की सिद्धि या असिद्धि दोनों अवस्थाओं में समता की मनोवृत्ति को धारण करके कर्म कर। कर्म-फल मिलने या न मिलने दोनों अवस्थाओं में मन की सम अवस्था रहे--इसी को योग कहते हैं ॥४८॥

हे धनंजय ! 'बुद्धि-योग' (कर्म-योग, निष्काम-कर्म) से 'कर्म' (कर्म-काण्ड, सकाम-कर्म) बहुत घटिया है। तू 'बुद्धि-योग' (कर्म-योग, निष्काम-कर्म) में शरण ग्रहण कर, फल के हेतु कर्म करनेवाले (कर्म-काण्डी, सकाम-कर्मी) कृपण हैं, दीन या निचले दर्जे के हैं (क्योंकि दीन-भाव से फल की याचना करते हैं, भिखमँगे हैं) ॥४९॥

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

योगस्थः[7]–कर्म-योग में स्थित होकर; **कुरु**[9]–कर; **कर्माणि**[8]–कर्मों को; **संगम्**[2]–प्रीति को; **त्यक्त्वा**[3]–छोड़कर; **धनंजय**[1]–हे अर्जुन; **सिद्ध्यसिद्ध्योः**[4]–सिद्धि तथा असिद्धि दोनों में; **समः**[5]–समान; **भूत्वा**[6]–होकर; **समत्वम्**[10]–सम-भाव; **योगः**[11]–योग; **उच्यते**[12]–कहा जाता है ।

'योग' का अर्थ यहाँ कर्म-योग है। संस्कृत ग्रन्थों में संपूर्ण शब्द न देकर उसका एक अंश देने की शैली है। उदाहरणार्थ, 'सत्यभामा' के लिए केवल 'भामा' शब्द का प्रयोग पाया जाता है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

दूरेण[3]–अत्यन्त; **हि**[9]–निश्चय से; **अवरम्**[4]–घटिया; **कर्म**[2]–कर्म-काण्ड; **बुद्धियोगात्**[1]–बुद्धि-योग या कर्म-योग से; **धनंजय**[5]–हे अर्जुन; **बुद्धौ**[6]–बुद्धि में, बुद्धि-योग में, कर्म-योग में; **शरणम्**[7]–शरण को; **अन्विच्छ**[8]–प्राप्त कर; **कृपणाः**[11]–दीन; **फलहेतवः**[10]–फल के हेतु कर्म करनेवाले कर्म-काण्डी लोग ।

इस श्लोक में 'कर्म-योग' को, निष्काम-कर्म को 'बुद्धि-योग' कहा गया है। इसका कारण है। दर्शन-साहित्य में बुद्धि के दो भेद किये गये हैं--संशयात्मिका बुद्धि तथा निश्चयात्मिका बुद्धि। संशयात्मिका बुद्धि को 'मन' (Mind) कहते हैं; निश्चयात्मिका बुद्धि को 'बुद्धि' (Intellect) कहते हैं। 'कर्म-योग' में निश्चयात्मिका बुद्धि, व्यवसायात्मिका बुद्धि से हम काम ले रहे होते हैं, संशयात्मिका या अव्यवसायात्मिका से नहीं, इसलिए यहाँ 'कर्म-योग' को 'बुद्धि-योग' कहा है। श्रीकृष्ण का कहना है कि बुद्धि का यह तकाज़ा है कि हम कर्म पर ही सारी शक्ति केन्द्रित करें, फल पर शक्ति व्यय न करें, इसीलिए कर्म-योग का दूसरा नाम बुद्धि-योग है।

जो बुद्धि-योगी (बुद्धियुक्त) है, वह सुकृत तथा दुष्कृत दोनों यहीं छोड़ देता है। इस लिये तू योग (कर्म-योग) में जुट जा। योग सब कामों को कुशलता से करने का नाम है ।।५०।।

कर्म-कांडी लोग, भौतिकवादी लोग, अच्छे तथा बुरे काम करते हैं ताकि उन्हें अच्छा तथा उनके शत्रुओं को बुरा फल मिले। बुद्धि-योगी, कर्म-योगी, अध्यात्मवादी लोग फल का संग ही नहीं रखते इसलिए वे अच्छे-बुरे के फेर में नहीं पड़ते। वे योग-युक्त कर्म करते हैं। 'योग-युक्त' का क्या अर्थ है? गीता कहती है कि कर्म-फल के त्याग का अर्थ कर्म का त्याग नहीं, अपितु कर्म को और अधिक कुशलता से, चतुराई से करना है। जैसा हमने पहले कहा, सकाम-भाव से काम करनेवाला 'फल' पर अपना ध्यान केन्द्रित कर देता है, निष्काम-भाव से काम करनेवाला फल पर ध्यान केन्द्रित करने के स्थान में 'कर्म' पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। 'फल' पर ध्यान केन्द्रित करने से शक्ति का अपव्यय होता है, वह शक्ति जो 'कर्म' पर लगनी चाहिए थी, 'फल' पर, भय, शंका आदि के रूप में नष्ट होती रहती है। कर्म-फल तो कारण-कार्य नियम का अपरिहार्य परिणाम है, इसलिए अपनी शक्ति का प्रयोग 'कर्म' पर करना उचित है, उसका 'फल' पर अपव्यय करना अनुचित है। 'कर्म' के सम्बन्ध में इस दृष्टि का उत्पन्न हो जाना कर्म-योग है, कर्म-कौशल है।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।।५०।।

बुद्धियुक्तः[1]—बुद्धियोग अर्थात् कर्मयोग से युक्त; **जहाति**[5]—छोड़ देता है; **इह**[4]—यहीं; **उभे**[3]—दोनों; **सुकृतदुष्कृते**[2]—सुकृत अर्थात् अच्छे कर्म तथा दुष्कृत अर्थात् बुरे कर्म; **तस्मात्**[6]—इसलिये; **योगाय**[7]—कर्मयोग के लिये; **युज्यस्व**—[8]जुट जा; **योगः**[9]—योग; **कर्मसु**[10]—कर्मों में; **कौशलम्**[11]—चतुराई का नाम है।

मनीषी, ज्ञानी लोग, जो बुद्धि-योगी हैं, कर्म-योगी हैं, वे कर्मों से प्राप्त होनेवाले फलों को त्यागकर, जन्म के बन्धन से मुक्त होकर, दुःखहीन दशा को प्राप्त होते हैं ॥५१॥

जब तेरी बुद्धि मोह की दलदल को पार कर जायगी, तब तू उस सबके प्रति उदासीन हो जायगा जो-कुछ तूने अभी सुनना है या सुना है ॥५२॥

अर्जुन ने कर्मकाण्डियों से कर्मकाण्ड द्वारा स्वर्ग-नरक की कल्पनाएँ सुन रखी थीं। उस युग में इन्हीं बातों का प्रचार था। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जब कर्म-योग द्वारा मोह को पार कर लोगे तब कर्मकाण्ड के विषय में जो-कुछ तुमने सुन रखा है या सुनोगे उस सब के प्रति उदासीन हो जाओगे।

कर्म-काण्डपरक स्वर्ग-नरक का वर्णन करनेवाली श्रुतियों से (सुनी हुई बातों से) तेरी बुद्धि विक्षिप्त चलायमान हो रही है। जब यह बुद्धि निश्चल हो जायगी, समाधि

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

कर्मजम्[4]–कर्मों से प्राप्त होनेवाले; **बुद्धियुक्ताः**[2]–बुद्धियोग से युक्त; **हि**[1]–निश्चय से; **फलम्**[5]–फल को; **त्यक्त्वा**[6]–त्याग कर; **मनीषिणः**[3]–ज्ञानी लोग; **जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः**[7]–जन्म के बन्धन से छूटे हुए; **पदम्**[9]–स्थान को; **गच्छन्ति**[10]–जाते हैं; **अनामयम्**[8]–दुःखहीन।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

यदा[1]–जब; **ते**[2]–तेरी; **मोहकलिलम्**[4]–मोह रूप दलदल को; **बुद्धिः**[3]–बुद्धि; **व्यतितरिष्यति**[5]–तर जायगी; **तदा**[6]–तब; **गन्तासि**[11]–चला जायगा; **निर्वेदम्**[10]–उदासीनता को, वैराग्य को; **श्रोतव्यस्य**[7]–जो-कुछ सुनना है; **श्रुतस्य**[9]–जो-कुछ सुना है; **च**[8]–और।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना[3]–श्रुतियों से (सुनी हुई बातों से) विक्षिप्त; **ते**[2]–तेरी; **यदा**[1]–जब; **स्थास्यति**[8]–स्थिर हो जायगी; **निश्चला**[5]-

में टिक जायगी, तब तुझे 'कर्म-योग' का रहस्य प्राप्त होगा ।।५३।।

'समाधि में टिक जायगी' का क्या अर्थ है? कर्म-कांडी लोग फल की इच्छा से कर्म करते हैं। फल अनुकूल भी हो सकता है, प्रतिकूल भी हो सकता है। जब प्रतिकूल फल होता है तब मनुष्य की बुद्धि चलायमान हो जाती है, वह घबराया फिरता है। जब कर्म करते हुए फल की इच्छा त्याग दी जाती है, तब किसी प्रकार की घबराहट नहीं रहती, बुद्धि चलायमान रहने के स्थान में टिकी रहती है, बुद्धि के टिके रहने को ही 'समाधि' की अवस्था कहा है। 'समाधि' की अवस्था में सुख-दुःख का ज्ञान नहीं रहता, विषयों से संसर्ग टूट जाता है। यह अवस्था चेतना के अभाव की अवस्था नहीं है, सांसारिक विषयों के जगत् से चेतना को काट कर ब्रह्म के आध्यात्मिक-जगत् में चेतना को जोड़ देने की अवस्था है। 'कर्मयोगी' की यही अवस्था हो जाती है, इसी को गीता में कर्म-योगी की समाधिस्थ अवस्था कहा है।

[स्थित-प्रज्ञ के लक्षण]

जिस प्रकार यहाँ 'कर्म-योगी स्थित-प्रज्ञ' का वर्णन है, उसी प्रकार १२, १३–२० में 'भक्ति-योगी' का और १३, ७–१२ में 'ज्ञान-योगी' का और १४,२२-२६ में 'त्रिगुणातीत ज्ञान-योगी' का गीता में बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है। गीता को तीन षट्कों में बाँटा जाता है। पहले षट्क में कर्मयोग का वर्णन है, उसी का मूर्त चित्र यहाँ दिया गया है, दूसरे षट्क में भक्ति-योग का वर्णन है, उसका मूर्त चित्र १२वें अध्याय में दिया गया है, तीसरे षट्क में ज्ञान-योग का वर्णन है, उसका मूर्त चित्र १३वें तथा १४वें अध्याय में दिया गया है।

कर्म-कांड में बुद्धि अस्थिर रहती है, कर्म-योग में बुद्धि स्थिर हो जाती है—यह सब सुनकर अर्जुन को यह जानने की इच्छा हुई कि अस्थिर बुद्धि के व्यक्तियों को तो हम रोज़ देखते हैं, 'स्थिर-बुद्धि' या 'स्थित-प्रज्ञ' व्यक्ति कैसा होता है?

अर्जुन ने कहा : **हे केशव ! जो व्यक्ति स्थिर-बुद्धिवाला है, स्थित-प्रज्ञ है, जो समाधिस्थ है (जिसका वर्णन आपने**

निश्चल; **समाधौ**[6]–समाधि में; **अचला**[7]–टिकी हुई; **बुद्धिः**[4]–बुद्धि; **तदा**[9]–तब; **योगम्**[10]–योग को; **अवाप्स्यसि**[11]–प्राप्त करेगा।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ।।५४।।

स्थितप्रज्ञस्य[2]–स्थित-प्रज्ञ की; **का**[4]–क्या; **भाषा**[5]–परिभाषा, लक्षण; **समाधिस्थस्य**[3]–समाधि में स्थित की; **केशव**[1]–हे श्रीकृष्ण;

अभी किया), वह किस प्रकार का होता है? इस प्रकार के स्थिर-बुद्धिवाले, स्थित-प्रज्ञ और समाधिस्थ व्यक्ति को किस ढंग से बोलना चाहिये, किस ढंग से बैठना चाहिये, किस ढंग से चलना चाहिये (उसके लक्षण क्या हैं) ।।५४।।

श्री भगवान् ने कहा : हे पार्थ! **जब मनुष्य अपने मन में गति करनेवाली सब कामनाओं को त्याग देता है, और जब वह अपने आप से अपने में ही सन्तुष्ट रहने लगता है, (अपने सन्तोष के लिये बाहर के विषयों पर आश्रित नहीं रहता), तब वह 'स्थित-प्रज्ञ' (स्थिर-बुद्धिवाला) कहलाता है ।।५५।।**

इसमें 'स्थित-प्रज्ञ' के दो रूप बतलाये हैं : विषयों से हटना यह स्थित-प्रज्ञता का 'नकारात्मक' (Negative) रूप है। अपने-आप में जुड़ जाना यह स्थित-प्रज्ञता का 'सकारात्मक' (Positive) रूप है। स्थित-प्रज्ञ अपने को सांसारिक विषयों से हटा लेता है, और आध्यात्मिक विषयों से अपने को जोड़ लेता है।

स्थितधीः[6]–स्थिर बुद्धि वाला; **किम्**[7]–किस ढंग से; **प्रभाषेत**[8]–बोले; **किम्**[9]–किस ढंग से; आसीत[10]–बैठे; **व्रजेत**[12]–चले; **किम्**[11]–किस ढंग से।

श्री भगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ।।५५।।

प्रजहाति[6]–छोड़ देता है, त्याग देता है; **यदा**[2]–जब; **कामान्**[5]–कामनाओं को, इच्छाओं को; **सर्वान्**[4]–सबको; **पार्थ**[1]–हे पृथा के पुत्र अर्जुन; **मनोगतान्**[3]–मन में गति करनेवालों को; **आत्मनि**[10]–अपने-आप में, आत्मा में; **एव**[9]–ही; **आत्मना**[8]–अपने-आप से, आत्मा से; **तुष्टः**[11]–संतुष्ट; **स्थितप्रज्ञः**[12]–स्थिर बुद्धिवाला; **तदा**[7]–तब; **उच्यते**[13]–कहलाता है।

जिसका मन दुःखों में उद्विग्न, बेचैन नहीं हो जाता, सुखों में जिसकी लालसा मिट जाती है, जो राग, भय और क्रोध से मुक्त हो जाता है, वह स्थिर-बुद्धिवाला व्यक्ति 'मुनि' कहलाता है ।।५६।।

स्थितप्रज्ञ को यहाँ 'मुनि' कहा है । अस्थिर-बुद्धिवाला व्यक्ति चंचल होता है, वाचाल होता है, असन्तुष्ट होने के कारण चाहे जो-कुछ बका करता है; स्थिर-बुद्धिवाला व्यक्ति शान्त होता है, सन्तुष्ट होने के कारण अंट-संट बोलता नहीं फिरता, इसलिए उसे 'मुनि' कहा है, 'मुनि'—अर्थात् 'मौन'-स्वभाववाला । अर्जुन ने पूछा था कि स्थितप्रज्ञ व्यक्ति किस ढंग से बोलता है—**'स्थितधीः किं प्रभाषेत'**—उसका उत्तर यहाँ दिया कि वह तो 'मुनि' होता है, बहुत बोलता नहीं । वह सुख-दुःख से तो प्रभावित होता ही नहीं, राग-भय-क्रोध से भी प्रभावित नहीं होता । ये तीन मनोभाव क्या हैं ? संसार के विषयों के प्रति हमारी मनोकामनाएँ 'राग' (Attachment) कहलाती हैं । इस खिंचाव में यह दुविधा सदा बनी रहती है कि हमारी मनोकामनाएँ पूर्ण होंगी या नहीं । यही दुविधा भय (Fear) कहलाती है । जिस कारण से मनोकामना पूर्ण नहीं होती उसके प्रति हमें 'क्रोध' (Anger) बना रहता है । जिस व्यक्ति ने मनोगत-कामनाओं को छोड़ दिया—**'प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्'**—वह स्वभावतः 'राग'-'भय'-'क्रोध'—इन तीनों को भी त्याग देगा ।

जिसे किसी वस्तु के प्रति स्नेह नहीं, जो शुभ को प्राप्त करके प्रसन्न नहीं होता, अशुभ को प्राप्त करके अप्रसन्न नहीं होता, उसकी 'प्रज्ञा' (बुद्धि) दृढ़ता से स्थिर हो गई है ।।५७।।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।।५६।।

दुःखेषु[1]–दुःखों में; **अनुद्विग्नमनाः**[2]–बेचैन मन का न होनेवाला; **सुखेषु**[3]–सुखों में; **विगतस्पृहः**[4]–स्पृहा, लालसा रहित; **वीतरागभयक्रोधः**[5]–राग, भय और क्रोध से रहित; **स्थितधीः**[6]–स्थिर-बुद्धिवाला; **मुनिः**[7]–मुनि; **उच्यते**[8]–कहलाता है ।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाऽशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।५७।।

यः[1]–जो; **सर्वत्र**[2]–सब जगह; **अनभिस्नेहः**[3]–बिना स्नेह वाला; **तत्-तत्**[4]–उस-उस को; **प्राप्य**[6]–प्राप्त करके; **शुभाऽशुभम्**[5]–शुभ तथा

स्थित-प्रज्ञ का यह अर्थ नहीं है कि जो व्यक्ति सांसारिक विषयों से अपने को हटा लेता और आध्यात्मिक विषयों से अपने को जोड़ लेता है, 'मुनि' बन जाता है, वह संसार के कर्म करना ही छोड़ देता है। गीता की दृष्टि से 'स्थित-प्रज्ञ' या 'मुनि' के लिए कर्म का त्याग उचित नहीं है। कर्म तो करना ही होगा, परन्तु कर्म करते हुए शुभ या अशुभ फल के कारण अपने को उद्विग्न नहीं करना होगा। तभी इस श्लोक में कहा है कि स्थित-प्रज्ञ व्यक्ति 'शुभ'-फल से प्रसन्न नहीं होता, 'अशुभ'-फल से अप्रसन्न नहीं होता। अगर वह 'कर्म' का ही त्याग कर दे, तब तो 'शुभ-अशुभ' विचार का प्रश्न ही नहीं उठता, 'शुभ-अशुभ' की बात यहाँ उठाई गई है इससे स्पष्ट है कि कर्म-त्याग की बात गीता को मान्य नहीं है।

जैसे कछुआ अपने अंगों को सब ओर से सिकोड़ कर अपने खोल के अन्दर खींच लेता है, उसी प्रकार जब कोई पुरुष इन्द्रियों के विषयों में से अपनी इन्द्रियों को खींच लेता है तब समझो कि उसकी प्रज्ञा (बुद्धि) स्थिर हुई ।।५८।।

इस श्लोक में गीता ने कछुए का दृष्टांत देकर संसार के विषयों से बचने के लिए एक बहुत व्यावहारिक उपाय की तरफ़ निर्देश किया है। हम दुनिया में रहते हुए काम, क्रोध, लोभ, मोह से कैसे बचें ? गीता का कहना है कि जैसे कछुआ जल में अपने सब हाथ-पैर फैला कर तैरता है वैसे मनुष्य संसार-सागर में विचरे, परन्तु संकट आते ही जैसे वह सब अंग समेट लेता है वैसे मनुष्य भी विषयों का संकट सामने देखते ही इन्द्रियों को समेट ले। हमारे चारों तरफ़ सिनेमा के अश्लील गीत गाये जाते हैं, गन्दी-गन्दी तस्वीरें जगह-जगह लगी हैं, हमारे युवक इस वातावरण में पलते हैं, फिर कैसे वे काम, क्रोध, लोभ पर विजयी हो सकते हैं ? वातावरण का मानव के मन पर अमिट प्रभाव पड़ता है। मानव का हम ऊर्ध्व-मुखी विकास करना चाहें तो उसके वातावरण का सुधार करना होगा। आज का समाज-शास्त्र भी वही बात कहता है जो गीता ने कछुए के दृष्टांत से कही है।

अशुभ को; **न**[7]—नहीं; **अभिनन्दति**[8]—प्रसन्न होता है; **न**[9]—नहीं; **द्वेष्टि**[10]—अप्रसन्न होता है; **तस्य**[11]—उसकी; **प्रज्ञा**[12]—बुद्धि; **प्रतिष्ठिता**[13]—स्थिर हो गई है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।५८।।

यदा[6]—जब; **संहरते**[10]—खींच लेता है; **च**[1]—और; **अयम्**[5]—यह; **कूर्मः**[2]—कछुआ; **अङ्गानि**[3]—अंगों को; **इव**[4]—जैसे; **सर्वशः**[7]—सब ओर से; **इन्द्रियाणि**[8]—इन्द्रियों को; **इन्द्रियार्थेभ्यः**[9]—इन्द्रियों के विषयो से; **तस्य**[11]—उसकी; **प्रज्ञा**[12]—बुद्धि; **प्रतिष्ठिता**[13]—स्थिर हो गई है।

परन्तु सिर्फ़ इन्द्रियों को विषयों में से खींच लेना पर्याप्त नहीं है। यह तो ठीक है कि इससे इन्द्रियों को अपना आहार नहीं मिलता, परन्तु इन्द्रियों में अपने आहार के प्रति रस की लालसा तो बनी रहती है। आँख रूप-रंग को देखना छोड़ दे, कान मधुर संगीत को सुनना छोड़ दे, जिह्वा खट्टे-मीठे स्वादु भोजन छोड़ दे, परन्तु इससे क्या होता है? इससे इन्द्रियों के विषय दूर हो गये, परन्तु इन विषयों के प्रति लालसा, उनके प्रति चाह तो दूर नहीं हुई। जबतक मन में इन्द्रियों के विषयों के प्रति लालसा, चाह बनी हुई है, तबतक प्रज्ञा स्थिर कैसे हो सकती है? इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं:

देहधारी मनुष्य के निराहार होने पर विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु उन विषयों का रस, उनके प्रति लालसा बनी रहती है। यह लालसा पर-ब्रह्म का दर्शन करने पर निवृत्त हो जाती है ।।५९।।

इस श्लोक में 'निराहार' का अर्थ भोजन न लेना ही नहीं है, अभिप्राय सब इन्द्रियों के उपवास से है। जब इन्द्रियाँ निराहार होती हैं, अपने-अपने रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श—इन विषयों को त्याग देती हैं, तब भी तो इनमें रस की लालसा बनी रहती है। यह लालसा कैसे दूर हो? गीता का कथन है कि इन विषयों में रस है, परन्तु पर-ब्रह्म का रस इनके रस से बड़ा है, उसे **'रसानां रसः'** कहा गया है, वह रसों का रस है, जब मनुष्य के सम्मुख वह रस आ जाता है, तब वह विषयों के रस को भूल जाता है।

आज का मनोविज्ञान भी यह कहता है कि विषयों को अगर न भोगा जायगा तो उनकी लालसा मन के भीतर पड़ी-पड़ी बेचैनी पैदा करती रहेगी। मनोविश्लेषणवादियों की यह धारणा है कि जो लोग ब्रह्मचर्य, तपस्या, संयम आदि पर बल देते हैं, वे यह नहीं जानते कि इन बातों से मानसिक-विकृति उत्पन्न हो जाती है, व्यक्ति कुंठित हो जाता है। गीता के लिए यह बात नयी नहीं है। गीता भी कहती है कि इन्द्रियों को विषयों का भोग न मिलना ही संयम नहीं है। इस प्रकार के संयम में लालसा, राग तो बना ही रहता है। असली समस्या यह नहीं है कि हम

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।।५९।।

विषयाः[3]–विषय; **विनिवर्तन्ते**[4]–निवृत्त हो जाते हैं; **निराहारस्य**[1]–विषयों का आहार न ग्रहण करनेवाले के; **देहिनः**[2]–मनुष्य के; **रसवर्जम्**[5]–लालसा को छोड़कर; **रसः**[7]–राग, लालसा; **अपि**[8]–भी; **अस्य**[6]–इसका; **परम्**[9]–पर-ब्रह्म को; **दृष्ट्वा**[10]–देखकर; **निवर्तते**[11]–निवृत्त हो जाता है।

इन्द्रियों का भोग उन्हें न दें, असली समस्या यह है कि हम लालसा को कैसे मिटायें। इसका उत्तर मनोविश्लेषणवादी तो यह देते हैं कि इन्द्रियों को भोग भोगने देना चाहिए। इससे लालसा मिट जाती है, मनोविकार नहीं होता, व्यक्ति कुंठित नहीं होता; गीता का उत्तर यह है कि इन्द्रियों को इन्द्रियों के रस से भी ऊँचे रस—परब्रह्म के रस— में लगा देना चाहिए। जब इन्द्रियाँ विषयों से ऊँचे रस में डूब जायेंगी तब न कुंठा होगी, न मनोविकार होगा, तब व्यक्ति ऊँचे रस में डूबकर स्थित-प्रज्ञ हो जायगा।

हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन ! पुरुष चाहे कितना ही यत्न करे, कितना ही विवेकशील हो, ये मथ डालनेवाली इन्द्रियाँ बलपूर्वक मन को (विषयों की तरफ़) खींच लेती हैं ॥६०॥

इसलिये इन सब इन्द्रियों को वश में करके, 'युक्त' होकर, मेरे साथ जुड़कर, 'मत्पर' होकर, मुझ में ही रम कर बैठे। जिस व्यक्ति की इन्द्रियाँ उसके वश में हैं उसकी प्रज्ञा (बुद्धि) स्थिर हो जाती है ॥६१॥

मनोविश्लेषणवाद का कहना है कि इन्द्रियों का संयम नहीं हो सकता। जब हम मन की किसी विषय-वासना को दबाते हैं तब वह अवचेतना में जाकर बेचैनी पैदा कर देती है और वह बेचैनी तभी दूर होती है जब विषय का भोग भोग लिया जाता है। मनोविश्लेषणवादियों का यह विचार वर्तमान युग के

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

यततः[3]–यत्न करते हुए के; **हि**[2]–निश्चय से; **अपि**[6]–भी; **कौन्तेय**[1]–कुन्ती के पुत्र अर्जुन; **पुरुषस्य**[5]–पुरुष के; **विपश्चितः**[4]–विवेकशील के; **इन्द्रियाणि**[9]–इन्द्रियाँ; **प्रमाथीनि**[8]–मथ डालनेवाली; **हरन्ति**[11]–खींच लेती हैं, हर लेती हैं; **प्रसभम्**[10]–बलपूर्वक; **मनः**[7]–मन को।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

तानि[1]–उन; **सर्वाणि**[2]–सबको; **संयम्य**[3]–वश में करके; **युक्तः**[4]–जुड़कर; **आसीत**[6]–बैठे; **मत्परः**[5]–मुझ में रम कर; **वशे**[10]–वश में; **हि**[7]–निश्चय से; **यस्य**[8]–जिसके; **इन्द्रियाणि**[9]–इन्द्रियाँ; **तस्य**[11]–उसकी; **प्रज्ञा**[12]–बुद्धि; **प्रतिष्ठिता**[13]–स्थिर है।

भौतिकवाद के अनुरूप है। गीता इस भौतिकवाद को नहीं मानती। गीता का कहना यह है कि इसमें सन्देह नहीं कि इन्द्रियों का वेग बड़ा प्रबल है, संयम महा कठिन है, परन्तु अगर मन को पर-ब्रह्म में लगा दिया जाय, उसमें जोड़ दिया जाय, तो वह वेग अपने-आप शिथिल पड़ जाता है। जैसे ऊँचे शब्द में धीमा शब्द दब जाता है, जैसे सूर्य के प्रकाश में दीपक का प्रकाश लुप्त-सा हो जाता है, वैसे पर-ब्रह्म के रस में संसार के विषयों का रस फीका पड़ जाता है। स्थित-प्रज्ञता की यह अवस्था है।

जिस व्यक्ति की 'प्रज्ञा' (बुद्धि) स्थिर नहीं होती उसका अगले दो श्लोकों में और जिसकी स्थिर होती है उसका इन दो श्लोकों से अगले श्लोकों में—इस प्रकार इन दोनों प्रकार के व्यक्तियों का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं :

इन्द्रियों के विषयों का ध्यान करते-करते पुरुष का उन विषयों के साथ 'संग' (Association) पैदा हो जाता है; विषयों के लगातार संग से, ध्यान से उनके प्रति 'कामना' (Attachment) पैदा हो जाती है; कामना पैदा हो जाने के बाद (जब उसकी पूर्ति में बाधा पड़ती है तब) क्रोध पैदा होता है ॥६२॥

क्रोध से अत्यन्त मूढ़-भाव पैदा हो जाता है, मूढ़-भाव से स्मृति में भ्रम हो जाता है, स्मृति में भ्रम हो जाने से बुद्धि का नाश हो जाता है, बुद्धि के नष्ट हो जाने से व्यक्ति ही नष्ट हो जाता है ॥६३॥

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥

ध्यायतः[2]–ध्यान करनेवाले; **विषयान्**[1]–विषयों को; **पुंसः**[3]–पुरुष के; **सङ्गः**[5]–संग, साथ; **तेषु**[4]–उनमें; **उपजायते**[6]–हो जाता है; **सङ्गात्**[7]–संग से; **संजायते**[9]–पैदा हो जाता है; **कामः**[8]–कामना; **कामात्**[10]–कामना से; **क्रोधः**[11]–क्रोध; **अभिजायते**[12]–पैदा होता है।

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

क्रोधात्[1]–क्रोध से; **भवति**[3]–होता है; **संमोहः**[2]–मूढ़ता, मूढ़-भाव; **संमोहात्**[4]–मूढ़-भाव से; **स्मृतिविभ्रमः**[5]–स्मृति में भ्रम; **स्मृतिभ्रंशात्**[6]–स्मृति में भ्रम पैदा हो जाने से; **बुद्धिनाशः**[7]–बुद्धि

इस सारे प्रकरण में बुद्धि को स्थिर रखने की बात कही गई है, इसलिए यह भी आवश्यक हो गया कि बुद्धि की अस्थिरता का, बुद्धि-नाश का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया जाय। उक्त दोनों श्लोकों में बुद्धि की अस्थिरता का, बुद्धि-नाश का मनोविज्ञान की दृष्टि से विश्लेषण किया गया है। बुद्धि को स्थिर रखने का मूल आधार इन्द्रियों का विषयों पर विजय पाना है। परन्तु इन्द्रियों को विषय खींचते कैसे हैं, इसकी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया क्या है? श्रीकृष्ण कहते हैं कि विषयों का बार-बार ध्यान करने से, चिंतन करने से, उन पर ही मन के टिके रहने से यह सारा झगड़ा पैदा होता है। वह कैसे? जब विषयों का 'संग' (Association) होता है, तब बार-बार के संग से, विषयों के ध्यान से 'कामना' (Attachment, Desire) पैदा हो जाती है, उनके प्रति 'आसक्ति' पैदा हो जाती है। लोक-व्यवहार में भी हम देखते हैं कि अगर कुत्ते के साथ भी हमें देर तक रहना पड़े तो उसके प्रति भी 'कामना', 'आसक्ति', 'अनुराग' उत्पन्न हो जाता है। यह 'कामना' कभी पूरी होती है, कभी नहीं होती, प्रायः कामना के पूरा होने में बाधा, रुकावट ही पैदा होती है। रुकावट आते ही मनुष्य आग-बबूला हो उठता है, 'क्रोध' से तमतमा उठता है। तभी गीता में कहा गया है कि 'कामना' के कारण 'क्रोध' उत्पन्न होता है। 'क्रोध' में मनुष्य की दो शक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं—'विवेक-शक्ति' तथा 'स्मृति-शक्ति'। क्रोध में मनुष्य को आगा-पीछा नहीं सूझता, उसकी विचार-शक्ति, विवेक-शक्ति नष्ट हो जाती है। इसी को गीता में कहा है—**'क्रोधाद् भवति संमोहः'**—'संमोह' का अर्थ है विवेक का नष्ट हो जाना। क्रोध से दूसरी शक्ति नष्ट होती है—'स्मृति'। क्रोधी को यह स्मरण ही नहीं रहता कि कौन क्या है—पिता है, माता है, गुरु है, भाई है, मित्र है। जिसकी विचार-शक्ति और स्मृति-शक्ति नष्ट हो गई उसकी तो बुद्धि ही नष्ट हो गई क्योंकि बुद्धि में दो ही बातें तो हैं—'विचार' तथा 'स्मृति'। इस प्रकार जिसकी बुद्धि नष्ट हो गई वह मानो स्वयं नष्ट हो गया।

उक्त दो श्लोकों में बुद्धि-नाश का चित्र खींच कर आगे के प्रकरण में स्थिर-बुद्धि वाले व्यक्ति का, स्थित-प्रज्ञ का चित्र खींचा गया है:

जो व्यक्ति राग-द्वेष से रहित होकर, अपनी इन्द्रियों को अपने वश में करके, अपने अन्तःकरण को विशेष प्रकार

का नाश; **बुद्धिनाशात्**[8]—बुद्धि के नष्ट हो जाने से; **प्रणश्यति**[9]—स्वयं नष्ट हो जाना है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

रागद्वेषवियुक्तैः[3]—राग-द्वेष से रहित; **तु**[2]—तो; **विषयान्**[6]—विषयों को; **इन्द्रियैः**[5]—इन्द्रियों से; **चरन्**[7]—भोगता हुआ; **आत्म-**

से बना कर, शिक्षित करके संसार के विषयों में विचरता है वह प्रसन्नता को प्राप्त होता है ।।६४।।

जब मनुष्य प्रसन्नता में, प्रसाद के भाव में रहने लगता है, तब उसके सब दुःख दूर हो जाते हैं । प्रसन्न चित्तवाले व्यक्ति की बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है ।।६५।।

जो व्यक्ति ब्रह्म के साथ 'युक्त' अर्थात् जुड़ा हुआ नहीं है उसमें स्थिर-'बुद्धि' नहीं होती, जो व्यक्ति ब्रह्म के साथ 'युक्त' अर्थात् जुड़ा हुआ नहीं है उसमें 'भावना' भी नहीं होती । जिसमें 'भावना' नहीं उसमें 'शान्ति' भी नहीं, जिसे 'शान्ति' नहीं उसे 'सुख' कहाँ ? ।।६६।।

वश्यैः[4]–अपने वश में की हुई से; **विधेयात्मा**[2]–शिक्षित किया हुआ आत्मा; **प्रसादम्**[8]–प्रसन्नता को; **अधिगच्छति**[9]–प्राप्त होता है ।

यहाँ 'विधेयात्मा' एक विशेष शब्द है । 'विधेयात्मा' दो शब्दों से बना है—'विधेय' तथा 'आत्मा' । 'विधेय' का अर्थ है—जिसे विशेष प्रकार से बनाया गया हो, शिक्षित किया गया हो, आज्ञाकारी (वश-वर्ती) बनाया गया हो । इन्द्रियों को वश में करना कोई हँसी-खेल तो है नहीं, इसके लिए प्रशिक्षित होना पड़ता है, इसीलिए यहाँ 'विधेयात्मा'-शब्द का प्रयोग हुआ है ।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।।६५।।

प्रसादे[1]–चित्त के प्रसन्न होने पर; **सर्वदुःखानाम्**[3]–सब दुःखों की; **हानिः**[4]–अभाव; **अस्य**[2]–इसकी; **उपजायते**[5]–हो जाती हैं; **प्रसन्नचेतसः**[6]–प्रसन्न चित्तवाले की; **हि**[9]–निश्चय से; **आशु**[8]–शीघ्र ही; **बुद्धिः**[7]–बुद्धि; **पर्यवतिष्ठते**[10]–स्थिर हो जाती है ।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ।।६६।।

न[3]–नहीं; **अस्ति**[4]–है; **बुद्धिः**[2]–बुद्धि; **अयुक्तस्य**[1]–न जुड़े हुए की; **न**[8]–नहीं; **च**[5]–और; **अयुक्तस्य**[6]–न जुड़े हुए की; **भावना**[7]–भावना; **न**[12]–नहीं; **च**[11]–और; **अभावयतः**[9]–भावना विहीन को; **शान्तिः**[10]–शान्ति; **अशान्तस्य**[13]–अशान्त व्यक्ति को; **कुतः**[15]–कैसे; **सुखम्**[14]–सुख ।

६३वें श्लोक में 'बुद्धि-नाश' का वर्णन किया, ६५वें श्लोक में 'बुद्धि-स्थिति' का वर्णन किया। यह तो स्वतःसिद्ध है कि मनुष्य को बुद्धि के नाश से बचना है, बुद्धि की स्थिरता को पाना है। परन्तु बुद्धि की स्थिरता को पा लेना पर्याप्त नहीं है। ६६वें श्लोक में इस मनोवैज्ञानिक तत्व का उद्घाटन करते हुए कहा है कि 'बुद्धि' (Intellect) भी कुछ काम नहीं देती जबतक उसके साथ 'भाव' (Emotion) न जुड़ा हो। 'बुद्धि' तो सिर्फ़ देख सकती है, 'भावना' देखने वाले को गतिशील बनाती है। अगर कोई देखता भर रहे, चले नहीं, तो देखना बेकार है। साँप को देख लिया, परन्तु देखकर मनुष्य उससे भागता तो तभी है जब डर पैदा होता है। यह डर ही तो 'भावना' है। 'भाव' (Emotions) दो प्रकार के हो सकते हैं: 'सकारात्मक' (Positive) तथा 'नकारात्मक' (Negative)। प्रेम, उत्साह, आशा, शान्ति, प्रसाद सकारात्मक भाव हैं; ईर्ष्या-द्वेष, क्रोध-कलह, घृणा नकारात्मक भाव हैं; परन्तु कार्य दोनों का बुद्धि को वेग देना है। क्योंकि 'भाव' (Emotion) का काम ही वेग देना है। गीता की शिक्षा यह है कि संसार में अशान्ति इसलिए है क्योंकि हमारी 'बुद्धि' (Intellect) के पीछे इसे वेग देने वाली काम, क्रोध, लोभ, मोह की नकारात्मक 'भावनाएँ' (Emotions) काम कर रही हैं; संसार में शान्ति लाने का उपाय यह है कि हमारी 'बुद्धि' के पीछे सकारात्मक भावनाएँ काम करने लगें। इसी को गीता ने **'न चाभावयतः शान्तिः'**—इन शब्दों में कहा है।

गीता में 'युक्त' तथा 'अयुक्त' ये दो शब्द इसी प्रकरण में आये हैं। ६१वें श्लोक में 'युक्त'-शब्द आया है, ६६वें श्लोक में 'अयुक्त'-शब्द आया है। दोनों स्थल एक-दूसरे से संबद्ध हैं। ६१वें श्लोक का अभिप्राय यह है कि हमें अपने मन को पर-ब्रह्म से 'युक्त' कर देना चाहिए, जोड़ देना चाहिए, जो जोड़ देते हैं, वे स्थित-प्रज्ञ हैं; ६६वें श्लोक का अभिप्राय यह है कि अगर हम 'अयुक्त' रहेंगे, मन को पर-ब्रह्म से जोड़ेंगे नहीं, तो न शान्ति मिलेगी, न सुख मिलेगा।

जब मन सांसारिक विषयों में भटकती हुई इन्द्रियों के पीछे जाने लगता है तब वह मनुष्य की मति को हर लेता है, जैसे वायु जल में नाव को बहा ले जाती है ॥६७॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

इन्द्रियाणाम्[7]—इन्द्रियों के; **हि**[1]—निश्चय से; **चरताम्**[6]—भटकती हुई; **यत्**[8]—जो; **मनः**[10]—मन; **अनु**[9]—पीछे; **विधीयते**[11]—चलने लगता है; **तत्**[12]—वह; **अस्य**[13]—इसकी; **हरति**[15]—हर लेता है; **प्रज्ञाम्**[14]—मति को; **वायुः**[3]—वायु; **नावम्**—[4]नौका को; **इव**[5]—तरह, जैसे; **अम्भसि**[2]—जल में।

इसलिये, हे महाबाहु ! जिस की इन्द्रियाँ इन्द्रियों के विषयों से सब प्रकार से दूर खींच ली गई हैं, उसी की बुद्धि स्थिर समझनी चाहिये ॥६८॥

सब प्राणियों के लिये जो रात होती है—उसमें संयमी पुरुष जागता रहता है, जिसमें सब प्राणी जागते होते हैं वह आँखें खोलकर देखनेवाले मुनि के लिए रात होती है ॥६९॥

जो दूसरों के लिये रात है वह साधक के लिये दिन है—इसका क्या अर्थ है ? इसका अर्थ यह है कि जीवन का मूल्यांकन संसार में डूबे हुए व्यक्ति तथा संसार से उबरने वाले व्यक्ति—इन दोनों का अलग-अलग होता है। तुलसीदास अपनी पत्नी के मोह में इतने फँसे थे कि रात में गहन नदी को पार कर ससुराल भागे गये और साँप को रस्सी समझ उसके सहारे पत्नी के कमरे में जा पहुँचे। वे ही जब राम के भक्त हुए तब संसार के प्रति वे आखें मींच बैठे और जिस भगवान् को वे भुलाये बैठे थे वे ही उन्हें कण-कण में दीखने लगे। मीरा महलों में रहने वाली, संसार के सुख-ऐश्वर्य में फूलों की तरह पलने वाली—उसकी आंखें जब श्रीकृष्ण के प्रति खुल गईं तब वह महलों के प्रति, संसार के सुख तथा ऐश्वर्य के प्रति सो गई, यह दुनिया उसके लिये निशा हो गई। भौतिकवादी भगवान् के प्रति सोया रहता है, संसार के प्रति जागा रहता है; आध्यात्मिकवादी भगवान् के प्रति जागा रहता

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

तस्मात्[1]–इसलिये; **यस्य**[3]–जिसकी; **महाबाहो**[2]–हे महाबाहु अर्जुन; **निगृहीतानि**[7]–दूर खींच ली गई है; **सर्वशः**[5]–सब प्रकार से; **इन्द्रियाणि**[4]–इन्द्रियाँ; **इन्द्रियार्थेभ्यः**[6]–इन्द्रियों के विषयों से; **तस्य**[8]–उसकी; **प्रज्ञा**[9]–बुद्धि; **प्रतिष्ठिता**[10]–स्थिर है।

तुलना कीजिये—इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥ महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥ —कठ० २, १०-११।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

या[2]–जो; **निशा**[3]–रात; **सर्वभूतानाम्**[1]–सब प्राणियों के लिये; **तस्याम्**[4]–उसमें; **जागर्ति**[6]–जागता है; **संयमी**[5]–संयमी पुरुष;

है, संसार के प्रति सोया रहता है। दृष्टि-भेद से जीवन के तत्वों के प्रति हमारे 'मूल्य' (Values) बदलते रहते हैं।

इसी अध्याय में ५६वें श्लोक में स्थित-प्रज्ञ को 'मुनि' कहा है। मुनि तथा साधारण व्यक्ति के जीवन के प्रति दृष्टिकोण में यहाँ भेद दिखाया गया है। दोनों की दृष्टि एक-दूसरे से उलटी है। जिसे साधारण व्यक्ति जीवन-मरण का प्रश्न समझे बैठा है, उसे मुनि निरर्थक समझता है, जिसे मुनि निरर्थक समझता है उसे सर्व-साधारण जीवन-मरण का प्रश्न समझता है। संसार के विषय हम लोगों के लिए जीवन का सर्वस्व हैं, मुनि के लिए ये तुच्छ से भी तुच्छ हैं—जागने तथा सोने का यही आलंकारिक अर्थ है।

चारों ओर से पानी भरते जाने पर भी जिसकी मर्यादा अचल रहती है, ऐसे समुद्र में जिस प्रकार पानी प्रवेश करता जाता है, उसी प्रकार जिस व्यक्ति में सब विषय प्रवेश करते जाते हैं और समुद्र की तरह वह अचल रहता है, उसकी शान्ति भंग नहीं होती, ऐसा ही व्यक्ति सच्ची शान्ति को प्राप्त करता है, और जो कामनाओं, इच्छाओं के पीछे भागता है, जो 'कामकामी' है, कामनाओं की कामना करता रहता है, उसे शान्ति प्राप्त नहीं होती ॥७०॥

पाश्चात्य मनोविज्ञान और गीता के भारतीय मनोविज्ञान के दृष्टि-कोण में आधारभूत भेद है। पाश्चात्य दृष्टि-कोण यह है कि हमें अपनी इच्छाओं को

यस्याम्[7]—जिस में; **जाग्रति**[9]—जागते हैं; **भूतानि**[8]—प्राणी; **सा**[12]—वह; **निशा**[13]—रात्रि; **पश्यतः**[10]—आंखें खोलकर देखने वाले; **मुनेः**[11]—मुनि के लिये।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

आपूर्यमाणम्[2]—चारों तरफ़ से भरते जाने वाले; **अचलप्रतिष्ठम्**[3]—अचल मर्यादा वाले; **समुद्रम्**[4]—समुद्र को; **आपः**[5]—जल; **प्रविशन्ति**[6]—प्रवेश करते हैं; **यद्वत्**[1]—जिस तरह; **तद्वत्**[7]—उस तरह; **कामाः**[10]—कामनाएँ; **यम्**[8]—जिस को; **प्रविशन्ति**[11]—प्रवेश करती हैं; **सर्वे**[9]—सब; **सः**[12]—वह; **शान्तिम्**[13]—शान्ति को; **आप्नोति**[14]—प्राप्त करता है; **न**[15]—नहीं; **कामकामी**[16]—कामनाओं की कामना करने वाला।

बढ़ाते जाना चाहिए, इन इच्छाओं को पूर्ण करने के साधन जुटाना ही उन्नति का, सभ्यता का काम है। जो सभ्यता मनुष्य की ज्यादा-से-ज्यादा इच्छाओं को पूर्ण कर सकेगी वही उन्नत सभ्यता है, और दिनोंदिन बढ़ती इच्छाओं को लगातार पूर्ण करती रहनेवाली सभ्यता ही प्रगतिशील तथा उन्नतिशील सभ्यता है। गीता का दृष्टि-कोण यह नहीं है कि इच्छाओं को पूर्ण नहीं करना चाहिए। गीता का दृष्टि-कोण यह है कि जैसे समुद्र में नदी-नाले बहते हुए आकर उसमें समाते जाते हैं, परन्तु वह क्षुब्ध नहीं होता, अचल रहता है, इसी प्रकार संसार के विषयों को भोगता हुआ भी जो व्यक्ति सुख-दुःख से क्षुब्ध नहीं होता, संसार के विषय जिस पर चोट नहीं करते, जिसकी शान्ति भंग नहीं होती, जो इच्छाओं और कामनाओं के पीछे ही भागता नहीं रहता, उनका दास नहीं बन जाता, वह सुखी है, उसी को शान्ति प्राप्त होती है। पाश्चात्य दृष्टि-कोण इच्छाओं के बढ़ाने पर बल देता है, भारतीय दृष्टि-कोण इच्छा द्वारा मन के विक्षुब्ध न होने पर बल देता है; पाश्चात्य दृष्टिकोण बाह्य-जगत् पर बल देता है, भौतिक-जगत् पर, वह **'काम-कामी'** है, भारतीय दृष्टि-कोण आन्तरिक-जगत् पर बल देता है, आध्यात्मिक-जगत् पर, वह **'आत्म-कामी'** है; पाश्चात्य दृष्टि-कोण असन्तोष पर बल देता है, असन्तोष होगा तभी सभ्यता उन्नति करेगी, भारतीय दृष्टि-कोण सन्तोष पर, सुख-शान्ति पर, इच्छाओं द्वारा विक्षुब्ध न होने पर बल देता है।

जो पुरुष सब कामनाओं को, इच्छाओं को त्याग देता है, 'निस्पृह' होकर, लालसा से रहित होकर, 'निर्मम' होकर, ममता से रहित होकर, 'निरहंकार' होकर, अहंकार की, 'मैं' की भावना को छोड़कर विचरता है, वह शान्ति को प्राप्त होता है ।।७१।।

शान्त-चित्त होने का साधन कामनाओं के पीछे भागना नहीं परन्तु कामनाओं को त्यागना है। त्यागने का साधन क्या है? गीता का कहना यह है कि जब हम 'अहंकार', 'ममता' तथा 'स्पृहा'—इन तीन को छोड़ देते हैं, तब अपने-आप कामनाएँ छूट जाती हैं, शान्ति आ जाती है। 'अहंकार', 'ममता' तथा 'स्पृहा'

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमाँश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ।।७१।।

विहाय[5]—छोड़ कर ; **कामान्**[4]—कामनाओं को ; **यः**[1]—जो ; **सर्वान्**[3]—सब ; **पुमान्**[2]—पुरुष ; **चरति**[9]—विचरता है ; **निःस्पृहः**[6]—लालसा रहित ; **निर्ममः**[7]—ममता से रहित ; **निरहंकारः**[8]—अहंकार से रहित ; **सः**[10]—वह ; **शान्तिम्**[11]—शान्ति को ; **अधिगच्छति**[12]—प्राप्त होता है।

इनका आपस में संबंध है। 'अहंकार' का अर्थ है—'मैं-पना'। जब 'मैं-पना' प्रबल हो जाता है तब उसी से 'मेरा-पन' उत्पन्न होता है। इस 'मेरे-पन' को ही गीता में 'ममत्व' कहा है। 'मेरे-पन' या 'ममत्व' की भावना के आते ही 'स्पृहा' उत्पन्न हो जाती है। 'स्पृहा' का क्या अर्थ है? मुझे या मेरे लोगों को अमुक वस्तु की आवश्यकता है, उसके बिना काम न चलेगा—यह लालसा, यह कामना, यह इच्छा ही 'स्पृहा' कहलाती है। जो व्यक्ति 'निरहंकार', 'निर्मम' तथा 'निस्पृह' हो जाता है, जिसमें 'मैं'-'मेरा'-'मेरे लिए'—ये तीनों भावनाएँ नहीं रहतीं, वह सुखी हो जाता है, वही 'स्थित-प्रज्ञ' है।

हे अर्जुन ! यही ब्राह्मी-स्थिति है (संसार में स्थित होने के स्थान में ब्रह्म में स्थित हो जाना है), इसे प्राप्त हो जाने पर कोई भी 'मोह' नहीं रहता। अगर अन्तकाल में भी किसी को यह स्थिति प्राप्त हो जाय तो वह ब्रह्म-निर्वाण को प्राप्त होता है, ब्रह्म में लीन हो जाता है या महान् निर्वाण को प्राप्त करता है ॥७२॥

द्वितीय अध्याय के ७वें श्लोक में अर्जुन ने कहा है कि मैं 'संमूढ़' हो गया हूँ, मोह में फँस गया हूँ; इस श्लोक में भी कहा है कि ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करके 'मोह' जाता रहता है, गीता के अन्त में भी कहा गया है कि **'नष्टो मोहः स्मृति-र्लब्धा'**—मेरा मोह नष्ट हो गया—इस सब से यह स्पष्ट है कि गीता का मुख्य लक्ष्य 'मोह' का नाश है।

श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् में जो ब्रह्मविद्या का वर्णन किया गया है, उसके अन्तर्गत जो योग-शास्त्र है, उसमें जो कृष्णार्जुन संवाद है, उस संवाद का 'सांख्य-योग'-नामक यह द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ। *

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

एषा[2]–यह; **ब्राह्मी**[3]–ब्रह्म में; **स्थितिः**[4]–स्थित हो जाने की अवस्था है; **पार्थ**[1]–हे अर्जुन; **न**[7]–नहीं; **एनाम्**[5]–इस को; **प्राप्य**[6]–प्राप्त करने पर; **विमुह्यति**[8]–मोह को प्राप्त होता है; **स्थित्वा**[12]–रह कर; **अस्याम्**[11]–इस में; **अन्तकाले**[9]–अन्तिम काल में; **अपि**[10]–भी; **ब्रह्मनिर्वाणम्**[13]–ब्रह्म में लीन होने को या महान् मोक्ष को; **ऋच्छति**[14]–प्राप्त करता है।

*** इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्य-योगो नाम द्वितीयोऽध्यायः।**

उपसंहार

प्रथम अध्याय के अन्त में दिये गये 'संकल्प' में उस अध्याय का नाम 'अर्जुन-विषाद योग' दिया गया था, द्वितीय अध्याय के अन्त में दिये गये 'संकल्प' का नाम 'सांख्य-योग' दिया गया है। 'सांख्य-योग' का अर्थ है—'सांख्य-मार्ग' तथा 'योग-मार्ग'। द्वितीय अध्याय में इन दोनों मार्गों की दृष्टि से अर्जुन की समस्या पर विचार किया गया है। ये दोनों दृष्टियाँ क्या हैं—इस पर विचार करना आवश्यक है :

१. सांख्य-दृष्टि से अर्जुन की समस्या पर विचार

(क) 'आत्मा' तथा 'शरीर' के भेद से अर्जुन की समस्या पर विचार— 'सांख्य-मार्ग' का यहाँ अर्थ कपिल मुनि का सांख्य-दर्शन नहीं है। 'सांख्य' का अर्थ है—'सम्यक् ख्यायते इति सांख्यम्'—जिस मार्ग से युक्तिपूर्वक समझाया जाय वह 'सांख्य-मार्ग' है। सांख्य-दर्शन में भी सृष्टि की एक-एक वस्तु की संख्या को गिना कर समझाया गया है इसलिए उसे 'सांख्य' कहते हैं। इस अध्याय में ११ से ३८ श्लोक तक अर्जुन की समस्या पर सांख्य-दृष्टि से विवेचन किया गया है। कई लोगों का मत तो यह है कि गीता वास्तव में २य अध्याय के ११वें श्लोक से ही प्रारंभ होती है। इस विवेचन में सांख्य-दर्शन की बात इतनी तो आ ही जाती है कि जैसे सांख्य-दर्शन में 'प्रकृति' तथा 'पुरुष' को अलग-अलग माना गया है, वैसे ही इस अध्याय में 'देह' और 'देही' का, 'शरीर' तथा 'आत्मा' का अलग-अलग विवेचन किया गया है। श्रीकृष्ण ने ११ से ३० श्लोक तक सांख्य-दृष्टि से दो सिद्धान्तों को स्पष्ट किया है; और ३१ से ३८ श्लोक तक सांख्य-दृष्टि से एक तीसरे सिद्धान्त 'स्व-धर्म' को स्पष्ट किया है। पहला सिद्धान्त तो यह है कि 'आत्मा' अमर है, अविनाशी है; दूसरा सिद्धान्त यह है कि 'शरीर' मरणधर्मा है, विनाशी है। 'आत्मा' के अमरत्व का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जैसे शरीर में बालपन, यौवन तथा जरा आती हैं, एक अवस्था बीतती है, दूसरी आ जाती है, वैसे ही आत्मा का एक शरीर छूटता है, दूसरा आ जाता है; जैसे पुराने कपड़े उतार कर हम नये पहन लेते हैं वैसे आत्मा पुराना शरीर छोड़ कर नया धारण कर लेता है; इसे न शस्त्र छेद सकते हैं, न अग्नि जला सकती है, न जल गला सकते हैं, न वायु सुखा सकती है; आत्मा अछेद्य है, अदाह्य है, अक्लेद्य है, अशोष्य है। जो आत्मा इस प्रकार अमर है उसके लिए यह सोच कर कि यह मर जायगा—इस प्रकार शोक करना कहाँ तक संगत हो सकता है? 'शरीर' के मरणधर्मा, विनाशी होने के संबंध में कहा गया है कि इस विनाशवान् शरीर के लिए क्या शोक करना? जो उत्पन्न होता है वह मरता है, मरना तो अपरिहार्य है, इससे कोई बच नहीं सकता, फिर शरीर के मरने पर हाय-हाय क्या करना? आत्मा अमर है, उसे कोई नष्ट नहीं कर सकता; शरीर मरणधर्मा है, उसे कोई बचा नहीं सकता—इस-लिए हे अर्जुन! दोनों दृष्टियों से तेरा विषाद करना निरर्थक है। 'आत्मा' तथा 'शरीर' को सम्मुख रखकर यह सांख्य-दृष्टि हुई।

(ख) 'स्व-धर्म' की दृष्टि से अर्जुन की समस्या पर विचार—इसी 'सांख्य-दृष्टि' से अर्जुन की समस्या पर विवेचन करते हुए श्रीकृष्ण ने 'स्व-धर्म' के नाम से एक तीसरे सिद्धान्त की बात उठाई है। 'स्व-धर्म' की बात ३१ से ३८ श्लोक तक चली है। गीता का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना 'धर्म' होता है। 'धर्म' का अभिप्राय यहाँ हिन्दू-ईसाई-मुसलमान धर्म से नहीं, अपनी 'प्रकृति' से है। मनुष्य की जो प्रकृति है, स्वभाव है, वही उसका धर्म है। ब्राह्मण स्वभाव वाला व्यक्ति अगर व्यापार करने लगेगा तो घाटा-ही-घाटा उठायेगा, वैश्य स्वभाववाला व्यक्ति अगर पढ़ाने-लिखाने का काम करेगा तो हर समय वेतन बढ़ाने की बात करेगा। युद्ध करना क्षत्रियों का धर्म है, प्रकृति है, स्वभाव है। दुष्ट की दुष्टता को सहन न करना—यही क्षात्र-धर्म है। इसलिए सांख्य-दृष्टि से विचार करने पर अर्जुन को 'स्व-धर्म' का पालन करना चाहिए, जो अपने धर्म का, अपनी प्रकृति का, अपने स्वभाव का पालन नहीं करता वह पाप का भागी होता है। आचार्य विनोबा ने 'स्व-धर्म' को माता से उपमा दी है। उनका कहना है कि जैसे मुझे अपनी माता का चुनाव इस जन्म में करना बाकी नहीं रहा, वह पहले से निश्चित हो चुकी है, वह कैसी ही क्यों न हो, अब टाली नहीं जा सकती, ऐसी ही स्थिति 'स्व-धर्म' की है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना 'धर्म', अपनी 'प्रकृति', अपना 'स्वभाव' जन्म से ही निश्चित है, खोजने इसे कहीं जाना नहीं पड़ता। इस 'स्व-धर्म' के क्षेत्र में रहकर कार्य करना ही हमारा कर्तव्य है, इसलिए हे अर्जुन ! तू जब क्षत्रिय है तब क्षत्रियोचित धर्म की ही बात कर, और युद्ध के लिए डट कर खड़ा हो जा।

२. योग-दृष्टि से अर्जुन की समस्या पर विचार

जैसा हम प्रारंभ में कह आये हैं, अर्जुन तो मानव का प्रतीक है, मेरा-तेरा प्रतीक है, उसे सामने रखकर श्रीकृष्ण ने मानवमात्र की समस्याओं को खड़ा किया है, और खड़ा करके उनका समाधान करने का प्रयत्न किया है। अर्जुन की समस्या युद्ध-क्षेत्र की समस्या थी, हमारी समस्या जीवन के युद्ध-क्षेत्र की, जीवन के हर-एक क्षण की समस्या है। इन समस्याओं का हल एक तो सांख्य-दृष्टि से दिया। क्या हल दिया ? यह हल दिया कि हर समस्या पर इस बात को ध्यान में रखकर चलो कि आत्मा अमर है, देह नाशवान् है, अपने को स्व-धर्म का पालन करना है। दूसरा हल योग-दृष्टि से दिया। योग-दृष्टि क्या है ?

(क) कर्म-काण्ड तथा कर्म-योग में भेद—किसी समय भारत देश में कर्म-कांड का बोलबाला था। यज्ञों द्वारा सब मनोरथ पूर्ण होते हैं—यह विचार घर-घर जड़ पकड़े हुए था। यज्ञों के बहुत विस्तृत विधि-विधान थे, हर समय किसी-न-किसी मनोरथ को पूर्ण करने के लिए कोई-न-कोई यज्ञ किया जाता था। मुंडकोपनिषद् ने इस प्रकार के कर्म-कांड के विरोध में आवाज़ उठाई। इस उपनिषद् के २य खंड के ७वें श्लोक में लिखा है—**'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति'**

—'भव-सागर को पार करने के लिए ये यज्ञ-रूप प्लव हैं, बेड़े हैं; ये बेड़े अत्यन्त अदृढ़ हैं, ढीले हैं। इनमें १८ प्रकार के 'कर्म' कहे गये हैं, परन्तु ये सब 'कर्म' बेकार हैं। जो मूढ़ व्यक्ति इन यज्ञीय-कर्मों को श्रेष्ठ मानकर आनन्द मनाते फिरते हैं, वे बार-बार जरा तथा मृत्यु के फंदे में फँसते हैं।' श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्म-योग से हमारा अभिप्राय इस कर्म-कांड से नहीं है, कर्म-योग कर्म-कांड से भिन्न है, ये लोग जो कर्म-कांड की बात करते हैं, स्वर्ग जाने की, कर्म करके उसके फल भोगने की, ये लोग भोग तथा ऐश्वर्य में फँसे हुए हैं, हे अर्जुन! तू भोगवाद की इस बुद्धि से अपनी समस्या का समाधान नहीं कर सकता।

उपनिषदों तथा गीता के समय का जो 'कर्म-कांड' था वह आज के युग का 'भोगवाद' है, 'प्रकृतिवाद' (Materialism) है। उस समय यज्ञों द्वारा मनोरथ की सिद्धि समझी जाती थी, आज विज्ञान के नाना आविष्कारों द्वारा कामनाओं को, इच्छाओं को पूर्ण किया जाता है, कर्म-कांडियों तथा वर्तमान युग के भोगवादियों का दृष्टि-कोण एक ही है। गीता का कहना है कि मानव के जीवन की समस्या कर्म-कांड से, भोगवाद से, फल भोगने की कामना से हल नहीं हो सकती।

(ख) **कर्म-योग**—तो फिर मानव के जीवन की समस्या कैसे हल होगी? इसका उत्तर गीता ने यह दिया है कि इस समस्या का हल 'कर्म-योग' है। 'कर्म-योग' का वर्णन गीता में ३९ से ५३ श्लोक तक किया गया है। 'सांख्य-योग' का अर्थ है 'कर्म-संन्यास'—कर्म छोड़ देना, यह समझ कर छोड़ देना कि आत्मा ही नित्य है, शरीर तो अनित्य है, इस अनित्य शरीर के लिए लोभ-लालच-वासना क्यों रखा जाय। अर्जुन इसी दृष्टि से कर्म छोड़ रहा था, युद्ध से भाग रहा था। श्रीकृष्ण ने इस दृष्टि को पकड़कर भी उसे समझाया कि अगर शरीर अनित्य है, आत्मा अमर है, तब युद्ध से क्यों भागना, आत्मा तो मर ही नहीं सकता, ऐसी हालत में 'स्व-धर्म' का ही पालन क्यों न किया जाय, रण-भूमि में ही क्यों न डटा जाय? 'सांख्य-योग' अथवा 'कर्म-संन्यास' के अतिरिक्त दूसरी दृष्टि है—'कर्म-योग' की, 'कर्म' को छोड़ने के स्थान में 'कर्म' को करने की। गीता की परिभाषा में 'कर्म-योग' का अर्थ सिर्फ़ काम करते जाना नहीं है। 'कर्म-योग' गीता का अपना ही घड़ा हुआ शब्द है, विश्व के चिंतन को यह गीता की अपनी ही देन है, 'कर्म-योग' की इसी देन के कारण गीता आज भी विश्व को वैसा ही नवीन सन्देश दे रही है जैसा नवीन सन्देश इसने कुरुक्षेत्र की रण-भूमि में हथियार फेंक कर निराश खड़े हुए अर्जुन को दिया था। जीवन के रण-क्षेत्र में खड़ा हुआ प्रत्येक व्यक्ति अर्जुन है। प्रत्येक के सम्मुख जीवन की कठोर विषम परिस्थितियाँ उठ खड़ी होती हैं। हम में से प्रत्येक इन विषम परिस्थितियों में अपने हथियार फेंक कर निराशा का करुण-क्रन्दन करने लगता है। गीता के 'कर्म-योग' ने गांडीव फेंक कर पलायन करने वाले अर्जुन को 'कर्म-योग' का उपदेश देकर फिर से रण-भूमि में ला खड़ा किया था, वही 'कर्म-योग' का उपदेश हमें भी निराशा से आशा के

जगत् में लाकर खड़ा कर सकता है। प्रश्न है कि वह 'कर्म-योग', जिसने निराश हृदय में आशा का संचार किया, जिसने निर्बल को सबल, भयग्रस्त को साहसी, कर्म-संन्यासी को कर्म-योगी बना दिया, क्या है ?

(ग) कर्म-योग का अर्थ फल में आसक्ति का त्याग है—'कर्म' के विषय में तीन विचार हो सकते हैं : (१) फल का त्याग करना हो तो कर्म ही क्यों करो; (२) कर्म करो और फल पर अपना अधिकार समझो, (३) कर्म करो परन्तु फल पर अपना अधिकार मत समझो। इनमें से पहला दृष्टि-कोण तमोगुणी है, दूसरा रजोगुणी है, तीसरा सत्त्वगुणी है। तमोगुणी कहता है कि फल मिलेगा तो कर्म करूँगा, नहीं तो कर्म ही नहीं करूँगा; रजोगुणी कहता है कर्म तो अवश्य करूँगा, परन्तु फल पर अपना अधिकार ज़रूर रखूँगा; सत्त्वगुणी कहता है कि कर्म करूँगा, परन्तु फल पर अपना अधिकार नहीं रखूँगा। सत्त्वगुणी व्यक्ति का दृष्टि-कोण ही कर्म-योग का दृष्टि-कोण है, इसमें पहली दोनों दृष्टियों का समन्वय हो जाता है, इसमें तमोगुणी की तरह कर्म छोड़ा भी नहीं जाता, रजोगुणी की तरह फल पर अधिकार रखा भी नहीं जाता। कर्म-योग के इसी मार्ग को 'निष्काम-कर्म' कहते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि अगर फल के प्रति आसक्ति छोड़ दी जाय, तो मनुष्य को सुख-दुःख दोनों नहीं होंगे, वह सम-भाव से रह सकेगा। हमें दुःख तभी होता है जब हमें अपने 'कर्म' का 'फल' नहीं मिलता। जब हमने 'फल' के प्रति आसक्ति ही छोड़ दी, तब दुःख किस बात का होगा ?

इस स्थल पर दो प्रश्न उठ खड़े होते हैं। पहला प्रश्न तो यह है कि जब हमें फल के प्रति आसक्ति नहीं होगी, तब हम कर्म क्यों करेंगे; दूसरा प्रश्न यह है कि क्या फल के प्रति आसक्ति छोड़कर कर्म करना संभव भी है, या यह सिर्फ़ कहने की बात है ?

पहला प्रश्न—गीता का कहना है कि बुद्धिमान् व्यक्ति को फल के प्रति आसक्ति छोड़ कर ही कर्म करना होगा। क्या हम देखते नहीं कि कर्म करना हमारे हाथ में हैं, फल हमारे हाथ में है ही नहीं। हम खेती करते हैं, यह हमारे हाथ में है, परन्तु क्या खेती का फल भी हमारे हाथ में है ? बीज घुन जाता है, वर्षा के न होने से खेती सूख जाती है, ओले पड़ने से हरे-भरे खेत नष्ट हो जाते हैं, जानवर खेती को तबाह कर देते हैं, फल हमारे हाथ में कहाँ है ? हमारे हाथ में तो है ही 'कर्म' करना; 'फल' हमारे हाथ में जब है ही नहीं, तब हम फल के प्रति आसक्ति पर अपनी शक्ति का अपव्यय क्यों करें ? गीता हमें यथार्थ स्थिति को स्वीकार करने के लिए प्रेरित करती है। यथार्थ स्थिति यह है कि 'कर्म' करना हमारे हाथ में है, 'फल' हमारे हाथ में नहीं है। जो वस्तु हमारे हाथ में नहीं, हमारे बस की नहीं, उसके लिए नाहक सिर क्यों पटकना ? गीता का कहना है कि कर्म करते हुए फल पर अधिकार न रखना ही जीवन के प्रति 'यथार्थ-दृष्टि' (Realistic outlook) है क्योंकि हम भले ही फल चाहते रहें, पर उस पर हमारा अधिकार नहीं है।

दूसरा प्रश्न—दूसरा प्रश्न यह है कि क्या फल की आसक्ति को छोड़ कर कर्म करना संभव भी है? जैसा हमने अभी कहा, गीता के दृष्टि-कोण से तो 'यथार्थवाद' (Realism) यही है कि जब फल हमारे हाथ में नहीं है, तो हमें उस स्थिति को वैसा ही स्वीकार कर लेना चाहिए। परन्तु ऐसा होता नहीं है। हम जब भी कोई कर्म करते हैं, फल पहले ही मन में बैठा होता है। गीता का कहना है कि फल की आसक्ति मन में बैठी तो होती है, परन्तु उसे मन में बैठे नहीं होना चाहिए क्योंकि फल हमारे हाथ में नहीं है। मन में ऐसी अनासक्ति की अवस्था ले आना संभव है। उदाहरणार्थ, डाक्टर मरीज़ को चंगा करने के लिए दवा देता है, परन्तु मरीज़ मर जाता है। मरीज़ के सगे-सम्बन्धी उसके लिए रोते हैं, डाक्टर तो नहीं रोता। क्यों नहीं रोता? क्योंकि मरीज़ के चंगा होने के लिए दवा देने का कर्म तो उसने किया था, परन्तु फल में उसकी आसक्ति नहीं थी। अगर डाक्टर का अपना लड़का मरीज़ होता, वह मर जाता, तो डाक्टर सिर पीट लेता। ऐसा वह क्यों करता? क्योंकि अपने लड़के को जब वह दवा देता है, तब फल में उसकी आसक्ति होती है। अगर दूसरे को दवा देते हुए डाक्टर निष्काम-भाव से कर्म कर सकता है, उसे दवा देते हुए उसे कर्म-फल की आसक्ति नहीं सताती, तो इसका यह अर्थ तो है ही कि अनासक्ति से कर्म करना संभव है। जो वृत्ति डाक्टर अन्य मरीज़ों के साथ अपनाता है, उसे अपने लड़के के साथ भी अपना सकता है। इसी निस्संगता, निष्कामता को जीवन में स्थिर बना लेना 'कर्म-योग' है।

(घ) फल की आशा न करना तथा फल में आसक्ति न करना—इन दोनों में भेद—'कर्म-योग' का यह अर्थ तो है कि हम फल के प्रति अनासक्त रहें, इसका यह अर्थ नहीं है कि हम फल की आशा ही न करें या यह समझने लगें कि फल होगा ही नहीं। 'कर्म' किया है तो उसका फल तो होगा ही। यह कैसे हो सकता है कि हम कर्म करें और फल की आशा न करें? यह तो कार्य-कारण के नियम पर कुठारा-घात होगा। 'कर्म' करने के बाद 'फल' की आशा तो करनी ही होगी, परन्तु फल पर 'अधिकार' नहीं करना होगा, उस पर 'आसक्ति' नहीं रखनी होगी, उसके लिए मन में 'लगाव' नहीं रखना होगा। 'कर्म-योग' का अर्थ कर्म के फल की आशा का त्याग नहीं, अपितु कर्म के फल पर अधिकार का, आसक्ति का, लगाव का त्याग है। निष्काम-कर्मी के कर्म का फल सकाम-कर्मी के कर्म के फल से सौ गुना मिलता है, परन्तु वह उस पर अपना स्वत्व, अपना अधिकार नहीं समझता। जब मनुष्य कर्म-फल पर अपना अधिकार समझने लगता है, यह समझता है कि मैंने कर्म किया तो मुझे फल अवश्य मिलना चाहिए तभी सब झगड़े-जंजाल, संसार के दुःख उठ खड़े होते हैं। जब वह कर्म-फल को अपना अधिकार न समझकर, जो-कुछ फल मिलता है उसे भगवान् के अर्पण कर देता है, कर्म-फल में आसक्ति नहीं रखना, तब वह सुख-दुःख की चपेट से बाहर निकल जाता है।

(ङ) सकाम-कर्म तथा निष्काम-कर्म में भेद—सकाम-व्यक्ति की दृष्टि सदा 'फल' की तरफ़ होती है, निष्काम-व्यक्ति की दृष्टि सदा 'कर्म' की तरफ़

रहती है। असली वस्तु तो 'कर्म' है। 'कर्म' जितनी तन्मयता से किया जायगा उतना ही तो 'फल' भरपूर होगा। क्योंकि सकाम-व्यक्ति की दृष्टि दो बातों पर रहती है इसलिए उसमें 'कर्म' के प्रति उतनी तन्मयता नहीं रह सकती जितनी निष्काम-व्यक्ति की रह सकती है क्योंकि उसके ध्यान का केन्द्र तो सिर्फ़ 'कर्म' होता है। सकाम-निष्काम में दूसरा भेद यह है कि सकाम-व्यक्ति सदा स्वार्थ की दृष्टि से देखता है, 'उसकी कामना'—यह मनोभाव उसमें सदा प्रधान रहता है, इसी-लिए स्वार्थ-दृष्टि में दूसरे का अहित भी हो सकता है। निष्काम-व्यक्ति कभी स्वार्थ-दृष्टि से नहीं देखता क्योंकि उसकी फल में आसक्ति ही नहीं होती, इसलिए उसके कर्म से दूसरे का अहित नहीं होता। सकाम-निष्काम में तीसरा भेद यह है कि सकाम-व्यक्ति क्योंकि फलासक्त होता है इसलिए फल न मिलने पर वह दुःखी होता है; निष्काम-व्यक्ति क्योंकि फलासक्त नहीं होता इसलिए सिद्धि-असिद्धि में वह सम रहता है, फल मिलने पर वह आपे से बाहर नहीं हो जाता, फल न मिलने पर सिर नहीं पीटने लगता।

विनोबा भावे का कहना है कि निष्काम-कर्म स्वतः एक फल है इसलिए निष्काम-व्यक्ति किसी अन्य फल की तरफ़ नहीं देखता, फल पर फल क्या लगेगा? निष्काम-कर्म स्वतः फल कैसे है? चित्रकार जब चित्र बनाता है तब अगर कोई उसे कहे कि चित्र मत बनाओ, तुम्हें जितने पैसे चाहियें हम देंगे, तो क्या वह चित्र बनाना छोड़ देगा? कवि को कहो कि कविता न करे, कविता के बदले पैसे ले ले, तो क्या वह पैसे लेकर कविता करना छोड़ देगा? चित्रकार चित्र बनाता है, कवि कविता करता है, वे इसे अपना 'कर्म' समझ कर करते हैं, किसी फल की आसक्ति से नहीं, इसीलिए पैसे के लिए चित्र बनानेवाले की अपेक्षा चित्र के लिए चित्र बनानेवाला, पैसे के लिए कविता करनेवाले की अपेक्षा कविता के लिए कविता करनेवाला ज्यादा मग्न रहता है। इनका अपने काम में मग्न रहना ऐसा ही है जैसे सूर्य का चौबीसों घंटे संसार में प्रकाश फैलाना, चाँद का चाँदनी बखेरना, आकाश का जल बरसाना और हवा का शीतल पवन बहाना। इस प्रकार के निष्काम-कर्म के सम्मुख सकाम-कर्म अपने-आप तुच्छ बन जाता है।

३. स्थित-प्रज्ञ का स्वरूप

२य अध्याय के ११ से ५३ श्लोकों में 'सांख्य-दृष्टि' तथा 'योग-दृष्टि' का प्रतिपादन कर ५४ से ७२ के १८ श्लोकों में गीता में ऐसे व्यक्ति का चित्र खींचा है जो उक्त दोनों दृष्टियों से अपने जीवन को उच्च शिखर पर ला चुका है, जिसे गीता ने 'स्थित-प्रज्ञ' कहा है। गीता में १८ अध्याय हैं, स्थित-प्रज्ञ का वर्णन करने-वाले भी १८ श्लोक हैं, इन १८ श्लोकों में मानो गीता के १८ अध्यायों का सार निचोड़ कर रख दिया है। महात्मा गांधी गीता के इन श्लोकों को इतना महत्व देते थे कि उन्होंने इन्हें नित्य की प्रार्थना का अंग बना लिया था। गीता की दृष्टि में 'स्थित-प्रज्ञ' एक आदर्श व्यक्ति का चित्र है। यह चित्र क्या है?

(क) स्थित-प्रज्ञता का रूप—गीता का कहना है कि संसार के विषय बड़े प्रबल हैं। इन विषयों को देखकर हमारी इन्द्रियाँ अपने को वश में नहीं रख सकतीं। मनुष्य कितना ही यत्न करे, इन्द्रियाँ उसे विषयों की तरफ़ खींच ही ले जाती हैं। जब मनुष्य इन्द्रियों के पीछे चलकर विषयों का भोग करने लगता है, तब राग-द्वेष उत्पन्न हो जाते हैं, मन अशान्त हो जाता है, सुख से वह हाथ धो बैठता है। जो लोग कहते हैं कि विषयों को भोगने से मन शान्त हो जाता है, वे मन की यथार्थता को नहीं जानते। इसमें सन्देह नहीं कि विषयों को भोगने से मन में क्षणिक शान्ति आती है, परन्तु वह क्षणिक ही होती है, चिर-स्थायी शान्ति नहीं होती। गीता का कहना है कि हमें क्षणिक शान्ति नहीं चाहिए, हमें चिर-काल तक टिकनेवाली शान्ति चाहिए, प्रसाद चाहिए, ऐसी शान्ति चाहिए जिसमें बुद्धि भटकती न रहे, स्थिर होकर अमृत का पान करती रहे। इसके लिए क्या किया जाय? इसके लिए गीता की दृष्टि से एक ही उपाय है। वह उपाय क्या है? गीता का कहना है कि जब मनुष्य मन में उठनेवाली सब कामनाओं का परित्याग कर देता है, जब विषयों में शान्ति ढूंढने के स्थान में अपने आत्मा में स्थित हो जाता है, जब सुखों में आपे से बाहर नहीं हो जाता, दुःखों में निराश नहीं हो जाता, जब संसार के विषयों में से अपनी इन्द्रियों को इस प्रकार खींच लेता है जैसे कछुआ अपने अंगों को अपने खोल में खींच लेता है, तब उसे शान्ति प्राप्त होती है, प्रसाद प्राप्त होता है। परन्तु क्या कामनाओं का परित्याग संभव है? गीता का कहना है कि इन्द्रियाँ विषयों के प्रति दौड़ती हैं, जबतक वे इस प्रकार दौड़ती रहेंगी तबतक तो कामनाओं का परित्याग नहीं हो सकता। हाँ, अगर इन्द्रियों को विषयों के पीछे दौड़ाने के स्थान में उन्हें मन की तरफ़ लगाया जाय, आत्मा की तरफ़ लगाया जाय, तब विषयों के कारण मन में उठनेवाले उद्वेग अवश्य शान्त होंगे, परन्तु तब भी एक समस्या बनी ही रहेगी। वह समस्या क्या है? वह समस्या यह है कि इन्द्रियों को विषयों का रस तो हर समय स्मरण रहता ही है। संसार के विषयों से पीठ फेर लेने पर भी इस रस की स्मृति मनुष्य को हर समय व्याकुल करती रहेगी। अगर विषयों को भोगने पर और विषयों को छोड़ने पर—दोनों अवस्थाओं में मनुष्य का मन व्याकुल रहना है, अशान्त रहना है, तब विषयों को छोड़ने का क्या लाभ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गीता का कहना है कि यह तो ठीक है कि संसार के विषयों से पीठ फेर लेने पर भी इन विषयों की स्मृति हमें व्याकुल, अशान्त करती रह सकती है, परन्तु जब हम बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी होंगे तब हमें तो विषयों से मिलनेवाले रस से भी बड़ा रस, परब्रह्म का रस, पर-ब्रह्म की अनुभूति मिलेगी। उस रस के सामने संसार के सब रस तुच्छ हो जायेंगे, और तब हमारा चित्त शान्त हो जायगा, प्रसाद से आप्लुत हो जायगा, हमारा भटकना दूर हो जायगा, तब हम समुद्र की तरह होंगे जिसमें संसार की नदियाँ उमड़-उमड़ कर आती हैं परन्तु वह अचल रहता है, हम भी कामना रहित होने के कारण संसार के विषयों की बाढ़ में चट्टान की तरह अचल टिके रहेंगे। 'स्थित-प्रज्ञ' का यही रूप है।

(ख) स्थित-प्रज्ञता तथा समावस्था—स्थित-प्रज्ञ के विषय में गीता का कथन है कि सुख-दु:ख, शुभ-अशुभ, सिद्धि-असिद्धि सब द्वन्द्वों से उसे ऊपर उठना है। यह तो समझ आता है कि मनुष्य दु:ख, अशुभ, असिद्धि से ऊपर उठे, परन्तु सुख, शुभ, सिद्धि से भी ऊपर उठे—यह बात समझ में नहीं आती। गीता का उत्तर यह है कि जैसे दु:ख मन को उद्विग्न करता है वैसे सुख भी तो मन को उद्वेलित करता है, जैसे अशुभ से मन हिल जाता है वैसे शुभ से भी तो मन चलायमान हो जाता है, जैसे असिद्धि से मन खिन्न होता है वैसे सिद्धि से भी तो इतना प्रसन्न हो जाता है कि उसे शान्त नहीं कहा जा सकता। इन बातों का मन पर जो प्रभाव पड़ता है उसकी परख निद्रा है। जैसे अत्यन्त दु:ख में मन अशान्त होने के कारण निद्रा नहीं आती, वैसे अत्यन्त सुख में भी मन के उद्वेलित हो जाने के कारण नींद नहीं आती। यही बात शुभ-अशुभ, सिद्धि-असिद्धि द्वन्द्वों की है। अनुकूल-प्रतिकूल दोनों प्रकार के मनोभावों से मन चंचल, अस्थिर, दोलायमान हो जाता है, यह मन की असम अवस्था है, विषम अवस्था है। गीता का उपदेश है कि मन की अचल, स्थिर, सम अवस्था ही प्रसाद की अवस्था है, यही योग की अवस्था है, इसी को 'ब्राह्मी-स्थिति' कहते हैं, यही 'स्थित-प्रज्ञता' है।

४. गीता का प्रतिपाद्य विषय

जैसे हम पहले लिख चुके हैं, गीता का प्रारंभ मुख्य तौर पर २य अध्याय के ११वें श्लोक से हुआ है। यही कारण है कि द्वितीय अध्याय में ही गीता के प्रतिपाद्य विषय की खोज की जानी उचित है। गीता के अबतक जितने टीकाकार हुए हैं सबने अपने-अपने दृष्टिकोण से इसके प्रतिपाद्य विषय का विवेचन किया है। इससे पहले कि हम आगे बढ़ें गीता के टीकाकारों की इस विषय में सम्मति जान लेना उचित है। हम यहाँ संक्षेप में गीता के प्राचीन तथा अर्वाचीन टीकाकारों की सम्मति दे रहे हैं।

५. गीता के प्राचीन टीकाकार

(क) शंकराचार्य (७८८-८२० ईस्वी) का 'ज्ञान-योग'—भारतीय साहित्य में मोक्ष-प्राप्ति के तीन साधन गिनाये गये हैं—ज्ञान, कर्म, उपासना। ज्ञान का संबंध मस्तिष्क से है, कर्म का संबंध इन्द्रियों से है, उपासना का संबंध हृदय से है। इसी को अंग्रेजी में Knowing, Willing, Feeling कहते हैं। ज्ञान के मार्ग को ज्ञान-योग, कर्म के मार्ग को कर्म-योग तथा उपासना के मार्ग को भक्ति-योग कहा जाता है। शंकराचार्य अद्वैतवादी थे। उनका कहना था कि जगत् मिथ्या है, ब्रह्म ही सत् है, आत्मा भी मूलत: ब्रह्म है, यह जो नानात्व दिखाई देता है उसका कारण अज्ञान है। अगर यह बात ठीक है कि अज्ञान ही सब रोगों की जड़ है तो हमारे सब रोगों को काटने का उपाय भी 'ज्ञान' के सिवाय दूसरा हो नहीं सकता। यही कारण है कि शंकराचार्य के कथनानुसार गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'ज्ञान-योग' है। कर्म तो करना ही पड़ता है, परन्तु कर्म मुख्य नहीं, ज्ञान

मुख्य है, कर्म किया जाता है कर्म का त्याग करने के लिए, संन्यास के लिए, कर्मों से निवृत्ति के लिए। शंकराचार्य का कहना है कि गीता के अध्याय ४, श्लोक ३७ में लिखा है—**'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन'**—हे अर्जुन! ज्ञान की अग्नि से सब कर्म भस्म हो जाते हैं; इसी प्रकार गीता के अध्याय ४, श्लोक ३३ में लिखा है—**'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते'**—सब कर्मों का अन्त ज्ञान में होता है; इससे सिद्ध है कि गीता का प्रतिपाद्य विषय 'कर्म-योग' नहीं, 'कर्म-संन्यास' है। उपासना के संबंध में शंकराचार्य का कहना है कि भक्ति तो व्यक्ति के प्रति होती है, ब्रह्म कोई व्यक्ति-विशेष नहीं है, इसलिए उसकी उपासना नहीं हो सकती, उसके प्रति प्रेम या श्रद्धा भी नहीं हो सकती। दो शब्दों में, शंकराचार्य के अनुसार गीता का प्रतिपाद्य विषय न 'कर्म-योग' है, न 'भक्ति-योग' है; गीता का प्रतिपाद्य विषय 'ज्ञान-योग' है।

(ख) रामानुजाचार्य (जन्म १०७३ या ११वीं शताब्दी) का 'भक्ति-योग'—शंकराचार्य अद्वैतवादी थे, तो रामानुजाचार्य विशिष्टाद्वैतवादी थे। विशिष्टाद्वैत का क्या अर्थ है? इनका कहना था कि शंकराचार्य का अद्वैतवाद असत्य है। ईश्वर, जीव तथा जगत्—ये तीनों एक तत्व नहीं, भिन्न-भिन्न तीन तत्व हैं, परन्तु कैसे तत्व? जीव (चित्) तथा जगत् (अचित्)—दोनों एक ही ईश्वर के सूक्ष्म शरीर हैं। चित्+अचित् विशिष्ट ईश्वर तो एक ही है, ईश्वर के शरीर के इस सूक्ष्म चित्+अचित् से स्थूल-चित् (अनेक जीव) तथा स्थूल-अचित् (यह स्थूल जगत्) की उत्पत्ति हुई है। क्योंकि इस सिद्धान्त में जीव तथा जगत् को ईश्वर के ही शरीर माना जाता है, इसलिए इस सिद्धान्त को भी 'अद्वैत' ही कहते हैं, परन्तु क्योंकि इस सिद्धान्त में ईश्वर के शरीर को जीव तथा जगत् से विशिष्ट, अर्थात् सहित माना जाता है इसलिए इसे 'विशिष्टाद्वैत' कहते हैं। जैसे शरीर तथा आत्मा एक ही भासते हैं, परन्तु एक-दूसरे से पृथक् हैं, एक-दूसरे से विशिष्ट हैं, वैसे जगत् तथा परमात्मा एक ही भासते हैं, परन्तु एक-दूसरे से पृथक् हैं, एक-दूसरे से विशिष्ट हैं। ईश्वर, जीव तथा जगत्—इन तीनों के विषय में भी रामानुजाचार्य का मत है कि ये तीनों एक होते हुए भी एक-दूसरे से भिन्न हैं, भिन्न होते हुए भी एक-दूसरे के साथ इस प्रकार बँधे हुए हैं, एक-दूसरे से विशिष्ट हैं जैसे शरीर तथा आत्मा की अलग-अलग अनुभूति होते हुए भी इनकी एक ही अनुभूति होती है। रामानुजाचार्य कहते हैं कि जीव ईश्वर से विशिष्ट होते हुए भी ईश्वर से पृथक् है, जीव अवास्तविक नहीं है, मुक्ति की दशा में वह लुप्त नहीं होता। तो फिर ईश्वर तथा जीव का क्या संबंध है? जैसे जीव शरीर को संभालता है वैसे ईश्वर जीव को संभालता है, जीव के भीतर ईश्वर का निवास है, परमात्मा आत्मा के भीतर मौजूद है, और भीतर से ही उसका नियमन करता है। यही कारण है कि ईश्वर की जब जीव पर कृपा होती है तब उसका उद्धार होता है। इस दृष्टि से रामानुजाचार्य का कहना है कि गीता का मुख्य प्रतिपाद्य-विषय भक्ति है, कर्म नहीं। ईश्वर की जीव पर कृपा जीव के भक्ति-भाव से ही हो सकती है, कर्म

तो उसमें सहायक मात्र है। तभी कहा है कि--**'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'**--ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में बैठा हुआ उनका संचालन कर रहा है; तभी कहा है--**'मद्याजी मां नमस्कुरु'** --मेरी ही पूजा कर, मुझे नमस्कार कर; तभी कहा है--**'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'**--सब धर्मों को छोड़कर मेरी शरण ले। इस प्रकार शंकराचार्य के 'अद्वैत' के स्थान में 'विशिष्टाद्वैत' तथा 'संन्यास' के स्थान में 'भक्ति' को स्थापित करके रामानुजाचार्य ने 'भक्ति-मार्ग' का प्रतिपादन किया और गीता का भी मुख्य विषय 'भक्ति-योग' ही घोषित किया। रामानुजाचार्य ब्रह्म को नवीन वेदान्तियों की तरह निर्गुण नहीं मानते, सगुण मानते हैं, वह भक्तों का कल्याण करता है, उनका उपकार करता है।

श्री मध्वाचार्य (११९९-१२७६ ईस्वी) रामानुजाचार्य के बाद हुए। उन्होंने 'गीता-भाष्य' तथा 'गीता-तात्पर्य' दो ग्रन्थ लिखे। 'विशिष्टाद्वैत' के विषय में उनका कहना था कि ईश्वर और जीव को कुछ अंशों में एक और कुछ अंशों में परस्पर भिन्न मानना परस्पर-विरुद्ध है, इसलिए दोनों को परस्पर भिन्न मानना ही उचित है। उन्होंने एक तीसरे सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसे 'द्वैत सम्प्रदाय' कहा जाता है। जहाँ द्वैत है वहाँ 'भक्ति' है क्योंकि दो में ही उपासना का स्थान हो सकता है। इसलिए मध्वाचार्य ने भी गीता का मुख्य विषय 'भक्ति-योग' ही माना है। उनका कहना है कि गीता में 'कर्म' का प्रतिपादन तो अवश्य है, परन्तु वह केवल भक्ति का साधन है, स्वयं साध्य नहीं है।

६. गीता के अर्वाचीन टीकाकार

(क) लोकमान्य तिलक (१८५६-१९२० ईस्वी) का 'कर्म-योग'--गीता के अर्वाचीन टीकाकारों में लोकमान्य तिलक का नाम प्रमुख है। वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने यह घोषित किया कि गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'ज्ञान' नहीं है, 'भक्ति' नहीं है, अपितु 'कर्म' है। लोकमान्य तिलक ने लिखा है कि किसी ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय को देखने के लिए उसका आदि देखना चाहिए, अन्त देखना चाहिए, यह देखना चाहिए कि पुस्तक के बीच में बार-बार किस बात को दोहराया गया है। जो बात शुरू में कही गई हो, जो बात बीच-बीच में दोहराई गई हो, जो अन्त में कही गई हो, वही उस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय हो सकता है। इसी को मीमांसक कहते हैं--**'उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम्'**--उपक्रम में, उपसंहार में, अभ्यास अर्थात् बार-बार दोहराने में जो बात कही जाय--**'लिंगं तात्पर्य-निर्णये'**--ग्रन्थ के तात्पर्य का निर्णय करने में उसी बात को प्रधानता दी जानी चाहिए। इस दृष्टि से विचार करने पर प्रश्न होता है कि गीता का प्रारंभ कैसे हुआ, बीच में क्या बात कही गई, अन्त कैसे हुआ? कुरुक्षेत्र के मैदान में अपने बुजुर्गों, गुरुओं, सगे-संबंधियों को खड़े देखकर अर्जुन घबड़ा उठा, गांडीव उसके हाथ से गिर गया, वह संन्यास लेने के लिए तैयार हो गया, कर्म छोड़ बैठा।

जब गीता का उपदेश हो चुका तब उसने श्रीकृष्ण से कहा—**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत। स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव'**—'हे अच्युत! मेरा मोह नष्ट हो गया, जैसा आप कहेंगे मैं वैसा करूंगा। अन्त में अर्जुन ने गांडीव धनुष पकड़ा, गुरुओं, सगे-संबंधियों को मौत के घाट उतार दिया। जो अर्जुन कर्म छोड़ चुका था वह कर्म में प्रवृत्त हुआ, तब यह कैसे कहा जाय कि गीता में 'ज्ञान-योग' है, या 'भक्ति-योग' है? लोकमान्य तिलक का कहना है कि गीता का आदि, मध्य, अन्त इस बात के साक्षी हैं कि गीता का प्रतिपाद्य विषय 'कर्म-योग' है, अन्य योगों का वर्णन अवान्तर रूप से किया गया है।

(ख) श्री अरविन्द घोष (१८७२-१९५०) का 'दिव्य-कर्म'—श्री अरविन्द ने गीता पर 'Essays on the Gita' लिखे हैं। उनका कहना है कि गीता का प्रतिपाद्य-विषय 'कर्म-योग' नहीं है। जो लोग गीता का प्रतिपाद्य-विषय 'कर्म-योग' कहते हैं, वे ऐसा पाश्चात्य-प्रभाव के कारण कहते हैं। पाश्चात्य विचार के अनुसार समाज-सेवा, देश-सेवा, लोक-सेवा आदि हमारा कर्तव्य है, यही विचार लेकर बंकिमचन्द्र चटर्जी तथा लोकमान्य तिलक ने गीता की कर्म-परक व्याख्या की है, वस्तुतः गीता का प्रतिपाद्य-विषय कर्म नहीं है।

हम कहते हैं कि मनुष्य को अपना 'कर्म' कर्तव्य समझकर करना चाहिए। सिपाही का यह कर्तव्य है कि वह लड़े, हुकुम पाते ही गोली मार दे चाहे उसके सामनेवाला उसका बुजुर्ग हो, गुरु हो, रिश्तेदार हो; जज का कर्तव्य है कि वह अपराधी को जेल भेज दे, खूनी को फाँसी की सज़ा दे; वकील का कर्तव्य है कि अपने मवक्किल की पैरवी करने में पूरी कोशिश करे चाहे वह जानता हो कि उसका मवक्किल कसूरवार है। कहा जाता है कि यह 'कर्म-योग' है, परन्तु यदि मनुष्य की आन्तरिक दृष्टि बदल जाय, सिपाही का हृदय टालस्टाय जैसा हो जाय और वह समझने लगे कि किसी भी मनुष्य की जान लेना वैसा ही घृणित काम है जैसा किसी मनुष्य का माँस खाना, यदि जज का यह आन्तरिक विश्वास हो जाय कि किसी मनुष्य को फाँसी देना मानवता की दृष्टि से पाप है, यदि वकील की आँख खुल जाय और वह यह देखने लगे कि झूठ सदा पाप ही है, तब क्या होगा? क्या तब भी 'कर्म-योग' की दुहाई देकर सिपाही को लड़ना ही पड़ेगा, जज को अपना आन्तरिक विश्वास दबाना ही पड़ेगा, वकील को झूठे मवक्किल की पैरवी करनी ही होगी? ऐसा 'कर्म-योग' किस काम का जो अन्तरात्मा को दबाये, और इस प्रकार के 'कर्म-योग' की गीता में हिमायत होगी—यह संभव नहीं है। बुद्ध ने राज छोड़ दिया, रामकृष्ण परमहंस ने घर-बार छोड़ दिया, विवेकानन्द ने भी सब-कुछ छोड़ दिया। क्या गीता बुद्ध को यह उपदेश देगी कि राज करना, स्त्री-पुत्र का पालन करना उसका कर्तव्य था, इन्हें छोड़ कर उसने अच्छा नहीं किया; क्या गीता परमहंस रामकृष्ण तथा विवेकानन्द को यह उपदेश देगी कि घर-गृहस्थी को छोड़कर जो उन्होंने अपने को भगवान् के अर्पण कर दिया—यह ठीक नहीं किया। जब किसी के अन्तरात्मा में इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न हो

जाय जैसी बुद्ध, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द के हृदय में उत्पन्न हो गई, तब सभी कर्तव्यों को त्याग देना, कुचल डालना और एक ओर फेंक देना पड़ता है।

अर्जुन के सम्मुख भी ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हो गई थी। वह सिपाही था, इसलिए उसे युद्ध करने के लिए कहा जा रहा था। उसे कहा जा रहा था कि युद्ध करना उसका धर्म है। सामने कोई भी हो, गुरु हो, भाई हो, रिश्तेदार हो—सिपाही का काम युद्ध में शस्त्र हाथ से फेंक देना नहीं। परन्तु क्या यह बात जँचती है कि अर्जुन की अन्तरात्मा उसे युद्ध से विरत कर रही हो, और श्रीकृष्ण उसे कह रहे हों कि तुम्हें युद्ध करना ही होगा क्योंकि यह तुम्हारा कर्तव्य है। अर्जुन की तो कठिनाई ही यह थी कि भले ही युद्ध करना उसका कर्तव्य था किन्तु उसकी अन्तरात्मा की पुकार उसे युद्ध से विरत कर रही थी, ठीक ऐसे जैसे आँख खुल जाने पर वकील अपने झूठे मवक्किल की पैरवी करना छोड़ देता है, जैसे बुद्ध ने ज्ञान की आँख खुलने पर राज-पाट छोड़ दिया, परमहंस रामकृष्ण और विवेकानन्द ने घर-बार छोड़ दिया। अर्जुन को यह कहना कि तुम सैनिक हो, सैनिक का काम करो, काटो-मारो, चाहे पाप हो, चाहे पुण्य, चाहे इसका जो भी फल हो उसका विचार न करके निष्काम-भाव से अपना कर्म करो—श्री अरविंद का कहना है कि ऐसी सीख किसी राज्य की ओर से हो सकती है, राजनीतिज्ञ ऐसा कह सकते हैं, परन्तु कोई महान् धार्मिक और दार्शनिक ग्रन्थ, जिसका कि उद्देश्य ही जीवन और कर्म के प्रश्न को जड़मूल से हल करना हो, ऐसी शिक्षा नहीं दे सकता। यदि इस प्रकार के नैतिक प्रश्न के विषय में गीता को यही बात कहनी हो तो इसे संसार के महान् ग्रन्थों की सूची से अलग ही करना होगा और फिर यदि इसे कहीं रखना ही हो तो राजनीतिशास्त्र की किसी लाइब्रेरी में रख देना होगा।

अगर 'कर्म-योग' गीता का प्रतिपाद्य-विषय नहीं है, तो श्री अरविंद के विचार में गीता का प्रतिपाद्य-विषय क्या है? श्री अरविंद का कहना है कि गीता राजनीतिशास्त्र का ग्रन्थ नहीं, बल्कि आध्यात्मिक-जीवन का ग्रन्थ है। श्री अरविंद के अनुसार गीता जिस कर्म का प्रतिपादन करती है वह 'मानव-कर्म' (Human action) नहीं, अपितु 'दिव्य-कर्म' (Divine action) है। 'मानव-कर्म' क्या है, और 'दिव्य-कर्म' क्या है?

जिन्हें हम कर्तव्य-कर्म कहते हैं वे सब 'मानव-धर्म' हैं। समाज ने जिन कर्तव्यों को हमारे लिए निश्चित किया है, वे 'दिव्य-धर्म' नहीं, 'मानव-धर्म' हैं। ब्राह्मण के लिए ब्राह्मण का कर्म, क्षत्रिय के लिए क्षात्र-कर्म—ये सब 'दिव्य-धर्म' नहीं कहे जा सकते, ये सब 'मानव-धर्म' हैं। सिपाही युद्ध में जिसे सामने आते देखे उसी पर गोली दाग दे, वकील अपने सच्चे-झूठे मवक्किल की जी-जान से पैरवी करे, जज हर अपराधी को जेल भेज दे—ये सब 'मानव-धर्म' हैं, 'दिव्य-धर्म' नहीं। 'मानव-धर्म' का अर्थ है—'सामाजिक-धर्म'। समाज ने अपनी आवश्यकताओं के लिए जो उचित समझा वह मनुष्य का कर्तव्य निश्चित कर दिया। समाज की आवश्यकता बदल जाय तो यह धर्म, यह कर्म भी बदल जाय। जो कर्म मानव-

समाज की आवश्यकता के अनुसार बदल सकता है, आज वह कर्तव्य-कर्म है, आवश्यकता बदल जाने पर कल वह अकर्तव्य-कर्म हो सकता है, ऐसे कर्म के लिए गीता जैसा महान् ग्रन्थ क्या यह उपदेश दे सकता है कि उसे आँख मींच कर करते जाओ, चाहे वह पुण्य का कर्म हो, चाहे पाप का, चाहे तुम्हारी अन्तरात्मा उसे करने की गवाही देती हो, चाहे न देती हो, चाहे बुजुर्गों, भाई-भतीजों की खून की नदियाँ बहाने का ही कर्म क्यों न हो ? श्री अरविन्द कहते हैं कि गीता की यह शिक्षा नहीं हो सकती, 'मानव-धर्म' के लिए मनुष्य आँख मींच कर चल पड़े—यह कैसे हो सकता है ? श्री अरविन्द का कहना है कि गीता मानव को 'मानव-कर्म' के लिए नहीं, 'दिव्य-कर्म' के लिए प्रेरित करती है। 'दिव्य-कर्म' क्या है ? इस विश्व का नियन्त्रण मनुष्य नहीं कर रहा, भगवान् कर रहा है, कोई दैवी-शक्ति कर रही है। उस दिव्य-शक्ति का विश्व के संचालन में जो उद्देश्य है उस उद्देश्य के साथ एकतानता उत्पन्न कर लेना, उस उद्देश्य को पूर्ण करने में अपनी शक्ति लगा देना ही 'दिव्य-कर्म' है। 'दिव्य-उद्देश्य' (Divine purpose) को पूर्ण करनेवाला कर्म 'दिव्य-कर्म' (Divine action) है, और जब मनुष्य दिव्य-कर्म करने लगता है तब वह स्वयं कर्म नहीं कर रहा होता, मनुष्य को माध्यम बना कर भगवान् ही कर्म कर रहा होता है, मनुष्य तो निमित्तमात्र होता— **'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् !'** 'दिव्य-कर्म' का यह अर्थ नहीं है कि उसमें 'मानव-कर्म' आ नहीं जाता या इन दोनों का सदा विरोध है। समाज-सेवा, अपने-अपने चातुर्वर्ण्य का पालन, समाज के निश्चित किये हुए कर्तव्य-कर्म—ये सब 'दिव्य-कर्म' के अंग हो सकते हैं, आजकल के युग में ये 'दिव्य-कर्म' के अंग हैं भी, इसीलिए ये चल भी रहे हैं, परन्तु ऐसा अवसर आ सकता है जब 'दिव्य-कर्म' और 'मानव-कर्म' में विरोध उठ खड़ा हो। बुद्ध के जीवन में ऐसा अवसर आया, दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द के जीवन में भी ऐसा अवसर आया। उस समय उन्होंने 'मानव-कर्म' को, उस कर्म को जिसे हम 'कर्तव्य-कर्म' कहते हैं, परे फेंक कर 'दिव्य-कर्म' को पकड़ा, अन्तरात्मा की पुकार सुनी, अपने भीतर बैठे परमात्मा के आदेश का पालन किया, सांसारिक कर्तव्य-अकर्तव्य के मोह में नहीं पड़े। गीता का प्रतिपाद्य-विषय यही 'दिव्य-कर्म' है, यही 'निष्काम-कर्म' है।

तो फिर अर्जुन की समस्या का श्री अरविन्द के दृष्टि-कोण से क्या हल हुआ ? श्री अरविन्द कहते हैं कि गीता बड़े ज़ोर से बतलाती है कि मनुष्य 'कर्म' का कर्ता नहीं है, कर्त्री प्रकृति है, यह त्रिगुणमयी प्रकृति-शक्ति ही मनुष्य के द्वारा कर्म करती है, हमें यह साफ़-साफ़ देख लेना होगा, और सीख लेना होगा कि कर्म के कर्ता हम नहीं हैं, प्रकृति है। प्रकृति भी क्या है ? प्रकृति से भी परे, प्रकृति का भी नियन्त्रण करनेवाला, प्रकृति का आधार तथा इसका स्वामी एक चेतन है, प्रभु, इस सब का नियन्त्रण करनेवाला पर-ब्रह्म। वह अपने जीवों के हृदय में विराजमान है, प्रकृति के कर्मों का नियामक है, यह वही है जो कुरुक्षेत्र की समर-भूमि में जीवित सेनाओं को भी मार चुका है, जो अर्जुन को इस संहार में केवल

यंत्र या निमित्त-मात्र बनाये हुए है। अर्जुन क्योंकि दैवीय-शक्ति का निमित्त-मात्र है, उसी का एक यंत्र है, इसलिए उसका अपने कर्मों पर कुछ भी दावा नहीं है, अधिकार नहीं है, वह जो-कुछ करेगा अधिकार छोड़कर करेगा, ये कर्म क्योंकि अर्जुन के नहीं, भगवान् के हैं, इसलिए इन कर्मों में कोई फलाकांक्षा नहीं हो सकती, ये निष्काम हैं। श्री अरविन्द के 'दिव्य-कर्म' का यही रूप है। 'दिव्य-कर्म'-शब्द गीता के ४र्थ अध्याय के ९ श्लोक में आया है।

श्री अरविन्द के 'दिव्य-कर्म' के इस सिद्धान्त से हमें क्या सीख मिलती है? हमें इससे यह सीख मिलती है कि हम में से जिसके हृदय में भी दिव्य-चेतना जागृत हो जाय उसका कर्म मानव-कर्तव्य या सामाजिक-व्यवहार के लिए अपने को न्यौछावर कर देना नहीं है, उसका कर्म दैवीय-चेतना के स्पन्दन के साथ अपने को एकरस कर देना है भले ही इस प्रकार 'मानव-कर्म' तथा 'दैवीय-कर्म' में संघर्ष ही क्यों न पैदा हो जाय।

७. समन्वयात्मक दृष्टि

अद्वैतवादी गीता में ज्ञान-योग की चर्चा करते हैं, द्वैतवादी भक्तियोग की, वर्तमान कर्म-युग के लोग कर्म-योग की, श्री अरविन्द दिव्य-कर्म योग की। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय दृष्टिकोण कभी एकांगी नहीं रहा। यहाँ की चिन्तन-प्रणाली सदा समन्वयात्मक रही है। ये भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण एक-दूसरे के पूरक हैं, और इसी दृष्टि से गीता के प्रतिपाद्य-विषय को देखना चाहिए। गीता में ज्ञान-योग, भक्ति-योग, कर्म-योग, दिव्य-कर्म योग—ये चारों हैं, इनमें से सिर्फ़ एक ही नहीं। इस दृष्टि से गीता का प्रत्येक स्थल सुगम, सरल तथा बुद्धिगम्य हो जाता है।

८. 'या निशा सर्वभूतानाम्'—इस श्लोक का एक योगी द्वारा किया गया अर्थ

गीता के २–६९ श्लोक का सब टीकाकारों ने यही अर्थ किया है कि जिन सांसारिक कार्यों में मनुष्य उलझे रहते हैं उनकी ओर से ज्ञानी पुरुष उदासीन रहता है तथा जिस आध्यात्मिक-जीवन के प्रति वे उदासीन रहते हैं उसकी ओर ज्ञानी पुरुष सजग रहता है। पं० पद्मसिंह शर्मा ने लिखा है कि उन्हें एक विद्वान् और संयमी योगी ने अपने निजी अनुभव के आधार पर इस श्लोक का विलक्षण भाव बतलाया। वह विलक्षण भाव क्या था—यही हम नीचे दे रहे हैं:

उपनिषदों के अनुसार जीवात्मा के पाँच शरीर हैं जिन्हें कोश कहा जाता है। ये जीवात्मा से अलग हैं। ये पाँच कोश हैं—आनन्दमय कोश, विज्ञानमय कोश, मनोमय कोश, प्राणमय कोश तथा अन्नमय कोश। जीवात्मा की स्वरूपावस्था वह है जिस अवस्था में वह इन पाँचों कोशों से भिन्न होता है, अलग होता है, अपने निज रूप में होता है, यही अवस्था मुक्ति की अवस्था है। परन्तु हमारी यह अवस्था तो होती नहीं। हम अन्नमय कोश में ही रहते हैं—खाते हैं, पीते हैं,

मौज-बहार करते हैं, इसे जागृतावस्था कहते हैं—हम सब संसारियों की यही जागने की अवस्था है। योगी की यह अवस्था नहीं होती। योगी पुरुष तो इन कोशों से अपने को भिन्न अनुभव करता है, वह स्वरूप में, अपने निज रूप में अवस्थित होता है, उस रूप में जिसे हम अनुभव नहीं कर रहे होते। वह इन पाँचों कोशों से अलग अपने निज रूप को देखता है, इसलिए वह उस रूप के प्रति जाग रहा होता है जिस रूप के प्रति हम सोये होते हैं, और इस अन्नमय कोश के प्रति आलंकारिक नहीं, यथार्थ अर्थों में सो रहा होता है जिसके प्रति हम जाग रहे होते हैं। वह अपने को अन्नमय कोश के साथ एकात्म नहीं करता इसलिए अपने जिस रूप के प्रति सब जाग रहे होते हैं उस रूप के प्रति वह सोया रहता है। तो क्या वह अन्नमय कोश—इस शरीर—का काम-धंधा छोड़ देता है? नहीं, वह जागता तो अपने निज रूप में होता है, पाँचों कोशों से अलग, परन्तु काम-धंधा अन्नमय कोश का, इस शरीर का भी करता रहता है, ठीक इस तरह करता रहता है जिस प्रकार अचेत सोते हुए बच्चे को माता गोद में लेकर अचेतावस्था में ही दूध पिला देती है, जिसके स्वाद आदि बच्चे को प्रतीत नहीं होते। योगी भी आँखों से देखता हुआ भी नहीं देखता, सुनता हुआ भी नहीं सुनता। नहीं देखता, नहीं सुनता—अर्थात् देखने-सुनने के फँदे में नहीं फँसता, ठीक ऐसे जैसे सोया बच्चा दूध पी लेता है, परन्तु दूध के स्वाद के भान में नहीं फँसता। इसी को गीता ने कहा है: **'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्'**—(४-२१)—शरीर से तो वह कर्म करता है, परन्तु क्योंकि यह कर्म संग के बिना—अन्नमय कोश में उतरे बिना—होता है इसलिए इससे आत्मा बंधता नहीं।

असली जागृत-अवस्था तो वह है जिसमें जीवात्मा अपने निज रूप में होता है, परन्तु यह क्या विडम्बना है कि जब जीवात्मा अपने निज रूप को सर्वथा बिसरा चुका होता है, जब वह आनन्दमय कोश में भी नहीं, विज्ञानमय कोश में भी नहीं, मनोमय कोश में भी नहीं, प्राणमय कोश में भी नहीं, अपने निज रूप से दूर चलते-चलते, अपने से बहुत दूर के पाँचवें अन्नमय कोश के साथ अपने को अभिन्न समझने लगता है, तब की अवस्था को हम जागृतावस्था कहने लगते हैं। असल में यह अवस्था तो स्वप्नावस्था है, अज्ञान की अवस्था है; जागृतावस्था, ज्ञान की अवस्था तो वही है जिसमें आत्मा इन पाँचों कोशों से अपने को जुदा जान कर अपने निज रूप में—**'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (योग)**—आ जाता है। इसी सत्य का उद्घाटन करते हुए गीता ने कहा है—**'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी'**।

तीसरा अध्याय

कर्म-योग

द्वितीय-अध्याय में 'सांख्य-दृष्टि' तथा 'योग-दृष्टि' से अर्जुन की समस्या पर श्रीकृष्ण महाराज ने विचार किया। 'सांख्य-दृष्टि' का अर्थ है—देह को अनित्य तथा देही को अर्थात् आत्मा को नित्य मानकर विचार; 'ज्ञान-योग' की दृष्टि से विचार, जिस विचार का परिणाम 'कर्म'-संन्यास-मार्ग, निवृत्ति-मार्ग है; 'योग-दृष्टि' का अर्थ है—कर्म-फल पर अपना अधिकार छोड़ कर विचार, 'कर्म-योग' की दृष्टि से विचार, जिस विचार का परिणाम 'निष्काम-कर्म' है, प्रवृत्ति-मार्ग है। इन दोनों का वर्णन करने के बाद द्वितीय-अध्याय के अन्तिम प्रकरण में 'स्थित-प्रज्ञ' को, 'बुद्धि-युक्त' को गीता ने बहुत ऊँचा स्थान दिया है, उसे 'ब्राह्मी-स्थिति' कहा है। इस सब को सुनकर अर्जुन असमंजस में पड़ गया। कहाँ तो युद्ध के लिए प्रेरणा करना, और कहाँ 'कर्म' की बात कहकर फिर 'स्थित-प्रज्ञ' की बात कह डालना। अगर यही बात है तो कर्म छोड़कर ब्राह्मी-स्थिति देने वाले सांख्य-मार्ग को, बुद्धि-योग को, कर्म-संन्यास को, निवृत्ति-मार्ग को ही क्यों न अपनाया जाय? इसी सब को सोचकर :

अर्जुन ने कहा : हे जनार्दन! अगर तेरे मत के अनुसार 'कर्म-योग' (योग-दृष्टि) की अपेक्षा 'बुद्धि-योग' (सांख्य-दृष्टि) श्रेष्ठ है, तो हे केशव! तू मुझे युद्ध रूपी इस भयंकर कर्म में क्यों लगा रहा है? ॥१॥

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥

ज्यायसी[6]–श्रेष्ठ; **चेत्**[2]–यदि; **कर्मणः**[3]–कर्म से; **ते**[5]–तुझे; **मता**[7]–मानी है; **बुद्धिः**[4]–बुद्धि; **जनार्दन**[1]–हे कृष्ण; **तत्**[8]–तो; **किं**[13]–क्यों; **कर्मणि**[12]–कर्म में; **घोरे**[11]–भयंकर में; **माम्**[10]–मुझे; **नियोजयसि**[14]–जोड़ता है, लगा रहा है; **केशव**[9]–हे कृष्ण!

इस मिली-जुली बात से तू मेरी बुद्धि को भ्रमित-सी कर रहा है। निश्चित करके मुझे एक बात बता जिससे मैं कल्याण को प्राप्त कर सकूँ ॥२॥

श्री भगवान् ने कहा : **हे निष्पाप अर्जुन ! मैंने पहले यह बतलाया है कि इस लोक में जीवन की दो निष्ठाएँ, दो प्रवृत्तियाँ हैं, दो मार्ग हैं : सांख्य-दृष्टि से विचार करने वालों के लिये 'ज्ञान-योग' तथा योग-दृष्टि से विचार करने वालों के लिये 'कर्म-योग' ॥३॥**

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

व्यामिश्रेण[1]—मिले-जुले, मिश्रित; **इव**[1]—जैसे; **वाक्येन**[2]—बात से; **बुद्धिम्**[4]—बुद्धि को; **मोहयसि**[5]—भ्रमित करता है; **इव**[6]—सी; **मे**[3]—मेरी; **तत्**[7]—उस; **एकम्**[8]—एक को; **वद**[10]—बता; **निश्चित्य**[9]—निश्चित कर के; **येन**[11]—जिससे; **श्रेयः**[13]—कल्याण को; **अहम्**[12]—मैं; **अवाप्नुयाम्**[14]—प्राप्त होऊँ।

श्री भगवानुवाच

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

लोके[3]—लोक में; **अस्मिन्**[2]—इसमें; **द्विविधा**[4]—दो प्रकार की; **निष्ठा**[5]—साधन, मार्ग; **पुरा**[7]—पहले; **प्रोक्ता**[8]—कही है; **मया**[6]—मैंने; **अनघ**[1]—हे पाप रहित अर्जुन; **ज्ञानयोगेन**[10]—ज्ञान-योग से; **सांख्यानाम्**[9]—सांख्य-दृष्टि वालों की; **कर्मयोगेन**[12]—कर्म-योग से; **योगिनाम्**[11]—कर्म-योगियों की।

यहाँ पुरा का अर्थ 'पहले' किया गया है। 'पहले'—अर्थात्, पिछले अध्याय में। इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि 'पहले' अर्थात् प्राचीन-काल से ज्ञान-योग तथा कर्म-योग—जीवन के ये दो मार्ग चले आ रहे हैं। 'निष्ठा'-शब्द नि+स्था—इस प्रकार बना है। इसका अर्थ हुआ—'नितराम् स्थित'—किसी बात में जो स्थिर रहने का मार्ग है वह 'निष्ठा' कहलाता है। जीवन के मार्ग में स्थिरता के दो प्रकार हैं—ज्ञान-योग तथा कर्म-योग।

इस श्लोक में जो-कुछ कहा गया है उसका स्पष्ट अर्थ यह है कि ये दोनों मार्ग यद्यपि अलग-अलग हैं तथापि परस्पर-विरोधी न होकर एक-दूसरे के पूरक हैं। कोई व्यक्ति इस मार्ग से चलता है, कोई उससे, परन्तु पहुँचते सभी एक ही जगह पर हैं, कोई अपने लक्ष्य पर प्रवृत्ति-मार्ग से पहुँचता है, कर्म-योग से; कोई निवृत्ति-मार्ग से पहुँचता है, ज्ञान-योग से।

कर्म न करने से कोई पुरुष निष्कामता को प्राप्त नहीं करता, और न केवल प्रारंभ किया हुआ कर्म छोड़ देने से सिद्धि प्राप्त होती है ।।४।।

'कर्म' का सबसे बड़ा दोष यह है कि कर्म करोगे तो संसार के बन्धन में फँसे रहोगे। श्रीकृष्ण इस दोष को दूर करना चाहते हैं। कर्म में बन्धन का जो दोष है वह कैसे दूर हो? इसके लिए गीता का कहना है कि कर्म में से फल की आसक्ति को हटा लेने से ही कर्म का दोष मिट जाता है। कर्म बन्धनकारक नहीं रहता। इसके अतिरिक्त कर्म के बन्धन को काटने का दूसरा कोई मार्ग नहीं है। जो लोग कहते हैं कि कर्म करो ही नहीं, या कर्म प्रारंभ कर दिया है तो उसे बीच में ही छोड़ दो ताकि कर्म का बन्धन न पड़े, गीता का कहना है कि वे गलत बात कहते हैं क्योंकि—

कोई मनुष्य क्षण भर भी कुछ-न-कुछ कर्म किये बिना नहीं रह सकता। मनुष्य अपनी प्रकृति से, स्वभाव से पैदा होने वाले गुणों द्वारा विवश बना दिया जाता है और वे उससे कर्म कराया ही करते हैं ।।५।।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।।४।।

न[2]—नहीं; **कर्मणाम्**[3]—कर्मों के; **अनारम्भात्**[4]—न करने से; **नैष्कर्म्यम्**[5]—निष्कर्मता को, कर्मशून्यता को; **पुरुषः**[1]—पुरुष; **अश्नुते**[6]—प्राप्त होता है; **न**[8]—नहीं; **च**[7]—और; **संन्यसनात्**[9]—छोड़ देने से; **एव**[10]—ही; **सिद्धिम्**[11]—सिद्धि को; **सम्**[12]—अच्छी तरह; **अधिगच्छति**[12]—प्राप्त होता है।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।५।।

न[7]—नहीं; **हि**[1]—निश्चय से; **कश्चित्**[2]—कोई; **क्षणम्**[4]—क्षणमात्र; **अपि**[5]—भी; **जातु**[3]—कभी; **तिष्ठति**[8]—रहता है; **अकर्मकृत्**[6]—कर्म न

अगर कोई समझे कि हठ से कर्मेन्द्रियों को रोक देने मात्र से, उनका संयम करने से वह कर्म से बच जायेगा, तो उसे समझ लेना चाहिये कि अगर उसने कर्मेन्द्रियों को काम से रोक दिया है, परन्तु मनसे विषयों का स्मरण करता रहा है, तो वह भूला हुआ है, भ्रम में है, मिथ्याचारी है, उसका आचार मिथ्या है, व्यर्थ है ।।६।।

हे अर्जुन ! जो व्यक्ति मन द्वारा इन्द्रियों को नियमन में रखता है, (मिथ्याचारियों की तरह सिर्फ़ इन्द्रियों का हठपूर्वक दमन करके मन द्वारा विषयों का स्मरण नहीं करता रहता) और अनासक्त होकर कर्मेन्द्रियों को कर्मयोग में लगाता है, वह विशेष व्यक्ति कहलाता है ।।७।।

करनेवाला; **कार्यते**[15]–कराता है; **हि**[9]–निश्चय से; **अवशः**[13]–विवश हुआ; **कर्म**[14]–कर्म; **सर्वः**[10]–सब; **प्रकृतिजैः**[11]–प्रकृति से, स्वभाव से उत्पन्न हुओं द्वारा; **गुणैः**[12]–गुणों द्वारा ।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।।६।।

कर्मेन्द्रियाणि[3]–कर्मेन्द्रियों को; **संयम्य**[4]–रोककर; **यः**[1]–जो; **आस्ते**[8]–रहता है; **मनसा**[6]–मन से; **स्मरन्**[7]–स्मरण करता हुआ; **इन्द्रियार्थान्**[5]–इन्द्रियों के विषयों का; **विमूढात्मा**[2]–मूढ़ बुद्धिवाला; **मिथ्याचारः**[10]–व्यर्थ आचारवाला; **सः**[9]–वह; **उच्यते**[11]–कहाता है ।

यहाँ मिथ्याचार का अर्थ पाखंडी नहीं हो सकता क्योंकि जो हठ-योग से अपने शरीर को कष्ट पहुँचाता है, उपवास करता है, अपने को गुफ़ा में बन्द रखता है, वह पाखंडी तो नहीं हो सकता, व्यर्थ आचारवाला, मिथ्या आचारवाला हो सकता है ।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ।।७।।

यः[2]–जो; **तु**[3]–तो, और; **इन्द्रियाणि**[5]–इन्द्रियों को; **मनसा**[4]–मन से; **नियम्य**[6]–वश में करके; **आरभते**[10]–लगाता है; **अर्जुन**[1]–हे अर्जुन; **कर्मेन्द्रियैः**[8]–कर्मेन्द्रियों से; **कर्मयोगम्**[9]–कर्मयोग को;

तेरे लिये जो कर्म नियत है, तेरा जो 'स्व-धर्म' है, वह कर्म तू कर, कर्म करना कर्म न करने की अपेक्षा अधिक अच्छा है। बिना कर्म के तो यह शरीर-यात्रा भी नहीं चल सकती ॥८॥

[यज्ञार्थ कर्म ही कर्म-योग है]

(इस में सन्देह नहीं कि) यह सारा संसार कर्म के बन्धन में डालने वाला है, (बन्धन में न पड़ें इसलिये कई लोग कर्म के त्याग का ही उपदेश देते हैं, परन्तु) जो कर्म यज्ञार्थ अर्थात् 'यज्ञ' की भावना से किया जाता है उस में बन्धन नहीं पड़ता। इसलिये हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन! मुक्त-संग होकर, अर्थात् कर्म की आसक्ति छोड़ कर, सदा कर्म करते रहो। (यज्ञ की भावना से किये गये कर्म से कर्म का बन्धन नहीं पड़ता।) ॥९॥

असक्तः[7]–अनासक्त होकर; **सः**[11]–वह; **विशिष्यते**[12]–विशेष होता है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८॥

नियतम्[2]–निश्चित किये हुए; **कुरु**[4]–कर; **कर्म**[3]–कर्म को; **त्वम्**[1]–तू; **कर्म**[7]–कर्म; **ज्यायः**[8]–अधिक अच्छा है; **हि**[5]–निश्चय से; **अकर्मणः**[6]–अकर्म से; **शरीरयात्रा**[12]–शरीर की यात्रा, जीवन-निर्वाह; **अपि**[13]–भी; **च**[9]–और; **ते**[11]–तेरी; **न**[14]–नहीं; **प्रसिद्ध्येत्**[15]–सिद्ध होगी या चल सकेगी; **अकर्मणः**[10]–अकर्म से, कर्म न करने वाले की।

'नियतम्' के दो अर्थ हैं। एक अर्थ है—'निश्चित'; दूसरा अर्थ है—सदा। दोनों अर्थ यहाँ संगत हैं। अपने निश्चित काम को कर या काम तो सदा ही कर।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥९॥

यज्ञार्थात्[1]–यज्ञ की भावना से; **कर्मणः**[2]–कर्म से; **अन्यत्र**[3]–भिन्न; **लोकः**[5]–संसार; **अयम्**[4]–यह; **कर्मबन्धनः**[6]–कर्म का बन्धन

प्रजापति ने प्राचीन काल में प्राणियों को यज्ञ की भावना के साथ उत्पन्न किया था और कहा था कि (जैसे मैंने तुम्हें यज्ञ की भावना से उत्पन्न किया है वैसे) तुम भी यज्ञ की भावना से ही सांसारिक सूत्र को चलाओ। (अगर तुम यज्ञ की भावना से हर काम को करोगे तो) यह यज्ञ तुम्हारे लिये काम-धुक् होगा, तुम्हारी इच्छाओं को पूर्ण करेगा ॥१०॥

(जैसे यज्ञ की भावना से प्रजापति ने प्राणियों को रचा, प्राणियों को कहा कि तुम इसी यज्ञ की भावना से अगली सृष्टि को रचो), वैसे इसी यज्ञ की भावना से तुम अपने देवों, बड़े-बुजुर्गों के साथ बर्तो; देव, बुजुर्ग लोग तुम्हारे साथ इसी यज्ञ की भावना से बर्तें। इस प्रकार एक-दूसरे के साथ यज्ञ की भावना से बरतने से तुम सब परम कल्याण को प्राप्त करोगे ॥११॥

डालने वाला; **तदर्थम्**[9]—उसके लिये, अर्थात् यज्ञ-भावना से; **कर्म**[10]—कर्म; **कौन्तेय**[7]—हे अर्जुन; **मुक्तसंगः**[8]—आसक्ति रहित होकर; **समाचर**[11]—भली प्रकार आचरण कर।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

सहयज्ञाः[3]—यज्ञ की भावना के साथ; **प्रजाः**[4]—प्राणियों को; **सृष्ट्वा**[5]—उत्पन्न करके; **पुरा**[2]—प्राचीन-काल में; **उवाच**[6]—कहा; **प्रजापतिः**[1]—प्रजापति ने; **अनेन**[7]—इस यज्ञ की भावना से; **प्रसविष्यध्वम्**[8]—प्रसव करो, सन्तानों को उत्पन्न करो; **एषः**[9]—यह यज्ञ; **वः**[10]—तुम्हारे लिये; **अस्तु**[12]—हो; **इष्टकामधुक्**[11]—इच्छित कामनाओं को देने वाला।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

देवान्[2]—बुजुर्गों को; **भावयत**[3]—यज्ञ की भावना से वर्तो; **अनेन**[1]—इस यज्ञ द्वारा; **ते**[4]—वे; **देवाः**[5]—दिव्य गुण वाले बुजुर्ग;

यज्ञ की भावना से प्रसन्न होकर देवता, तुम्हारे पूजनीय बड़े लोग तुम्हें इष्ट (इच्छित) पदार्थों को देंगे। देवों, बुजुर्गों के दिये हुए इन पदार्थों का भाग अगर दूसरों को दिये बग़ैर कोई इकले उनका भोग करता है तो वह चोर ही है ॥१२॥

जो सन्त लोग यज्ञ के बाद बची हुई वस्तु– 'यज्ञ-शेष' का उपभोग करते हैं वे सब पापों से मुक्त हो जाते हैं। पापी लोग जो सिर्फ़ अपने लिये भोजन पकाते हैं वे तो मानो पाप ही का भोजन करते हैं ॥१३॥

भावयन्तु[7]–भावना के साथ वर्तें; **वः**[6]–तुम्हारे साथ; **परस्परम्**[8]–एक-दूसरे के साथ; **भावयन्तः**[9]–यज्ञ की भावना से बरतते हुए; **श्रेयः**[11]–कल्याण को; **परम्**[10]–महान्; **अवाप्स्यथ**[12]–प्राप्त होगे।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

इष्टान्[4]–इच्छित; **भोगान्**[5]–भोगों को; **हि**[12]–निश्चय से; **वः**[3]–तुम्हें; **देवाः**[2]–बुजुर्ग लोग; **दास्यन्ते**[6]–देंगे; **यज्ञभाविताः**[1]–यज्ञ की भावना से प्रसन्न हो कर; **तैः**[7]–उनके द्वारा; **दत्तान्**[8]–दिये हुए; **अप्रदाय**[11]–बिना दिये; **एभ्यः**[10]–इन लोगों को, अपने से अतिरिक्त दूसरों को; **यः**[9]–जो; **भुंक्ते**[13]–भोगता है; **स्तेनः**[15]–चोर; **एव**[16]–ही; **सः**[14]–वह।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

यज्ञशिष्टाशिनः[1]–यज्ञ से शेष बचे हुए अन्न को खाने वाले; **सन्तः**[2]–सन्त पुरुष, -होते हुए; **मुच्यन्ते**[4]–मुक्त हो जाते हैं; **सर्वकिल्विषैः**[3]–सब पापों से; **भुञ्जते**[12]–खाते हैं; **ते**[9]–वे; **तु**[10]–तो; **अघम्**[11]–पाप को; **पापाः**[6]–पापी लोग; **ये**[5]–जो; **पचन्ति**[8]–पकाते हैं; **आत्मकारणात्**[7]–अपने कारण से, अपने ही लिये।

(यज्ञ का इतना माहात्म्य है कि हमारे भोजन का यह अन्न भी जब यज्ञ करता है, अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है, अपने को कुर्बान कर देता है तब) इस अन्न से सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं। (और यह अन्न कैसे पैदा होता है ?) जब पर्जन्य (मानो यज्ञ करता हुआ अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है, अपने को कुर्बान कर देता है तब इससे) अन्न की उत्पत्ति होती है। (और पर्जन्य कैसे पैदा होता है ?) पर्जन्य भी यज्ञ से पैदा होता है। (नदी-नालों के, समुद्र के जल जब अपने को कुर्बान कर देते हैं, जल से वाष्प बन जाते हैं, तब उन्हीं के यज्ञ रूप कर्म से पर्जन्य का, बादल का निर्माण होता है।) (यज्ञ का इतना माहात्म्य है, परन्तु इस महामहिम) यज्ञ की उत्पत्ति कर्म से होती है (उस कर्म से जिसका वर्णन गीता के इस अध्याय में किया जा रहा है) ॥१४॥

कर्म की उत्पत्ति 'ज्ञान' से (ब्रह्म शब्द का अर्थ 'वेद' है, 'वेद' का अर्थ 'ज्ञान' है) होती है, 'ज्ञान' की उत्पत्ति

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

अन्नात्[2]–अन्न से; **भवन्ति**[3] होते हैं; **भूतानि**[1]–प्राणी; **पर्जन्यात्**[5]–मेघ से; **अन्नसंभवः**[4]–अन्न होता है; **यज्ञात्**[7]–यज्ञ से; **भवति**[8]–होता है; **पर्जन्यः**[6]–मेघ; **यज्ञः**[9]–यज्ञ; **कर्मसमुद्भवः**[10]–कर्म से उत्पन्न होता है।

देखिये—तै० उपनिषद् २–१–१—'ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः'—ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से पुरुष उत्पन्न होता है।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

कर्म[1]–कर्म को; **ब्रह्मोद्भवम्**[2]–ज्ञान से उत्पन्न हुआ; **विद्धि**[3]–जान; **ब्रह्म**[4]–ज्ञान; **अक्षरसमुद्भवम्**[5]–अक्षर से, अविनाशी परमेश्वर

'अक्षर'—अविनाशी परमेश्वर से होती है। यह अक्षर सर्व-व्यापी परमेश्वर सदा यज्ञ में विद्यमान रहता है ॥१५॥

यह सारा चक्र अक्षर—सर्वव्यापी—परमेश्वर से चला। परमेश्वर से 'ज्ञान' हुआ, ज्ञान से 'कर्म' हुआ, कर्म से 'यज्ञ' हुआ, यज्ञ से 'पर्जन्य' हुआ, पर्जन्य से 'अन्न' हुआ, अन्न से 'प्राणी' का शरीर हुआ। शुरू से अन्त तक यह जो सारी प्रक्रिया हुई, सारा कर्म हुआ, उसका नाम गीता ने 'यज्ञ' रखा है। अगर सृष्टि की यह सारी प्रक्रिया, यह सारा 'कर्म' गीता के कथनानुसार 'यज्ञ' है, तो इस सारी 'प्रक्रिया', इस सारे 'कर्म', इस सारे 'यज्ञ' के भीतर वर्तमान इस प्रक्रिया को, 'कर्म' को, 'यज्ञ' को चलाने वाला कौन है? सृष्टि की इस सारी प्रक्रिया को, इस सारे 'कर्म' को, इस सारे चक्र को जिसे गीता ने 'यज्ञ' का नाम दिया है, परमेश्वर के सिवाय कौन चला सकता है? इसलिये गीता ने कहा—'वह नित्य सर्वव्यापी भगवान् सदा 'यज्ञ' में, सृष्टि के 'कर्म' में वर्तमान रहता है'।

हे पार्थ! संसार में इस प्रकार चलाये जा रहे यज्ञ के चक्र को जो आगे नहीं चलाता वह 'अघायु' है (अघ=पाप; आयु=जीवन), उसका जीवन पापमय है, वह 'इन्द्रियाराम' है, इन्द्रियों के सुखों में लम्पट हुआ-हुआ है, वह संसार में व्यर्थ ही जीता है ॥१६॥

इस अध्याय का प्रारंभ 'सांख्य-योग' तथा 'कर्म-योग' का उल्लेख करके किया गया है, परन्तु इसमें 'सांख्य-योग' पर न कहकर 'कर्म-योग' की विशेष चर्चा की गई है। 'कर्म-योग' का अर्थ है—'निष्काम-कर्म'। 'निष्काम-कर्म' का सृष्टि में

से उत्पन्न है; **तस्मात्**[6]—इसलिये; **सर्वगतम्**[7]—सब जगह गया हुआ, सर्वव्यापी; **ब्रह्म**[8]—परमेश्वर; **नित्यम्**[9]—सदा; **यज्ञे**[10]—यज्ञ में; **प्रतिष्ठितम्**[11]—विद्यमान रहता है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

एवम्[4]—इस प्रकार; **प्रवर्तितम्**[5]—चलाये जा रहे; **चक्रम्**[6]—चक्र को; **न**[7]—नहीं; **अनुवर्तयति**[8]—आगे चलाता है; **इह**[3]—यहाँ, इस संसार में; **यः**[2]—जो; **अघायुः**[11]—पापमय जीवनवाला; **इन्द्रियारामः**[10]—इन्द्रियों के सुखों में लिप्त; **मोघम्**[12]—वृथा; **पार्थ**[1]—हे अर्जुन; **सः**[9]—वह; **जीवति**[13]—जीता है।

प्रत्यक्ष उदाहरण दिखाने के लिए 'यज्ञ' का वर्णन किया गया है। इस प्रकरण में 'यज्ञ' का अर्थ हवन, अग्निहोत्र आदि नहीं है। गीताकार के समय में क्योंकि यज्ञों की परंपरा चली हुई थी इसलिए 'निष्काम-कर्म' को समझाने के लिए एक प्रचलित शब्द को ले लिया गया है, परन्तु उस शब्द में अर्थ श्रीकृष्ण ने अपना ही डाला है। प्रचलित परिभाषा में 'यज्ञ' उस कर्म-प्रक्रिया को कहते थे जो कर्मकांडी लोम करते थे, जिसके द्वारा वे स्वर्ग की कामना से अनेक प्रकार के विधि-विधान करते थे। इस प्रकार के यज्ञों का उपहास गीता के द्वितीय अध्याय के ४२, ४३, ४४ श्लोकों में—'**कामात्मनः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्। क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति**'—यह कह कर किया गया है। इसलिए यह स्पष्ट है कि इस प्रकरण में 'यज्ञ' का अर्थ उस समय के प्रचलित कर्मकांड से नहीं है। गीता का 'यज्ञ'-शब्द तो प्राचीन है, परन्तु उसका अर्थ अपना अलग ही है। वह अर्थ क्या है ?

गीता ने जिस अर्थ में 'यज्ञ'-शब्द का प्रयोग किया है वह अर्थ है—'आत्म-समर्पण'। साधारण-दृष्टि से पढ़ने से तो ऐसा प्रतीत होता है कि इस वर्णन में गीता आनुष्ठानिक यज्ञ की, कर्म-कांडियों के यज्ञ की, स्वर्ग, सन्तान, सम्पत्ति और भोग देनेवाले यज्ञ की बात कह रही है, परन्तु गहराई से देखा जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि यहाँ 'यज्ञ'-शब्द का प्रयोग एक व्यापक, दार्शनिक अर्थ में किया गया है। यह संपूर्ण संसार एक 'यज्ञ' है, आत्म-समर्पण का नमूना है, निष्काम-कर्म का जीता-जागता दृष्टांत है। प्रजापति ने, जो सृष्टि का रचयिता है, यज्ञ किया, समर्पणात्मक यज्ञ किया, और अपने संपूर्ण ऐश्वर्य को प्रजाओं के लिए, प्राणीमात्र के लिए बखेर दिया। यह सारी सृष्टि समर्पण को आधार बना कर ही तो चल रही है। सूर्य अपने लिए कुछ नहीं रखता, जड़-चेतन को प्रकाश देता है; पृथिवी अपने लिए कुछ नहीं करती, प्राणीमात्र को जीवन प्रदान करती है; वायु दूसरों के लिए बहता है; अग्नि दूसरों के लिए जलती है। प्रजापति ने जब सृष्टि की प्रजाओं को उनके आधार में समर्पण की पुट देकर—यज्ञ की भावना को उनके बीज में डालकर—रचा तब साथ ही कह दिया कि यह सृष्टि-चक्र यज्ञ की भावना से ही आगे बढ़ेगा, यज्ञ की भावना, आदान-प्रदान की भावना, स्वार्थ की भावना नहीं, परार्थ की भावना। कर्मकांडियों के यज्ञ में भी तो यही बात आधार में है। कर्मकांडी देवताओं को हवि देते हैं, और देवता यजमान को स्वर्ग, सन्तान, सम्पत्ति देते हैं, दोनों त्याग करते हैं, आत्म-समर्पण करते हैं। इसी आत्म-समर्पण रूपी 'कर्म' का दृष्टांत देते हुए कहा है कि अन्न के आत्म-समर्पण से प्राणी होते हैं, मेघ के आत्म-समर्पण से अन्न होता है, यह सब आत्म-समर्पण 'यज्ञ' का ही दूसरा नाम है; जो आत्म-समर्पण के बिना, निरे स्वार्थ से जीवन निर्वाह करता है, सिर्फ़ अपने लिए जीता, अपने लिए खाता है, अपने लिए ही सब-कुछ करता है, वह सिर्फ़ इन्द्रियों में रमता है, पापमय जीवन व्यतीत करता है, उसका कर्म सकाम है। सृष्टि का नियम ही निष्कामता है, यज्ञ है, यह यज्ञ-चक्र विश्व के कण-कण में रमा हुआ है, पानी की बूंद और अन्न के दाने से लेकर ब्रह्म तक निष्कामता ही निष्कामता से जगत् टिका

हुआ है, ब्रह्म इस यज्ञ-चक्र में बैठा हुआ है। जो व्यक्ति इस प्रकार चलाये हुए चक्र के अनुसार नहीं चलता, वह संसार में व्यर्थ जीता है।

[जो सांख्य-योगी हो—उसके लिये गीता का क्या मत है ?]

यह तो 'कर्म-योग' का, निष्काम-कर्म का, प्रवृत्ति-मार्ग का रास्ता हुआ, परन्तु जीवन के मार्ग तो दो हैं—'कर्म-योग' तथा 'सांख्य-योग', 'प्रवृत्ति-मार्ग' तथा 'निवृत्ति-मार्ग', 'निष्काम-कर्म' तथा 'कर्म-संन्यास'। अर्जुन के हृदय में यह जानने की इच्छा उत्पन्न हुई कि 'सांख्य-दृष्टि' से श्रीकृष्ण को क्या कहना है, 'कर्म-संन्यास' की दृष्टि से, देह को अनित्य तथा देही को नित्य समझने की दृष्टि से। इसका उत्तर श्रीकृष्ण ने अगले तीन श्लोकों में दिया है :

जो मनुष्य अपने आत्मा के अन्दर ही रति (आनन्द) अनुभव करता है, जो आत्मा से ही तृप्त है, आत्मा में ही सन्तुष्ट है, उसके लिये ऐसा कोई कार्य नहीं रहता जिसे करना आवश्यक हो ॥१७॥

उसके लिये ऐसा कोई 'कर्म' नहीं है जिसका करना आवश्यक हो। उसे कृत-कर्म से न तो कुछ पाना है, न अकृत-कर्म से कुछ लेना है, न किसी इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिये समस्त प्राणियों में से अपने स्वार्थ के लिये किसी पर निर्भर रहना है ॥१८॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

यः[2]–जो; **तु**[1]–तो; **आत्मरतिः**[4]–अपने आत्मा में रमण करनेवाला; **एव**[5]–ही; **स्यात्**[12]–हो; **आत्मतृप्तः**[7]–अपने-आप में तृप्त; **च**[6]–और; **मानवः**[3]–मनुष्य; **आत्मनि**[9]–अपने आत्मा में; **एव**[10]–ही; **च**[8]–और; **संतुष्टः**[11]–संतुष्ट; **तस्य**[13]–उसके लिये; **कार्यम्**[14]–कुछ करने को; **न**[15]–नहीं; **विद्यते**[16]–रहता, होता।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

न[6]–नहीं; **एव**[4]–ही; **तस्य**[2]–उसको; **कृतेन**[3]–किये गये कर्म से; **अर्थः**[5]–प्रयोजन है; **न**[9]–नहीं; **अकृतेन**[7]–न किये गये कर्म से; **कश्चन**[8]–कुछ भी; **न**[15]–नहीं; **च**[10]–**इह**[1]–यहाँ, इस संसार में;

अर्जुन की प्रकृति क्योंकि इस प्रकार की नहीं है, वह सांख्य-मार्ग का नाम भर ले रहा है, संन्यास की बात ही कर रहा है, क्षत्रिय होने के कारण उसकी प्रकृति तो कर्म-परक है, इसलिए श्रीकृष्ण कहते हैं :

(क्योंकि तू आत्म-रत, आत्म-तृप्त, आत्म-तुष्ट नहीं है, क्योंकि तू कृत-अकृत को अपने स्वभाव के कारण नहीं छोड़ सकता) इसलिये (तेरे सामने तो रास्ता यही रह जाता है कि) तू अनासक्त होकर सदा करने योग्य 'कर्म' करता रह। अनासक्त रहकर कर्म करता हुआ मनुष्य परम पद को प्राप्त कर लेता है ॥१९॥

[कर्म-योग पर फिर बल]

जनक आदि लोग कर्म द्वारा ही सिद्धि तक पहुँचे थे। यह देखते हुए कि (तू राज-घराने का है, जन-साधारण के सम्मुख तुझे आदर्श स्थापित करना चाहिये), लोक-संग्रह अर्थात् लोगों को संगृहीत (संगठित) या इकट्ठा बनाये रखने के उद्देश्य से भी तुझे 'कर्म' करना चाहिये ॥२०॥

और; **अस्य**[11]–इसका; **सर्वभूतेषु**[12]–सब पदार्थों में, प्राणियों में; **कश्चित्**[13]–कुछ भी; **अर्थव्यपाश्रयः**[14]–स्वार्थ के लिये आश्रय या निर्भर होना।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

तस्मात्[1]–इसलिये; **असक्तः**[2]–अनासक्त होकर; **सततम्**[3]–लगातार; **कार्यम्**[4]–करने योग्य; **कर्म**[5]–कर्म को; **समाचर**[6]–करता रह; **असक्तः**[8]–आसक्ति रहित होकर; **हि**[7]–निश्चय से; **आचरन्**[11]–करता हुआ; **कर्म**[10]–कर्म को; **परम्**[12]–परम पद को; **आप्नोति**[13]–प्राप्त करता है; **पूरुषः**[9]–पुरुष।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥

कर्मणा[2]–कर्म से; **एव**[3]–ही; **हि**[6]–निश्चय से; **संसिद्धिम्**[4]–सिद्धि को; **आस्थिताः**[5]–प्राप्त हुए; **जनकादयः**[1]–जनक आदि; **लोकसंग्रहम्**[7]–जन-साधारण को संगृहीत (संगठित) रखने के लिये;

श्रेष्ठ मनुष्य जो-जो कुछ करता है वही-कुछ इतर (साधारण) जन करने लगते हैं। वह जैसा आदर्श उपस्थित करता है, उसी का लोग अनुगमन करने लगते हैं ॥२१॥

हे पार्थ ! मेरे लिये तीनों लोकों में कोई भी ऐसा कर्म नहीं है जो करना आवश्यक हो, और न कोई ऐसा पदार्थ है जो प्राप्त होना चाहिये पर मुझे प्राप्त न हो, परन्तु फिर भी मैं कर्म में लगा ही रहता हूँ ॥२२॥

यदि मैं सावधान होकर कर्म में न बरतूँ तो हे पार्थ ! सब लोग सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुकरण करने लगें (और कर्म करना ही छोड़ दें) ॥२३॥

एव[11]–ही; **अपि**[9]–भी; **संपश्यन्**[8]–देखता हुआ; **कर्तुम्**[10]–कर्म करने को; **अर्हसि**[12]–करना चाहिये, योग्य है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

यत्[2] **यत्**[3]–जो-जो; **आचरति**[4]–आचरण करता है; **श्रेष्ठः**[1]–श्रेष्ठ पुरुष; **तत्**[7] **तत्**[8]–वह-वह; **एव**[9]–ही; **इतरः**[5]–दूसरा, अन्य; **जनः**[6]–व्यक्ति; **सः**[10]–वह; **यत्**[11]–जो; **प्रमाणम्**[12]–प्रमाण, आदर्श; **कुरुते**[13]–करता है; **लोकः**[14]–लोग; **तत्**[15]–वह, उसको; **अनुवर्तते**[16]–अनुगमन करता है।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

न[7]–नहीं; **मे**[2]–मेरे लिये; **पार्थ**[1]–हे अर्जुन; **अस्ति**[8]–है; **कर्त्तव्यम्**[6]–करने योग्य; **त्रिषु**[3]–तीनों; **लोकेषु**[4]–लोकों में; **किंचन**[5]–कुछ भी; **न**[12]–नहीं; **अनवाप्तम्**[11]–अप्राप्त; **अवाप्तव्यम्**[10]–प्राप्त होने योग्य वस्तु; **वर्ते**[14]–बरतता हूँ; **एव**[15]–ही; **च**[9]–और; **कर्मणि**[13]–कर्म में।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

यदि[2]–यदि; **हि**[1]–निश्चय से; **अहम्**[3]–मैं; **न**[7]–नहीं; **वर्तेयम्**[8]–बरतूं; **जातु**[5]–कदाचित्; **कर्मणि**[6]–कर्म में; **अतन्द्रितः**[4]–सावधान

यदि मैं कर्म करना छोड़ दूँ, (मेरा अनुकरण करने के कारण लोग भी कर्म करना छोड़ दें) तो ये सब लोक नष्ट हो जायें, मैं संसार में अव्यवस्था फैलानेवाला बन जाऊँ और इन लोगों का विनाश कर बैठूँ ।।२४।।

हे भरत-वंशी अर्जुन ! जिस प्रकार अज्ञानी लोग कर्म में 'आसक्त' हुए सब काम करते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी व्यक्ति को चाहिये कि लोक-संग्रह अर्थात् लोगों को इकट्ठा बनाये रखने (संगठन) की इच्छा से कर्म में 'अनासक्त' होकर काम करे ।।२५।।

होकर; **मम**[12]–मेरे; **वर्त्म**[13]–मार्ग; **अनुवर्तन्ते**[14]–अनुसरण करने लगें; **मनुष्याः**[11]–सब लोग; **पार्थ**[9]–हे पृथा के पुत्र अर्जुन; **सर्वशः**[10]–सब प्रकार से ।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ।।२४।।

उत्सीदेयुः[8]–नष्ट हो जायें; **इमे**[6]–ये; **लोकाः**[7]–लोक; **न**[4]–नहीं; **कुर्याम्**[5]–करूँ; **कर्म**[3]–कर्म को; **चेत्**[1]–यदि; **अहम्**[2]–मैं; **संकरस्य**[10]–अव्यवस्था का; **च**[9]–और; **कर्ता**[11]–करनेवाला; **स्याम्**[12]–होऊँ; **उपहन्याम्**[15]–मारनेवाला बनूँ; **इमाः**[13]–इन सब; **प्रजाः**[14]–प्रजाओं को, लोगों को ।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।।२५।।

सक्ताः[3]–आसक्त; **कर्मणि**[2]–कर्म में; **अविद्वांसः**[4]–अज्ञानी लोग; **यथा**[5]–जैसे; **कुर्वन्ति**[6]–करते हैं; **भारत**[1]–हे भरतपुत्र अर्जुन; **कुर्यात्**[12]–करे; **विद्वान्**[9]–ज्ञानी व्यक्ति; **तथा**[7]–वैसे; **असक्तः**[8]–अनासक्त होकर; **चिकीर्षुः**[11]–करने की इच्छा वाला; **लोक-संग्रहम्**[10]–लोगों को इकट्ठा बनाये रखने (संगठन) के लिये ।

कर्म में 'आसक्त' अज्ञानी लोगों की बुद्धि में भेद, दुविधा उत्पन्न न करे। ज्ञानी व्यक्ति स्वयं कर्म में युक्त हुआ-हुआ सब कामों को स्वयं तो ठीक-ठीक करे ही, परन्तु दूसरों को प्रेमपूर्वक प्रेरणा देकर उनसे भी 'कर्म' कराये ॥२६॥

अज्ञानी व्यक्ति के लिए यह संभव नहीं है कि वह कर्म में आसक्ति छोड़ दे। वह कर्म में आसक्ति छोड़ेगा तो कर्म ही छोड़ देगा। इसलिए ज्ञानी व्यक्ति को चाहिए कि स्वयं तो कर्म में अनासक्त रहकर काम करे, परन्तु अज्ञानी व्यक्ति को भले ही वह अनासक्त-भाव से कर्म न कर सके, आसक्त-भाव से ही कर्म करे, परन्तु उसे कर्म करने की प्रेरणा देता रहे। कहीं ऐसा न हो कि 'बुद्धि-योग' (सांख्य-मार्ग) के फेर में पड़कर उधर से तो उसके पल्ले कुछ पड़े ही न, इधर 'कर्म' को भी वह छोड़ बैठे और वह न इधर का रहे, न उधर का रहे।

मनुष्य सोचता है कि वह स्वयं कर्म कर रहा है, इसीलिए तो वह फल की आकांक्षा करता है, फल में आसक्त रहता है, निष्काम-कर्म की बात उसकी समझ में नहीं आती। परन्तु तथ्य क्या है? मनुष्य स्वयं कर्म नहीं करता। अगर वह समझ जाय कि वह तो 'कर्म' करता ही नहीं है, तब 'कर्म-फल' में आसक्ति अपने-आप दूर हो जाय।

सत्त्व-रज-तम——इन तीन गुणों वाली हमारी संपूर्ण प्रकृति ही 'कर्म' करती है। हमारी प्रकृति के इन गुणों द्वारा किये जानेवाले कर्मों को अहंकार के कारण यह मूढ़ मनुष्य यह समझता है कि मैं अर्थात् आत्मा 'कर्ता' हूँ, कर्मों

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

न[5]–नहीं; **बुद्धिभेदम्**[4]–बुद्धि में भेद, भ्रम, दुविधा; **जनयेत्**[6]–उत्पन्न करे; **अज्ञानाम्**[3]–अज्ञानी लोगों की; **कर्मसंगिनाम्**[2]–कर्म में आसक्त लोगों की; **जोषयेत्**[10]–प्रेमपूर्वक प्रेरणा दे; **सर्वकर्माणि**[8]–सब कामों को; **विद्वान्**[1]–ज्ञानी व्यक्ति; **युक्तः**[7]–कर्म से युक्त हुआ-हुआ; **समाचरन्**[9]–आचरण करता हुआ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥२७॥

प्रकृतेः[3]–प्रकृति के; **क्रियमाणानि**[5]–किये हुए; **गुणैः**[4]–गुणों द्वारा; **कर्माणि**[2]–कर्म; **सर्वशः**[1]–संपूर्ण; **अहंकारविमूढात्मा**[6]–अहंकार

को करनेवाला हूँ। (अगर वह समझ जाय कि मैं अर्थात् आत्मा 'कर्ता' ही नहीं हूँ, मेरी प्रकृति ही 'कर्ता' है, तब फल में आसक्ति अपने-आप विदा हो जाय) ॥२७॥

परन्तु हे महाबाहु अर्जुन ! जो व्यक्ति तत्त्ववित् है, तत्त्व को जानता है, और 'गुण' तथा 'कर्म' इन दोनों के विभाग को, भेद को समझता है, वह यह जानकर कि (मैं कर्म नहीं कर रहा) मेरे सत्त्व-रज-तम---ये 'गुण' ही प्रकृति के सत्त्व-रज-तम 'गुणों' पर क्रिया कर रहे हैं, (कर्म-फल में) आसक्त नहीं होता ॥२८॥

जो व्यक्ति अपने सत्त्व-रज-तम---इन गुणों को प्रकृति के सत्त्व-रज-तम---इन गुणों में क्रिया करते देखकर इस भ्रम में पड़ जाते हैं कि आत्मा स्वयं क्रिया कर रहा है, वे ही उन 'गुणों' द्वारा उत्पन्न 'कर्मों' में आसक्त होते हैं। व्यक्ति को चाहिये कि इन अज्ञानियों तथा मन्द-बुद्धि व्यक्तियों की बुद्धि को विचलित न करे (उनमें बुद्धि-भेद न उत्पन्न करे, उन्हें कर्म करने दे, भले ही वे आसक्ति से

से मूढ़ हो गया है आत्मा जिसका; **कर्ता**[8]–कर्ता हूँ; **अहम्**[7]–मैं; **इति**[9]–यह; **मन्यते**[10]–समझता है।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

तत्त्ववित्[4]–तत्त्व को जाननेवाला; **तु**[1]–तो; **महाबाहो**[2]–हे बड़ी भुजाओं वाले अर्जुन; **गुणकर्मविभागयोः**[3]–'गुण' और 'कर्म' इन दोनों के विभाग के; **गुणाः**[5]–प्रकृति के सत्त्व-रज-तम ये तीन गुण; **गुणेषु**[6]–प्रकृति के गुणों में; **वर्तन्ते**[7]–बर्तते हैं; **इति**[8]–यह; **मत्वा**[9]–मानकर; **न**[10]–नहीं; **सज्जते**[11]–आसक्त होता है।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

प्रकृतेः[1]–प्रकृति के; **गुणसंमूढाः**[2]–गुणों द्वारा मोह में पड़े हुए; **सज्जन्ते**[4]–आसक्त होते हैं; **गुणकर्मसु**[3]–प्रकृति के सत्त्व-रज-तम

कर्म करें, क्योंकि कर्म बिल्कुल न करने की अपेक्षा तो आसक्ति से ही कर्म करना अच्छा है, जो आसक्ति से कर्म करते है उन्हें शनैः शनैः अनासक्ति के मार्ग पर डाला जा सकता है) ॥२९॥

मूल श्लोक का शब्दार्थ है—'गुण गुणों में बरतते हैं, यह जान कर ज्ञानी पुरुष कर्म में आसक्त नहीं होता'। 'गुण गुणों में बरतते हैं'—इसका क्या अर्थ है ? शास्त्र के अनुसार जड़ प्रकृति में तीन गुण हैं—सत्त्व, रज, तम। इसी प्रकार चेतन मनुष्य में भी तीन गुण हैं—सत्त्व, रज, तम। हमारी सत्त्वगुणी प्रवृत्ति प्रकृति के सत्त्वगुणी विषयों में बरतती है, हमारी रजोगुणी प्रवृत्ति प्रकृति के रजोगुणी विषयों में बरतती है, हमारी तमोगुणी प्रवृत्ति प्रकृति के तमोगुणी विषयों में बरतती है। इस प्रकार हमारे गुण प्रकृति के गुणों में बरतते हैं, प्रकृति ही प्रकृति में खेलती है, मैं, 'आत्मा', कर्ता रूप में कुछ नहीं करता, सब-कुछ करनेवाली 'प्रकृति' है, वही कर्त्री है। प्रकृति का यह खेल बरबस चल रहा है, हम चाहें या न चाहें, प्रकृति हम से जो चाहती है वही करवा रही है। 'स्वभाव' अत्यन्त प्रबल है, वही सब-कुछ कराता है, 'मैं'—'आत्मा'—कुछ नहीं करता। जब यह ज्ञान हो जाता है, जब मैं अपने को कर्म का करनेवाला ही मानना छोड़ देता हूँ, तब कर्म के फल में आसक्ति का प्रश्न ही जाता रहता है।

'मैं कर्ता नहीं हूँ, गुण गुणों के साथ मिलकर सब काम कर रहे हैं'—इसका पं० सातवलेकर जी ने गीता की अपनी 'पुरुषार्थबोधिनी' टीका में बहुत उपयुक्त अर्थ किया है। वे लिखते हैं: कुम्हार मिट्टी से घड़ा बनाता है, रेता से क्यों नहीं बनाता ? क्योंकि मट्टी में घड़ा बनाने का गुण है, रेता में नहीं। कुम्हार ही घड़ा बनाता है, डाक्टर घड़ा क्यों नहीं बनाता ? क्योंकि कुम्हार में घड़ा बना सकने का गुण है, डाक्टर में यह गुण नहीं है। मट्टी का गुण और कुम्हार का गुण मिलकर घड़ा बनता है, न सिर्फ़ मट्टी के गुण से, और न सिर्फ़ कुम्हार के गुण से घड़ा बन सकता है। इससे यह स्पष्ट है कि एक के गुण दूसरे के गुणों के साथ मिलकर यह संसार चल रहा है, इसमें मट्टी कहे कि मैंने घड़ा बनाया, या कुम्हार कहे कि मैंने बनाया—दोनों का यह अहंकार मिथ्या है। इसलिए समझदारी इसी में है कि कोई अपने को 'कर्ता' न समझे, 'कर्तृत्व' का घमंड त्याग दे, और गुणों द्वारा गुणों के हेल-मेल से यह सब हो रहा है—ऐसा माने, और—'मैं कर रहा हूँ'—ऐसा कह कर आसक्त न होवे।

नामक गुणों द्वारा कर्म में; **तान्**[5]—उनको; **अकृत्स्नविदः**[6]—अज्ञानियों को; **मन्दान्**[7]—मन्द बुद्धि वालों को; **कृत्स्नवित्**[8]—सब-कुछ जानने-वाला; **न**[9]—नहीं; **विचालयेत्**[10]—विचलित करे।

अर्जुन तो अज्ञानी नहीं है, वह तो ज्ञानी है, वह निष्काम-कर्म के रहस्य को जान गया है, वह जो करेगा आसक्ति से नहीं करेगा, अनासक्ति से करेगा, इसलिए श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं :

अपने सब कर्मों को अध्यात्म-चित्त से मेरे प्रति समर्पित करके, आशारहित, ममतारहित और सन्तापरहित होकर युद्ध कर ।।३०।।

जो लोग श्रद्धावान् होकर, दूसरों की निन्दा में ही समय न बिता कर मेरे इस उपदेश का निरन्तर पालन करते हैं वे कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं ।।३१।।

परन्तु जो दूसरे की निन्दा करना ही जानते हैं और मेरे इस उपदेश के अनुसार नहीं चलते, समझ लो कि वे सब तरह के ज्ञान के लिये मूढ़ हैं मूर्ख हैं, वे नष्ट होकर रहेंगे ।।३२।।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ।।३०।।

मयि[4]–मुझ में; **सर्वाणि**[2]–सब; **कर्माणि**[3]–कर्मों को; **संन्यस्य**[5]–त्याग कर; **अध्यात्म-चेतसा**[1]–आध्यात्मिक भावना के चित्त से; **निराशीः**[6]–आशारहित; **निर्ममः**[7]–ममतारहित; **भूत्वा**[9]–होकर; **युध्यस्व**[10]–युद्ध कर; **विगतज्वरः**[8]–सन्ताप रहित होकर।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ।।३१।।

ये[1]–जो; **मे**[7]–मेरे; **मतम्**[9]–उपदेश को; **इदम्**[8]–इस; **नित्यम्**[6]–निरन्तर; **अनुतिष्ठन्ति**[10]–पालन करते हैं; **मानवाः**[3]–मनुष्य; **श्रद्धावन्तः**[5]–श्रद्धावाले; **अनसूयन्तः**[4]–असूया का अर्थ है दोष देखना, अनसूयन्तः—दोष न देखनेवाले; **मुच्यन्ते**[13]–मुक्त हो जाते हैं; **ते**[11]–वे; **अपि**[2]–भी; **कर्मभिः**[12]–कर्म के बन्धनों से ।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढाँस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ।।३२।।

ये[2]–जो; **तु**[1]–तो; **एतत्**[5]–इस; **अभ्यसूयन्तः**[3]–असूया वाले, दोष-दृष्टि वाले, सब जगह दोष देखनेवाले, छिद्रान्वेषी; **न**[8]–नहीं;

ये मूढ़, मूर्ख मेरा कहा नहीं मानगे--इसमें इनका क्या दोष ? जैसा पहले कहा गया है, यह सारा खेल प्रकृति का है, प्रकृति ही कर्म करती है, सूत्रधार वही है, हम तो साधनमात्र हैं। यही कारण है कि मूर्ख लोग मेरी बात नहीं सुनेंगे।

सब प्राणी अपनी प्रकृति के अनुसार, स्वभाव के अनुसार काम करते हैं। प्रकृति को रोकना, स्वभाव का निग्रह करना, हठपूर्वक उसे बदलने का यत्न करना--इससे क्या होगा ? मूर्ख तो मूर्ख, जो ज्ञानी हैं, वे भी अपनी प्रकृति, अपने स्वभाव के अनुसार आचरण करते हैं ॥३३॥

प्रकृति या स्वभाव के अनुसार चलना पड़ता है, यही उचित है--इसका यह अर्थ नहीं है कि हमें अपने अच्छे-बुरे सब मनोवेगों के सामने झुक जाना चाहिए। इसका अभिप्राय सिर्फ़ यह है कि मनुष्य की जो प्रकृति है उसे हमें पहचानना चाहिए, खोजना चाहिए। उसे खोज कर फिर उसी के अनुसार चलना चाहिए, वही हमारा 'स्व-धर्म' है। हम अगर अपने 'स्वभाव' के विरुद्ध चलेंगे तो प्रकृति इसे सहन नहीं करेगी। अर्जुन की प्रकृति शत्रुओं से युद्ध करने की थी, वह ऋषि-मुनियों की-सी बातें करने लगा था, यह उसकी प्रकृति की बात नहीं थी। तभी गीता के १८वें अध्याय के ५९-६० श्लोक में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कहा है: "अहंकारवश तेरा यह मानना कि 'मैं नहीं लड़ूंगा' एक मिथ्या प्रयास है। हे कौन्तेय ! अपने स्वभावजन्य कर्म से बँधा हुआ तू जिस युद्ध को मोह-वश नहीं करना चाहता उसे विवश होकर करेगा।"

अभी ३३वें श्लोक में कहा कि सब प्राणी अपनी प्रकृति के अनुसार काम करते हैं--निग्रह क्या करेगा ? इसका यह अर्थ लगाया जा सकता है कि तब तो निग्रह की, इन्द्रियों के संयम की बात ही व्यर्थ हो जाती है। जब प्रकृति को टाला नहीं जा सकता तब निग्रह, संयम हो ही नहीं सकता। अर्जुन के हृदय में यह शंका उठ खड़ी हुई होगी, यह सोचकर श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'निग्रह क्या करेगा'--इसका अर्थ यह नहीं है कि हम इन्द्रियों के वश में आ जायें। इन्द्रियों को तो वश में करना ही होगा, इन्द्रियों को वश में करते हुए अपनी प्रकृति को समझकर उसके अनुकूल

अनुतिष्ठन्ति[8]–अनुसार चलते हैं; **मे**[6]–मेरे; **मतम्**[7]–उपदेश के; **सर्व-ज्ञान-विमूढान्**[10]–सब ज्ञानों के लिये मूढ़, गये-बीते; **तान्**[9]–उन्हें; **विद्धि**[12]–जानो; **नष्टान्**[11]–नष्ट हुए-हुए; **अचेतसः**[4]–मूर्ख।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

सदृशम्[8]–अनुसार; **चेष्टते**[9]–काम करता है; **स्वस्याः**[6]–अपनी; **प्रकृतेः**[7]–प्रकृति के, स्वभाव के; **ज्ञानवान्**[4]–ज्ञानी; **अपि**[5]–भी;

चलना होगा। 'निग्रह' का अर्थ है—अपने स्वभाव के विरुद्ध चलना। यह संभव नहीं है। इसी बात को ३४वें श्लोक में स्पष्ट करते हुए कहा है:

प्रत्येक इन्द्रिय का जो विषय है उसमें राग और द्वेष निश्चित हैं। (कान का विषय शब्द है। कान का राग मधुर शब्द पर होगा, द्वेष कटु शब्द पर होगा। नेत्र का विषय रूप है। नेत्र का राग सुन्दर रूप पर होगा, द्वेष कुरूप पर होगा। यह नहीं हो सकता कि कान सुन्दर रूप पर राग करने लगे, कुरूप पर द्वेष करने लगे; न यह हो सकता है कि नेत्र मधुर शब्द पर प्रेम करे, कर्कश शब्द पर द्वेष करे। यही नियम अन्य इन्द्रियों पर लागू होता है। इन्द्रिय का जो विषय है उसमें राग और द्वेष निश्चित हैं।) ये राग-द्वेष ही मनुष्य के शत्रु हैं, इनके वश में न आवे (राग-द्वेष के काबू में तो न आये, इन्हें तो जीते, परन्तु अपनी प्रकृति या स्वभाव के विरुद्ध न चले।) ॥३४॥

(अपनी प्रकृति, अपने स्वभाव के विरुद्ध मनुष्य न चले—इस बात को फिर दोहराते हुए कहते हैं कि) अपूर्ण

प्रकृतिम्[2]—प्रकृति को, स्वभाव को; **यान्ति**[3]—जाते हैं; **भूतानि**[1]—प्राणी; **निग्रहः**[10]—हठपूर्वक रोकना; **किम्**[11]—क्या; **करिष्यति**[12]—करेगा।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

इन्द्रियस्य[1]—इन्द्रिय के; **इन्द्रियस्य**[2]—इन्द्रिय के; **अर्थे**[3]—विषय में; **रागद्वेषौ**[4]—राग तथा द्वेष; **व्यवस्थितौ**[5]—स्थित हैं, निश्चित हैं; **तयोः**[6]—इन दोनों के, रागात्मक विषयों तथा द्वेषात्मक विषयों के; **न**[8]—नहीं; **वशम्**[7]—वश में; **आगच्छेत्**[9]—आये; **तौ**[12]—ये दोनों, राग तथा द्वेष; **हि**[10]—निश्चय से; **अस्य**[11]—इसके; **परिपन्थिनौ**[13]—शत्रु हैं।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

श्रेयान्[5]—अधिक अच्छा है; **स्वधर्मः**[4]—अपनी प्रकृति का धर्म; **विगुणः**[3]—अपूर्ण, गुणरहित; **परधर्माद्**[2]—दूसरे के धर्म से; **सु**[1]—अच्छी

रूप से भी पालन किये जा रहे 'स्व-धर्म', अपनी प्रकृति, अपने स्वभाव के अनुसार चलना अच्छा है बजाय इसके कि हम 'पर-धर्म' पर, दूसरे की प्रकृति, दूसरे के स्वभाव पर कितनी ही अच्छी तरह क्यों न चलें। 'स्वधर्म', अपनी प्रकृति, अपने स्वभाव का पालन करते हुए मृत्यु भी हो जाय, तो भी वह कहीं भली है, क्योंकि 'पर-धर्म' का पालन, दूसरे की प्रकृति, दूसरे के स्वभाव के अनुसार चलना बहुत भयजनक है ॥३५॥

'स्व-धर्म' पर अविचल रहना—इस पर गीता ने विशेष बल दिया है। स्वधर्म-पालन का वर्णन करते हुए ही १८–४५ में कहा है : **'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः।'** 'स्व-धर्म' क्या है, 'स्व-कर्म' क्या है ? व्यापारी का 'स्व-धर्म' तथा 'स्व-कर्म' बणिज-व्यापार करना है, डाक्टर का 'स्व-धर्म' तथा 'स्व-कर्म' रोगियों का इलाज करना है, शिक्षक का 'स्व-धर्म' तथा 'स्व-कर्म' बालकों को शिक्षा देना है। गीता का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी प्रकृति होती है, अपना-अपना गुण-कर्म होता है, वही उसका 'धर्म' है, वही उसका 'कर्म' है, वही-कुछ उसे करना चाहिए, उसी से उसे सिद्धि प्राप्त होगी। परन्तु वही करते रहें तो परलोक कैसे मिले ? मनुष्य चाहता है कि दुनियादारी भी करता रहे, और भगवान् को भी पा ले। तभी सेठ-साहूकार दिनभर लोगों की जेबें कतरते हैं और शाम को मन्दिरों में जाकर घंटा-घड़ियाल खड़खड़ाते हैं। गीता का कहना है कि यह रास्ता ग़लत है। तो सही रास्ता क्या है ? दुनियादारी भी करते रहो और भगवान् को भी पा लो—इसका रास्ता है अपने काम को ही आध्यात्मिकता के रंग में रंग देना, व्यावहारिक तथा पारमार्थिक के बीच खड़ी दीवार को ही निकाल फेंकना। वह कैसे हो सकता है ? गीता ने कहा है : **'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः'**—जो कर्म करे यज्ञार्थ करे, भगवान् को अर्पण करके करे, फिर कोई भी कर्म करे—वणिज करे, व्यापार करे, डाक्टरी करे, अध्ययन करे, 'स्व-धर्म' और 'स्व-कर्म' कुछ भी क्यों न हो, वह कर्म आध्यात्मिक हो जाता है, तब संसारी व्यावहारिक-जीवन में और आध्यात्मिक-जीवन में भेद ही नहीं रहता, तब दुनियादारी का जीवन ही आध्यात्मिक-जीवन हो जाता है क्योंकि तब जो 'स्व-धर्म' और 'स्व-कर्म' किया जाता है वह स्वार्थ के लिए न करके परार्थ के लिए, 'यज्ञार्थ' किया जाता है।

तरह; **अनुष्ठितात्**[1]–पालन किये जा रहे से; **स्वधर्मे**[6]–अपनी प्रकृति में; **विधनम्**[7]–मर जाना; **श्रेयः**[8]–अच्छा है; **परधर्मः**[9]–दूसरे की प्रकृति; **भयावहः**[10]–भयजनक है।

जब 'स्व-धर्म' तथा 'स्व-कर्म' के प्रति यह दृष्टि विकसित हो जाती है तब उसका व्यावहारिक रूप क्या होता है ? कल्पना कीजिये, एक व्यापारी है। गीता के 'स्व-धर्म' और 'स्व-कर्म' का पालन करता हुआ वह 'यज्ञार्थ-कर्म' कैसे करेगा ? वह दिन-रात अपने धंधे में लगा रहेगा, खूब पैसा पैदा करेगा, कोठे भर देगा, परन्तु यह सब 'यज्ञार्थ' करेगा, अपने इस्तेमाल में जो-कुछ आयेगा उसका बचा देश तथा राष्ट्र के हित में लगा देगा। यह व्यापारी अगर अपनी प्रकृति के प्रतिकूल भगवा डाल कर साधु हो जाय, तो वह भगवान् के निकट इतनी शीघ्रता से नहीं पहुँचेगा जितनी शीघ्रता से 'स्व-धर्म' और 'स्व-कर्म' का पालन करता हुआ, दिन-रात व्यापार में लगा हुआ, रुपया-पैसा कमाता हुआ, उसे देश तथा राष्ट्र की सेवा में अर्पित करता हुआ पहुँच जायगा। गीता की परिभाषा में 'स्वधर्म' तथा 'स्व-कर्म' का इस प्रकार पालन करने वाला यह व्यापारी जो अपना सब काम-धंधा 'यज्ञार्थ' करता है, आध्यात्मिक पुरुष है, योगी है, साधु है, संन्यासी है। अगर यह व्यक्ति जिसकी मनोवृत्ति व्यापार की है, भगवान् को पाने के लिए 'स्व-धर्म' और 'स्व-कर्म' को छोड़ कर साधु-संन्यासी हो जाता है, घर से भाग खड़ा होता है, तो पहले तो वह ऐसा कर ही न सकेगा, उसकी वृत्ति बरबस उसे दुनियादारी की तरफ़ खींचेगी, वह भगवा डाल कर भी किसी व्यापार-धंधे में फँस जायगा, और अगर वह ठोक-पीट कर संन्यासी बना भी रहा तो संन्यास-धर्म का पालन नहीं कर सकेगा क्योंकि वह उसके लिए 'स्व-धर्म' तथा 'स्व-कर्म' नहीं है।

हमने कहा कि गीता जब 'स्व-धर्म' तथा 'स्व-कर्म' में अविचल रहने को कहती है तब गीता का अभिप्राय 'यज्ञार्थ-कर्म' से है। हम अपने काम को दो दृष्टियों से कर सकते हैं—'यज्ञार्थ दृष्टि' तथा 'अयज्ञार्थ-दृष्टि'। यज्ञार्थ-दृष्टि का अर्थ है—'समाज-सेवा' की दृष्टि, अयज्ञार्थ-दृष्टि का अर्थ है—'स्व-सेवा' की दृष्टि। आज हम जितने काम करते हैं उन्हें स्वार्थ-भाव से करते हैं, इसलिए हमारे कर्म में आध्यात्मिकता की पुट नहीं रहती, कर्म बन्धन का कारण बन जाता है। गीता का कहना है कि जो भी काम करो, छोटा हो, बड़ा हो, उसी में रम कर करो, तन्मयता से करो, कर्तव्य-बुद्धि से करो, परार्थ-भावना से करो, समाज-सेवा की दृष्टि से करो, ऐसा करने से कर्म में आध्यात्मिकता की पुट आ जायगी, फिर कर्म बन्धन का कारण नहीं रहेगा, फिर व्यापार करते हुए मंदिर-मस्जिद-गिर्जा में भागने की, घंटा-घड़ियाल बजाने की आवश्यकता नहीं रहेगी, 'यज्ञार्थ' किया हुआ वह कर्म ही तुम्हें भगवान् के आमने-सामने लाकर खड़ा कर देगा। **'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'** का यही अर्थ है।

गीता का कहना है : प्रकृति ही प्राणी का संचालन करती है, वही कर्त्री है, मनुष्य तो अहंकारवश अपने को 'कर्ता' समझ बैठा है। अर्जुन को यह बात अनुभव से कुछ जँचती-सी प्रतीत हुई इसलिए उसने श्रीकृष्ण से पूछा :

अर्जुन ने कहा : हे वार्ष्णेय, वृष्णि-यादवों के कुल में उत्पन्न कृष्ण ! वह क्या वस्तु है जिससे प्रेरित होकर यह पुरुष न चाहता हुआ भी पापाचरण करता है, जैसे कोई बलपूर्वक उसे पाप में धकेल रहा हो ? ।।३६।।

श्री भगवान् ने कहा : यह रजोगुण से उत्पन्न होनेवाला 'काम' और रजोगुण से ही उत्पन्न होनेवाला 'क्रोध' ही है (जो मनुष्य को न चाहते हुए भी बलपूर्वक पापाचरण में धकेलता है) । यह 'महाशन' है, महा-अशन—सब-कुछ खा जानेवाला, 'महापाप्मा' है, अत्यन्त पापपूर्ण है । इस संसार में इसको महावैरी समझो ।।३७।।

श्रीकृष्ण इस सारे प्रकरण में 'निष्कामता' का उपदेश दे रहे हैं। 'निष्काम' का उल्टा है—'सकाम'। 'निष्काम' तथा 'सकाम' दोनों का आधार 'काम' है, 'काम' अर्थात् 'कामना' (Desire) । सब पापों की जड़ 'कामना' है, तभी द्वितीय अध्याय के ६२–६३ श्लोकों में कहा है—'**संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभि-जायते**'। विषयों का संग करते-करते 'कामना' उत्पन्न हो जाती है, कामना में

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ।।३६।।

अथ[2]–अब; **केन**[10]–किससे; **प्रयुक्तः**[11]–प्रेरित हुआ; **अयम्**[3]–यह; **पापम्**[12]–पाप को; **चरति**[13]–आचरण करता है; **पूरुषः**[4]–पुरुष; **अनिच्छन्**[8]–न इच्छा करता हुआ; **अपि**[9]–भी; **वार्ष्णेय**[1]–कृष्ण; **बलात्**[5]–बलपूर्वक; **इव**[7]–मानो; **नियोजितः**[6]–लगाया हुआ।

श्री भगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ।।३७।।

कामः[3]–कामना; **एषः**[5]–यह; **क्रोधः**[4]–क्रोध; **एषः**[2]–यह; **रजोगुणसमुद्भवः**[1]–रजोगुण से उत्पन्न हुआ; **महाशनः**[6]–महान् अशन अर्थात् भोजन है जिसका; **महापाप्मा**[7]–बड़ा पापी; **विद्धि**[11]–जान, समझ; **एनम्**[9]–इसको; **इह**[8]–इस संसार में; **वैरिणम्**[10]–वैरी, शत्रु।

बाधा आ पड़ने पर 'क्रोध' उत्पन्न हो जाता है। ६३ श्लोक में ही आगे कहा है कि इस प्रवाह में पड़ कर मनुष्य नष्ट हो जाता है। द्वितीय अध्याय की इसी बात को यहाँ दोहराया गया है—'काम' ही सब पापों की जड़ है, 'काम' ही हमारा सब से बड़ा शत्रु है, यह 'काम' कामदेव वाला काम नहीं, वह कामदेव भी 'कामना' का ही एक रूप है, 'कामना'-'इच्छा'-'वासना' ही 'काम' है। 'कामना' जब पूरी नहीं होती, तब 'क्रोध' उत्पन्न हो जाता है—इसलिए यहाँ 'काम' और 'क्रोध' को एकवचन में कहा है क्योंकि 'क्रोध' भी 'कामना' का ही एक रूप है, सब रोगों की जड़ 'काम' अर्थात् 'कामना' है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि इस 'कामना' का ही जब वध करोगे तभी पाप से छुटकारा होगा। यह कामना 'महाशन' है, जितना इसे खिलाते जाओगे उतना यह खाती जायेगी, इसकी भूख नहीं मिटेगी, विषयों का भोग भोगने से विषय की भूख मिटती नहीं, बढ़ती है। **'हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते'** (मनु०, २, ९४)—जैसे ईंधन से आग और भड़क उठती है, वैसे विषय भोग से विषयों की भूख मिटती नहीं और अधिक भड़कती है।

जैसे आग धूएँ से ढक जाती है, जैसे दर्पण मल से मैला हो जाता है, जैसे गर्भ जेर से आवृत रहता है, उसी प्रकार यह सब ज्ञान कामना से ढका रहता है ॥३८॥

यहाँ अन्तःकरण के ज्ञान को ढकने के तीन दृष्टांत दिये हैं। ये तीन दृष्टांत 'कामना' की तीन अवस्थाओं के सूचक हैं। ये तीन अवस्थाएँ हैं—सूक्ष्म, स्थूल, अति-स्थूल। आग को धूँआ ढकता है, परन्तु धूँआ उड़ता जाता है, नया आता जाता है। ज्ञान का उदय होता है, परन्तु होता-होता कामना के धूएँ से ढकता जाता है। यह कामना की ज्ञान को ढकने की सूक्ष्म अवस्था है। दर्पण पर धूल जम जाती है, परन्तु कपड़ा लेकर उसे पोंछ दें तो धूल साफ़ हो जाती है। अन्तःकरण का ज्ञान मल से आवृत हो जाता है, परन्तु प्रयत्न से शुद्ध रूप में आ जाता है। यह कामना की ज्ञान को ढकने की स्थूल अवस्था है। गर्भ को जेर आवृत कर लेता है, गर्भ-स्थित शिशु को हिलने-डुलने भी नहीं देता, उसे बाँधकर रख लेता है, जब तक जेर को काट कर परे न फेंक दिया जाय यह शिशु का ही अंग बना

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

धूमेन[2]—धूएँ से; **आव्रियते**[7]—ढकी जाती है; **वह्निः**[3]—आग; **यथा**[1]—जैसे; **आदर्शः**[6]—दर्पण; **मलेन**[5]—मल से; **च**[4]—और; **यथा**[8]—जैसे; **उल्बेन**[9]—जेर से; **आवृतः**[11]—ढका रहता है; **गर्भः**[10]—गर्भ; **तथा**[12]—वैसे; **तेन**[13]—उस काम से; **इदम्**[14]—यह 'ज्ञान'; **आवृतम्**[15]—ढका रहता है।

रहता है। यह कामना की ज्ञान को ढकने की अति-स्थूल अवस्था है। इसमें अन्त:करण का ज्ञान कामना के शिकंजे में ज़बर्दस्त जकड़ा रहता है। यह कामना अन्त:करण के ज्ञान के प्रकाश को ढके रहती है, ठीक ऐसे जैसे एक टा-छोसा बादल का टुकड़ा सूर्य के प्रकाश को ढक देता है।

हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन! ज्ञानी पुरुष का ज्ञान काम की शक्ल में इस नित्य के वैरी से ढका रहता है। यह काम 'दुष्पूर' है, 'अनल' है। ('दुष्पूर' का अर्थ है—जिसका पेट कभी पूरा (भरा) ही न जा सके, जो कभी तृप्त ही न हो सके; 'अनल' का अर्थ है—'जो कभी अलम् अर्थात् बस ही न करे, और लाओ, और लाओ ही कहता रहे। 'अनल' का अर्थ 'अग्नि' भी है, 'अनल' अर्थात् जो आग की तरह सब भस्म करता जाता है और जिसमें भोग की जितनी आहुति पड़ती है उतनी ही भोग की, कामना की लालसा बढ़ती जाती है।) ॥३९॥

('काम' तथा 'ज्ञान' का नित्य का वैर है। जहाँ 'काम' है वहाँ 'ज्ञान' नहीं, जहाँ 'ज्ञान' है वहाँ 'काम' नहीं। 'काम' अर्थात् 'कामना' के नाश का एक ही उपाय है, 'ज्ञान' का

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

आवृतम्[10]—ढका हुआ है; **ज्ञानम्**[9]—ज्ञान; **एतेन**[2]—इस 'काम' से; **ज्ञानिनः**[7]—ज्ञानी के; **नित्यवैरिणा**[8]—सदा के वैरी से; **कामरूपेण**[6]—'काम' है शक्ल जिसकी; **कौन्तेय**[1]—हे अर्जुन; **दुष्पूरेण**[3]—जो पूरा नहीं हो सकता; **अनलेन**[5]—जो 'अलम्' या 'बस' नहीं हो सकता या जो अग्नि के समान आहुति पड़ने पर और प्रज्वलित होता है; **च**[4]—और।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

इन्द्रियाणि[1]—इन्द्रियाँ; **मनः**[2]—मन; **बुद्धिः**[3]—बुद्धि; **अस्य**[4]—इस 'काम' के; **अधिष्ठानम्**[5]—वासस्थान; **उच्यते**[6]—कहाते हैं;

उदय करना।) इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि—ये कामना के अधिष्ठान हैं, वास-स्थान हैं। यह 'काम' इन्हीं के द्वारा—इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि के द्वारा—जीव के 'ज्ञान' को ढक कर उसे मोह में डाले रखता है ॥४०॥

इसलिये, हे भरत-कुल में श्रेष्ठ अर्जुन! तू पहले-पहल इन्द्रियों का ही नियमन करके ज्ञान-विज्ञान के नाश करनेवाली इस पापिनी कामना का वध कर या इसे दूर कर ॥४१॥

कहते हैं कि 'इन्द्रियाँ' श्रेष्ठ हैं, इन्द्रियों की अपेक्षा 'मन' अधिक श्रेष्ठ है, मन की अपेक्षा 'बुद्धि' अधिक श्रेष्ठ है, बुद्धि की अपेक्षा 'वह'—आत्मा—अधिक श्रेष्ठ है ॥४२॥

एतैः[8]—इन, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि से; **विमोहयति**[12]—मोह में डालता है; **एषः**[7]—यह 'काम'; **ज्ञानम्**[9]—ज्ञान को; **आवृत्य**[10]—ढककर; **देहिनम्**[11]—प्राणी को।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

तस्मात्[1]—इसलिये; **त्वम्**[3]—तू; **इन्द्रियाणि**[5]—इन्द्रियों को; **आदौ**[4]—पहले-पहल; **नियम्य**[6]—नियमन करके; **भरतर्षभ**[2]—हे अर्जुन; **पाप्मानम्**[9]—पापी कामना को; **प्रजहि**[11]—मार; **हि**[10]—निश्चय से; **एनम्**[8]—इसको; **ज्ञानविज्ञान-नाशनम्**[7]—ज्ञान और विज्ञान के नाश करनेवाली।

'प्रजहि ह्येनम्' के दो पदच्छेद किये जाते हैं—'प्रजहि+हि+एनम्' या 'प्रजहिहि+एनम्'। पहले का अर्थ है—इसका वध कर; दूसरे का अर्थ है—इसे दूर कर। दोनों ही अर्थ यहाँ ठीक बैठ सकते हैं, पर ४३वें श्लोक के 'जहि' पद का विचार कर 'प्रजहि+हि+एनम्' यह पदच्छेद ही ठीक है।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

इन्द्रियाणि[1]—इन्द्रियों को; **पराणि**[2]—परे अर्थात् श्रेष्ठ; **आहुः**[3]—कहते हैं; **इन्द्रियेभ्यः**[4]—इन्द्रियों से; **परम्**[5]—श्रेष्ठ; **मनः**[6]—मन है; **मनसः**[7]—मन से; **तु**[8]—तो; **परा**[9]—श्रेष्ठ; **बुद्धिः**[10]—बुद्धि है; **यः**[11]—

कठोपनिषद् १।३।१०–११ में भी यही बात कही गई है। वहाँ कहा है—**'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः'**—उपनिषद् के इस स्थल में बुद्धि से आत्मा महान् श्रेष्ठ है—ऐसा कहा है, इसलिए गीता में भी **'बुद्धेः परतस्तु सः'** इस स्थल में 'सः' (वह) का अर्थ आत्मा ही समझना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि 'आत्मा' सब से श्रेष्ठ है, वही देह के साम्राज्य का राजा है। परन्तु होता क्या है? होता यह है कि इन्द्रियाँ हमारे जीवन पर शासन करती हैं, और क्योंकि इन्द्रियों का काम विषयों में भटकना है, 'कामना' में निवास करना है, इसलिए मानव-जीवन पर 'कामना' छाई रहती है। तो फिर क्या करे?

हे महाबाहु! इस प्रकार आत्मा को बुद्धि से भी श्रेष्ठ जानकर, आत्मा का आत्मा से नियन्त्रण कर के कामना-रूप दुर्जय शत्रु को मार डाल ॥४३॥

उक्त दोनों श्लोकों में मानव का क्रमिक विकास दर्शाया गया है। वह एक सीढ़ी से चलता है, दूसरी पर पहुँचता है, दूसरी से चलकर तीसरी पर पहुँचता है। इस प्रकार उसकी चेतना का क्रमिक-विकास होता है। इन्द्रियों के विषयों में तो हम सभी भ्रमते रहते हैं, इनमें से निकलकर मानसिक क्षेत्र में विचरना ऊँचा उठना है, मानसिक से भी बौद्धिक-क्षेत्र में पहुँच जाना और ऊँचा उठ जाना है, बौद्धिक-क्षेत्र से आत्मा के क्षेत्र में चले जाना तो आत्मा के विकास का चरम लक्ष्य ही है। 'मन' तथा 'बुद्धि' में क्या भेद है? 'मन' का काम तो ध्यानमात्र है; 'बुद्धि' का काम अच्छे-बुरे की पहचान है। उदाहरणार्थ, आँख खुली है, परन्तु मन मेरा दूसरी तरफ़ है, तो देखते हुए भी मैं देख नहीं रहा। आँख खुली होने पर भी देख क्यों नहीं रहा? क्योंकि मन वहाँ नहीं था, दूसरी जगह गया हुआ था। 'ध्यान' का यह काम 'बुद्धि' का नहीं है। 'बुद्धि' का काम सही-ग़लत में, अच्छे-बुरे में भेद करना है, यह काम 'मन' का नहीं है। जो व्यक्ति सिर्फ़ इन्द्रियों में भ्रमता

जो; **बुद्धेः**[13]–बुद्धि से; **परतः**[14]–अत्यन्त परे है; **तु**[12]–तो; **सः**[15]–वह (आत्मा) है।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

एवम्[1]–इस प्रकार; **बुद्धेः**[2]–बुद्धि से; **परम्**[3]–श्रेष्ठ; **बुद्ध्वा**[4]–जानकर; **संस्तभ्य**[7]–वश में कर के; **आत्मानम्**[6]–अपनी इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि को; **आत्मना**[5]–आत्मा से; **जहि**[12]–मार; **शत्रुम्**[11]–शत्रु को; **महाबाहो**[8]–हे महाबाहु; **कामरूपम्**[10]–कामना है रूप जिसका; **दुरासदम्**[9]–दुर्जय को।

है वह 'कामना' के क्षेत्र में रहता है, जो मन के क्षेत्र में आ जाता है वह ध्यान को एकाग्र करने लगता है, इसलिए विषयों में भटकाने वाली 'कामना' से अलग-सा होने लगता है, जो बुद्धि के क्षेत्र में आ जाता है वह 'कामना' से अपने-आप को और अधिक अलग कर लेता है, और जो आत्मा के क्षेत्र में आ जाता है वह तो मानो 'कामना' को मार ही डालता है, निष्काम हो जाता है।

'आत्मा का आत्मा से नियन्त्रण करके'—इसका क्या अर्थ है? हम पहले इन्द्रियों को आत्मा समझने लगते हैं। उनका नियन्त्रण मन से होता है। फिर हम मन को आत्मा समझने लगते हैं। उसका नियन्त्रण बुद्धि से होता है। फिर हम बुद्धि को ही आत्मा समझने लगते हैं। उसका नियन्त्रण आत्मा से होता है। इस प्रकार इन्द्रिय, मन, बुद्धि जिन्हें हम आत्मा समझते थे उनका अन्त में नियन्त्रण अपने आत्मा से होता है। जब इन्द्रिय, मन, बुद्धि पर आत्मा का नियमन हो जाता है तब कामना रूप दुर्जय शत्रु का नाश हो जाता है, मनुष्य निष्काम हो जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् में जो ब्रह्मविद्या का वर्णन किया गया है, उसके अन्तर्गत जो कृष्णार्जुन-संवाद है, उस संवाद का 'कर्म-योग' नामक यह तृतीय अध्याय समाप्त हुआ।*

उपसंहार

गीता के दूसरे अध्याय में यद्यपि 'सांख्य-योग' तथा 'कर्म-योग'—इन दोनों की चर्चा की गई है, तो भी मुख्यतः उसमें 'सांख्य-योग' की ही चर्चा है। देह तथा देही का, शरीर तथा आत्मा का भेद दर्शाते हुए अर्जुन से कहा गया है कि यह मार्ग 'कर्म-संन्यास' का मार्ग है, संसार से निवृत्ति का मार्ग है, ज्ञान का मार्ग है, इस मार्ग से चलकर मनुष्य स्थित-प्रज्ञ हो जाता है, समाधिस्थ हो जाता है, परमात्मा के निकट रहने लगता है। इस सांख्य-दृष्टि से भी तुझे युद्ध से पीठ फेरना उचित नहीं क्योंकि सांख्य-दृष्टि से आत्मा अमर है, जिसे हम मरना कहते हैं वह सिर्फ़ चोला बदलना है। परन्तु अर्जुन का 'स्व-धर्म', उसकी प्रकृति, उसका स्वभाव ज्ञान-मार्ग से मेल खाने वाला नहीं है। मनुष्य तो अपने स्वभाव के पीछे, अपनी प्रकृति के पीछे चलता है। अर्जुन ज्ञान की बातें ज़रूर कर रहा है, परन्तु इस मार्ग पर वह देर तक टिकनेवाला नहीं है, उसका स्वभाव ही यह नहीं है। इसीलिए अर्जुन के कर्मशील स्वभाव को देखकर श्रीकृष्ण ने 'ज्ञान' के मुकाबिले में उसे 'कर्म' की शिक्षा दी है, और उसी को आधार बनाकर तृतीय अध्याय में 'कर्म-योग' की विशेष तौर पर चर्चा की है। क्योंकि गीता का मुख्य विषय 'कर्म-योग' है इसलिए तृतीय अध्याय बहुत महत्व का अध्याय है।

श्रीकृष्ण ने 'सांख्य-योग' और 'कर्म-योग' दोनों की चर्चा की। सांख्य-योग में 'कर्म-संन्यास' और कर्म-योग में 'कर्म-प्रयास'—ये दोनों परस्पर विरुद्ध बातें हैं,

---

*** इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः।**

इसलिए अर्जुन ने कहा कि मुझे एक बात कहो, दो रास्तों पर डाल देने से मनुष्य कोई निश्चय नहीं कर पाता। अर्जुन की बात सुनकर श्रीकृष्ण ने कहा कि मार्ग तो संसार में दो ही हैं—'सांख्य-मार्ग' तथा 'कर्म-मार्ग', इन दोनों मार्गों में से 'सांख्य-मार्ग' ज्ञान का मार्ग है, 'कर्म-मार्ग' कर्म का मार्ग है, परन्तु हर-एक को हर मार्ग ठीक नहीं बैठता, अपनी प्रकृति के अनुसार ही जीवन के मार्ग का चुनाव करना पड़ता है। अर्जुन क्योंकि कर्मपरक प्रवृत्ति का है इसलिए उसके लिए 'कर्म-योग' ही ठीक है। इसके अतिरिक्त सर्व-साधारण भी कर्मपरक प्रवृत्ति के ही होते हैं, और अर्जुन तो सर्व-साधारण का प्रतीकमात्र है, इसलिए गीता ने सर्व-साधारण के लाभ के लिए इस अध्याय में 'कर्म-योग' की विशद व्याख्या की है।

'कर्म-योग' का अर्थ क्या है ? 'कर्म-योग' का अर्थ सिर्फ़ कर्म करना नहीं है। कर्म तो हर-एक को करना ही होता है। बिना कर्म के तो कोई रह ही नहीं सकता। हम न चाहें तब भी हमारी प्रकृति ही हमसे बरबस कर्म कराती है। जो लोग कर्म छोड़कर बैठ जाते हैं वे मन से विषयों का रस लेने लगते हैं। यह तो मिथ्याचार है। असली 'कर्म-योग' सिर्फ़ कर्म करने का नहीं, अपितु अनासक्त होकर कर्म करने का नाम है। अनासक्त-कर्म, निष्काम-कर्म, फलाशा-रहित कर्म—इन सब का एक ही अर्थ है।

निष्काम-कर्म के संबंध में गीता ने कुछ तथ्यों का प्रतिपादन किया है। उन तथ्यों को गीता का आविष्कार कहा जा सकता है, ठीक ऐसे जैसे गैलिलियो ने पृथिवी के सूर्य के गिर्द घूमने का, ब्रूनो ने सूर्य के सृष्टि का केन्द्र होने का, न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण का आविष्कार किया था। भेद इतना है कि गैलिलियो, ब्रूनो, न्यूटन ने भौतिक-जगत् के सार्वभौम, सार्वत्रिक नियमों का पता लगाया था, गीता ने आध्यात्मिक-जगत् के सार्वभौम, सार्वत्रिक नियमों का पता लगाया। गीता ने जिस सार्वभौम अर्थात् सब देशों में रहनेवाले तथा सार्वत्रिक अर्थात् सब कालों में रहनेवाले नियम का पता लगाया उसी का नाम 'निष्काम-कर्म' है।

इस प्रकरण में हम निम्न बातों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे :

(१) 'निष्काम-कर्म' सार्वभौम तथा सार्वत्रिक नियम है,
(२) 'यज्ञ' में यही नियम काम करता है, 'निष्काम-कर्म' ही 'यज्ञ' है,
(३) निष्कामता के लिए इन्द्रियों के राज्य के स्थान में आत्मा का राज्य लाना होगा,
(४) निष्कामता व्यावहारिक सत्य है,
(५) श्री अरविंद के यज्ञ-संबंधी विचार,
(६) श्री अरविंद के कर्म-संबंधी विचार।

१. 'निष्काम-कर्म' सार्वभौम तथा सार्वत्रिक नियम है

(क) सृष्टि-चक्र में निष्कामता—गीता का कहना है कि सृष्टि का चक्र निष्कामता को लेकर ही चल रहा है। उदाहरणार्थ, अन्न से प्राणी उत्पन्न होते हैं।

कैसे होते हैं ? अन्न पेट में जाता है, पेट अगर अन्न को अपने पास रख ले, दूसरे अंगों को उसका रस न दे, तब क्या रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र—यह क्रम चल सकेगा ? अन्न अपने को मिटा देता है, अन्न से उत्पन्न होनेवाले रस भी अपने को आगे वाले के लिए मिटाते जाते हैं, तभी अन्त में जाकर शुक्र पैदा होता है जिससे प्राणी उत्पन्न होते हैं। अन्न भी कैसे पैदा होता है ? नदी-नालों का, समुद्र का जल वाष्प बनकर उठता है, उससे बादल बनते हैं, बादल अपने में पानी को समेटे नहीं रखते, बरस पड़ते हैं, अपने को मिटा देते हैं, उसी से तो खेत हरे-भरे होकर लहलहाने लगते हैं। पर्जन्य अपने को जबतक मिटा नहीं देता तब तक अन्न पैदा नहीं होता। पर्जन्य कैसे होता है ? शास्त्रों के अनुसार जब यज्ञ होता है, यज्ञ में डाली जानेवाली ओषधियाँ जब अपने स्थूल रूप को खो देती हैं, वे ही अन्तरिक्ष में जाकर मेघ का निर्माण करती हैं। जड़-चेतन सृष्टि का यह चक्र इसी भावना के आधार पर चल रहा है। अगर निष्कामता की जगह सकामता आ जाय, तब तो सृष्टि की गाड़ी एक कदम भी आगे न बढ़ सके। कहने को हम कहते हैं कि सृष्टि स्वार्थ पर चल रही है, परन्तु यह तो दीखता भर है, स्वार्थ पर यह सृष्टि चले तो चल ही न सके, यह चलती है, 'निष्कामता' से, स्वार्थ को त्यागने से। यह नियम सृष्टि में हर देश तथा हर काल में सत्य है। यह नहीं कि भारत में निष्कामता चलेगी, युरोप-अमेरिका में सकामता चलेगी ; यह भी नहीं कि श्रीकृष्ण के समय में निष्कामता चलती थी, आज के वैज्ञानिक युग में सकामता चलेगी। गीता का कहना है कि निष्कामता तो सृष्टि-चक्र चलाने का आधारभूत नियम है। आश्चर्य यही है कि जब सृष्टि चल ही इस नियम के आधार पर है, तब भी हम इसे देख नहीं पा रहे, और इससे बढ़कर आश्चर्य यह है कि अगर देख पा रहे हैं, तो इससे उल्टे नियम को, 'सकामता' को देख पा रहे हैं।

(ख) **यज्ञ में निष्कामता**—जिस समय गीता लिखी गई उस समय अपने देश में कर्मकांड का सर्वत्र प्रचार था। कर्मकांड का प्रतिपादन करनेवाली पुस्तकें ब्राह्मण ग्रन्थ हैं, इन ग्रन्थों में यज्ञ-यागादि का बड़ी बारीकियों के साथ विवरण है। कर्मकांडी कहते थे कि इन विधि-विधानों के अनुसार यज्ञ किया जाय, तो स्वर्ग की प्राप्ति होती है, सन्तान तथा सम्पत्ति के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के यज्ञ थे। यज्ञों का आधार सकामता थी, इच्छा की पूर्ति थी। श्रीकृष्ण ने कहा कि सृष्टि का संपूर्ण व्यवहार निष्कामता पर चल रहा है। इसका सब से बड़ा प्रमाण यह है कि सकामता का नाम लेकर चले हुए ये यज्ञ भी बिना निष्कामता के सफल नहीं हो सकते। वह कैसे ? कर्मकांडियों की यज्ञ-यागादि के संबंध में विचारधारा यह है कि सृष्टि का संचालन देवता लोग कर रहे हैं। अग्नि, वायु, आदित्य, वरुण आदि सब देवता हैं। यज्ञ द्वारा कर्मकांडी इन देवताओं को हवि पहुँचाते हैं। देवताओं को जब हवि पहुँचती है, तब देवता भी मनुष्यों को सुख, स्वर्ग, सन्तान, सम्पत्ति का दान करते हैं। देवताओं को हवि देते हुए यजमान कहता है—**'इदम् अग्नये इदन्न मम'**—यह अग्नि के लिए है, यह मेरे लिए नहीं है। इसी प्रकार 'इदन्न मम' को

प्रत्येक देवता को हवि देते हुए दोहराया जाता है। श्रीकृष्ण का कहना है कि देवताओं के लिए 'इदन्न मम' की भावना ही तो 'निष्काम-कर्म' है। कामना को, ममता-अहंकार को त्याग देना ही तो 'निष्काम-कर्म' है, और यज्ञ कभी सफल नहीं हो सकता यदि उसमें यह 'न मम' की भावना न हो, यदि अपने कर्म को देवता के अर्पण न किया जाय। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अपने समय में प्रचलित 'यज्ञ'-शब्द को एक नया अर्थ दे दिया, नया अर्थ ही नहीं दे दिया, 'निष्काम-कर्म' को 'यज्ञ' ही कह दिया।

२. निष्काम-कर्म तथा यज्ञ

जो लोग विचारों में क्रान्ति लाया करते हैं वे पुराने शब्दों में नया अर्थ डाल देते हैं। सर्व-साधारण क्योंकि पुरातन को छोड़ नहीं सकते, रूढ़ि उन्हें जकड़े रहती हैं, इसलिए संसार को नवीन सन्देश देनेवाला उन पुराने ही शब्दों में नवीन भावना भर देता है। श्रीकृष्ण ने ऐसा ही किया। 'यज्ञ'-शब्द का प्रयोग सकाम-भावना के लिए किया जाता था, उन्होंने इसी शब्द को लेकर इसका निष्काम-भावना के लिए प्रयोग किया। 'निष्काम-भावना' का अर्थ है स्वार्थ का त्याग, कामना का त्याग, इच्छा का त्याग, दूसरों के लिए जीना-मरना; 'यज्ञ' का भी श्रीकृष्ण ने यही अर्थ किया। गीता ने कहा कि यज्ञ की, त्याग की, निःस्वार्थ की, निष्कामता की भावना तो सृष्टि के बीज में पड़ी है। प्रजापति ने सृष्टि की रचना करते हुए यज्ञ के साथ ही तो इसे सृजा, यज्ञ की भावना, अर्थात् त्याग की पुट देकर कह दिया कि सृष्टि का चक्र इसी भावना के साथ चलाओ। इतना ही नहीं, जैसे यज्ञ में जो यज्ञ-शेष रह जाता है वही लेकर यजमान अपने को धन्य समझता है, इसी तरह सब कर्मों को भगवान् के चरणों में सौंप कर जो-कुछ कर्म-फल मिले उसे यज्ञ-शेष समझकर स्वीकार करे, जो अपने कर्मों को भगवान् के चरणों में नहीं सौंपता, कर्मों की हवि भगवान् के रचे यज्ञ में न डालकर स्वयं फल भोगने की इच्छा करता है, वह इकला कर्म-फल खाने की इच्छा रखनेवाला चोर है। मनुष्य अपने प्रत्येक कर्म को एक यज्ञ समझे, और जैसे यज्ञ-शेष ही खाया जाता है, वैसे भगवान् जो भी फल दे उसे यज्ञ-शेष समझकर स्वीकार करे। यद्यपि प्रचलित कर्मकांड के यज्ञ सकाम थे, तो भी इन सकाम यज्ञों में बस रही निष्कामता दिखाकर श्रीकृष्ण ने 'निष्काम-कर्म' को 'यज्ञ' कहा, और इस प्रकार उस समय की प्रचलित विचारधारा तथा अपनी विचारधारा में मेल बैठा दिया।

३. निष्कामता इन्द्रिय-प्रधान नहीं, आत्म-प्रधान है

(क) **इन्द्रिय-प्रधानता**—गीता का कहना है कि मनुष्य की रचना में इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा आत्मा—ये चार तत्व हैं। इनमें इन्द्रियों का दर्जा सब से निचला है, उसके बाद मन, फिर बुद्धि, फिर आत्मा का दर्जा आता है। आत्मा का दर्जा सब से ऊपर का है। इन्द्रियाँ विषयों की तरफ़ दौड़ती हैं, वे विषयों में या तो अनुरक्त हो जाती हैं या उनसे कष्ट पाकर उनसे द्वेष करने लगती हैं। इन्द्रियों

के पीछे मन हो लेता है, मन के पीछे बुद्धि हो लेती है, आत्मा को कोई नहीं पूछता। परिणाम यह होता है कि इन्द्रियों के पीछे हम चल देते हैं, हमारा जीवन इन्द्रिय-प्रधान हो जाता है, हम इन्द्रियों के वश में आ जाते हैं, उनके फंदे में फँस जाते हैं और हमारा जीवन राग-द्वेष मे अभिभूत हो जाता है, हम उद्विग्न रहने लगते हैं।

(ख) **आत्म-प्रधानता**—परन्तु इन्द्रियों का तो सब से निचला दर्जा है, सब से ऊपर का दर्जा तो आत्मा का है। मानव-जीवन में इन्द्रियों के विषयों के पीछे भागने की जो प्रक्रिया चला करती है उससे उल्टी आत्मा के पीछे इन्द्रियों के चलने की प्रक्रिया चलनी चाहिए। आत्मा के पीछे बुद्धि चले, बुद्धि के पीछे मन चले, मन के पीछे इन्द्रियाँ चलें। इस प्रकार का जब जीवन हो जाता है तब इसे आत्म-प्रधान कहते हैं, तब हम इन्द्रियों के वश में नहीं रहते, इन्द्रियों को अपने वश में कर लेते हैं; तब हमारा जीवन राग-द्वेष से अभिभूत नहीं रहता, हम उद्विग्न नहीं रहते, तत्ववित् हो जाते हैं, आत्म-रत, आत्म-तृप्त हो जाते हैं।

(ग) **निष्कामता**—'इन्द्रिय-प्रधानता' तथा 'आत्म-प्रधानता' इन दोनों में भेद करनेवाला तत्व क्या है? गीता का कहना है कि इन दोनों को एक-दूसरे से भिन्न करनेवाला तत्व 'काम' है। 'काम' का अर्थ 'काम-वासना' (Sexuality) नहीं, 'काम' का यहाँ अर्थ 'कामना' (Desire) है। 'काम-वासना' की अपेक्षा 'काम'-शब्द अधिक व्यापक है। 'काम'-शब्द के भीतर 'काम-वासना' आ जाती है, 'काम-वासना' के भीतर 'काम' नहीं आता। यह 'कामना' (Desire) ही इन्द्रिय-प्रधानता तथा आत्म-प्रधानता का भेदक तत्व है। इन्द्रियों को वश में करने का अर्थ है—'कामना को वश में करना'। जब हम इन्द्रियों के पीछे चलने लगते हैं तब 'कामना' के पीछे चल रहे होते हैं, 'सकाम' होते हैं; जब हम इन्द्रियों को वश में करके, आत्म-रत हो जाते हैं, आत्मा का आत्मा से नियन्त्रण कर लेते हैं, तब हम 'कामना' का वध कर डालते हैं, 'कामना' को त्याग देते हैं, 'निष्काम' हो जाते हैं। 'निष्कामता' का अर्थ यह नहीं है कि 'कर्म' को ही मार डाला जाय, 'निष्कामता' का अर्थ 'कामना' को मार डालना है। 'कामना' को ही गीता ने महाशत्रु कहा है, दुर्जय कहा है।

४. 'निष्कामता' व्यावहारिक है

गीता का कहना है कि 'निष्कामता' अव्यावहारिक नहीं, एक व्यावहारिक तथ्य है। इस बात को सिद्ध करने के लिए श्रीकृष्ण ने दो युक्तियाँ दी हैं: (क) मनुष्य कर्ता नहीं है; (ख) कामना का ज्ञान से नाश हो सकता है। ये दोनों युक्तियाँ क्या हैं?

(क) **मनुष्य 'कर्ता' नहीं है**—हम 'कर्म' करने के बाद उसके 'फल' में आसक्त क्यों रहते हैं, 'कर्म' करने के बाद 'कर्म-फल' से अनासक्त क्यों नहीं हो जाते? इसलिए क्योंकि हम समझते हैं कि हमने कर्म किया, इसलिए हमें फल अवश्य मिलना

ही चाहिए। गीता कहती है कि हम 'कर्म' के 'कर्ता' नहीं हैं। तो क्या हैं? '**गुणाः गुणेषु वर्तन्ते**'—'गुण गुणों में व्यवहार करते हैं'—इसमें 'मैं' कहाँ हूँ, 'कर्ता' कहाँ हूँ। मट्टी से घड़ा बनता है, रेत से नहीं बनता। रेत से घड़ा क्यों नहीं बनता? क्योंकि मट्टी में घड़ा बनाने का गुण है, रेत में नहीं। सिर्फ़ मट्टी पड़ी रहे, उससे भी घड़ा नहीं बनता, न डाक्टर की मेहनत से घड़ा बनता है। घड़ा बनता है कुम्हार की मेहनत से क्योंकि कुम्हार में घड़ा बनाने का गुण है। परन्तु क्या मट्टी न हो, तो कुम्हार घड़ा बना सकता है? कुम्हार जब मट्टी के बिना, चाक के बिना, अन्य अनेक साधनों के बिना घड़ा नहीं बना सकता, तो वह अपने में घड़े के 'कर्ता' होने का अहंकार कैसे कर सकता है? जब मनुष्य में इस प्रकार के कर्तृत्व की भावना नहीं रहती, तब उसे सिर नीचा करके प्रकृति के सामने खड़ा हो जाना पड़ता है, तब उसे समझ आ जाता है कि गुण ही गुणों में बरत रहे हैं, उसका इसमें स्थान बहुत मामूली-सा है, अब तक जो वह 'मैं कर्ता हूँ'—यह अहंकार किये हुए था वह उसकी मूढ़ता थी। अगर वह समझ जाता है कि वह 'कर्ता' नहीं है, तब सकामता अपने-आप नष्ट हो जाती है।

(ख) **'कामना' का 'ज्ञान' से नाश हो सकता है**—अगर मैं 'कर्ता' नहीं हूँ तो क्या हुआ, मुझ में 'कामना' तो बनी हुई है, फल की कामना, इस 'कामना' के रहते मैं फल में आसक्ति कैसे छोड़ दूँ? इसका उत्तर गीता यह देती है कि 'कामना' तो तभी तक बनी रहती है जबतक 'ज्ञान' द्वारा इसका नाश नहीं हो जाता। जैसे धूँआ आग को, धूल दर्पण को, झिल्ली गर्भ को ढके रहती है वैसे 'कामना' हमारे आत्म-तत्व को ढके रहती है, परन्तु फूँक मारने से धूँआ उड़ जाता है, कपड़े से पोंछने से दर्पण की धूल झड़ जाती है, नश्तर चलाने से गर्भ की झिल्ली कट जाती है, ठीक ऐसे ही 'ज्ञान' होने से 'कामना' स्वयं समाप्त हो जाती है, छूट जाती है, मर जाती है। इस दृष्टि से 'निष्कामता' अव्यावहारिक नहीं, सर्वथा व्यावहारिक है।

५. श्री अरविन्द के 'यज्ञ' के संबंध में विचार

श्री अरविंद ने गीता के 'यज्ञ'-शब्द की बहुत मार्मिक व्याख्या की है। उनका कहना है कि गीता में 'यज्ञ' का वर्णन दो स्थानों में हुआ है—एक तीसरे अध्याय में और दूसरा चौथे अध्याय में। ऊपर से देखने से मालूम पड़ता है कि यज्ञों के इस वर्णन में गीता उस समय के प्रचलित आनुष्ठानिक यज्ञों की, कर्मकाण्ड की बात कह रही है, परन्तु गहराई से देखने से ज्ञात होता है कि 'यज्ञ'-शब्द का गीता ने बहुत व्यापक, दार्शनिक अर्थ में प्रयोग किया है। दोनों स्थलों में 'यज्ञ' के संबंध में गीता ने जिस भाषा का प्रयोग किया है उससे इस विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि इन स्थलों में जो यज्ञ-संबंधी वर्णन है वह रूपात्मक है और 'यज्ञ' करने की शिक्षा द्वारा जिस यज्ञ को करने के लिए कहा गया है वह बाह्य-यज्ञ नहीं, आन्तरिक-यज्ञ है। प्राचीन वैदिक पद्धति में सदा ही दो तरह का अर्थ रहा है—एक भौतिक, दूसरा आध्यात्मिक; एक बाह्य, दूसरा आभ्यन्तर।

गीता का संपूर्ण कर्म-सिद्धान्त उसकी यज्ञ-संबंधी भावना पर अवलंबित है। यज्ञ का अर्थ है—आदान-प्रदान (संगतिकरण—दान)। परस्पर आदान-प्रदान ही जीवन का नियम है जिसके बिना एक क्षण भी कोई जी नहीं सकता, और यह तथ्य सृष्टिकर्ता परमेश्वर की इच्छा की उस संसार पर छाप है जिस संसार को उसने अपनी आत्म-सत्ता से प्रकट किया है, यही प्रमाण है इस बात का कि यज्ञ के साथ, यज्ञ को सदा के लिए उनका साथी बनाकर प्रजापति ने प्रजाओं की सृष्टि की। यज्ञ का यह विश्वव्यापक विधान इस बात का सुस्पष्ट चिह्न है कि यह संसार ईश्वर का है और ईश्वर का ही उस पर दखल है और जीव उसी का अर्चना-मन्दिर है, किसी स्वतंत्र अहंकार की आत्म-तुष्टि का साधन-क्षेत्र नहीं। जीवन एक यज्ञ है जिसकी पूर्णता आत्म-दान में होती है, यह आत्म-दान ही निष्कामता है।

यह आत्म-दान, यह व्यष्टि का अपने को विश्व की आत्मा के सम्मुख उत्सर्ग कर देना, यह आत्म-समर्पण क्यों नहीं होता ? श्री अरविंद का कहना है कि यह आत्म-समर्पण इसलिए नहीं होता क्योंकि पुरुष अपने कर्मों का 'कर्ता' अपने-आप को ही जानता है और यह नहीं देख पाता कि जगत् के सारे कर्म, जिनमें उसके आन्तर और बाह्य सब कर्म भी शामिल हैं, उसके अपने कर्म नहीं, एक ही विश्व-प्रकृति द्वारा होनेवाले कर्म हैं, और कुछ भी नहीं। वह अपने-आप को ही सब कर्मों का भोक्ता समझता और यह कल्पना करता है कि यह सारा प्रपंच मेरे भोग के लिए ही तो है और इसलिए यही चाहता है कि प्रकृति मेरी व्यष्टिगत इच्छाओं को माने और तृप्त करे; उसे यह नहीं सूझता कि उसकी इच्छाओं को तृप्त करने से प्रकृति का कुछ भी वास्ता नहीं है, उसकी क्या इच्छाएँ हैं यह जानने की उसे कुछ भी परवाह नहीं है, प्रकृति को जिस इच्छा का पालन करना है वह महती विश्वव्यापिनी इच्छा है, उसकी अपनी इच्छा भी उसकी इच्छा नहीं, ब्रह्म की ही इच्छा है, और प्रकृति हर वस्तु को प्रतिक्षण भगवान् को यज्ञ रूप से अर्पण कर रही है। इस तथ्य के अज्ञान के कारण ही जीव यज्ञ के विधान की, निष्कामता की, निर्ममता की उपेक्षा करता है और संसार में सब-कुछ अपने लिए ही बटोरना चाहता है और देता है केवल उतना ही जितना प्रकृति जबर्दस्ती से उससे दिलाती है। यथार्थ में वह ले सकता है उतना ही जितना उसके हिस्से में बदा है, जितना प्रकृति उसे लेने देती है, जितना प्रकृति में स्थित ईश्वरीय शक्तियाँ उसकी कामना पूरी करने पर राज़ी होती हैं। यज्ञमय इस संसार में अहंकार-विमूढ़ जीव ऐसा है जैसे कोई चोर या लुटेरा हो जो इन दैवी शक्तियों का दिया हुआ सब-कुछ लेता तो है, पर बदले में कुछ भी देने की नीयत नहीं रखता।

श्री अरविंद का कथन है कि गीता की 'निष्काम-कर्म' की शिक्षा वेदांत के इस मूल सत्य पर आश्रित है कि सारी 'आत्म-सत्ता' (All Being) एक 'ब्रह्म-सत्ता' ही है, और सारी 'भूत-सत्ता' (All Existence) उसी 'ब्रह्म का चक्र' है। सृष्टि उसी ब्रह्म की संसृति है। प्रकृति ब्रह्म की शक्ति है। सृष्टि में व्यक्ति

तथा समष्टि का 'कर्म' उनका अपना कर्म नहीं, ब्रह्म-परिचालित प्रकृति का 'कर्म' है। प्रकृति अपने कर्मों में, अपने भिन्न-भिन्न रूपों में उसी चेतन ब्रह्म की इच्छा को कार्य में परिणत किया करती है। उसी अन्तर्यामी की प्रसन्नता के लिए ही वह जीव बनकर प्राण तथा मन के रूप में अवतीर्ण होती है। इस दृष्टि से कर्मों की कर्त्री प्रकृति है, पुरुष 'कर्ता' नहीं है, जब पुरुष 'कर्ता' ही नहीं है, तब उसका कर्म-फल में आसक्त होना निरर्थक है। प्रकृति ही यज्ञ रूप में, निष्कामता तथा निर्ममता रूप में 'कर्म' करती है, जीव 'कर्म' करता है तो वह भी प्रकृति ही करती है—**'प्रकृतेः क्रियमाणानि'** का यही अर्थ है।

लोकमान्य तिलक ने भी गीता में आये 'यज्ञ'-शब्द की यही व्याख्या की है। चतुर्थ अध्याय में आये 'यज्ञ' विषय पर लिखते हुए वे कहते हैं: "यज्ञ शब्द के मूल अर्थ को लक्षणा से गीता में व्यापक और विस्तृत कर तप, संन्यास, समाधि एवं प्राणायाम प्रभृति भगवत्प्राप्ति के सब प्रकार के साधनों का एक 'यज्ञ' शीर्षक में समावेश कर दिया गया है।" 'विना यज्ञ के इहलोक भी सिद्ध नहीं होता'—गीता का यह वाक्य तिलक के कथनानुसार बड़ा मार्मिक है। वे लिखते हैं: "यज्ञ शब्द का व्यापक अर्थ लेकर इस सामाजिक तत्व को समझाया गया है कि अपनी कुछ प्रिय वस्तु को छोड़े बिना न तो सब को एक-सी सुविधा मिल सकती है, न जगत् के व्यवहार ही चल सकते हैं। उदाहरणार्थ, पश्चिमी समाजशास्त्री कहते हैं कि अपनी स्वतंत्रता को परिमित किये विना औरों को एक-सी स्वतंत्रता नहीं मिल सकती। अगर गीता की परिभाषा में इसी अर्थ को कहना हो तो हम कहेंगे—'जब तक प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वतंत्रता के कुछ अंश का भी यज्ञ न करे तब तक इस लोक के व्यवहार नहीं चल सकते।' इससे यह निश्चय है कि यज्ञ ही सारी समाज-रचना का आधार है। जब तक प्रत्येक मनुष्य यज्ञ करना न सीखेगा तब तक समाज की रचना ठीक न होगी।"

६. श्री अरविंद के 'कर्म' के संबंध में विचार

हम गीता के द्वितीय अध्याय के उपसंहार में श्री अरविंद के कर्म-संबंधी विचारों पर कुछ लिख आये हैं। गीता के तृतीय अध्याय में भी क्योंकि कर्म के सिद्धान्त का विशेष तौर पर उल्लेख है इसलिए यहाँ भी इस संबंध में उनके विचारों को स्पष्ट कर देना उचित है।

श्री अरविंद का कहना है कि तृतीय अध्याय के २० से २६ श्लोक—**'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः'** से लेकर **'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्'**—तक के ७ श्लोकों से अधिक महत्वपूर्ण श्लोक गीता में बहुत कम ही हैं, परन्तु इस बात को हमें अच्छी तरह समझ लेना होगा कि आधुनिक 'कर्मवाद' इन श्लोकों का जैसा अर्थ लगाने का प्रयत्न करता है वैसा ठीक नहीं है। आधुनिक विचारक पाश्चात्य संस्कारों में पले हुए इन श्लोकों में 'कर्मवाद' की व्याख्या करते हैं। इन श्लोकों का उपयोग वे समाज-सेवा, देश-सेवा, जगत्-सेवा, मानव-सेवा, समाज-

सुधार आदि में करते हैं। जैसा हम पहले कह चुके हैं, श्री अरविंद गीता में इस प्रकार के पाश्चात्य विचारों से अतिरंजित 'कर्मवाद' को नहीं देखते। उनका कहना है कि गीता नीति-शास्त्र का, राजनीति-शास्त्र का या समाज-शास्त्र का ग्रन्थ नहीं है, यह अध्यात्म-शास्त्र का ग्रन्थ है, अन्य ग्रन्थों से यही इसकी विशेषता है। वे कहते हैं कि गीता में 'कर्मवाद' नहीं, अपितु 'दिव्य-कर्म' के सिद्धान्त का प्रतिपादन है। उक्त सात श्लोकों में जिस विधान की घोषणा की गई है, जिस कर्म का विधान किया गया है, वह कोई नैतिक परोपकार-निष्ठा का कर्म नहीं है, बल्कि अपने को ईश्वर की दैवीय-सत्ता में अनुभव करके उस दिव्य-शक्ति के प्रयोजन को पूर्ण करने के लिए, उसके प्रवर्तित कर्म-चक्र के साथ अपने को एक कर देना है। यह 'कर्मवाद' का सिद्धान्त नहीं, 'दिव्य-कर्म' का सिद्धान्त है। हमें सिर्फ़ कर्म ही नहीं करना—देश-सेवा, समाज-सेवा आदि, हमें तो 'दिव्य-कर्म' करना है, संसार में व्याप्त रहनेवाली दिव्य-शक्ति के प्रयोजन को पूर्ण करना है, वह प्रयोजन जिसे स्मरण करके अपने अन्तिम क्षणों में महापुरुष कहा करते हैं—'भगवन्! मेरी इच्छा नहीं, तेरी इच्छा पूर्ण हो'। जब मनुष्य अपने को 'दिव्य-कर्म' में प्रवृत्त कर देता है तब उसकी फलासक्ति अपने-आप छूट जाती है, तब उसका कर्म अपने-आप निष्काम, निर्मम तथा निरहंकार हो जाता है, तब वह जो-कुछ करता है स्वयं नहीं करता, प्रकृति करती है, भगवान् करता है, वह तो साधन-मात्र रह जाता है।

श्री अरविंद कहते हैं कि गीता के सिद्धान्त में सांख्य तथा योग का, संन्यास तथा कर्म का, निवृत्ति तथा प्रवृत्ति का समन्वय हो जाता है। वह कैसे?

सांख्य-मार्ग मनुष्य को संन्यासी बना देता है, वैरागी। सांख्य-मार्गी कहता है कि कर्म करने से तो मनुष्य जन्म-मरण के बंधन में फँसता है, सफलता-विफलता के अन्दर चक्कर काटने लगता है, हर्ष-शोक में डोला करता है, पाप-पुण्य के द्वन्द्वों में फँसा रहता है। फिर कर्म क्यों करना? श्रीकृष्ण कहते हैं कि इस निवृत्ति-मार्ग वाले सांख्य-मार्ग में यह भूल है कि इससे संसार का नाश हो सकता है। यदि इस आदर्श को सामने रख कर मैं चलूं तो सब प्राणियों का ख़ात्मा कर दूं, संकर पैदा कर दूं। चाहे कोई कितना ही देव-तुल्य पुरुष हो उसे संसार को नाश के मार्ग पर ले चलने का अधिकार नहीं है।

कर्मयोग-मार्ग मनुष्य को कर्मवाद की तरफ़ ले जाता है, वह कोई ऐसा आदर्श ढूंढना चाहता है जो प्रत्यक्ष हो, स्थूल हो, जिसे वह कर्म करने पर पा सके, यों ही अंधेरे में न टटोलता रहे। इसीलिए कर्मवादी देश-सेवा, समाज-सेवा के आदर्शों को ढूंढ कर उन्हीं में लग जाते हैं। श्री अरविंद के अनुसार इस कर्मवाद के संबंध में गीता यह कहती है कि ये आदर्श ठीक हैं, परन्तु ये देश-काल के अनुसार बदलते रहते हैं। इस मार्ग पर चलने में यह भूल है कि इसमें मानव की उन्नति का, उसके विकास का मार्ग अत्यन्त लम्बा हो जाता है। वह समाज-सेवा तो करता है, देश-सेवा भी, परन्तु वह अपने व्यक्तित्व को भूलकर समाज के व्यक्तित्व में ही अपने व्यक्तित्व को मिटा देने लगता है।

भारतीय शास्त्रीय-चिंतन यद्यपि देश-सेवा, समाज-सेवा को बड़ा उच्च स्थान देता है, तो भी यहाँ के आध्यात्मिक-चिंतन का लक्ष्य सदा वैयक्तिक रहा है। गीता-जैसा भारतीय दर्शन-शास्त्र व्यक्ति के विकास को, उसकी उच्चतम आवश्यकता को सब से पहला स्थान दिये बिना नहीं रह सकता। व्यक्ति के लिए वैदिक ऋषियों का यही लक्ष्य था कि वह जो-कुछ है उससे आगे बढ़े, अपने वैयक्तिक उद्देश्यों को किसी सुसंगठित मनुष्य-समाज के पीछे खो कर नहीं, बल्कि ईश्वर की चेतना में अपने-आपको फैला कर, ऊँचा करके और बढ़ा कर। यह काम 'कर्मवाद' के सिद्धान्त से नहीं, 'दिव्य-कर्म' के सिद्धान्त से ही संभव हो सकता है। 'दिव्य-कर्म' में सामाजिक-कर्म आ जाते हैं, देश-सेवा, समाज-सेवा—सब-कुछ 'दिव्य-कर्म' के अंग हैं, परन्तु जब किसी महान् पुरुष में 'मानव-कर्म' तथा 'दिव्य-कर्म' का विरोध उठ खड़ा हो, समाज एक बात कहता है, भगवान् दूसरी बात् कहते हैं, मेरी इच्छा एक है, ईश्वर की इच्छा दूसरी है, तब हमें अपनी इच्छा, समाज की इच्छा—इन सब को भगवान् की इच्छा की बलि-वेदी पर न्यौछावर कर देना होगा, यही 'दिव्य-कर्म' का मर्म है, और इस प्रकार के 'दिव्य-कर्म' में मैं 'कर्ता' नहीं रहता, मेरी कामना नहीं रहती, ममता नहीं रहती, निष्कामता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

जब इस प्रकार का 'दिव्य-कर्म' होता है तब कर्म के बन्धक होने के कारण सांख्य-दृष्टि का कर्म के विरुद्ध जो आक्षेप है वह भी मिट जाता है, कर्मवाद के विरुद्ध उसके मनुष्य के स्वतंत्र व्यक्तित्व की अवहेलना कर उसे मानव-समाज का एक पुर्ज़ा बना देने पर श्री अरविंद ने जो आक्षेप उठाया है वह भी मिट जाता है। श्री अरविंद का कहना है कि 'दिव्य-कर्म' के सिद्धान्त में गीता ने सांख्य-दृष्टि तथा कर्म-दृष्टि दोनों की कमियों को दूर कर दिया है।

चौथा अध्याय

ज्ञान-कर्म-संन्यास-योग

अर्थात्

ज्ञान-योग तथा कर्म-योग

[सांख्य-मार्ग तथा योग-मार्ग]

द्वितीय तथा तृतीय अध्यायों में 'ज्ञान-योग', 'कर्म-योग' तथा 'कर्म-संन्यास-योग'—इन तीन की विस्तार से चर्चा की गई। इस अध्याय में इन तीनों पर ही और अधिक प्रकाश डाला गया है, इसलिए इस अध्याय को 'ज्ञान-कर्म-संन्यास योग' कहा गया है। अर्जुन के हृदय में यह शंका उठनी स्वाभाविक थी कि क्या यह मार्ग जिसका श्रीकृष्ण उपदेश कर रहे हैं श्रीकृष्ण के मस्तिष्क की ही उपज है या यह प्राचीन परंपरा से चला आया है। अपने देश में प्राचीन परंपरा से जो आ रहा हो उसे अधिक प्रमाण माना जाता है। मनुष्य का यह स्वभाव है, वह प्राचीन के सम्मुख सिर झुका देता है। युरोप में ऐसी बात नहीं है, वहाँ नवीन को प्रोत्साहन दिया जाता है। इस प्रकार एक-दूसरे से उलट विचार करने का एक कारण है। युरोप विकासवाद का अनुयायी है। वहाँ के विचारकों के अनुसार संसार उन्नति कर रहा है, नया विचार पुराने की अपेक्षा सत्य के अधिक निकट माना जाता है। भारत के विचारक ह्रासवाद के अनुयायी हैं। उनका कहना है कि प्राचीनता में प्रामाणिकता है, नवीन-संसार उन्नति करने के स्थान में अवनति कर रहा है, ह्रास की तरफ़ जा रहा है। इस दृष्टि-भेद का कारण यह है कि पश्चिम के लोग जिसे उन्नति कहते हैं वह भौतिक-उन्नति है, आध्यात्मिक उन्नति नहीं। ज्यों-ज्यों संसार भौतिक-उन्नति करता जायगा त्यों-त्यों हमारा ध्यान आत्मा से विमुख होता जायगा। आत्मा से इस विमुखता को ही भारतीय विचार-धारा में ह्रासवाद कहा गया है। क्योंकि भौतिकवाद नवीनता की उपज है, और भौतिकवाद आध्यात्मिक-दृष्टि से ह्रास का प्रतीक है, इसलिए अर्जुन अपने हृदय में यह सोच सकता था कि श्रीकृष्ण की बात नवीन है, प्राचीन परंपरा की नहीं है, नवीन होने के कारण वह ठीक भी है या नहीं? इस सब को सोच कर गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं:

[ब्रह्म-विद्या की प्राचीन परम्परा]

श्री भगवान् ने कहा : **इस अनश्वर कर्मयोग को मैंने (पूर्व-काल में) विवस्वान् के प्रति कहा था। विवस्वान् ने इसे (अपने पुत्र वैवस्वत) मनु को बताया और मनु ने इसे (अपने पुत्र) इक्ष्वाकु को बतलाया ॥१॥**

इस प्रकार परंपरा से प्राप्त इस योग को राजर्षियों ने जाना। हे अत्यन्त तप करने वाले अर्जुन ! बहुत काल बीत जाने पर वह योग इस लोक में लुप्त हो गया ॥२॥

वह कर्म-योग जो प्राचीन-काल से चला आ रहा था, राजर्षि लोग उसमें दीक्षित हुआ करते थे। राजाओं के इस योग-विद्या में, ब्रह्म-विद्या में दीक्षित होने का यह परिणाम था कि उस काल का सामाजिक-जीवन आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत था। जब तक किसी देश के मूर्धन्य, उसके कर्णधार जीवन के प्रति आध्यात्मिक-मूल्यों के साथ सजग नहीं होते तब तक वह देश किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकता। जिस प्रकार के मूल्य देश के नेताओं के होंगे उन्हीं मूल्यों का प्रतिबिम्ब समाज में पड़ेगा। अगर देश के नेता आर्थिक मूल्यों को प्रधानता देंगे, अपने जीवन में आर्थिक दृष्टिकोण को ही प्रबल रखेंगे, तो सारा देश हर बात पर

श्री भगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

इमम्[2]–इसको; **विवस्वते**[5]–विवस्वान् को; **योगम्**[4]–योग विद्या को; **प्रोक्तवान्**[6]–कहा था; **अहम्**[1]–मैंने; **अव्ययम्**[3]–अविनाशी; **विवस्वान्**[7]–विवस्वान् ने; **मनवे**[8]–मनु को; **प्राह**[9]–बताया; **मनुः**[10]–मनु ने; **इक्ष्वाकवे**[11]–इक्ष्वाकु को; **अब्रवीत्**[12]–कहा।

एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२॥

एवम्[1]–इस प्रकार; **परंपराप्राप्तम्**[2]–परंपरा से प्राप्त हुए; **इमम्**[3]–इसको; **राजर्षयः**[4]–राजर्षि लोगों ने; **विदुः**[5]–जाना; **सः**[7]–वह; **कालेन**[10]–काल से; **इह**[11]–इस लोक में; **महता**[9]–बहुत; **योगः**[8]–योग-मार्ग; **नष्टः**[12]–नष्ट हो गया; **परंतप**[6]–अत्यन्त तप करने वाले।

आर्थिक दृष्टिकोण से ही विचार करेगा; अगर वे आध्यात्मिक-मूल्यों को प्रधानता देंगे, अपने जीवन में आध्यात्मिक दृष्टिकोण को ही प्रबल रखेंगे, तो सारा देश भी आध्यात्मिक मार्ग पर ही अग्रसर होगा। श्रीकृष्ण का कहना है कि जिस कर्म-योग का, जिस ब्रह्म-विद्या का मैं वर्णन कर रहा हूँ वह इस देश के नेताओं की आदि-काल से निधि रही है, वह लुप्त हो गई है, उसे मैं फिर प्रकाश में ला रहा हूँ ताकि मानव-समाज आध्यात्मिक-मूल्यों को अपने जीवन में उतार सकें।

वही पुरातन योग मैंने तुझे आज बताया है। तू मेरा भक्त है, सखा है, इसलिये यह जो उत्तम रहस्य है (वह मैं तुझे बता रहा हूँ) ॥३॥

अर्जुन ने कहा : **आपका जन्म तो पीछे हुआ, विवस्वान् का जन्म पहले हुआ, इसलिये यह मैं कैसे मान लूँ कि आदि-काल में यह (योग-मार्ग) आपने विवस्वान् को बताया था ॥४॥**

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

सः[1]–वह; **एव**[2]–ही; **अयम्**[3]–यह; **मया**[7]–मैंने; **ते**[8]–तुझे; **अद्य**[6]–आज; **योगः**[5]–योग; **प्रोक्तः**[9]–बताया; **पुरातनः**[4]–प्राचीन; **भक्तः**[12]–भक्त; **असि**[15]–तू है; **मे**[11]–मेरा; **सखा**[14]–मित्र; **च**[13]–और; **इति**[16]–इसलिये; **रहस्यम्**[19]–रहस्य; **हि**[10]–निश्चय से; **एतत्**[17]–यह; **उत्तमम्**[18]–श्रेष्ठ, उत्तम।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

अपरम्[3]–पीछे; **भवतः**[1]–आपका; **जन्म**[2]–जन्म; **परम्**[6]–बहुत पहले; **जन्म**[5]–जन्म; **विवस्वतः**[4]–विवस्वान् का; **कथम्**[12]–कैसे; **एतत्**[7]–यह बात; **विजानीयाम्**[13]–जानूं, मान लूं; **त्वम्**[9]–तू; **आदौ**[8]–आदि काल में; **प्रोक्तवान्**[10]–कहा था, बताया था; **इति**[11]–यह (योग-मार्ग)।

श्री भगवान् ने कहा : **हे अर्जुन ! मेरे और तेरे भी बहुत-से जन्म व्यतीत हो चुके हैं। हे परंतप, शत्रुओं को तपानेवाले ! उन सब जन्मों को मैं जानता हूँ, तू नहीं जानता ।।५।।**

[धर्म-स्थापन के लिये अवतरण]

यद्यपि मैं अजन्मा हूँ, मेरा आत्मा अविनश्वर है, यद्यपि मैं सब प्राणियों का स्वामी हूँ, तो भी अपनी प्रकृति को अपने वश में करके अपनी माया से उत्पन्न होता हूँ ।।६।।

श्री भगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ।।५।।

बहूनि[5]–बहुत से; **मे**[2]–मेरे; **व्यतीतानि**[7]–बीत गये; **जन्मानि**[6]–अनेक जन्म; **तव**[4]–तेरे; **च**[3]–और; **अर्जुन**[1]–हे अर्जुन; **तानि**[9]–वे; **अहम्**[14]–मैं; **वेद**[15]–जानता हूँ; **सर्वाणि**[10]–सबको; **न**[12]–नहीं; **त्वम्**[11]–तू; **वेत्थ**[13]–जानता है; **परंतप**[8]–परम तप करनेवाले या शत्रुओं को सतानेवाले ।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ।।६।।

अजः[2]–अजन्मा; **अपि**[4]–भी; **सन्**[3]–होता हुआ; **अव्ययात्मा**[1]–अविनाशी आत्मावाला; **भूतानाम्**[5]–प्राणियों का; **ईश्वरः**[6]–स्वामी; **अपि**[8]–भी; **सन्**[7]–होता हुआ; **प्रकृतिम्**[10]–प्रकृति को, स्वभाव को; **स्वाम्**[9]–अपनी; **अधिष्ठाय**[11]–आधीन करके, वश में कर; **संभवामि**[13]–उत्पन्न होता हूँ; **आत्ममायया**[12]–अपनी माया से ।

'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया'—इसका शंकराचार्य, रामानुजाचार्य तथा वल्लभाचार्य ने अलग-अलग अर्थ किया है । सब ने अपना-अपना अर्थ अपने-अपने सम्प्रदाय के विचारों के अनुसार किया है। इनका संक्षिप्त दिग्दर्शन यहाँ करा देना उचित है जिससे यह स्पष्ट हो जाय कि गीता के टीकाकार गीता का सरल अर्थ करने के स्थान में अपने सम्प्रदाय की उससे पुष्टि करते हैं।

(क) श्री शंकराचार्य—सांख्य-दर्शन को माननेवालों का कहना है कि 'प्रकृति' अपने-आप ही सृष्टि का निर्माण करती है, परमेश्वर को वे नहीं मानते।

इसी कारण कई लोग सांख्य को निरीश्वरवादी मानते हैं। वेदान्त को मानने-वालों का कहना है कि प्रकृति परमेश्वर का, ब्रह्म का ही एक रूप है, प्रकृति में परमेश्वर के अधिष्ठित होने पर प्रकृति से व्यक्त सृष्टि का सर्जन होता है। इसी कारण गीता में कहा गया कि प्रकृति में अधिष्ठित होकर, अपनी माया से जन्म लेता हूँ। जो अज है, अव्यय है, वह जन्म कैसे ले सकता है। इसका उत्तर दिया कि प्रकृति पर अधिष्ठित होकर अपनी माया से जन्म लेता हूँ, अवतार लेता हूँ। यह शंकराचार्य का अर्थ हुआ।

(ख) **श्री रामानुजाचार्य**—रामानुजाचार्य यहाँ प्रकृति का अर्थ 'स्वभाव' करते हैं, 'अधिष्ठाय' का अर्थ 'स्वीकार करना' करते हैं। माया का अर्थ 'संकल्प' करते हैं। उनके अनुसार इस श्लोक का अर्थ यह है कि अपनी प्रकृति, अर्थात् अपने स्वभाव को स्वीकार करके, अपने स्वभाव के अनुसार अपने संकल्प से मैं जन्म लेता हूँ, अवतार लेता हूँ। शंकराचार्य को अपने अद्वैतवाद को मानते हुए और ब्रह्म को निर्गुण कहते हुए अवतार को मानने में कठिनाई थी, उन्होंने 'अपनी माया से मैं अवतार लेता हूँ'—यह हल निकाला; रामानुजाचार्य तो विशिष्टाद्वैतवादी हैं, ब्रह्म को निर्गुण मानते ही नहीं, सगुण मानते हैं—अतः उन्हें अपने सिद्धान्त के अनुसार अवतार मानने में कोई कठिनाई नहीं।

(ग) **श्री मध्वाचार्य**—श्री मध्वाचार्य शुद्ध द्वैतवादी थे। उन्होंने 'आनन्द-तीर्थंकर'-नामक गीता की व्याख्या में इस श्लोक का यह अर्थ किया है कि मैं अज, अव्यय होता हुआ भी 'संभवामि' उत्पन्न होता हूँ। कैसे होता हूँ? अपनी प्रकृति, अर्थात् अपने उद्भव-स्थान वसुदेव तथा देवकी में अधिष्ठित होकर, अर्थात् उनमें प्रवेश करके, 'स्व मायया' अर्थात् अपने ज्ञान से उत्पन्न होता हूँ। क्योंकि मध्वाचार्य ईश्वर को प्रकृति से अलग मानते हैं, इसलिए इन्हें भी ईश्वर के अवतार ग्रहण करने में कोई आपत्ति नहीं और उसी के अनुसार उन्होंने इस श्लोक का अर्थ किया।

(घ) **श्री वल्लभाचार्य**—इनका ग्रन्थ 'तत्व-दीपिका' है। ये भक्तिमार्गी थे। भक्तिमार्गियों के लिए अवतार मानने में कोई कठिनाई नहीं। इनका कहना है कि परब्रह्म में ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, आनन्द निहित रहते हैं। सब जीव परब्रह्म से प्रकट होते हैं, परन्तु उन्हें प्रकट करने के समय ही भगवान् अपने ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, आनन्द को तिरोहित कर देते हैं। जब परब्रह्म स्वयं जीव बन कर प्रकट होते हैं तब अन्य जीवों की तरह अपनी ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, आनन्द रूप की प्रकृति को तिरोहित करके प्रकट नहीं होते परन्तु इस प्रकृति पर अधिष्ठित होकर प्रकट होते हैं, जीव के रूप में प्रकट होने पर भी क्योंकि वे स्वयं भगवान् हैं इसलिए उनमें अन्य जीवों के समान तिरोहित न होकर प्रकट रहते हैं। इसी को अवतार कहते हैं।

हे भरत-कुलोत्पन्न अर्जुन ! जब-जब ही धर्म का ह्रास होता है, अधर्म का उत्थान होता है तब-तब मैं जन्म लेता हूँ ॥७॥

साधुओं की रक्षा के लिये, दुष्टों के विनाश के लिये, धर्म की संस्थापना के लिये मैं युग-युग में जन्म लेता हूँ ॥८॥

हे अर्जुन ! जो व्यक्ति मेरे इस 'दिव्य-जन्म' और 'दिव्य-कर्म' को इस रूप में जान लेता है वह देह छोड़ने के बाद पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त करता, मुझे प्राप्त करता है ॥९॥

गीता के ४र्थ अध्याय के ७–८ श्लोक बहुत महत्वपूर्ण हैं। इनके आधार पर अवतारवाद के सिद्धान्त की पुष्टि की जाती है। कई लोग अवतार के सिद्धान्त को मानते हैं, कई नहीं मानते। हम अवतारवाद के सिद्धान्त की बहस में यहाँ

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

यदा[2] **यदा**[3]–जब-जब; **हि**[10]–ही; **धर्मस्य**[4]–धर्म का; **ग्लानिः**[5]–ह्रास, हानि; **भवति**[8]–होती है; **भारत**[1]–हे भरतकुल में उत्पन्न अर्जुन; **अभ्युत्थानम्**[7]–उठना; **अधर्मस्य**[6]–अधर्म का; **तदा**[9]–तब; **आत्मानम्**[12]–अपने को; **सृजामि**[13]–पैदा करता हूँ; **अहम्**[11]–मैं।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥

परित्राणाय[2]–रक्षा के लिये; **साधूनाम्**[1]–सरल पुरुषों की; **विनाशाय**[5]–विनाश के लिये; **च**[3]–और; **दुष्कृताम्**[4]–कुकर्मियों का; **धर्मसंस्थापनार्थाय**[6]–धर्म का स्थापन करने के लिये; **संभवामि**[9]–पैदा होता हूँ; **युगे**[7]-**युगे**[8]–युग-युग में।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

जन्म[3]–जन्म को; **कर्म**[5]–कर्म को; **च**[4]–और; **मे**[2]–मेरे; **दिव्यम्**[6]–दिव्य (जन्म और कर्म); **एवम्**[7]–इस प्रकार; **यः**[8]–जो;

नहीं पड़ना चाहते। जो विचारक जिस सिद्धान्त का होता है वह उसी सिद्धान्त को इन स्थलों द्वारा सिद्ध करना चाहता है। सिद्धान्तों की इस बहस में न पड़कर हमें देखना चाहिए कि यहाँ किस आधारभूत तत्व का प्रतिपादन किया गया है।

गीता के इन दोनों श्लोकों में जिस आधारभूत तत्व का प्रतिपादन किया गया है वह यह है कि सृष्टि में जब भी अनिष्टकारी शक्तियाँ प्रबल हो उठती हैं तब उनका मुकाबिला और प्रतिकार करनेवाली शक्तियाँ भी प्रकट हो जाती हैं। साधु पुरुष दबते हैं कुछ काल के लिए, दुष्ट लोग बढ़ते हैं कुछ काल के लिए, सत्य तिरोहित होता है कुछ काल के लिए। जब भी विश्व पर ऐसा कोई संकट आता है, विश्व को इस अन्धकारमय संकट से निकालने के लिए कोई अभौतिक शक्ति बिजली के प्रकाश की तरह चमक उठती है, और उसके सहारे हम संकट को पार कर आगे निकल जाते हैं।

आज के युग का एक सामाजिक विचारक है—**तोयनबी**। उसका कहना है कि संसार का इतिहास, सभ्यता तथा संस्कृति का जन्म 'चुनौती तथा प्रत्युत्तर' (Challenge and Response) का ही इतिहास है। सृष्टि के प्रारंभ से मानव को चुनौती मिलती रही और वह उसका प्रत्युत्तर देता रहा। तभी तो वह आजतक जीवित है। हम जब नदी-नालों की बाढ़ से तंग आ जाते हैं, प्रकृति की चुनौती साकार हमारे सामने आकर खड़ी हो जाती है, तभी तो बाँध बाँधते हैं। यह बाँध बाँधना प्रकृति की चुनौती का प्रत्युत्तर है। चुनौती भौतिक हो सकती है, सामाजिक हो सकती है, आध्यात्मिक हो सकती है। जब चुनौती, ललकार उग्र हो उठती है, जब किसी प्रकार का संकट विकट रूप धारण कर लेता है, तब कहीं से कोई दैवीय शक्ति हम निस्सहायों की पुकार सुनती है और हम में स्वतंत्र रूप में ऐसी शक्ति फूट पड़ती है कि हम ललकार का उत्तर देते हैं, हम में शक्ति नहीं फूटती तो हमें कोई सहारा मिल जाता है जो अपने करुणामय हाथ से हमें संकट में से उबार लेता है। यह विश्व का नियम है, इसी को गीता ने अपने शब्दों में कहा है, इसी को कोई अवतारवाद कह देता है, कोई पैग़म्बरवाद कह देता है।

श्रीकृष्ण का कहना है कि जो लोग यह समझ जाते हैं कि दिव्य-शक्ति किस प्रकार विश्व की प्रत्येक चुनौती का, प्रत्येक ललकार का प्रत्युत्तर देती है, वे फिर अन्धकार में नहीं पड़े रहते।

वेत्ति[10]–जानता है; **तत्त्वतः**[9]–तात्विक-दृष्टि से; **त्यक्त्वा**[13]–छोड़-कर; **देहम्**[12]–देह को; **पुनर्**[14] **जन्म**[15]–पुनर्जन्म को; **न**[16]–नहीं; **एति**[17]–प्राप्त होता है; **माम्**[18]–मुझे; **एति**[19]–प्राप्त होता है; **सः**[11]–वह; **अर्जुन**[1]–हे अर्जुन।

ऐसे बहुत-से लोग हैं जो राग, भय, क्रोध से मुक्त होकर, मुझ में लीन होकर, मेरी शरण में आकर, ज्ञान रूपी तप से पवित्र होकर मेरी ही भावना में आ मिले हैं ॥१०॥

[कर्म का विवेचन]

जो लोग जिस भावना से मेरे पास आते हैं (कोई फल की भावना से, कोई अपने को भगवान् के अर्पण करने की भावना से), मैं उन्हें उसी प्रकार अपनाता हूँ। हे अर्जुन ! मनुष्य सब ओर से मेरे मार्ग का अनुगमन करते हैं ॥११॥

ऊपर के श्लोक का अर्थ—'जैसे को तैसा नहीं है'—'शठ के प्रति शठता करे' —यह नहीं है, अपितु यही अर्थ है कि कई लोग भगवान् के प्रति सकाम-भाव से प्रेरित होते हैं, कई निष्काम-भाव से, इसी की पुष्टि अगले श्लोक से हो जाती है :

कई लोग कर्मों का फल चाहते हैं, इसलिये वे देवताओं की यज्ञों द्वारा आराधना करते हैं क्योंकि मनुष्यों के इस

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

वीतरागभयक्रोधाः[1]—राग, भय और क्रोध से रहित; **मन्मयाः**[2]—मुझ में लीन; **माम्**[3]—मेरी; **उपाश्रिताः**[4]—शरण में आये हुए; **बहवः**[5]—बहुत-से; **ज्ञानतपसा**[6]—ज्ञान रूपी तप से; **पूताः**[7]—पवित्र हुए; **मद्-भावम्**[8]—मेरी भावना में, मेरे स्वरूप को; **आगताः**[9]—आ पहुँचे हैं।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

ये[2]—जो; **यथा**[4]—जैसे; **माम्**[3]—मुझे; **प्रपद्यन्ते**[5]—प्राप्त होते हैं, पास आते हैं; **तान्**[7]—उन्हें; **तथा**[8] **एव**[9]—वैसे ही; **भजामि**[10]—सेवन करता हूँ; **अहम्**[6]—मैं; **मम**[13]—मेरा; **वर्त्म**[14]—मार्ग; **अनुवर्तन्ते**[15]—अनुगमन करते हैं; **मनुष्याः**[11]—मनुष्य; **पार्थ**[1]—हे पृथा के पुत्र अर्जुन; **सर्वशः**[12]—सब ओर से ।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

काङ्क्षन्तः[6]—चाहते हुए; **कर्मणाम्**[4]—कर्मों की; **सिद्धिम्**[5]—सिद्धि को, फल को; **यजन्ते**[8]—आराधना करते हैं; **इह**[1]—इस संसार में;

संसार में कर्मों के द्वारा उत्पन्न होनेवाला फल बहुत शीघ्र मिल जाता है ।।१२।।

परन्तु यज्ञ-यागादि सकाम-कर्म हैं, गीता में निष्काम-कर्म को महत्व दिया गया है। श्रीकृष्ण का कहना है कि सकाम तथा निष्काम दोनों प्रकार के कर्म करनेवालों का लक्ष्य तो भगवान् ही है, उसी ओर मुँह उठाये सब चले जा रहे हैं, परन्तु सकाम-कर्मियों की अपेक्षा निष्काम-कर्मी ऊँचे सत्य की चट्टान पर खड़ा है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मानव-सृष्टि में मनुष्य को गुण-कर्म के अनुसार कर्म करने में मैंने ही प्रवृत्त किया है, परन्तु मैं इस कर्म का कर्ता होते हुए भी क्योंकि मैंने यह कर्म निष्कामता से किया है इसलिए मैं कर्ता होते हुए भी अकर्ता हूँ :

मैंने गुण-कर्म के विभाग के आधार पर चार वर्णों की सृष्टि की। यद्यपि इस कर्म-विभाग का मैं कर्ता हूँ तो भी तू यह समझ ले कि (निष्कामता के कारण मैं कर्ता होते हुए भी) अव्यय अकर्ता हूँ, अव्यय अर्थात् अविनाशी ।।१३।।

मुझे कर्मों का लेप नहीं होता (क्योंकि) कर्म के फल में मेरी स्पृहा, इच्छा नहीं रहती। जो मुझे इस प्रकार जानता है (वह क्योंकि मेरे ही पीछे चलता है, वह भी

देवताः[7]–देवताओं की; **क्षिप्रम्**[11]–शीघ्र; **हि**[12]–क्योंकि, ही; **मानुषे**[2]–मनुष्यों के; **लोके**[3]–लोक में; **सिद्धिः**[10]–फल; **भवति**[13]–होता है; **कर्मजा**[9]–कर्मों द्वारा उत्पन्न होने वाली।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ।।१३।।

चातुर्वर्ण्यम्[2]–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्णों को; **मया**[3]–मेरे द्वारा; **सृष्टम्**[4]–रचे गये हैं; **गुणकर्मविभागशः**[1]–गुण और कर्मों के विभाग के अनुसार; **तस्य**[5]–उसके; **कर्तारम्**[6]–कर्ता को; **अपि**[7]–भी; **माम्**[10]–मुझे; **विद्धि**[11]–जान; **अकर्तारम्**[9]–अकर्ता; **अव्ययम्**[8]–अविनाशी।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ।।१४।।

न[7]–नहीं; **माम्**[5]–मुझे; **कर्माणि**[6]–कर्म; **लिम्पन्ति**[8]–लिप्त होते हैं; **न**[4]–नहीं; **मे**[2]–मेरी; **कर्मफले**[1]–कर्मों के फल में; **स्पृहा**[3]–

निष्काम तथा अनासक्त होकर काम करता है इसलिये) वह कर्मों के बन्धन में नहीं बंधता ।।१४।।

पुराने लोग, जो मोक्ष पाने के अभिलाषी थे, यह सब (गुप्त रहस्य) जानकर ही कर्म करते थे, इसलिये तू भी उसी प्रकार कर्म कर जैसे पुरखाओं ने प्राचीन काल में किया था ।।१५।।

[कर्म, विकर्म, अकर्म]

क्या 'कर्म' है और 'अकर्म' क्या है, इस विषय में बड़े-बड़े विद्वानों को भी भ्रम हो जाता है। सो मैं तुझे बतलाऊँगा कि वह 'कर्म' क्या है जिसे जान लेने पर तू अशुभ से मुक्त हो जायगा ।।१६।।

इच्छा है; **इति**[9]–यह बात; **माम्**[11]–मेरे प्रति; **यः**[10]–जो; **अभिजानाति**[12]–जानता है; **कर्मभिः**[14]–कर्मों से; **न**[15]–नहीं; **सः**[13]–वह; **बध्यते**[16]–बंधता है ।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ।।१५।।

एवम्[4]–इस प्रकार; **ज्ञात्वा**[5]–जान कर; **कृतम्**[7]–किये हुए; **कर्म**[6]–कर्म; **पूर्वैः**[1]–पहले होने वाले; **अपि**[3]–भी; **मुमुक्षुभिः**[2]–मोक्ष के अभिलाषियों द्वारा; **कुरु**[15]–कर; **कर्म**[13]–कर्म को; **एव**[14]–ही; **तस्मात्**[8]–इस से; **त्वं**[9]–तू; **पूर्वैः**[10]–पुरखाओं ने; **पूर्वतरम्**[11]–बहुत प्राचीन काल में; **कृतम्**[12]–किया था ।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।।१६।।

किम्[2]–क्या; **कर्म**[1]–कर्म है; **किम्**[4]–क्या; **अकर्म**[3]–अकर्म है; **इति**[5]–यह बात; **कवयः**[7]–विद्वान् लोग; **अपि**[8]–भी; **अत्र**[6]–इस बात पर; **मोहिताः**[9]–भ्रम में पड़े हैं; **तत्**[10]–वह; **ते**[12]–तुझे; **कर्म**[11]–कर्म; **प्रवक्ष्यामि**[13]–बतलाऊँगा; **यत्**[14]–जो; **ज्ञात्वा**[15]–जानकर; **मोक्ष्यसे**[17]–मुक्त हो जायगा; **अशुभात्**[16]–अशुभ से ।

कर्म की गति गहन है। हमें यह जान लेना चाहिये कि 'कर्म' क्या है, यह भी जान लेना चाहिये कि 'विकर्म' क्या है, यह भी जान लेना चाहिये कि 'अकर्म' क्या है? ॥१७॥

जो व्यक्ति 'कर्म' में 'अकर्म' को और 'अकर्म' में 'कर्म' को देख लेता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है, वही युक्त अर्थात् योग-युक्त है, और वह सब कर्मों को कर लेनेवाला है ॥१८॥

श्रीकृष्ण कहते हैं कि मनुष्य को 'कर्म'-'अकर्म'-'विकर्म'—इन तीनों के भेद को समझ लेना चाहिए, और यह भी समझ लेना चाहिए कि जिसे हम 'कर्म' कह रहे हैं उसमें 'अकर्म' तो नहीं छिपा, या जिसे हम 'अकर्म' कह रहे हैं उसमें 'कर्म' तो नहीं छिपा। जो इन रहस्यों को जान लेता है वह ठीक-ठीक कर्म करता है। इस सब का क्या अभिप्राय है?

श्रीकृष्ण के अनुसार जीवन को दो भागों में बाँटा जा सकता है—'क्रिया' तथा 'अक्रिया'। 'क्रिया' का अर्थ है—'कर्म'; 'अक्रिया' का अर्थ है—'अकर्म'। 'क्रिया' या 'कर्म' को श्रीकृष्ण ने दो भागों में बाँटा—'कर्म' तथा 'विकर्म'। 'कर्म' जीवन की वह क्रिया है जो हमें करनी चाहिए, जिसे श्रीकृष्ण ने 'स्व-धर्म' कहा, 'निष्काम-कर्म' कहा। 'विकर्म' जीवन की वह क्रिया है जो हमें नहीं करनी

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

कर्मणः[1]—कर्म का स्वरूप; **हि**[10]—निश्चय से; **अपि**[2]—भी; **बोद्धव्यम्**[3]—जानना चाहिये; **बोद्धव्यम्**[6]—जानना चाहिये; **च**[4]—और; **विकर्मणः**[5]—विकर्म का स्वरूप; **अकर्मणः**[8]—अकर्म का स्वरूप; **च**[7]—और; **बोद्धव्यम्**[9]—जानना चाहिये; **गहना**[13]—गहन; **कर्मणः**[11]—कर्म की; **गतिः**[12]—गति है।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

कर्मणि[2]—कर्म में; **अकर्म**[3]—अकर्म को; **यः**[1]—जो; **पश्येत्**[8]—देखे; **अकर्मणि**[6]—अकर्म में; **च**[4]—और; **कर्म**[7]—कर्म को; **यः**[5]—जो; **सः**[9]—वह; **बुद्धिमान्**[11]—बुद्धिमान् है; **मनुष्येषु**[10]—मनुष्यों में; **सः**[12]—वह; **युक्तः**[13]—योगी; **कृत्स्नकर्मकृत्**[14]—संपूर्ण कर्मों को करने वाला है।

चाहिए। 'कर्म' के शास्त्रकारों ने तीन भेद किये हैं—'नित्य-कर्म', 'नैमित्तिक-कर्म', 'काम्य-कर्म'। 'नित्य-कर्म' वे कर्म हैं जो सब देश-काल में हमें करने ही चाहियें, जिनमें अपवाद हो ही नहीं सकता। उदाहरणार्थ, माता-पिता की सेवा, शरीर-रक्षा आदि-आदि। 'नैमित्तिक-कर्म' वे कर्म हैं जो समय-समय पर आवश्यकता पड़ने पर हमें करने होते हैं। उदाहरणार्थ, स्नान करना, अतिथि के आ जाने पर उसका सत्कार करना। 'काम्य-कर्म' वे कर्म हैं जो हम किसी कामना के पूरा करने के लिए करते हैं। उदाहरणार्थ, नौकरी पाने के लिए किसी से प्रार्थना करना।

'कर्म'-'विकर्म'-'अकर्म' में यह भ्रम पैदा हो जाता है कि हम समझते हैं कि हम 'कर्म' कर रहे हैं परन्तु वास्तव में हम 'विकर्म' कर रहे हों या 'अकर्म' कर रहे हों, यह भी हो सकता है कि हम समझते हैं कि हम 'अकर्म' कर रहे हैं परन्तु वास्तव में हम 'कर्म' कर रहे हों, या 'विकर्म' कर रहे हों। यह कैसे ?

(क) **'कर्म' में विकर्म या अकर्म**—एक व्यक्ति ईश्वर-भक्ति का 'नित्य-कर्म' करता हुआ सन्ध्या में बैठा है। उसके सामने कोई गो-वध करने लगा। उस समय वह अगर चुप बैठा रहता है तो उसका ईश्वर-भक्ति रूपी कर्म विकर्म हो जाता है। इसी प्रकार अगर कोई नौकरी पाने के लिए किसी अफ़सर के पास प्रार्थना-पत्र लेकर जाता है, और अफ़सर के पूछ-ताछ करने पर कोई उत्तर नहीं देता तो उसका 'काम्य-कर्म' अकर्म हो जाता है।

(ख) **'अकर्म' में कर्म या विकर्म**—कर्म-संन्यास का उपदेश देनेवाले वेदान्तियों का कहना है कि कर्म तो बन्धन का ही कारण है, इसलिए कर्म का त्याग करने से ही मोक्ष मिल सकता है। ये लोग 'अकर्म' का उपदेश देते हैं। परन्तु श्रीकृष्ण का कहना है कि कर्म छोड़कर बैठ जाने से 'अकर्म' नहीं हो जाता। कर्म छोड़ना स्वयं एक कर्म है। जो लोग शारीरिक-कर्म छोड़कर बैठ जाते हैं उनका मन संकल्प-विकल्पों में डूबा रहता है। यह तो अकर्म में 'कर्म' हुआ। इसके साथ अकर्म में 'विकर्म' भी जुड़ा रह सकता है। उदाहरणार्थ, जब हम आलस्यवश कुछ काम नहीं करते, यों ही पड़े रहते हैं, तब यों ही पड़े रहना विकर्म है, दूषित कर्म है।

इसी बात को अष्टावक्र-गीता (१८, ६१) में यों कहा है: **"निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते। प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलभागिनी।"**—अर्थात्, मूर्खों की निवृत्ति एक प्रकार की प्रवृत्ति है, और धीर व्यक्ति की प्रवृत्ति का भी फल निवृत्ति-जैसा होता है।

यही कारण है कि श्रीकृष्ण ने कहा: 'कर्म'-'अकर्म'-'विकर्म'—ये पेचीदा बातें हैं, 'कर्म' में अकर्म तथा विकर्म एवं 'अकर्म' में कर्म तथा विकर्म आ मिलते हैं, मनुष्य को कर्म करना है, अकर्म तथा विकर्म से बचना है। यह तभी हो सकता है जब कर्म का रूप निष्काम-कर्म हो। इसलिए अगले श्लोकों में निष्काम-कर्म का ही खुलासा दिया गया है।

[निष्काम-कर्म]

जिसके सब आरंभ किये हुए कार्य कामना अर्थात् फलेच्छा के संकल्प अर्थात् दृढ़ भावना से रहित होते हैं, जिसके कर्म ज्ञान रूपी अग्नि से भस्म हो गये हैं, उसे बुद्धिमान् लोग पंडित कहते हैं ॥१९॥

कर्म के फल के प्रति आसक्ति को त्याग कर, नित्य तृप्त रहकर, किसी पर भी आश्रित न रहकर (अर्थात् कर्म के फल पर आश्रित न होकर), भले ही वह कार्य में लगा रहे, वह (ऐसा ही है जैसे) कुछ नहीं कर रहा हो ॥२०॥

फल की आशा न रखते हुए, चित्त (मन) तथा आत्मा को वश में रखते हुए, सब प्रकार के भोग-साधनों को

यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः ॥१९॥

यस्य[1]–जिसके; **सर्वे**[2]–सब; **समारंभाः**[3]–आरंभ किये हुए कार्य; **कामसंकल्पवर्जिताः**[4]–फल की इच्छा के दृढ़भाव से रहित होते हैं; **ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्**[5]–ज्ञान रूपी अग्नि द्वारा दग्ध हो गये हैं कर्म जिसके; **तम्**[6]–उसे; **आहुः**[9]–कहते हैं; **पंडितम्**[8]-पंडित; **बुधाः**[7]–बुद्धिमान् लोग ।

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥२०॥

त्यक्त्वा[4]–त्याग कर; **कर्मफलासंगम्**[3]–कर्म के फल की आसक्ति को; **नित्यतृप्तः**[2]–सदा तृप्त रहकर; **निराश्रयः**[1]–किसी पर आश्रित न रहकर (संन्यासमार्गी इसका यह अर्थ करते हैं कि गृहस्थ, पुत्र-पौत्रादि किसी आश्रय को न रखकर); **कर्मणि**[5]–कर्म में; **अभिप्रवृत्तः**[6]–लगा हुआ; **अपि**[7]–भी; **न**[11]–नहीं **एव**[12]–ही; **किंचित्**[10]–कुछ भी; **करोति**[12]–करता है; **सः**[9]–वह ।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

निराशीः[1]–आशा रहित पुरुष; **यतचित्तात्मा**[2]–जिसका मन तथा आत्मा वश में है; **त्यक्तसर्वपरिग्रहः**[3]–त्याग दिया है सब परि-

समेटने की भावना को त्यागते हुए जो व्यक्ति केवल शरीर द्वारा कर्म करता है उसे कोई दोष नहीं लगता ।।२१।।

जो व्यक्ति सहज प्राप्त वस्तु से संतुष्ट है, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से परे पहुँच गया है, जो ईर्ष्या से रहित है, सफलता-असफलता में सम-भाव से रहता है, वह कर्म करता हुआ भी कर्म-बन्धन में नहीं पड़ता ।।२२।।

[यज्ञीय-कर्म ही निष्काम-कर्म हैं]

तृतीय-अध्याय में कर्मयोग पर कहा था, चतुर्थ-अध्याय में उसी का विस्तार है। तृतीय-अध्याय में कर्मयोग की चर्चा करते हुए यज्ञ की व्याख्या भी निष्काम-कर्म के रूप में की गई थी। निष्काम-कर्म क्या है ? यह यज्ञ ही है क्योंकि निष्काम-कर्म में जो-कुछ किया जाता है भगवान् के अर्पण कर दिया जाता है ठीक ऐसे जैसे यज्ञ में हवि अग्नि के अर्पण कर दी जाती है। इस अध्याय में भी कर्म-अकर्म-विकर्म की चर्चा करने के बाद निष्काम-कर्म की चर्चा की गई है। जैसे तृतीय अध्याय मेंकहा था कि निष्काम-कर्म यज्ञ का ही दूसरा नाम है वैसे इस अध्याय में भी उसी विचार को दोहराते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं :

जो व्यक्ति कर्म के फल के संग से मुक्त हो गया है, जिसका चित्त ज्ञान में अवस्थित हो गया है, जो अपने प्रत्येक

ग्रह, सम्पत्ति जिसने; **शारीरम्**[5]—शरीर सम्बन्धी; **केवलम्**[4]—केवल; **कर्म**[6]—कर्म; **कुर्वन्**[7]—करता हुआ; **न**[9]—नहीं; **आप्नोति**[10]—प्राप्त करता है; **किल्विषम्**[8]—पाप को, दोष को ।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ।।२२।।

यदृच्छालाभसंतुष्टः[1]—जो अपने-आप मिल जाय उतने से ही सन्तुष्ट हो जानेवाला; **द्वन्द्वातीतः**[2]—सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से परे पहुँचा हुआ; **विमत्सरः**[3]—ईर्ष्या-रहित; **समः**[7]—समत्व-भाववाला; **सिद्धौ**[4]—सफलता में; **असिद्धौ**[6]—असफलता में; **च**[5]—और; **कृत्वा**[8]—कर्म करके; **अपि**[9]—भी; **न**[10]—नहीं; **निबध्यते**[11]—बंधता है ।

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ।।२३।।

गतसंगस्य[1]—जो व्यक्ति कर्म फल के संग से मुक्त हो गया है; **मुक्तस्य**[5]—जो मुक्त हो गया है; **ज्ञानावस्थितचेतसः**[2]—जिसका चित्त

कर्म को यज्ञ समझकर करता है, उसका सब कर्म विलीन हो जाता है, (जीवन को एक प्रकार का यज्ञ समझकर कर्म करने से कर्म का बन्धन नहीं पड़ता) ।।२३।।

(यज्ञ में 'मैं' मिट जाता है, 'तू' रह जाता है, निष्काम-कर्म में भी अपनापन नहीं रहता, सब-कुछ भगवान् को अर्पण करके कर्म किया जाता है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं :) यज्ञ में प्रयुक्त होनेवाला स्रुवा ब्रह्म है, यज्ञ में दी जानेवाली हवि ब्रह्म है, जीवन-यज्ञ में ब्रह्म द्वारा ब्रह्म रूपी अग्नि में होम हो रहा है, ब्रह्म रूपी कर्म की समाधि द्वारा उसे ब्रह्म को ही प्राप्त करना है, वही उसका गन्तव्य है। (सब तरफ़ ब्रह्म-ही-ब्रह्म देखकर जो कर्म करता है, स्रुवा, हवि, होम भी जो ब्रह्म रूप ही समझता है, इस ब्रह्म-यज्ञ के कारण वह कर्म के बन्धन में नहीं पड़ता) ।।२४।।

तृतीय अध्याय में कहा गया था कि यज्ञ की भावना से किया गया कर्म बन्धन का कारण नहीं बनता। वहाँ यज्ञ को अग्निहोत्र के अर्थों में प्रयुक्त न करके व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। गीता की परिभाषा में प्रत्येक कर्म जब निष्कामता से किया जाता है तब वह 'यज्ञ' कहलाता है। तृतीय अध्याय में यज्ञ की जिस बात को संक्षेप में कहा गया था उसी को निष्काम-कर्म की पृष्ठ-भूमि के साथ

ज्ञान में अवस्थित हो गया है; **यज्ञाय**[3]–यज्ञ के लिये; **आचरतः**[4]–आचरण करते हुए; **कर्म**[7]–कर्म; **समग्रम्**[6]–सब; **प्रविलीयते**[8]–विलीन हो जाता है।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ।।२४।।

ब्रह्म[2]–ब्रह्म ही है; **अर्पणम्**[1]–घृत को यज्ञाग्नि में अर्पण करने वाला स्रुवा; **ब्रह्म**[4]–ब्रह्म ही है; **हविः**[3]–हवन करने योग्य द्रव्य; **ब्रह्माग्नौ**[5]–ब्रह्म रूप अग्नि में; **ब्रह्मणा**[6]–ब्रह्म द्वारा; **हुतम्**[7]–हवन किया गया है; **ब्रह्म**[11]–ब्रह्म; **एव**[12]–ही; **तेन**[6]–उसके द्वारा; **गन्तव्यम्**[10]–प्राप्त होने योग्य है; **ब्रह्मकर्मसमाधिना**[8]–ब्रह्म रूपी कर्म की समाधि द्वारा।

इस अध्याय में विस्तार से कहा गया है और 'यज्ञ'-शब्द का विस्तृत अर्थों में प्रयोग किया गया है। संसार में नई लहर चलानेवाले, नवीन विचारों को देनेवाले महापुरुष पुराने शब्दों में नया अर्थ भर देते हैं, श्रीकृष्ण ने 'यज्ञ'-शब्द के साथ वैसा ही किया है। उन्होंने भिन्न-भिन्न कामनाओं के लिए किये जानेवाले यज्ञों को निष्कामता के रंग में ढाल दिया है। इसी दिशा में अपने भावों को व्यक्त करते हुए वे कहते हैं:

कुछ योगी देवताओं को लक्ष्य में रखकर यज्ञ करते हैं, कोई दूसरे योगी ब्रह्माग्नि में यज्ञ द्वारा ही यज्ञ करते हैं ॥२५॥

तीसरे अध्याय के ११वें श्लोक में 'देव-यज्ञ' का वर्णन किया गया था। वहाँ कहा गया था—'**देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः**'—उसी 'देव-यज्ञ' का इस अध्याय में यहाँ २४वें श्लोक में वर्णन किया गया है। इसके अलावा इस २५वें श्लोक में 'ब्रह्माग्नि-यज्ञ' का वर्णन किया गया है जिसका अर्थ है कि यज्ञ स्वयं एक यज्ञ है, निष्काम-कर्म है जिसे ब्रह्मरूपी यज्ञाग्नि के अर्पण किया जाता है।

('यज्ञ'-शब्द को गीता ने रूढ़ि अर्थ से मुक्त कर विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त करते हुए कहा है कि) कई लोग कान, आँख, नाक आदि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का संयम रूप अग्नि—'संयमाग्नि'—में होम करते हैं (इन इन्द्रियों पर नियंत्रण

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

दैवम्[3]—देव-यज्ञ को; **एव**[5]—ही; **अपरे**[1]—दूसरे; **यज्ञम्**[4]—यज्ञ को; **योगिनः**[2]—योगी लोग; **पर्युपासते**[6]—करते हैं; **ब्रह्माग्नौ**[8]—ब्रह्म रूप अग्नि में; **अपरे**[7]—दूसरे लोग; **यज्ञम्**[11]—यज्ञ को; **यज्ञेन**[9]—यज्ञ द्वारा; **एव**[10]—ही; **उपजुह्वति**[12]—होम करते हैं।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

श्रोत्रादीनि[2]—कान आदि; **इन्द्रियाणि**[3]—इन्द्रियों को; **अन्ये**[1]—दूसरे लोग; **संयमाग्निषु**[4]—संयम की अग्नि में; **जुह्वति**[5]—होम देते हैं; **शब्दादीन्**[7]—शब्द आदि को; **विषयान्**[8]—विषयों को; **अन्ये**[6]—दूसरे लोग; **इन्द्रियाग्निषु**[9]—इन्द्रियों की अग्नि में; **जुह्वति**[10]—होम देते हैं।

रखते हैं), कई लोग शब्द, रूप, गन्ध आदि विषयों का इन्द्रियों की अग्नि--'इन्द्रियाग्नि'--में होम करते हैं। ('संयमाग्नि' का होम करनेवाले इन्द्रियों को अपने वश में करते हैं, किन्तु 'इन्द्रियाग्नि' का होम करनेवाले इन्द्रियों के विषयों का जी भरकर भोग करते हैं, दोनों एक-दूसरे से उलटे हैं।) ॥२६॥

कई लोग इन्द्रियों के तथा प्राणों के सब कर्मों को ज्ञान से प्रदीप्त आत्म-संयम की 'आत्म-संयमाग्नि' में होम कर देते हैं ॥२७॥

इस प्रकार तीक्ष्ण व्रत का आचरण करनेवाले कुछ यति अपनी भौतिक सम्पत्ति का होम करके 'द्रव्य-यज्ञ' करते हैं, कुछ यति तपस्या करके 'तपो-यज्ञ' करते हैं, कुछ यति योग-विद्या का अभ्यास करके 'योग-यज्ञ' करते हैं, कुछ यति स्वाध्याय करके 'ज्ञान-यज्ञ' करते हैं ॥२८॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

सर्वाणि[2]–सब; **इन्द्रियकर्माणि**[3]–इन्द्रियों के कर्म; **प्राणकर्माणि**[5]–प्राणों के कर्म; **च**[4]–और; **अपरे**[1]–दूसरे लोग; **आत्मसंयमयोगाग्नौ**[7]–आत्म-संयम रूपी योग की अग्नि में; **जुह्वति**[8]–होम देते हैं; **ज्ञानदीपिते**[6]–ज्ञान से प्रदीप्त ।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

द्रव्ययज्ञाः[2]–अपने भौतिक द्रव्यों का लोक-सेवा के लिये होम कर देनेवाले; **तपोयज्ञाः**[4]–तपस्या रूपी यज्ञ करने वाले; **योगयज्ञाः**[5]–योगाभ्यास रूपी यज्ञ करनेवाले; **तथा**[3]–और; **अपरे**[1]–दूसरे; **स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः**[9]–स्वाध्याय रूपी ज्ञानयज्ञ करने वाले हैं; **च**[6]–और; **यतयः**[8]–यति लोग; **संशितव्रताः**[7]–तीक्ष्ण व्रतों से युक्त ।

कुछ लोग जो प्राणायाम के अभ्यासी हैं वे प्राण तथा अपान की गति रोक कर प्राण का अपान में और अपान का प्राण में होम करते हैं। (प्राणायाम की परिभाषा में प्राण को अन्दर खींचना 'पूरक' कहलाता है, बाहर फेंकना 'रेचक' कहलाता है; इस प्रकरण में अन्दर आनेवाले श्वास को 'प्राण' तथा बाहर निकलनेवाले श्वास को 'अपान' कहा है। यह भी प्राण-अपान का, पूरक-रेचक का एक प्रकार का गीता की परिभाषा में यज्ञ ही है।) ॥२६॥

और कुछ ऐसे लोग भी हैं जो आहार को नियमित करके प्राणों से प्राणों में आहुति देते हैं (आहार इतना नियमित कर लेते हैं कि मानों 'प्राण-यज्ञ' द्वारा ही जीते हैं)। ये सब (जिनका वर्णन ऊपर किया गया है) यज्ञविद् हैं, यज्ञ के रहस्य को जानने वाले हैं, और यज्ञमय जीवन द्वारा उनके पाप नष्ट हो जाते हैं ॥३०॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

अपाने[1]–अपान में; **जुह्वति**[3]–होम करते हैं; **प्राणम्**[2]–प्राण को; **प्राणे**[5]–प्राण में; **अपानम्**[6]–अपान को; **तथा**[4]–वैसे; **अपरे**[7]–दूसरे लोग; **प्राणापानगती**[8]–प्राण और अपान की गति को; **रुद्ध्वा**[9]–रोक कर; **प्राणायामपरायणाः**[10]–प्राणायाम के अभ्यासी लोग।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

अपरे[1]–दूसरे; **नियताहाराः**[2]–आहार को नियमित करने वाले; **प्राणान्**[3]–प्राणों को; **प्राणेषु**[4]–प्राणों में; **जुह्वति**[5]–आहुति देते हैं; **सर्वे**[8]–सब; **अपि**[9]–भी; **एते**[7]–ये; **यज्ञविदः**[10]–यज्ञ के रहस्य को जानने वाले हैं; **यज्ञक्षपितकल्मषाः**[6]–यज्ञमय जीवन द्वारा नष्ट हो गया है पाप जिनका, निष्पाप।

जो लोग यज्ञ से अवशिष्ट अमृत रूपी भोजन का सेवन करते हैं वे सनातन ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! जो व्यक्ति यज्ञ नहीं करता उसके लिये यह लोक नहीं के बराबर है, दूसरा लोक तो उसे कहाँ प्राप्त हो सकता है ॥३१॥

इस प्रकार अनेक प्रकार के यज्ञ वेद-वाणी में फैले हुए हैं। ये सब यज्ञ कर्म से उत्पन्न हुए हैं--ऐसा जान। ऐसा जान लेने पर तू मुक्त होगा (कर्म के बन्धन से छूटेगा क्योंकि तुझे समझ आ जायगा कि ये सब यज्ञ निष्काम-कर्म के ही प्रतीक हैं) ॥३२॥

['कर्म' और 'ज्ञान' की तुलना]

अबतक 'कर्म' की चर्चा की, 'कर्म'-'विकर्म'-'अकर्म' की चर्चा की, 'कर्म' तथा 'निष्काम-कर्म' के संबंध की चर्चा की, 'निष्काम-कर्म' तथा 'यज्ञ' की एकरूपता की चर्चा की। अब श्रीकृष्ण 'कर्म' तथा 'ज्ञान'—इन दोनों की पारस्परिक तुलना करते हैं। सारा झगड़ा तो इसी बात का है। कर्मयोगी कहते हैं—'कर्म करो';

यज्ञशिष्टाऽमृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

यज्ञशिष्टामृतभुजः[2]–यज्ञ से अवशिष्ट अमृत रूपी भोजन का सेवन करनेवाले; **यान्ति**[5]–पहुँचते हैं; **ब्रह्म**[4]–ब्रह्म को; **सनातनम्**[3]–सनातन; **न**[9]–नहीं; **अयम्**[7]–यह; **लोकः**[8]–लोक; **अस्ति**[10]–है; **अयज्ञस्य**[6]–यज्ञ न करने वाले के लिये; **कुतः**[12]–कहाँ; **अन्यः**[11]–दूसरा लोक; **कुरुसत्तम**[1]–कुरुओं में श्रेष्ठ अर्जुन।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

एवम्[1]–इस प्रकार; **बहुविधाः**[2]–अनेक प्रकार के; **यज्ञाः**[3]–यज्ञ; **वितताः**[6]–फैले हुए हैं; **ब्रह्मणः**[4] **मुखे**[5]–वेद-वाणी में; **कर्मजान्**[9]–कर्म से उत्पन्न हुए; **विद्धि**[10]–जान; **तान्**[7]–उनको; **सर्वान्**[8]–सबको; **एवम्**[11]–इस प्रकार; **ज्ञात्वा**[12]–जानकर; **विमोक्ष्यसे**[13]–मुक्त हो जायगा।

ज्ञान-योगी कहते हैं—'कर्म न करो'। तो फिर क्या करें? इन दोनों मार्गों में से कौन-सा श्रेष्ठ है? श्रीकृष्ण कहते हैं:

हे परंतप अर्जुन! 'द्रव्य-यज्ञ', जिसका सब से पहले वर्णन किया गया, उसकी अपेक्षा 'ज्ञान-यज्ञ' जिसका सबसे अन्त में वर्णन किया गया, अधिक श्रेष्ठ है क्योंकि सब 'कर्म' जाकर 'ज्ञान' में समाप्त हो जाते हैं (क्योंकि 'द्रव्य-यज्ञ' में जो 'कर्म' किया जाता है उसका ध्येय तो ब्रह्म की प्राप्ति ही है, परन्तु ब्रह्म की प्राप्ति उसके स्वरूप के 'ज्ञान' के बिना हो नहीं सकती। अगर द्रव्य-यज्ञ के 'कर्म' से ब्रह्म के स्वरूप का 'ज्ञान' ही होना है, तो इसमें सन्देह ही क्या हो सकता है कि 'ज्ञान-यज्ञ' अन्य यज्ञों की अपेक्षा उत्कृष्ट है। 'द्रव्य-यज्ञ' का अर्थ है अपनी सम्पत्ति का लोक-कल्याण के लिये होम कर देना; 'ज्ञान-यज्ञ' का अर्थ है अविद्या का होम कर देना। इन दोनों में 'ज्ञान-यज्ञ' श्रेष्ठ है—यह गीता का अभिप्राय है) ॥३३॥

यह बात गुरुओं के चरणों में प्रणिपात से, उनके सम्मुख सिर झुकाने से, निष्कपट भाव से उनसे प्रश्न तथा शंका-समाधान करने से, गुरुओं की सेवा करने से तू जान

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

श्रेयान्[5]—श्रेष्ठ है; **द्रव्यमयात्**[2]—द्रव्यमय से; **यज्ञात्**[3]—यज्ञ से; **ज्ञानयज्ञः**[4]—ज्ञानयज्ञ; **परंतप**[1]—हे अत्यन्त तप करनेवाले या शत्रुओं को सतानेवाले अर्जुन; **सर्वम्**[7]—सब; **कर्म**[9]—कर्म; **अखिलम्**[8]—सब; **पार्थ**[6]—हे अर्जुन; **ज्ञाने**[10]—ज्ञान में; **परिसमाप्यते**[11]—समाप्त हो जाते हैं।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

तत्[4]—वह बात; **विद्धि**[5]—जान; **प्रणिपातेन**[1]—प्रणिपात अर्थात् दण्डवत् प्रणाम करके; **परिप्रश्नेन**[2]—प्रश्न तथा शंका-समाधान करने

सकेगा। जब तू ऐसा करेगा तब तत्त्वदर्शी ज्ञानी इस ज्ञान का तुझे उपदेश देंगे ॥३४॥

ऐसा ज्ञान जिसे जानकर, हे पांडव ! तू इस प्रकार के मोह को फिर नहीं प्राप्त होगा। यह ज्ञान ऐसा होगा जिससे तू सब प्राणियों को अपने में, और उसके बाद सब प्राणियों को मुझ में देखेगा (प्राणी-प्राणी में भेद-बुद्धि के कारण जो तू मोह में पड़ा हुआ है ज्ञान की आँख खुल जाने पर तेरी वह भेद-बुद्धि समाप्त हो जायगी) ॥३५॥

चाहे तू सब पापियों की अपेक्षा सबसे बढ़कर पापी हो, फिर भी तू ज्ञान की नौका द्वारा ही पाप के (समुद्र को) तर जायगा ॥३६॥

से; **सेवया**[3]–सेवा करने से; **उपदेक्ष्यन्ति**[10]–उपदेश देंगे; **ते**[6]–तुझे; **ज्ञानम्**[9]–ज्ञान को; **ज्ञानिनः**[8]–ज्ञानी लोग; **तत्त्वदर्शिनः**[7]–तत्वदर्शी लोग।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

यत्[1]–जिसे; **ज्ञात्वा**[2]–जानकर; **न**[6]–नहीं; **पुनः**[3]–फिर; **मोहम्**[5]–मोह को; **एवम्**[4]–इस प्रकार; **यास्यसि**[7]–प्राप्त होगा; **पाण्डव**[8]–हे अर्जुन; **येन**[9]–जिससे; **भूतानि**[12]–प्राणियों को; **अशेषेण**[11]–संपूर्णतया; **द्रक्ष्यसि**[13]–देखेगा; **आत्मनि**[10]–अपने में; **अथ उ**[14]–उस के उपरान्त; **मयि**[15]–मुझ में।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥

अपि[4]–भी; **चेत्**[1]–अगर; **असि**[6]–तू है; **पापेभ्यः**[3]–पापियों से; **सर्वेभ्यः**[2]–सब से; **पापकृत्तमः**[5] सब से अधिक पापी; **सर्वम्**[9]–सब; **ज्ञानप्लवेन**[7]–ज्ञान रूपी नौका द्वारा; **एव**[8]–ही; **वृजिनम्**[10]–पाप को; **संतरिष्यसि**[11]–तर जायगा।

हे अर्जुन! जैसे अग्नि प्रदीप्त होने पर इंधन को भस्मसात् कर देती है वैसे जब ज्ञानाग्नि प्रदीप्त हो जाती है तब वह सब कर्मों के बन्धनों को भस्मसात् कर देती है ॥३७॥

ज्ञान के सदृश इस पृथ्वी पर पवित्र वस्तु दूसरी कोई नहीं है। जिसका कर्म-योग सिद्ध हो जाता है वह काल पाकर अपने आत्मा में अपने-आप ज्ञान को पा लेता है ॥३८॥

३३वें श्लोक में जो कहा था कि सब 'कर्म' जाकर 'ज्ञान' में समाप्त हो जाते हैं उसी भाव को यहाँ प्रकट किया गया है। 'कर्म' का उद्देश्य 'ज्ञान' पा लेना है, ज्ञान गुरु-सेवा से मिलता है, अगर कुछ न भी किया जाय तब भी यह इतनी पवित्र वस्तु है कि काल पाकर यह स्वयं आत्मा में उतर जाता है, ठीक ऐसे जैसे मलावृत दर्पण को पोंछते-पोंछते वह चमक उठता है।

(जैसे 'कर्म' सिद्ध होते-होते 'ज्ञान' का उदय होता है वैसे) 'श्रद्धा' वाला भी जब पीछे पड़ जाता है, इन्द्रियों

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥३७॥

यथा[2]—जैसे; **एधांसि**[5]—इन्धन को; **समिद्धः**[3]—प्रदीप्त; **अग्निः**[4]—आग; **भस्मसात्**[6]—राख; **कुरुते**[7]—कर देती है; **अर्जुन**[1]—हे अर्जुन; **ज्ञानाग्निः**[9]—ज्ञान रूपी आग; **सर्वकर्माणि**[10]—सब कर्मों को; **भस्मसात्**[11]—राख; **कुरुते**[12]—कर देती है; **तथा**[8]—वैसे।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

न[6]—नहीं; **हि**[5]—निश्चय से; **ज्ञानेन**[2]—ज्ञान के; **सदृशम्**[3]—समान; **पवित्रम्**[4]—पवित्र; **इह**[1]—इस लोक में; **विद्यते**[7]—है; **तत्**[8]—वह; **स्वयम्**[10]—अपने आप; **योगसंसिद्धः**[11]—कर्म-योग से सिद्ध हुआ-हुआ; **कालेन**[9]—काल पाकर; **आत्मनि**[12]—आत्मा में; **विन्दति**[13]—पा लेता है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

श्रद्धावान्[3]—श्रद्धावाला; **लभते**[5]—प्राप्त करता है; **ज्ञानम्**[4]—ज्ञान को; **तत्परः**[2]—पीछे पड़ जाने वाला; **संयतेन्द्रियः**[1]—इन्द्रियों को वश में

को वश में कर लेता है, तब वह भी 'ज्ञान' को प्राप्त कर तुरन्त ही परम शान्ति को पा जाता है ॥३९॥

जो स्वयं कुछ जानता नहीं और दूसरे में उसकी श्रद्धा नहीं और हर बात में संशय करता रहता है—ऐसा संशयालु स्वभाव का व्यक्ति नष्ट हो जाता है। ऐसे हर बात में संशय करनेवाले व्यक्ति के लिये न यह लोक है, न वह लोक है। ऐसे व्यक्ति को सुख नहीं प्राप्त हो सकता ॥४०॥

हे धनञ्जय! जिसने योग द्वारा सब कर्मों को त्याग दिया है, जिसने ज्ञान द्वारा सब संशयों को छिन्न-भिन्न कर दिया है, जिसने आत्मा पर अधिकार कर लिया है, उसे कर्म बन्धन में नहीं बाँधते ॥४१॥

कर लेने वाला; **ज्ञानम्**[6]–ज्ञान को; **लब्ध्वा**[7]–प्राप्त कर; **पराम्**[9]–परम; **शान्तिम्**[10]–शान्ति को; **अचिरेण**[8]–तुरन्त; **अधिगच्छति**[11]–पा जाता है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

अज्ञः[1]–जो कुछ नहीं जानता, अज्ञानी; **च**[2]–और; **अश्रद्दधानः**[3]–श्रद्धा-रहित; **च**[4]–और; **संशयात्मा**[5]–संशयवाला; **विनश्यति**[6]–नष्ट हो जाता है; **न**[10]–नहीं; **अयम्**[8]–यह; **लोकः**[9]–लोक; **अस्ति**[15]–है; **न**[12]–नहीं; **परः**[11]–परलोक; **न**[14]–नहीं; **सुखम्**[13]–सुख; **संशयात्मनः**[7]–संशययुक्त पुरुष के लिये।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥४१॥

योगसंन्यस्तकर्माणम्[2]–योग द्वारा सब कर्मों को त्याग दिया है जिसने; **ज्ञानसंछिन्नसंशयम्**[3]–ज्ञान द्वारा छिन्न कर दिया है संशय को जिसने; **आत्मवन्तम्**[4]–आत्मा पर अधिकार कर लिया है जिसने; **न**[6]–नहीं; **कर्माणि**[5]–कर्म; **निबध्नन्ति**[7]–बाँधते हैं; **धनञ्जय**[1]–हे अर्जुन।

इसलिये हे भारत! अज्ञान से उत्पन्न होनेवाले हृदय में बैठ गये संशय को आत्मा के ज्ञान रूपी तलवार से काट कर योग-मार्ग में जुट जा, और उठ खड़ा हो ॥४२॥

श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् में जो ब्रह्मविद्या का वर्णन किया गया है, उसके अन्तर्गत जो योगशास्त्र है, उसमें जो कृष्णार्जुन-संवाद है, उस संवाद का 'ज्ञान-कर्म-संन्यास-योग' नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ।*

उपसंहार

चतुर्थ-अध्याय में मुख्य-तौर पर दो विषयों का प्रतिपादन किया गया है। एक विषय है—'अवतारवाद'; दूसरा विषय है—'कर्म'-'विकर्म'-'अकर्म' तथा इनके साथ संबद्ध 'यज्ञ' तथा 'ज्ञान'।

'अवतारवाद' के विषय में सर्व-साधारण में जो प्रचलित धारणा है उसे आधार बना कर कुछ लिखना तो व्यर्थ है, वह विचार इतना घिसा-पिटा है कि उसमें कोई नवीनता नहीं। 'अवतारवाद' के संबंध में यह विचार प्राचीन-काल से चला आ रहा है और वह कभी-कभी शास्त्रार्थ का विषय बन जाता है। उस पर हमें यहाँ कुछ नहीं कहना। हाँ, 'अवतारवाद' के संबंध में अर्वाचीन-काल में दो नवीन विचार हैं जिन पर यहाँ प्रकाश डालना उपयुक्त होगा। इनमें से एक विचार श्री अरविंद का है, दूसरा अन्य विचारकों का है जो अवतार को सीधा परमेश्वर का उतरना नहीं मानते। इन दोनों विचारों का हम यहाँ वर्णन करेंगे।

'कर्म'-'विकर्म'-'अकर्म' के संबंध में भी जो प्राचीन भाष्यकारों के विचार हैं, उन्हें हमने उन स्थलों की हिन्दी टीका करते हुए लिख दिया है, परन्तु इनके संबंध में श्री आचार्य विनोबा भावे के कुछ नवीन ही विचार हैं। अवतारवाद पर लिखने के बाद हम आचार्य भावे के 'कर्म'-'विकर्म'-'अकर्म' संबंधी विचारों पर लिखेंगे।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

तस्मात्[1]—इसलिये; **अज्ञानसंभूतम्**[5]—अज्ञान से उत्पन्न; **हृत्स्थम्**[6]—हृदय में स्थित; **ज्ञानासिना**[10]—ज्ञान रूपी तलवार द्वारा; **आत्मनः**[8]—आत्मा के; **छित्त्वा**[11]—काट कर; **एनम्**[7]—इसको; **संशयम्**[9]—संशय को; **योगम्**[3]—योग-मार्ग को; **आतिष्ठ**[4]—जुट जा; **उत्तिष्ठ**[12]—उठ खड़ा हो; **भारत**[2]—हे भरत-वंशी अर्जुन।

*** इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः।**

I. अवतारवाद के संबंध में श्री अरविंद के विचार

क्योंकि गीता के चतुर्थ अध्याय का मुख्य विषय **'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्'** हैं, क्योंकि इसका अर्थ प्रायः सभी अवतारवाद लेते हैं, इसलिए इस प्रकरण में श्री अरविंद का 'अवतार' के संबंध में क्या अभिप्राय है—यह समझ लेना आवश्यक है। श्री अरविंद 'अवतार'-शब्द का प्रयोग कुछ विशेष अर्थों में प्रयुक्त करते हैं, इसीलिए हम इनके 'अवतारवाद' पर प्रकाश डाल रहे हैं।

श्री अरविंद का अवतार का सिद्धान्त उनकी सम्पूर्ण विचारधारा का एक आवश्यक अंग है। जबतक हम उनकी संपूर्ण विचारधारा को न समझें तबतक उनके अवतार-संबंधी विचार को समझना भी कठिन है। उनकी विचारधारा को समझने के लिए उनके निम्न विचारों को समझना होगा :

(क) ब्रह्म का रूप;
(ख) सृष्टि में ब्रह्म की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया;
(ग) अवतरण तथा आरोहण;
(घ) आरोहण का रूप—शरीर, प्राण, मन तथा अतिमानस की अभिव्यक्ति;
(ङ) अतिमानस तथा अधिमानस में संबंध;
(च) अतिमानस का अवतरण;
(छ) अवतार।

ब्रह्म का रूप

(क) 'सत्ता' एक ब्रह्म ही है—श्री अरविंद का कहना है कि जगत् में 'सत्ता' (Existence) एक ही है, उसी 'सत्ता' का नाम उपनिषदों में, गीता में, भारतीय साहित्य में सब जगह 'ब्रह्म' कहा गया है। यह सत्ता अपने शुद्ध रूप में सच्चिदानन्द है। इस सत्ता के—'ब्रह्म' के—दो पहलू हैं। उसका एक पहलू निर्गुण है। निर्गुण का अर्थ है—निर्वैयक्तिक, अनादि, अजन्मा, अव्यक्त, एकत्व, नेति-नेति रूप। उसका दूसरा पहलू सगुण है। सगुण का अर्थ है—व्यक्तित्व, विकास, बहुत्व, व्यक्त, नाना रूप। ब्रह्म का सगुण पहलू ही व्यक्तित्व धारण करता है, यही सृष्टि का विकसित रूप है, व्यक्त रूप है। ब्रह्म के निर्गुण रूप को 'स्थिर' (Static) कह सकते हैं; सगुण रूप को 'क्रियाशील' (Dynamic) कह सकते हैं।

(ख) चेतन ब्रह्म तथा जड़ प्रकृति में भेद—ब्रह्म के निर्गुण रूप का यह अर्थ नहीं है कि उसका किसी रूप में वर्णन नहीं किया जा सकता। निर्गुण अवस्था में भी ब्रह्म के अस्तित्व का, उसकी सत्ता का रूप सत्-चित्-आनन्द है। यह सच्चिदानन्द रूप निर्गुण ब्रह्म अपनी 'क्रियाशील अवस्था' (Dynamism) में सृष्टि की उत्पत्ति करता है। शुद्ध सच्चिदानन्द तो ब्रह्म का अव्यक्त रूप है, परन्तु वह अव्यक्त से व्यक्त होते-होते अनन्त काल की अवधि में जड़ प्रकृति के रूप में प्रकट हो जाता है। सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म तथा जड़ प्रकृति—ये दोनों इस जगत् की

एक ही सत्ता के दो छोर हैं। 'ब्रह्म' से जगत् का आदि समझें, तो 'जड़ प्रकृति' में उसका अन्त समझें। 'प्रकृति' ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं, अव्यक्त ब्रह्म का ही यह व्यक्त रूप है, ब्रह्म का ही अव्यक्त से व्यक्त की प्रक्रिया में से गुज़रते-गुज़रते, प्रकट हो जाने वाला शरीर है।

(ग) **शंकराचार्य के अद्वैत तथा अरविंद के अद्वैत में भेद**—उक्त विवरण से स्पष्ट हो जायगा कि शंकराचार्य तथा अरविंद दोनों अद्वैतवादी तो हैं, दोनों ही एक ही सत्ता को मानते हैं, दूसरी सत्ता को नहीं मानते। परन्तु फिर भी इन दोनों के अद्वैत एक-दूसरे से भिन्न हैं। इन दोनों में समानता क्या है और भेद क्या है? इन दोनों में समानता यह है कि ये दोनों अन्तिम तथा यथार्थ सत्ता केवल एक मानते हैं—**'एकमेवाद्वितीयम्'**; इन दोनों में भेद यह है कि शंकराचार्य तो प्रकृति को माया मानते हैं, मिथ्या मानते हैं, स्वप्नवत् मानते हैं, रज्जु में सर्प की भ्रान्ति-वत् मानते हैं, परन्तु श्री अरविंद प्रकृति को भ्रान्ति या स्वप्न नहीं मानते। उनका कहना है कि प्रकृति 'ब्रह्म' का ही व्यक्त रूप है, ब्रह्म का ही जड़ में प्रकट रूप है, परन्तु है यह यथार्थ; अयथार्थ, मिथ्या या भ्रान्ति नहीं है। शंकराचार्य प्रकृति को अयथार्थ, मिथ्या तथा भ्रान्ति मानते हैं।

२. सृष्टि में ब्रह्म की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया—अवतरण तथा आरोहण

(क) **अवतरण** (Involution)—सच्चिदानन्दरूपात्मक ब्रह्म-सत्ता के अव्यक्त से व्यक्त होने के संबंध में श्री अरविंद का विचार यह है कि पहले यह अभि-व्यक्ति चेतन से जड़ की तरफ़ चलती है, इस प्रक्रिया में सत्-चित्-आनन्द—ब्रह्म के ये रूप मन्द-मन्द होते जाते हैं, यहाँ तक कि जड़ प्रकृति में आकर ये सर्वथा तिरो-हित हो जाते हैं, मौजूद तो रहते हैं परन्तु अप्रकट हो जाते हैं, अव्यक्त हो जाते हैं। ब्रह्म के सत्-चित्-आनन्द—ये शुद्ध रूप तो अव्यक्त हो जाते हैं, परन्तु ज्यों-ज्यों ये मन्द पड़ते हैं, अव्यक्त होते हैं, त्यों-त्यों प्रकृति के रूप में उसका स्थूल रूप, नानात्व रूप व्यक्त होता है, प्रकट होता है। अव्यक्त से व्यक्त होने की इस प्रक्रिया को, चेतन-ब्रह्म से जड़-प्रकृति की तरफ़ गति को उन्होंने 'अवतरण' (Involution) का नाम दिया है।

(ख) **आरोहण** (Evolution)—जब ब्रह्म का अव्यक्त से व्यक्त के रूप में अवतरण जड़ प्रकृति की अवस्था तक पहुँच जाता है तब वह जड़ रूप में ही नहीं पड़ा रहता, परन्तु वहाँ से 'ब्रह्म' की 'क्रियाशीलता' (Dynamism) के कारण वह फिर उलट पड़ता है, और जड़ प्रकृति के रूप को त्यागता हुआ ब्रह्म फिर अपने सच्चिदानन्द रूप की तरफ़ पलट पड़ता है। जब वह गतिशील है, जड़ प्रकृति में जाकर आगे को गति रुक जाती है, तब वही गति फिर पीछे को, जहाँ से चली थी उधर ही को लौट पड़ती है। इस प्रक्रिया को श्री अरविंद ने 'आरोहण' (Evolution) का नाम दिया है, जहाँ से गिरी थी उधर को ही आरोहण करने लगी, उसका सच्चिदानन्द रूप जो मन्द-मन्द पड़ता गया था उसी

को पाने के लिए चल पड़ी। यह अवतरण तथा आरोहण ब्रह्म के क्रियाशील रूप के ही परिणाम हैं।

(ग) अवतरण तथा आरोहण में भेद—जब क्रियाशीलता चेतन ब्रह्म से जड़ प्रकृति की तरफ़ होती है तब अधोमुखी गति या अवतरण (Involution, Descent) होता है; जब क्रियाशीलता जड़ प्रकृति से सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म की तरफ़ चल पड़ती है; तब ऊर्ध्वमुखी गति या आरोहण (Evolution, Ascent) होता है। अधोमुखी गति या अवतरण तथा ऊर्ध्वमुखी गति या आरोहण में आधारभूत भेद क्या है? अधोमुखी गति में ज्यों-ज्यों ब्रह्म पर अज्ञान का पर्दा घनीभूत होता जाता है त्यों-त्यों वह जड़ प्रकृति की तरफ़ गति करता जाता है, उसका सच्चिदानन्द रूप अव्यक्त, अप्रकट होता जाता है; ऊर्ध्वमुखी गति में ज्यों-ज्यों ब्रह्म पर से अज्ञान का पर्दा हटता जाता है त्यों-त्यों उसका सच्चिदानन्द रूप व्यक्त, प्रकट होता जाता है।

(घ) व्यक्त तथा अव्यक्त का स्पष्टीकरण—यहाँ एक बात को समझ लेना आवश्यक है। ब्रह्म जब सृष्टि रूप में आया तब अव्यक्त से व्यक्त हुआ, जो नहीं दीखता था वह दीखने लगा, एकत्व से नानात्व प्रकट हुआ—इन्हीं अर्थों में हम कहते हैं कि अवतरण की प्रक्रिया अव्यक्त से व्यक्त होने की तरफ़ होती है। परन्तु जब चेतन ब्रह्म का जड़ प्रकृति के रूप में उपक्रम हो रहा होता है तब उसके सत्-चित्-आनन्द रूप अव्यक्त से व्यक्त नहीं हो रहे होते, वे रूप मन्द-मन्द पड़ रहे होते हैं, तिरोहित हो रहे होते हैं, मोटे अर्थों में अव्यक्त हो रहे होते हैं। यही कारण है कि जब अवतरण के बाद आरोहण की प्रक्रिया चलती है तब जड़ प्रकृति का व्यक्त या स्थूल, आँखों से दीखने वाला रूप तो अव्यक्त होने लगता है, परन्तु उसमें तिरोहित ब्रह्म का सत्-चित्-आनन्द रूप जो प्रकृति में आकर अव्यक्त हो गया था वह व्यक्त होने लगता है। जब हम कहते हैं कि 'अवतरण' (Involution or Descent) की प्रक्रिया अव्यक्त से व्यक्त की तरफ़ जाती है तब हमारा यह अर्थ होता है कि ब्रह्म का एकत्व रूप नानात्व की तरफ़ जाता है; जब हम कहते हैं कि 'आरोहण' (Evolution or Ascent) की प्रक्रिया भी अव्यक्त से व्यक्त की तरफ़ जाती है तब हमारा यह अर्थ होता है कि ब्रह्म के प्रकृति में तिरोहित सत्-चित्-आनन्द रूप जो प्रकृति में अव्यक्त हो गये थे, वे प्रकट, व्यक्त होने लगते हैं।

जब कभी सृष्टि प्रारंभ हुई थी तब अधोमुखी गति या अवतरण हुआ था, अब अधोमुखी गति या अवतरण नहीं हो रहा, अब ऊर्ध्वमुखी गति या आरोहण हो रहा है। यह 'आरोहण' (Evolution) कैसे हो रहा है?

३. आरोहण का रूप—शरीर, प्राण, मन तथा अतिमानस की अभिव्यक्ति

(क) शरीर, प्राण तथा मन—हम कह चुके हैं कि कोई समय था जब सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म अपनी 'क्रियाशीलता' (Dynamism) के कारण

अवतरण करता-करता जड़ प्रकृति का रूप धारण कर चुका था। अपने स्वाभाविक, क्रियाशील गुण के कारण ही यहाँ से यह पलटा और ब्रह्म की क्रियाशीलता जड़ प्रकृति के अन्तिम छोर पर जाकर, वहाँ तक पहुँच कर, क्योंकि वह आगे नहीं जा सकती थी, परन्तु थी क्रियाशील, अत: वह उलट पड़ी; जैसे चेतन से जड़ बना था, वैसे जड़ से चेतन बनने की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। आधुनिक विज्ञान भी तो यही कहता है। विज्ञान का कहना है कि जड़ से एकदम चेतन प्रकट हुआ, चेतन अर्थात् जीवधारी प्राणी। विकासवादी कहते हैं कि पहले जल में जीवन प्रकट हुआ, फिर जल-थल दोनों जगह गति करने वाले प्राणी, फिर पृथिवी पर चलने वाले—इस प्रकार पशु हुए, फिर वानर हुए, फिर मनन करने वाला मनुष्य हुआ। विकास की इसी प्रक्रिया को पुराणों में मत्स्यावतार, वराहावतार, नृसिंहावतार, वामनावतार आदि का रूप दिया गया है। तो विकास की, श्री अरविंद की परिभाषा में 'आरोहण' (Evolution) की प्रक्रिया का क्या रूप है?

'आरोहण' की प्रक्रिया में पहले-पहल प्रकृति जड़ता को छोड़ कर जीवन के रूप में प्रकट होती है। ब्रह्म जब जड़ प्रकृति के रूप को छोड़ कर ऊर्ध्व-गति करने लगता है, तब उसकी पहली मंज़िल जीवन है, जीवन का स्थूल रूप वृद्धि, उपचय-अपचय है। जड़ जगत् में, ईंट-पत्थर में वृद्धि, उपचय-अपचय नहीं है, जीवन में वृद्धि है, उपचय-अपचय है। वृद्धि, उपचय-अपचय जिस वस्तु में होता है उसे 'शरीर' कहते हैं। यह बात वृक्ष-वनस्पति में पायी जाती है इसलिए जड़ प्रकृति से आरोहण की प्रक्रिया में से गुज़रते हुए वानस्पतिक-शरीर का निर्माण पहली मंज़िल है। परन्तु वनस्पति तो एक जगह स्थिर रहती है, चलती-फिरती नहीं, आरोहण की प्रक्रिया यहीं अटकी न रह कर आगे बढ़ती है, विकास करती है, तब आरोहण में दूसरी मंज़िल आती है जिसमें 'प्राण' प्रकट होता है। यह प्राण-तत्व पशु-पक्षी में, जीवधारियों में पाया जाता है, परन्तु आरोहण की प्रक्रिया यहाँ पर भी अटकी नहीं रहती, आगे बढ़ती है, और इस दूसरी मंज़िल के बाद तीसरी मंज़िल आती है, और मानव-जीवन, वह जीवन जिसमें शरीर-तत्व तथा प्राण-तत्व के अलावा एक तीसरा तत्व जो अबतक प्रकृति के पर्दे से ढका हुआ था प्रकट हो जाता है। यह तीसरा तत्व है—'मनस्तत्व', मनुष्य का मानस।

(ख) **अतिमानस**—श्री अरविंद का कहना है कि आजतक सृष्टि विकास की प्रक्रिया में से गुज़रते-गुज़रते 'मनस्तत्व' तक पहुँची है, परन्तु जैसे जड़ प्रकृति से चेतन 'शरीर-तत्व' का विकास हुआ, जैसे शरीर-तत्व के बाद 'प्राण-तत्व' का विकास हुआ, जैसे प्राण-तत्व के बाद 'मनस्तत्व' का विकास हुआ, वैसे यह विकास यहीं रुक जाने वाला नहीं है। यह विकास आगे होगा, और इस विकास में जो अगला तत्व प्रकट होगा उस तत्व का नाम होगा 'अतिमानस' (Supramental) तत्व। इस 'अतिमानस' का किसी व्यक्ति में उतर आना ही अवतरण है, अवतार है, यही 'दिव्य-जन्म' (Divine birth) है। प्रश्न यह है कि यह 'अतिमानस-तत्व' क्या है?

जड़-प्रकृति से ऊपर को 'आरोहण' (Evolution) होते-होते जब 'मनुष्य' की अवस्था आ जाती है, वह अवस्था जिसमें 'मनस्तत्व' (Mind) प्रकट हो जाता है, तब यह 'मनस्तत्व' पाँच स्तरों में से गुज़रता है। पहला स्तर है— 'साधारण मानसिक-शक्ति' (Intelligence)। इस स्तर के लोग मन के साधारण-स्तर पर रहते हैं, ऊँची उड़ान नहीं ले सकते। इससे आगे वे लोग आते हैं जो उच्चतर मानसिक-स्तर के हैं, इन्हें 'उच्चतर-मन' (Higher mind) का कहा जा सकता है। ऐसे लोग भी हैं जो युक्ति-प्रतियुक्ति से किसी परिणाम पर नहीं पहुँचते, अपितु जिन्हें एकदम ठीक-ठीक सत्य सूझ जाता है। उनमें मनस्तत्व का स्तर और ऊँचा होता है जिसे हम 'अन्तःप्रज्ञा' या 'संबोधि' (Intuition) कह सकते हैं। मन की चौथी अवस्था ऐसी है जो 'आलोकित-मन' (Illumined mind) है, उसके सामने सब प्रकाश-ही-प्रकाश होता है। इन चारों के आगे श्री अरविंद ने मनस्तत्व की एक पाँचवीं अवस्था का वर्णन किया है जिसे उन्होंने 'अधिमानस' (Overmind) का नाम दिया है। 'साधारण मानसिक-शक्ति' (Intelligence) को छोड़कर मनस्तत्व के बाकी चारों स्तरों को श्री अरविंद ने 'अध्यात्मभावापन्न मन' (Spiritual mind) का नाम दिया है।

श्री अरविंद का कहना है कि मन के इन स्तरों के परे जो-कुछ भी तत्व है वह 'अतिमानस' (Supramental) है, और जैसे 'आरोहण' (Evolution) में हम 'मानस-तत्व' तक पहुँचे हैं, जिसके पाँच स्तरों के नाम हमने अभी दिये, वैसे ऊर्ध्वमुखी विकास करते-करते 'मानस-तत्व' के बाद हम इससे परे वर्तमान 'अतिमानस-तत्व' तक पहुँचेंगे। 'अतिमानस'—अर्थात् 'मानस-तत्व' से परे, उसके आगे का तत्व।

(ग) **'तत्व' का यहाँ अर्थ 'चेतना' है**—हमने इस सारे प्रकरण में 'तत्व' शब्द का प्रयोग किया है। 'तत्व'-शब्द से हमारा अभिप्राय 'चेतना' (Consciousness) से है। 'मन' का रूप भी तो 'चेतना' ही है। ऊपर दिये गये मन के पाँचों स्तर चेतना के स्तर हैं। 'चेतना' ही ऊपर से अवतरण करती-करती जड़ रूप प्रकृति में अवतरित होती है, 'चेतना' ही जड़ रूप प्रकृति के अन्तिम छोर पर जाकर वहाँ से ऊपर की ओर पलटती हुई अपने को शरीर, प्राण, मानस, अतिमानस के रूप में प्रकट करती है।

यह सब-कुछ समझ लेने के बाद यह समझना ज़रूरी है कि 'मानस' तथा 'अतिमानस' का एक-दूसरे के साथ क्या संबंध है ?

४. अतिमानस तथा अधिमानस में संबंध

मानसिक-चेतना के जिन पाँच स्तरों का हमने उल्लेख किया उन सब में 'अधिमानस-स्तर' (Overmind) 'अतिमानस-स्तर' (Supramental) के सब से निकट का स्तर है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि चेतना की जिन पाँच शृंखलाओं का, स्तरों का हमने उल्लेख किया, उन सब में 'अधिमानस'

(Overmind) सब से ऊँचा है। तो फिर 'अतिमानस' तथा 'अधिमानस' में परस्पर क्या संबंध है ?

'अतिमानस' (Supramental) तो सृष्टि की सत्य चेतना है, इसमें अज्ञान का लेश-मात्र भी नहीं है, ज्ञान उसका निज स्वभाव है। 'अतिमानस' अज्ञान में से निकल कर ज्ञान में प्रवेश नहीं करता, असत्य से निकल कर सत्य की तरफ़ नहीं जाता, वह तो ज्ञान रूप है, सत्य रूप है, प्रकाश रूप है। वह सत्य से महत्तर सत्य में प्रवेश करता है, ज्ञान से प्रगाढ़ ज्ञान की तरफ़ बढ़ता है, प्रकाश से ज्योतियों की ज्योति की तरफ़ पग बढ़ाता है, विस्तृतता से असीमता, अनंतता की तरफ़ जाता है। यह ब्रह्म का ही सच्चिदानन्द रूप है, परन्तु ब्रह्म का निर्गुण रूप नहीं, सगुण रूप, वह रूप जिसमें क्रियाशील ब्रह्म अभी अपने ही रूप में मौजूद है, एक-रस रूप में, ज्ञान-सत्य-प्रकाश रूप में, जिसमें वह प्रकृति के बहु-रूप में, नाना-रूप में, अज्ञान-असत्य-अन्धकार रूप में नहीं उतरा। ज्यों ही उसका बहु-रूप में, नाना-रूप में, अज्ञान रूप में, असत्य रूप में, अन्धकार रूप में पहला कदम पड़ा कि उस पहले रूप को ही श्री अरविन्द ने 'अधिमानस' (Overmind) का नाम दिया है। 'अधिमानस' तथा 'अतिमानस' बिल्कुल एक-दूसरे के पास हैं, 'अतिमानस' से उतरते 'अधिमानस' में हैं, 'अधिमानस' से चढ़ते 'अतिमानस' में हैं, परन्तु 'अतिमानस' में ब्रह्म का शुद्ध रूप है, 'अधिमानस' में ब्रह्म के प्रकृतिमय रूप की पहली झलक उठ खड़ी होती है।

५. अतिमानस का अवतरण

(क) अतिमानस के अवतरण का अर्थ—सृष्टि के ऊर्ध्वमुखी विकास में जैसे सबसे पहले 'शरीर-तत्व' (Physical being) व्यक्त हुआ, उसके बाद 'प्राण-तत्व' (Vital being) व्यक्त हुआ, उसके बाद 'मनस्-तत्व' (Mental being) व्यक्त हुआ, वैसे इस ऊर्ध्वमुखी विकास में, इस 'आरोहण' (Evolution) की प्रक्रिया में 'अतिमानस' (Supramental) व्यक्त होगा।

श्री अरविंद का कहना है कि शरीर, प्राण, मन, अतिमन—ये सब सृष्टि के तत्व हैं, चेतना के भिन्न-भिन्न स्तर हैं, परन्तु 'अवतरण' (Involution) करते समय ये जड़ प्रकृति का रूप धारण करते हुए अव्यक्त, अप्रकट रूप में मौजूद रहते हैं, और ये ही तत्व, चेतना के ये ही स्तर, 'आरोहण' (Evolution) के समय, जड़ प्रकृति से सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म के रूप में जाते हुए, व्यक्त होने लगते हैं, प्रकट होने लगते हैं। अबतक शरीर, प्राण, मन—ये तीन तत्व, चेतना के ये तीन स्तर व्यक्त, प्रकट हो चुके हैं, अब 'अतिमानस-तत्व' के अथवा यों कह सकते हैं कि चेतना के अतिमानस-स्तर के प्रकट होने का समय है।

(ख) अतिमानस द्वारा रूपांतरण—जब विश्व में अतिमानस-चेतना प्रकट होगी तब क्या होगा ? श्री अरविंद का कहना है कि तब हमारा यह शरीर, यह मन सर्वथा बदल जायगा, रूपांतरित हो जायगा। जैसे प्राण-तत्व के आविर्भाव

से प्राणी का शरीर कुछ-का-कुछ बन गया, जैसे मनस्तत्व के आविर्भाव से मनुष्य का शरीर पशु-पक्षी से भिन्न होकर रूपांतरित हो गया, वैसे अतिमानस के आविर्भाव से यह शरीर ऐसा नहीं रहेगा, यह शरीर 'दिव्य' हो जायगा, मन भी 'दिव्य' हो जायगा। आज हम जैसे हाथ-पाँव से काम लेते हैं, शरीर को आधि-व्याधि सताती है, शरीर की आयु सीमित है, वैसे ये सीमाएँ जाती रहेंगी। हम जैसे सुख-दुःख से घिरे रहते हैं, कभी हँसते कभी रोते हैं, राग-द्वेष-भय से विक्षिप्त रहते हैं, अतिमानस द्वारा हमारे रूपांतरण के बाद यह सब-कुछ नहीं रहेगा, मनुष्य आनन्दमय हो जायगा। जैसे इस पृथिवी पर ही चेतना ने अपने को जड़ से ऊपर उठ कर वनस्पति-वृक्षों में प्रकट किया, जैसे इस पृथिवी पर ही चेतना ने अपने को पशु-पक्षियों में प्राण-रूप में प्रकट किया और उस योग्य उपकरणों का, साधनों का निर्माण किया, जैसे इस पृथिवी पर ही चेतना ने अपने को मनुष्यों में मानस रूप में प्रकट किया और मन के योग्य साधनों का निर्माण किया, वैसे इसी पृथिवी पर अतिमानस अपने को प्रकट करेगा और अतिमानस के प्रकट होते ही मानव-समाज के उपकरण भी उसी के अनुरूप हो जायेंगे। यह मनुष्य का इस पृथिवी पर 'दिव्य-जन्म' होगा और उसके कर्म 'दिव्य-कर्म' होंगे। उपनिषद् में शरीर, प्राण, मन, अतिमन के विकास की इस प्रक्रिया को अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, तथा विज्ञानमय कोश कहा है।

प्रश्न यह है कि अतिमानस का अवतरण तथा मानव का रूपांतरण कैसे होगा? इसी का उत्तर श्री अरविंद ने 'अवतारवाद' से दिया है।

६. श्री अरविंद का अवतार का विचार

(क) अतिमानस का प्रयत्नपूर्वक अवतरण ही अवतार कहलाता है—श्री अरविंद का कहना है कि अतिमानस के मानव में अवतरण तथा मानव के रूपांतरण के दो मार्ग हैं। एक है—स्वाभाविक; दूसरा है—प्रयत्न-साध्य। वैसे तो सृष्टि का विकास अतिमानस के मानव में अवतरण, तथा अवतरण द्वारा उसके रूपांतरण की तरफ़ ही है। पहले वृक्ष-वनस्पति के रूप में 'शरीर' प्रकट हुआ, फिर पशु-पक्षी आदि के रूप में 'प्राण' प्रकट हुआ, फिर मनुष्य के रूप में 'मन' प्रकट हुआ, सृष्टि विकास करती-करती आगे जा रही है, 'अवतरण' अब समाप्त हो चुका है, अब 'आरोहण' की प्रक्रिया चल रही है, यह ऐसे ही चलती जायगी और स्वाभाविक विकास होते-होते अनन्त काल में 'अतिमानस' स्वयं प्रकट होगा, ऊर्ध्वमुखी विकास का यह अवश्यंभावी परिणाम होगा। परन्तु श्री अरविंद का कहना है कि 'अतिमानस' को प्रकट करने का, उसे नीचे उतारने का एक दूसरा भी मार्ग है, और वह है ब्रह्म का स्वयं इस प्रक्रिया को शीघ्र लाने का प्रयत्न करना, इस विकास में सहायक होना। जब 'अतिमानस' के प्रकट होने का कार्य-क्रम स्वयं चल रहा होता है तब यह स्वाभाविक मार्ग से प्रकट हो रहा होता है, जब 'अतिमानस'

साध्य मार्ग से प्रकट हो रहा होता है। प्रयत्नसाध्य मार्ग से 'अतिमानस' का सृष्टि में प्रकट होना ही श्री अरविंद का अवतारवाद है।

(ख) 'अवतरण' तथा 'आरोहण' परस्पर बंधे हुए हैं—'अतिमानस' का प्रयत्नपूर्वक अवतरण किसी माध्यम से होता है। इसके अवतरण का जो भी माध्यम होगा, श्री अरविंद की परिभाषा में वही अवतार होगा। परन्तु श्री अरविंद के कथनानुसार 'अतिमानस' का अवतरण, नीचे को आकर प्रकट होना तभी होता है जब नीचे से मानव के ऊपर को उठने का समय होता है। जब कूएँ में डूब रहा व्यक्ति कूएँ से बाहर निकलने का प्रयत्न कर रहा होता है तब कोई आकर उस डूबते को बाहर निकालने के लिए कूएँ में रस्सी लटकाता है। नीचे उतरना बाहर निकलने के लिए है, अवतरण आरोहण के लिए है, अधोमुखी गति (Descent) ऊर्ध्वमुखी गति (Ascent) के लिए है। श्री अरविंद के अवतारवाद में 'अतिमानस' नीचे उतरता है, 'मानस' को ऊपर खेंचने के लिए, झटका देकर ऊपर ले आने के लिए। इस प्रकार श्री अरविंद के कथनानुसार ऊपर की चेतना का नीचे की चेतना को ऊपर खींच लाने के लिए व्यक्त होना ही अवतारवाद है। अगर नीचे की चेतना को ऊपर खींच कर न लाया जा सके तो अवतार-शब्द का प्रयोग करना निरर्थक है, दूसरे शब्दों में तब अवतार होता ही नहीं। तभी गीता ने कहा है—"जब धर्म के प्रति ग्लानि होने लगती है, अधर्म सिर ऊँचा करने लगता है, जब साधु पुरुषों के साथ दुर्व्यवहार होने लगता है, दुष्ट पुरुषों का बोलबाला होने लगता है, तब भगवान् अवतरित होते हैं ताकि धर्म का अखंड राज्य स्थापित हो सके।" श्री अरविंद की दृष्टि से अवतार क्या है? अवतार 'अतिमानस' का किसी व्यक्ति में प्रकट होना है, व्यक्त होना है, ताकि वह व्यक्ति मानव-समाज के अन्य व्यक्तियों को, संपूर्ण मानव-समाज को 'मानस-चेतना' से ऊपर उठाकर 'अतिमानस-चेतना' में ले जा सके। जिस व्यक्ति में 'अतिमानस' उतर आता है उसका जीवन 'दिव्य-जीवन' (Divine life) कहलाता है, ऐसा ही व्यक्ति अवतार कहलाता है। वैसे तो 'अतिमानस' इस सृष्टि में स्वाभाविक तौर पर अपने समय में व्यक्त होगा ही, परन्तु जब प्रयत्नपूर्वक कोई आत्मा अपने भीतर 'अतिमानस' को उतार लेता है, उतार लेने के साथ इस बात से भी अभिज्ञ होता है कि उसमें 'अतिमानस' उतरा है, प्रकट हुआ है, श्री अरविंद उसी को अवतार कहते हैं, और उसका काम, सृष्टि के सब प्राणियों को 'अतिमानस-चेतना' की तरफ़ ले आना—उसका यह काम 'दिव्य-कर्म' (Divine action) कहलाता है। मानव-समाज को ऊपर उठा कर अतिमानस की तरफ़ चलने के लिए प्रगतिशील बना देना ही 'दिव्य-कर्म' है। श्री अरविंद के कथनानुसार धर्म की स्थापना, अधर्म के नाश, साधुओं के परित्राण और दुष्टों के नाश का यही अर्थ है। इसी को गीता के ४र्थ अध्याय के ९वें श्लोक में **'जन्म कर्म च मे दिव्यम् एवं यो वेत्ति तत्त्वतः। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन'** कहा है। इसका अर्थ है—"जो व्यक्ति मेरे 'दिव्य-जन्म' और 'दिव्य-कर्म' को इस प्रकार जान लेता है वह शरीर

को त्यागने के बाद फिर जन्म नहीं लेता, अपितु हे अर्जुन! मेरे पास चला आता है।"

II. अवतारवाद के संबंध में वर्तमान-काल के अन्य विचारकों के विचार

'अवतार' का अर्थ परमात्मा का स्वयं मनुष्य रूप धारण करके पृथिवी पर उतर आना समझा जाता है। इस अर्थ में कई लोगों को आपत्ति है। उनका कहना है कि अज, अव्यय, निराकार भगवान् साकार कैसे हो सकते हैं।

इस विचार के लोगों का कहना है कि परमात्मा तो मनुष्य का रूप धारण करके नहीं उतरता, परन्तु कोई मुक्तात्मा जब सृष्टि में धर्म के प्रति ग्लानि और अधर्म का बोलबाला देखता है तब अपनी मुक्तावस्था को छोड़ कर संसार में फिर से धर्म की स्थापना के लिए जन्म ग्रहण करता है। संसार में जन्म दो तरह के जीवों का होता है। एक तो कर्म से बद्ध जीवों का, दूसरा कर्म के बन्धन से मुक्त जीवों का। कर्म से बद्ध जीव का उदाहरण अर्जुन है, कर्म से मुक्त जीव श्रीकृष्ण है—हैं दोनों जीवात्मा। कर्म से बद्ध जीव तो कर्मों के भोग के कारण पुनर्जन्म लिया ही करते हैं; कर्म से मुक्त जीव या तो परमात्मा की प्रेरणा से या स्वेच्छा से संसार में फैल रहे अधर्म को दूर करने के लिए जन्म लेते हैं। इन दोनों में भेद यह है कि बद्ध जीवों का जन्म स्वेच्छा से नहीं होता, मुक्त जीवों का जन्म स्वेच्छा से होता है; बद्ध जीव अपने कर्मों के भोग से पुनर्जन्म लेते हैं, मुक्त जीव दूसरों के कल्याण के लिए जन्म लेते हैं। इस प्रकार मुक्त जीवों का जन्म लेना ही अवतार है। श्रीकृष्ण ऐसे ही मुक्त जीव थे जिन्होंने जन्म लिया था।

परन्तु हम इस पचड़े में नहीं पड़ते। संसार का इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रत्येक देश, राष्ट्र तथा जाति में जब अत्यन्त निराशा का समय आ जाता है, चारों तरफ़ संकट-ही-संकट दिखायी देता है, ऐसा प्रतीत होता है कि एक और क्षण बीता कि हमारी सत्ता ही मिट जायगी, तभी अन्धकार में प्रकाश की, निराशा में आशा की किरण फूट पड़ती है और सारा-का-सारा नक्शा ही पलट जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि इसमें कभी-कभी इतना समय लगता दीखता है कि अन्धकार से प्रकाश में आने में सदियाँ बीत जाती हैं, परन्तु मानव-समाज के इस दीर्घकालीन इतिहास में सदियाँ दिनों, सप्ताहों से अधिक नहीं हैं। अन्धकार जब घनीभूत हो जाता है तब वह प्रकाश के निकटतम होता है—यह इस सृष्टि का आधारभूत नियम है। इस नियम की व्याख्या क्या है?

आजकल के कुछ सामाजिक विचारकों का, जिनमें से एक अंग्रेज़ विचारक **तोयनबी** का हम पहले उल्लेख कर आये हैं, कथन है कि संसार में विचारों की नई लहर समय-समय पर उठा करती है जो अपने समय के सब मूल्यों को बदल देती है, उनमें नयापन ला देती है। उनका कहना है कि हर नया विचार, हर नई लहर, नयी सभ्यता, नयी संस्कृति समय की आवश्यकता का, समय की ललकार का, समय

की पुकार का, अपने समय की परिस्थिति का प्रत्युत्तर होती है। परिस्थिति की ललकार भौतिक हो सकती है, सामाजिक हो सकती है, आध्यात्मिक हो सकती है। जब हम वैयक्तिक या सामूहिक रूप में किसी भौतिक, सामाजिक या आध्यात्मिक विषम परिस्थिति से घिर जाते हैं, तब हम में या समूह में उस कठिनाई को हल करने के लिए एक असाधारण क्रिया-शक्ति या स्फुरणा उत्पन्न हो जाती है। भौतिक, सामाजिक या आध्यात्मिक कठिन, विषम परिस्थिति हमें मलियामेट न कर दे, इसलिए इस विषम परिस्थिति की ललकार के प्रति हम प्रतिक्रिया करते हैं, परिस्थिति की चुनौती का प्रत्युत्तर देते हैं। यह प्रतिक्रिया, यह प्रत्युत्तर ही गीता का अवतारवाद है। तभी तो वहाँ कहा है कि जब अधर्म की ग्लानि होती है, दुष्टों का बोलबाला हो जाता है, तब विश्व में किसी ऐसी शक्ति का आविर्भाव होता है जो इस चैलेंज को स्वीकार कर उससे भिड़ जाती है और संसार में फिर से असत्य के विरुद्ध सत्य को, हिंसा के विरुद्ध अहिंसा को, अत्याचार के विरुद्ध सदाचार को प्रतिष्ठित करती है।

जब विषम परिस्थिति के साथ मानव-समाज संघर्ष करता है तब समाज में एक विशेष प्रकार की क्रिया-शक्ति फूट पड़ती है, मानो अवरुद्ध शक्ति का स्रोत उमड़ पड़ता है, इस अवरुद्ध स्रोत से जो शक्ति उभरती है वह नित-नित आनेवाली कठिनाइयों को चकनाचूर कर देती है, वह शक्ति भौतिक न होकर आध्यात्मिक होती है, वह बाह्य तथा आन्तरिक सब बाधाओं के साथ टक्कर लेती है। किसी समाज के संकट-काल में इस प्रकार आध्यात्मिक-शक्ति के स्रोत का फूट पड़ना ही अवतारवाद का रहस्य है। इसे हम शक्ति का अवतरण कह सकते हैं, परन्तु यह उस प्रकार का अवतारवाद नहीं है जिसे हम परंपरा से अवतार कहते हैं। ऐसी शक्ति समाज में से ही फूटती है। जैसे शरीर के रोगी होने पर शरीर में से ही रोग को दूर करने की प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, वैसे समाज के विषम परिस्थितियों का शिकार होने पर समाज में से ही अपने को स्वस्थ करने की प्रतिक्रिया स्वाभाविक तौर पर उत्पन्न होती है। यह प्रतिक्रिया समाज के जिन व्यक्तियों में साकार हो जाती है वे ही पीर, पैग़म्बर, महात्मा, अवतार कहे जाते हैं, ईश्वर की विभूति के रूप में पूजे जाते हैं।

आज सारा संसार एक 'आध्यात्मिक-संकट' (Crisis of the spirit) में से गुज़र रहा है। जो देश दीन-हीन हैं उनमें भूख-महामारी-दरिद्रता ने मनुष्य की अन्तरात्मा को इतना पीड़ित कर दिया है कि मनुष्य की आस्था वर्तमान सामाजिक-संगठन पर से उठती जा रही है, एक नवीन समाज के निर्माण के लिए मानव-समाज चिल्ला रहा है। जो देश संपन्न हैं, उन्हें अपने समान दूसरे सम्पन्न देशों से ख़तरा नज़र आता है। विचारों का संघर्ष, विचारों की टक्कर किसी को चैन से नहीं बैठने देती। जैसे कभी भारत में आध्यात्मिक-संकट आया था और उसकी साकार प्रतिक्रिया के रूप में बुद्ध प्रकट हुआ, जैसे कभी पैलस्टाइन में आध्यात्मिक-संकट आया और उसकी साकार प्रतिक्रिया के रूप में ईसा मसीह प्रकट

हुआ, जैसे कभी अरब में आध्यात्मिक-संकट आया और उसकी साकार प्रतिक्रिया के रूप में हज़रत मुहम्मद प्रकट हुआ, जैसे अपने देश में वर्तमान-युग में आध्यात्मिक-संकट आता रहा और उसकी प्रतिक्रिया के रूप में दयानन्द, गांधी प्रकट होते रहे, वैसे विश्व के वर्तमान आध्यात्मिक-संकट की चुनौती किसी सुप्त हृदय को जागृत करेगी और वह वर्तमान युग का अवतार होगा। समाज की चुनौती जिस हृदय पर चोट कर उसे जगा देती है वही 'अवतार' कहलाता है। वह परमात्मा का अवतार नहीं होता, संपूर्ण समाज की पुकार का साकार अवतार होता है।

III.—कर्म-विकर्म-अकर्म पर विनोबा भावे के विचार

गीता के सब प्राचीन भाष्यकारों ने 'विकर्म' का अर्थ 'विकृत कर्म' किया है, परन्तु आचार्य विनोबा ने 'विकर्म' का अर्थ 'विशेष-कर्म' किया है। अन्य टीकाकार 'विकर्म' को निषिद्ध मानते हैं, विनोबा 'विकर्म' को ही कर्म की आत्मा मानते हैं। अगर 'विकर्म' का अर्थ 'विशेष-कर्म' किया जाय, तो यह निषिद्ध रहता भी नहीं, विशेष-कर्म जो हुआ।

गीता का कहना है कि कर्म का रहस्य बड़ा गूढ़ है। जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म को देखता है वही कर्म के रहस्य को जानता है। यह रहस्य क्या है?

(क) **कर्म तथा विकर्म**—विनोबा का कहना है कि गीता में 'कर्म' का अर्थ हमारा खाना, पीना सोना—यह सब नहीं है। गीता में 'कर्म' का अर्थ 'स्वधर्म' है। परन्तु 'स्वधर्म' का आचरण कैसे किया जाय? 'स्वधर्म' अर्थात् 'कर्म' का आचरण करने के लिए 'निष्कामता' आवश्यक है, 'स्वधर्म' का पालन करे परन्तु निष्काम-भाव से। निष्काम-भाव का क्या अर्थ है? 'निष्काम-भाव' का अर्थ है—कामना छोड़ देना। कामना छोड़ने का अर्थ है—'काम' और 'क्रोध' को छोड़ना। कामना 'काम' से, इच्छा से पैदा होती है, इच्छा पूरी न होने पर 'क्रोध' होता है। इन दोनों को छोड़ना 'निष्कामता' है। गीता कहती है कि 'निष्कामता' तब तक आती नहीं जब तक 'कर्म' के साथ 'विकर्म' का साथ नहीं होता। वह कैसे? 'कर्म' के दो रूप हैं—बाहरी तथा भीतरी। उदाहरणार्थ, हम गुरु के सम्मुख सिर झुकाते हैं। यह कर्म का बाहरी, स्थूल रूप है। परन्तु सिर झुकाने के साथ ही यदि भीतर से मन न झुकता हो तब वाह्य क्रिया व्यर्थ है। बाहरी सिर झुकाने के कर्म के साथ भीतरी मन भी साथ दे तब समझना चाहिए कि 'कर्म' के साथ 'विकर्म' भी जुड़ गया। अगर गुरु के सम्मुख केवल सिर झुका और मन ने भीतर से विद्रोह किया तब समझना चाहिए कि 'कर्म' तो हुआ, परन्तु 'विकर्म' ने उसका साथ नहीं दिया। निष्काम-कर्म तभी सिद्ध होता है जब हमारे शरीर के बाह्य 'कर्म' के साथ मन के भीतर का चित्त-शुद्धि रूपी 'विकर्म' जुड़ा होता है। 'कर्म' और 'विकर्म' के मेल का अर्थ यह है कि शरीर एक तरफ़ जा रहा हो, मन दूसरी तरफ़ जा रहा हो—ऐसी बात नहीं होनी चाहिए। बाह्य कर्म तथा आन्तर कर्म का मेल बैठना चाहिए, 'कर्म' के साथ 'विकर्म' जुड़ा रहना चाहिए। अगर हम भगवान्

की प्राप्ति के लिए बाहर से उपवास तो करें, परन्तु भीतर से मन में भगवान् का चिन्तन न करें, तो उपवास की कीमत क्या रही ? तब तो हम उपवास में खाने-पीने का ही चिंतन करते रहेंगे, जो फिर बड़ा ही भयंकर भोजन हो जायगा। तंत्र के साथ मंत्र होना चाहिए। अगर बाह्य कर्म में हृदय की आर्द्रता न रही तो 'स्वधर्म' रूपी कर्म सूखा रह जायगा, उसमें निष्कामता रूपी फल-फूल नहीं लगेंगे। 'कर्म' के साथ जब 'विकर्म' मिल जाता है, बाह्य के साथ जब आन्तर का मेल होता है, जब तेल और बत्ती के साथ ज्योति का मेल होता है तब प्रकाश उत्पन्न होता है। विनोबा कहते हैं कि 'कर्म' के साथ जब 'विकर्म' का मेल होता है तब 'निष्कामता' आती है। बारूद में बत्ती लगाने से धड़ाका होता है। बारूद में एक शक्ति उत्पन्न होती है। 'कर्म' को बन्दूक की बारूद समझो। उसमें 'विकर्म' की बत्ती या आग लगी कि काम हुआ। जब तक 'विकर्म' आकर नहीं मिलता, तब तक वह 'कर्म' जड़ है, उसमें चैतन्य नहीं। एक बार जहाँ 'विकर्म' की चिनगारी उसमें गिरी कि फिर उस 'कर्म' में जो सामर्थ्य पैदा होता है वह अवर्णनीय है। चिमटी भर बारूद जेब में पड़ी रहती है, हाथ में उछलती रहती है, पर जहाँ उसमें बत्ती लगी कि शरीर की चिन्दी-चिन्दी उड़ी। 'कर्म' में 'विकर्म' के जुड़ते ही अहंकार, काम, क्रोध के प्राण उड़ जाते हैं। 'कर्म' में 'विकर्म' डाल देने से 'कर्म' दिव्य दिखलाई देने लगता है। माँ बच्चे की पीठ पर हाथ फेरती है। एक पीठ है, जिस पर हाथ यों ही इधर-उधर फिर गया। दोनों हाथ फेरने में कितना अन्तर है ? हाथ फिराने की यह क्रिया बिल्कुल क्षुद्र है, परन्तु उसमें माँ का हृदय उँडेला हुआ है इसलिए बच्चे का रोम-रोम पुलकित हो उठता है। दूसरे हाथ फेरने में कोई भावना नहीं इसलिए उससे झुंझलाहट होती है।

(ख) **कर्म तथा अकर्म**—विनोबा का कहना है कि 'कर्म' के साथ जब 'विकर्म' का जोड़ मिल जाता है तब शक्ति-स्फोट होता है और उसमें से 'अकर्म' का निर्माण होता है। लकड़ी जलने पर राख हो जाती है। पहले का वह बड़ा लकड़ी का टुकड़ा, अन्त में चिमटीभर बेचारी राख रह जाती है उसकी। खुशी से उसे हाथ में ले लीजिये और सारे बदन पर मल लीजिये। इस तरह 'कर्म' में 'विकर्म' की ज्योति जला देने से अन्त में 'अकर्म' हो जाती है। 'कर्म' में 'विकर्म' उँडेल देने से 'अकर्म' हो जाता है—इसका अर्थ क्या है ? इसका अर्थ यह है कि ऐसा मालूम ही नहीं होता कि कोई कर्म किया है। उस कर्म का बोझ नहीं मालूम होता। करके भी अकर्ता रहते हैं। गीता कहती है कि मार कर भी तुम मारते नहीं। माँ बच्चे को पीटती है, इसलिए तुम तो ज़रा उसे पीटकर देखो। तुम्हारी मार बच्चा नहीं सहेगा। माँ मारती है फिर भी वह उसके आँचल में मुँह छिपाता है। क्यों ? क्योंकि माँ के 'कर्म' में 'विकर्म' छिपा हुआ है इसलिए माँ का मारना न मारना हो जाता है, 'कर्म' 'अकर्म' हो जाता है। उसका यह मारना-पीटना निष्काम-भाव से है। उस कर्म में उसका स्वार्थ नहीं है। 'विकर्म' के कारण, मन की शुद्धि के कारण कर्म का कर्मत्व उड़ जाता है।

गीता कहती है कि 'स्वधर्म' रूपी 'कर्म' को 'विकर्म' की सहायता से 'अकर्म' कर देना हमारा ध्येय है। इसका क्या अर्थ हुआ ? इसका अर्थ यह हुआ कि 'कर्म' से गीता का अभिप्राय अन्य किसी कर्म से नहीं 'स्वधर्म' से है। यह 'स्वधर्म' त्रास या कष्ट दे सकता है। अगर इस 'कर्म' को करने के लिए 'विकर्म' का पल्ला पकड़ लिया जाय, तो यह 'कर्म' ऐसा हो जाता है जैसे 'अकर्म' हो, 'कर्म' किया ही न हो। इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिए हम कह सकते हैं कि सूर्य उदय होता है, पर उसके मन में क्या कभी यह भाव आता है कि मैं अंधेरा मिटाऊँगा, पंछियों को उड़ने की प्रेरणा दूंगा ? वह तो उदय होता है, बस, उसका अस्तित्व मात्र विश्व को गति देता है। उसका कर्म सहज-स्वभाव का होने के कारण अकर्म हो जाता है, उसमें उसे कष्ट या त्रास नहीं होता। तभी गीता में कहा है कि मैंने कर्मयोग का यह रहस्य पहले-पहल दिवस्वान् को सिखाया। विवस्वान् का अर्थ है—सूर्य। सूर्य कर्म करता है, जो अकर्म हो जाता है। 'सूर्य ने मनु को सिखाया' का अर्थ है कि सूर्य से यह 'करके न करने' का गुर मनुष्य ने सीखा क्योंकि मनु मानव का प्रतीक है। 'मनु ने इक्ष्वाकु को यह रहस्य बताया' का अर्थ है कि मानव ने जब यह गुर सीखा तो पहले-पहले सूर्यवंशी लोगों ने इसे सीखा क्योंकि इक्ष्वाकु सूर्यवंशी राजा था। ज्ञानी यदि कहे कि 'मैं उपकार नहीं करूंगा' तो उसके लिए यह असंभव है। ऐसे ज्ञानी पुरुष का कर्म, अकर्म की दशा को पहुँच गया है, उसके स्वभाव का अंग हो गया है।

(ग) **कर्म में अकर्म**—गीता कहती है कि कर्म के रहस्य को वह जानता है जो कर्म में अकर्म को और अकर्म में कर्म को जानता है। कर्म में अकर्म को जानने का क्या अर्थ है ? जिस तरकीब से दुनिया भर के कर्म करते हुए भी वे सब गल कर बह जायें वह कर्म का अकर्म हो जाना है। विनोबा कहते हैं कि सूर्य रात-दिन कर्म करता है, परन्तु इतना कर्म करते हुए भी ऐसा कहा जाता है कि वह कुछ नहीं करता। सन्त पुरुष का जीवन ऐसा ही होता है। वह कर्म करता है, परन्तु वह कर्म ऐसा होता है जैसे सूर्य का प्रकाश देना। कर्म कर्म तो तब लगे जब उसे करने में भार हो, जब मालूम ही न हो कि मैंने कर्म किया, जब यह स्वभाव का अंग हो जाय, तब कर्म अकर्म हो जाता है और तब कर्म के रहस्य को जाननेवाला कर्म में अकर्म को देख लेता है।

(घ) **अकर्म में कर्म**—गीता ने कहा कि कर्म के रहस्य को जाननेवाला जहाँ कर्म में अकर्म को जान लेता है वहाँ अकर्म में कर्म को जान लेता है। इसका क्या अर्थ है ? विनोबा इस बात को स्पष्ट करने के लिए दृष्टांत देते हैं। किसी मनुष्य को गुस्सा आ गया। यदि हमारी किसी भूल से वह गुस्सा हुआ है, तो हम उसके पास जाते हैं। वह चुप रहता है, बोलता नहीं। अब उसके अबोल का, कर्म-त्याग का कितना प्रचंड परिणाम होता है। माँ या बाप ने बच्चे से बोलना बंद कर दिया, तो उसका परिणाम कितना ज़बर्दस्त होता है। उस बोलने के कर्म को छोड़ देने से, उस कर्म को न करने से ही इतना प्रचंड कर्म होता है कि प्रत्यक्ष कर्म करने पर भी उतना परिणाम नहीं हो सकता। यह अकर्म में कर्म को देख लेना है।

पाँचवाँ अध्याय

कर्म-संन्यास-योग अर्थात् कर्म-योग

[योग-मार्ग]

पिछले अध्याय में 'ज्ञान-योग' और 'कर्म-संन्यास-योग'—इन दोनों की प्रशंसा की गई है। 'योग' अर्थात् 'मार्ग'। 'कर्म-संन्यास' का अर्थ है—कर्मों का त्याग देना, कर्मों का अर्थात् कर्मों के फलों की कामना का, सकामता का त्याग देना। यह एक योग हुआ, 'कर्मयोग', वह योग—वह मार्ग—जिसमें कर्म तो किया जाता है परन्तु फल भगवान् के अर्पण कर दिया जाता है। दूसरा योग—मार्ग—'ज्ञानयोग' हुआ जिसमें कर्म ही नहीं किया जाता, ज्ञान द्वारा कर्म को भस्म कर दिया जाता है। इन्हीं दो योगों के कारण चतुर्थ अध्याय को 'ज्ञान-कर्म-संन्यास' कहा है—ज्ञानयोग द्वारा कर्म का संन्यास, अर्थात् छोड़ देना, तथा कर्म करते हुए भी कर्मयोग द्वारा, अर्थात् निष्कामता द्वारा कर्म फल का संन्यास, अर्थात् छोड़ देना। अर्जुन के हृदय में शंका हुई कि श्रीकृष्ण ने तो दोनों की प्रशंसा कर दी—ज्ञानयोग की भी, कर्मयोग की भी। प्रश्न यह है कि इन दोनों में से श्रेष्ठतर कौन-सा मार्ग है? ज्ञानयोग का मार्ग श्रेष्ठ है, या कर्मयोग का? इसी प्रश्न का उत्तर पंचम अध्याय में दिया गया है। इस अध्याय में ज्ञानयोग से कर्मयोग को श्रेष्ठ घोषित किया गया है, इसीलिए इसका नाम 'कर्म-संन्यास-योग' रखा गया है, अर्थात् कर्म को निष्काम-भाव से कर के कर्म-फल का संन्यास अर्थात् त्याग। तीसरे अध्याय के दूसरे श्लोक में भी अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा था—**'व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे'**—अर्थात् मिली-जुली बात न कह कर, एक बात कह। यहाँ फिर अर्जुन कहता है कि हे कृष्ण! यह दोनों मार्गों की प्रशंसा करने की बात मेरी समझ में नहीं आती। दो बातें न कहकर एक बात कह।

अर्जुन ने कहा : तुम एक बार 'कर्मयोग' की प्रशंसा करते हो और फिर दूसरी बार 'ज्ञानयोग' (संन्यास) की

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

संन्यासम्[3]—छोड़ देने को; **कर्मणाम्**[2]—कर्मों के; **कृष्ण**[1]—हे कृष्ण; **पुनः**[5]—फिर; **योगम्**[6]—न छोड़ने को; **च**[4]—और; **शंससि**[7]—

प्रशंसा करते हो। इन दोनों में से एक मार्ग को बतलाओ जो इन दोनों में से निश्चित रूप में अधिक श्रेयस्कर हो ॥१॥

श्री भगवान् ने कहा : **ज्ञानयोग और कर्मयोग–ये दोनों निःश्रेयस अर्थात् परम कल्याण को देनेवाले हैं, परन्तु इन दोनों में से कर्म को त्याग देनेवाले ज्ञान-योग की अपेक्षा कर्म-योग (निष्काम कर्म) अधिक अच्छा है ॥२॥**

(जो व्यक्ति कर्म-योगी है, निष्काम कर्म करने वाला है, उसे ज्ञान-योगी ही समझो क्योंकि) जो किसी से घृणा नहीं करता, किसी वस्तु की कामना नहीं करता, द्वन्द्वों से मुक्त है, हे महाबाहु अर्जुन ! उसमें सदा ज्ञान-मार्ग की,

---

प्रशंसा करते हो, कहते हो; **यत्**[10]–जो; **श्रेयः**[12]–श्रेष्ठ है; **एतयोः**[8]–इन दोनों में से; **एकम्**[9]–एक; **तत्**[13]–वह, उसको; **मे**[14]–मुझे; **ब्रूहि**[15]–बतलाओ; **सुनिश्चितम्**[11]–निश्चित तौर पर।

'संन्यास' का अर्थ है—त्याग देना; 'योग' का अर्थ है—जोड़ देना। गीता में संन्यासमार्ग का अर्थ है—कर्मों को त्याग देना। इसे संन्यास-मार्ग, सांख्य-मार्ग, ज्ञानयोग भी कहा गया है। गीता में योगमार्ग का अर्थ है—कर्मों का न त्यागना, कर्मों से जुड़ जाना, कर्म करना। इसे निष्काम-कर्म का नाम दिया गया है।

श्री भगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

संन्यासः[1]–ज्ञानयोग; **कर्मयोगः**[3]–कर्मयोग; **च**[2]–और; **निःश्रेयसकरौ**[5]–परम कल्याण करनेवाले; **उभौ**[4]–दोनों; **तयोः**[7]–उन दोनों में से; **तु**[6]–तो; **कर्मसंन्यासात्**[8]–ज्ञान-योग से; **कर्मयोगः**[9]–कर्मयोग; **विशिष्यते**[10]–विशेष है, अधिक अच्छा है।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥

ज्ञेयः[9]–समझना चाहिये; **सः**[7]–वह; **नित्यसंन्यासी**[8]–सदा संन्यासी; **यः**[2]–जो; **न**[3]–नहीं; **द्वेष्टि**[4]–द्वेष करता है; **न**[5]–नहीं;

संन्यास-मार्ग की भावना भरी हुई है। वह (कर्मों के) बन्धन से सरलता से छूट जाता है ॥३॥

बाल-बुद्धि के लोग ज्ञान-योग (सांख्य) तथा कर्म-योग (योग) को पृथक्-पृथक् बतलाते हैं, पंडित लोग नहीं। जो व्यक्ति इन दोनों में से किसी एक मार्ग पर भी ठीक तौर से डट जाता है, वह दोनों का फल पा लेता है ॥४॥

सांख्य-मार्ग वाले, कर्मों को त्यागनेवाले, ज्ञान-योगी जिस स्थिति को पाते हैं, योग-मार्ग वाले, कर्मों को करने वाले, कर्म-योगी भी उसी स्थिति को पहुँचते हैं। जो व्यक्ति सांख्य और योग—इन दोनों को एक देखता है वही ठीक-ठीक देखता है ॥५॥

कांक्षति[6]–कामना, इच्छा करता है; **निर्द्वन्द्वः**[11]–द्वन्द्वों से मुक्त; **हि**[10]–निश्चय से; **महाबाहो**[1]–हे महाबाहु अर्जुन; **सुखम्**[12]–सरलता से; **बन्धात्**[13]–कर्म के बन्धन से; **प्रमुच्यते**[14]–छूट जाता है।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

सांख्ययोगौ[1]–सांख्य-मार्ग तथा योग-मार्ग अर्थात् कर्म-संन्यास तथा कर्म-योग—इन दोनों को; **पृथक्**[3]–अलग-अलग; **बाला**[2]–बाल-बुद्धि के लोग; **प्रवदन्ति**[4]–कहते हैं; **न**[5]–नहीं; **पंडिताः**[6]–पंडित लोग; **एकम्**[7]–एक को; **अपि**[8]–भी; **आस्थितः**[10]–डटा हुआ; **सम्यक्**[9]–ठीक तौर पर; **उभयो**[11]–दोनों का; **विन्दते**[13]–पा लेता है; **फलम्**[12]–फल को।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

यत्[2]–जो; **सांख्यैः**[1]–ज्ञान-योग द्वारा; **प्राप्यते**[4]–प्राप्त होता है; **स्थानम्**[3]–स्थिति, उद्देश्य; **तत्**[7]–वह; **योगैः**[5]–कर्म-योगियों से; **अपि**[6]–भी; **गम्यते**[8]–पहुँचा जाता है, प्राप्त किया जाता है; **एकम्**[13]–एक; **सांख्यम्**[10]–ज्ञान-योग; **च**[11]–और; **योगम्**[12]–कर्म-योग; **च**[16]–और; **यः**[9]–जो; **पश्यति**[14]–देखता है; **सः**[15]–वह; **पश्यति**[17]–देखता है।

हे महाबाहु अर्जुन ! ज्ञान-मार्ग को कर्म-मार्ग के बिना पा सकना अत्यन्त दुस्साध्य है। जो ज्ञान-योगी मुनि कर्म-मार्ग में निष्ठापूर्वक लग जाता है वह शीघ्र ही ब्रह्म को जा पहुँचता है ॥६॥

सांख्य-मार्गी यही तो कहते हैं कि कर्म न किया जाय क्योंकि कर्म करने से मनुष्य कर्म के बंधन में फँस जाता है, कर्म से लिप्त हो जाता है। इसका उत्तर देते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं :

कर्म-योगी जिसकी आत्मा पवित्र है, जिसने अपने मन तथा इन्द्रियों को जीत लिया है, सब प्राणियों का आत्मा ही जिसका आत्मा हो गया है, वह कर्म करता हुआ भी उसमें लिप्त नहीं होता ॥७॥

मुख्य उद्देश्य तो कर्म-फल से, कर्म के बन्धन से बचना है—वह कर्म न करके हो, या कर्म करके निष्काम-भावना से हो। कर्म न करना तो संभव ही नहीं है, कर्म तो करना ही पड़ता है, इसलिये गीता का यह निष्कर्ष है कि जब कर्म से बचा नहीं जा सकता, कर्म के बन्धन से बचना भी है, तब एक ही मार्ग

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाऽधिगच्छति ॥६॥

संन्यासः[3]–ज्ञानयोग; **तु**[4]–तो; **महाबाहो**[1]–हे महाबाहु अर्जुन; **दुःखम्**[6]–कठिनाई से; **आप्तुम्**[5]–प्राप्त होता है; **अयोगतः**[2]–बिना कर्मयोग के; **योगयुक्तः**[7]–कर्मयोगी; **मुनिः**[8]–मुनि; **ब्रह्म**[9]–ब्रह्म को; **न चिरेण**[10]–शीघ्र ही; **अधिगच्छति**[11]–पहुँच जाता है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

योगयुक्तः[5]–कर्मयोगी; **विशुद्धात्मा**[3]–जिसकी आत्मा पवित्र है; **विजितात्मा**[1]–जिसने मन को जीत लिया है; **जितेन्द्रियः**[2]–जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है; **सर्वभूतात्मभूतात्मा**[4]–सब भूतों अर्थात् प्राणियों का आत्मा जिसके लिये आत्मभूत अर्थात् अपना-आपा हो गया है, जो सब प्राणियों को अपने आत्मा के समान समझता है; **कुर्वन्**[6]–करता हुआ; **अपि**[7]–भी; **न**[8]–नहीं; **लिप्यते**[9]–कर्म में लिप्त होता है।

रह जाता है, और वह मार्ग है—'निष्काम कर्म'—ऐसा मार्ग जिसमें कर्म किया भी जाता है परन्तु सांख्य-मार्ग का जो उद्देश्य है 'कर्म के बन्धन से बचना', वह भी सिद्ध हो जाता है। इसीलिये कर्म-योग ज्ञान-योग (सांख्य-मार्ग या संन्यास) से श्रेष्ठतर है।

जो युक्त है, योग-मार्गी है, कर्म-योगी है, वह तत्त्व-वित् है, तत्त्व को जान जाता है। इसलिये उसे देखते हुए, सुनते हुए, स्पर्श करते हुए, सूँघते हुए, खाते हुए, चलते हुए, सोते हुए, और श्वास लेते हुए यही समझना चाहिए कि मैं कुछ नहीं कर रहा ॥८॥

(इसी प्रकार) बोलते हुए, त्यागते हुए, ग्रहण करते हुए, पलकें खोलते हुए, पलकें मीचते हुए भी यह माने कि केवल इन्द्रियाँ अपने विषयों में बरत रही हैं ॥९॥

लोकमान्य तिलक ने इन श्लोकों का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि "मैं कुछ नहीं करता"—"इन्द्रियाँ ही अपने विषयों में बरत रही हैं"—इसका यह अभिप्राय नहीं कि इन्द्रियों को जो चाहे करने दे। अभिप्राय इतना

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥८॥

न[12]—नहीं; **एव**[13]—ही; **किंचित्**[11]-कुछ भी; **करोमि**[14]—करता हूँ; **इति**[15]—यह; **युक्तः**[2]—कर्मयोगी; **मन्येत**[16]—माने; **तत्त्ववित्**[1]-तत्व को जानने वाला; **पश्यन्**[3]—देखता हुआ; **शृण्वन्**[4]—सुनता हुआ; **स्पृशन्**[5]—स्पर्श करता हुआ; **जिघ्रन्**[6]—सूँघता हुआ; **अश्नन्**[7]—खाता हुआ; **गच्छन्**[8]—चलता हुआ; **स्वपन्**[9]—स्वप्न लेता हुआ; **श्वसन्**[10]—साँस लेता हुआ।

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

प्रलपन्[1]—बोलते हुए; **विसृजन्**[2]—त्यागते हुए; **गृह्णन्**[3]—ग्रहण करते हुए; **उन्मिषन्**[4]—पलकें खोलते हुए; **निमिषन्**[5]—पलकें मींचते हुए; **अपि**[6]—भी; **इन्द्रियाणि**[8]—इन्द्रियाँ; **इन्द्रियार्थेषु**[7]—इन्द्रियों के विषयों में; **वर्तन्ते**[9]—बरतती हैं; **इति**[10]—यह; **धारयन्**[11]—समझता हुआ।

ही है कि "मैं कर रहा हूँ"—इस अहंकार-बुद्धि के छूट जाने से अचेतन इन्द्रियाँ अपने ही आप कोई बुरा काम नहीं कर सकतीं, वे आत्मा के काबू में रहती हैं। आसक्ति से ही तो बुरा काम होता है, सुख-दुःख भी आसक्ति का ही परिणाम है, यही कर्म का बन्धन कहलाता है। अहंकारयुक्त आसक्ति छूट जाने से इन्द्रियाँ विषयों में ऐसे चलती हैं जैसे कोई मशीन चल रही हो, उसमें आसक्ति के कारण पैदा होनेवाले द्वन्द्व नहीं रहते।

जो व्यक्ति आसक्ति को त्याग कर ब्रह्म में अर्पण करके कर्म करता है वह पाप से लिप्त नहीं होता, ठीक ऐसे जैसे कमल का पत्ता (पानी में रहता हुआ भी) पानी से अलिप्त रहता है ॥१०॥

कर्मयोगी लोग आसक्ति को त्याग कर, आत्मशुद्धि के लिये केवल शरीर, केवल मन, केवल बुद्धि तथा केवल इन्द्रियों से काम करते हैं ॥११॥

लोकमान्य तिलक ने इसका स्पष्टीकरण यह किया है कि अहंकार के न रहने से कर्म-योगियों के जो कर्म होते हैं वे सिर्फ इन्द्रियों के होते हैं, और क्योंकि काया, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ सभी प्रकृति के विकार हैं इसलिये इनका कर्ता आत्मा नहीं इन्द्रियाँ ही हैं। क्योंकि आत्मा इन कर्मों का कर्ता नहीं इसलिये कर्म बन्धन के कारण भी नहीं होते।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

ब्रह्मणि[3]–ब्रह्म में; **आधाय**[4]–अर्पण करके; **कर्माणि**[2]–कर्मों को; **संगम्**[5]–आसक्ति को; **त्यक्त्वा**[6]–त्याग कर; **करोति**[7]–करता है; **यः**[1]–जो; **लिप्यते**[14]–लिप्त होता है; **न**[13]–नहीं; **सः**[8]–वह; **पापेन**[12]–पाप से; **पद्मपत्रम्**[10]–कमल का पत्ता; **इव**[11]–तरह; **अम्भसा**[9]–जल से।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥११॥

कायेन[5]–काया से; **मनसा**[6]–मन से; **बुद्ध्या**[7]–बुद्धि से; **केवलैः**[8]–केवल; **इन्द्रियैः**[9]–इन्द्रियों से; **अपि**[10]–भी; **योगिनः**[1]–कर्मयोगी लोग; **कर्म**[11]–कर्म को; **कुर्वन्ति**[12]–करते हैं; **संगम्**[2]–आसक्ति

कर्मयोगी कर्मों के फलों की आसक्ति को त्याग कर नैष्ठिक अर्थात् परम शान्ति को प्राप्त करता है। जो कर्म-योगी नहीं वह (क्योंकि कर्म तो वह करता है और आसक्ति का त्याग नहीं करता इसलिये) कामना से प्रेरित होकर फल में आसक्त होने के कारण बन्धन में कस जाता है ॥१२॥

जो लोग ज्ञान-योग की बात करते हैं, वे कहते हैं कि कर्म का त्याग करना चाहिये, कर्म से ही संन्यास ले लेना चाहिये ताकि कर्म का बन्धन न पड़े। ऐसे लोगों को लक्ष्य में करके श्रीकृष्ण कहते हैं कि ज्ञान-योगी तो बाह्य-कर्म का त्याग करता है, परन्तु बाह्य-कर्म के त्याग से कुछ नहीं बनता, असली कर्म-त्याग तो मन से होता है। कर्म-योगी क्योंकि कर्म तो करता है परन्तु मन में बसी कर्म-फल की कामना का त्याग कर देता है इसलिये वह ज्ञान-योगी से अधिक श्रेष्ठ है। इसी भाव को सम्मुख रखकर श्रीकृष्ण कहते हैं :

सब कर्मों को मन से, आन्तरिक रूप से त्याग कर, अपने को वश में रखनेवाला कर्म-योगी नौ द्वारों वाले इस शरीर रूपी नगर में सुख से निवास करता है। इस भावना

को; **त्यक्त्वा**[3]—त्याग कर; **आत्मशुद्धये**[4]—अपने आत्मा की शुद्धि के लिये।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

युक्तः[1]—कर्म में युक्त कर्मयोगी; **कर्मफलम्**[2]—कर्म के फल को; **त्यक्त्वा**[3]—छोड़ कर; **शान्तिम्**[5]—शान्ति को; **आप्नोति**[6]—प्राप्त करता है; **नैष्ठिकीम्**[4]—निष्ठा वाली, परम; **अयुक्तः**[7]—जो कर्म में युक्त नहीं है, कर्मयोगी नहीं है; **कामकारेण**[10]—कामना से प्रेरित होकर; **फले**[8]—कर्मफल में; **सक्तः**[9]—आसक्त हुआ-हुआ; **निबध्यते**[11]—बन्धन में कस जाता है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

सर्वकर्माणि[10]—सब कर्मों को; **मनसा**[11]—मन से; **संन्यस्य**[12]—छोड़कर; **आस्ते**[14]—रहता है; **सुखम्**[13]—सुख से; **वशी**[1]—मन को वश में करनेवाला; **नवद्वारे**[8]—नौ द्वार वाली (२ आँखें, २ कान,

से रहता हुआ वह न कोई कर्म करता है, न करवाता है ।।१३।।

जैसे कोई किसी के घर में जाकर अतिथि रूप में रहे, वह वहाँ द्रष्टा बनकर, साक्षी बनकर तो रहता है, परन्तु उस घर का स्वामी बनकर नहीं रहता, इसीलिये उस घर की खड़पच में नहीं पड़ता, इसी तरह हमें इस देहरूपी नगरी में मन से ही यहाँ के कर्मों में नहीं फँसना चाहिये और सुखपूर्वक यहाँ इस शरीर में अतिथि रूप में रहना चाहिये ।

(हम अपने को 'कर्ता' समझकर कर्म-फल का त्याग नहीं करते । श्रीकृष्ण कहते हैं कि) प्रभु ने न किसी को 'कर्ता' बनाया है, न 'कर्म' बनाया है, न कर्म-फल के साथ संयोग अर्थात् उसके प्रति 'आसक्ति' ही प्रभु ने बनाई है । यह तो मनुष्य का अपना स्वभाव है (जिससे वह अपने को 'कर्ता' मान बैठता है), वही स्वभाव हम सब में प्रवृत्त हो रहा है (अपने स्वभाव के कारण हम अपने को कर्ता मानते रहते हैं, अपने को 'कर्ता' न मानें तो कर्म अपने-आप निष्काम हो जाता है । 'स्वभाव' का अर्थ 'प्रकृति' भी किया जाता है । 'प्रकृति' ही सब कुछ करती है हम कुछ नहीं करते) ।।१४।।

---

२ नासाछिद्र, मुख, मूत्रेन्द्रिय, गुदा) ; **पुरे**[9]–नगरी में; **देही**[2]–देहवाला पुरुष; **न**[3]–नहीं; **एव**[4]–ही; **कुर्वन्**[5]–करता हुआ; **न**[6]–नहीं; **कारयन्**[7]–करवाता हुआ ।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ।।१४।।

न[3]–नहीं; **कर्तृत्वम्**[4]–कर्तापन को; **न**[5]–नहीं; **कर्माणि**[6]–कर्मों को; **लोकस्य**[2]–संसार के; **सृजति**[9]–बनाता है; **प्रभुः**[1]–प्रभु; **न**[7]–नहीं; **कर्मफलसंयोगम्**[8]–कर्मों के फल के प्रति संयोग को, आसक्ति को; **स्वभावः**[11]–मनुष्य का स्वभाव या प्रकृति; **तु**[10]–तो; **प्रवर्तते**[12]–प्रवृत्त होता है ।

(न प्रभु ने किसी को 'कर्ता' बनाया है, न वह स्वयं 'कर्ता' है, वह तो 'अकर्ता' होकर ही सब-कुछ कर रहा है, ठीक ऐसे जैसे कर्म-योगी के लिये कहा गया कि वह कर्म करता हुआ भी नहीं करता। जब वह 'कर्ता' नहीं है तब) वह विभु न किसी के पाप को लेता है, न पुण्य को। ज्ञान पर अज्ञान का पर्दा पड़ा रहता है इसलिये प्राणी मोह में पड़े रहते हैं (और जब कोई दुःख की बात होती है तब कहते हैं, परमात्मा ने दुःख दिया, जब सुख की बात होती है, तब कहते हैं परमात्मा ने सुख दिया। जब वह 'कर्ता' ही नहीं है तब उसे दुःख-सुख का कारण कहना अज्ञानवश ही होता है) ॥१५॥

परन्तु जिनका ज्ञान से अज्ञान नष्ट हो जाता है, उनका ज्ञान सूर्य के प्रकाश की भाँति उस परम ब्रह्म को प्रकाशित कर देता है ॥१६॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

न[2]–नहीं; आदत्ते[9]–ग्रहण करता है; कस्यचित्[3]–किसी का; पापम्[4]–पाप; न[6]–नहीं; च[5]–और; एव[8]–ही; सुकृतम्[7]–अच्छा काम; विभुः[1]–सर्वव्यापी परमात्मा; अज्ञानेन[10]–अज्ञान से; आवृतम्[12]–ढका हुआ है; ज्ञानम्[11]–ज्ञान; तेन[13]–उसी से; मुह्यन्ति[15]–मोह में पड़ जाते हैं; जन्तवः[14]–प्राणी।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

ज्ञानेन[6]–ज्ञान से; तु[1]–तो; तत्[3]–वह; अज्ञानम्[5]–अज्ञान; येषाम्[2]–जिनका; नाशितम्[7]–नष्ट कर दिया गया; आत्मनः[4]–अपना, अपने अन्तःकरण का; तेषाम्[8]–उनका; आदित्यवत्[10]–सूर्य के प्रकाश के समान; ज्ञानम्[9]–ज्ञान; प्रकाशयति[13]–प्रकाशित कर देता है; तत्[11]–उस; परम्[12]–परम ब्रह्म को।

और उस परम ब्रह्म में जिनकी बुद्धि रम जाती है, जिनका अन्तःकरण उसी में लीन हो जाता है, जो तन्निष्ठ हो जाते हैं, तत्परायण हो जाते हैं, उनके पाप ज्ञान से बिल्कुल धुल जाते हैं और वे उस दशा में पहुँच जाते हैं जहाँ से लौटना नहीं होता ।।१७।।

[कर्मयोगी के लक्षण]

(जैसे द्वितीय अध्याय में 'स्थित-प्रज्ञ' के लक्षण कहे गये हैं वैसे पंचम अध्याय में 'कर्म-योगी के लक्षण कहे गये हैं। कर्म-योगी के लक्षण क्या हैं ? जब कर्म-योगी की बुद्धि परम ब्रह्म में रम जाती है, उसका अन्तःकरण ब्रह्म में लीन हो जाता है, वह तन्निष्ठ तथा तत्परायण हो जाता है, उसके पाप ज्ञान-वारि से धुल जाते हैं तब) वह पंडित हो

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ।।१७।।

तत्-बुद्धयः[1]–उसमें बुद्धि वाले; **तत्-आत्मानः**[2]–उसमें आत्मा वाले; **तत्-निष्ठाः**[3]–उसमें निष्ठावाले (निष्ठाः = नितराम् स्थिताः; किसी बात में स्थिर हो जाने को निष्ठा कहते हैं, स्थिर-भाव); **तत्-परायणाः**[4]–उसके आश्रय में अपने को छोड़ देने वाले; **गच्छन्ति**[7]–जाते हैं; **अपुनरावृत्तिम्**[6]–पुनर्जन्म को नहीं, न लौट आने को; **ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः**[5]–ज्ञान से धुल गये हैं पाप या दोष जिनके ।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ।।१८।।

विद्याविनयसम्पन्ने[2]–विद्या तथा विनय से युक्त (जिसमें विद्या होती है उसमें विनय नहीं होता, जिसमें विनय होता है उसमें विद्या नहीं होती, इसलिये जिसमें दोनों गुण हों ऐसे); **ब्राह्मणे**[3]–ब्राह्मण में; **गवि**[5]–गौ में; **हस्तिनि**[6]–हाथी में; **शुनि**[7]–कुत्ते में; **च**[4]–और; **एव**[11]–ही; **श्वपाके**[8]–चांडाल में; **च**[9]–और; **पंडिताः**[1]–पंडित लोग; **समदर्शिनः**[10]–सम दृष्टि रखते हैं ।

जाता है, उसका अज्ञान जाता रहता है, वह समदर्शी हो जाता है, सबको एक दृष्टि से देखता है, विद्या तथा विनय से युक्त ब्राह्मण में, गाय, हाथी, कुत्ते तथा चांडाल में उसकी भेद-बुद्धि नहीं रहती, वह सबको समान देखता है ।।१८।।

(ज्ञान द्वारा) जिनका मन साम्यावस्था में स्थिर हो जाता है वे यहीं-के-यहीं, इस पृथ्वी पर ही संसार को जीत लेते हैं। क्योंकि ब्रह्म भी निर्दोष तथा सम है, सब में एक समान है इसलिये ये साम्य-बुद्धि वाले व्यक्ति ब्रह्म में स्थिर रहते हैं ।।१९।।

जो व्यक्ति प्रिय वस्तु को प्राप्त कर प्रसन्न नहीं होता, अप्रिय को प्राप्त कर उद्विग्न नहीं होता, जिसकी बुद्धि स्थिर है, जो मोह में नहीं फँसता, वह ब्रह्मवेत्ता है, ब्रह्म में स्थित है ।।२०।।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ।।१९।।

इह[6]–यहाँ; **एव**[7]–ही; **तैः**[5]–उन्होंने; **जितः**[9]–जीत लिया; **सर्गः**[8]–संसार; **येषाम्**[1]–जिनका; **साम्ये**[3]–समावस्था में; **स्थितम्**[4]–ठहरा हुआ है; **मनः**[2]–मन; **निर्दोषम्**[12]–निर्दोष; **हि**[10]–निश्चय से; **समम्**[13]–समावस्थावाला; **ब्रह्म**[11]–ब्रह्म भी; **तस्मात्**[14]–इसलिए; **ब्रह्मणि**[16]–ब्रह्म में; **ते**[15]–वे; **स्थिताः**[17]–स्थित रहते हैं।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ।।२०।।

न[3]–नहीं; **प्रहृष्येत्**[4]–प्रसन्न हो; **प्रियम्**[1]–प्रिय वस्तु को; **प्राप्य**[2]–प्राप्त करके; **न**[8]–नहीं; **उद्विजेत्**[9]–उद्विग्न हो; **च**[5]–और; **अप्रियम्**[6]–अप्रिय वस्तु को; **प्राप्य**[7]–प्राप्त करके; **स्थिरबुद्धिः**[10]–जिसकी बुद्धि स्थिर है, ठिकाने है; **असंमूढः**[11]–जो मोह में नहीं

जो व्यक्ति बाह्य विषयों के स्पर्श में आसक्त नहीं रहता वह आत्मा में जो सुख वर्तमान रहता है उसे प्राप्त करता है। ऐसा व्यक्ति 'ब्रह्मयोग' से युक्त हो जाता है (अपने आप को विषयों से छूटकर ब्रह्म में जुड़ा हुआ अनुभव करता है) और अक्षय सुख का उपभोग करता है ॥२१॥

हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन ! बाह्य विषयों के स्पर्श से, संयोग से जो भोग प्राप्त होते हैं वे दुःख को ही पैदा करते हैं, इन भोगों का आदि है और अन्त है (जिस भोग का आदि होगा उसका अन्त भी होगा, भोग का अन्त होगा तो दुःख होगा, यह सोचकर) बुद्धिमान् लोग उन भोगों में रत नहीं होते ॥२२॥

फँसा; **ब्रह्मवित्**[12]–ब्रह्मवेत्ता; **ब्रह्मणि**[13]–ब्रह्म में; **स्थितः**[14]–स्थित है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

बाह्यस्पर्शेषु[1]–बाहर के विषयों के स्पर्श में; **असक्तात्मा**[2]–जो आसक्त नहीं है, असक्त है; **विन्दति**[6]–प्राप्त करता है; **आत्मनि**[3]–आत्मा में; **यत्**[4]–जो; **सुखम्**[5]–सुख को; **सः**[7]–वह; **ब्रह्मयोग-युक्तात्मा**[8]–ब्रह्म के साथ युक्त होने वाला; **सुखम्**[10]–सुख को; **अक्षयम्**[9]–न क्षय होनेवाले को; **अश्नुते**[11]–उपभोग करता है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

ये[2]–जो; **हि**[6]–निश्चय से; **संस्पर्शजाः**[3]–बाह्य विषयों के साथ स्पर्श अर्थात् संयोग से उत्पन्न; **भोगाः**[4]–भोग; **दुःखयोनयः**[7]–दुःख के कारण हैं; **एव**[8]–ही; **ते**[5]–वे; **आद्यन्तवन्तः**[9]–आदि तथा अन्त वाले हैं; **कौन्तेय**[1]–हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन; **न**[12]–नहीं; **तेषु**[11]–उनमें; **रमते**[13]–रत होता है, आनन्द लेता है; **बुधः**[10]–बुद्धिमान्।

(श्रीकृष्ण ने जिस प्रकार के 'कर्म-योगी' का चित्र खींचा क्या वह इस जन्म में संभव है——इस शंका का अर्जुन के मन में उठ खड़ा होना स्वाभाविक है। इसलिये श्रीकृष्ण कहते हैं:) शरीर के छूटने से पहले, जो 'काम' और 'क्रोध' से उत्पन्न होने वाले वेग को सहन कर सकता है ('काम'-'क्रोध' के वशीभूत नहीं होता) वही युक्त है, अर्थात् कर्म-योगी है, वह मनुष्य सुखी है ॥२३॥

'काम' और 'क्रोध' का नाम यहाँ विशेष प्रयोजन से लिया गया है। हमारी सब इच्छाएँ, कामनाएँ तो 'काम' हैं, इच्छाओं की पूर्ति में जब रुकावट होती है तब 'क्रोध' उत्पन्न होता है। कर्म-योगी का लक्ष्य इन दोनों को वश में कर लेना है। जो व्यक्ति इन दोनों को वश में कर लेता है उसके जीवन में इसी जन्म में कर्म-योगी का चित्र उतर आता है।

जो व्यक्ति (बाहर के विषयों में सुख खोजने के स्थान में) अपने भीतर ही सुख पा जाता है, अपने अन्तर में ही आराम पा जाता है, अपने भीतर ही ज्योति पा जाता है, वह योगी ब्रह्म रूप हो जाता है और ब्रह्म अर्थात् परम निर्वाण अर्थात् मुक्ति को (ब्रह्म-निर्वाण को) पा जाता है ॥२४॥

**शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥**

शक्नोति[8]–कर सकता है; **इह**[12]–यहाँ; **एव**[4]–ही; **यः**[1]–जो; **सोढुम्**[7]–सहन करने में; **प्राक्**[3]–पहले; **शरीरविमोक्षणात्**[2]–शरीर को छोड़ देने से; **कामक्रोधोद्भवम्**[5]–काम तथा क्रोध से पैदा होने वाले; **वेगम्**[6]–वेग को; **सः**[9]–वह; **युक्तः**[12]–युक्त, जुड़ा हुआ, कर्म योगी; **सः**[13]–वह; **सुखी**[14]–सुखी; **नरः**[10]–मनुष्य।

**योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥**

यः[1]–जो; **अन्तःसुखः**[3]–अपने अन्दर सुख मानने वाला; **अन्तरारामः**[4]–अपने अन्दर ही आराम पाने वाला; **तथा**[5]–और;

वे ऋषि जिनकी द्वैध-बुद्धि छूट गई है (जो सबको आत्मवत् समझते हैं—'शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः सम-दर्शिनः), जिनके पाप क्षीण हो गये हैं (ज्ञान रूपी पवित्र जल से जिनका पाप रूपी पङ्क धुल गया है—'ज्ञाननिर्धूत-कल्मषाः), जिन्होंने अपने को संयम में ढाल लिया है, जो सब प्राणियों के हित में रत हैं, वे ब्रह्म अर्थात् परम, निर्वाण अर्थात् मुक्ति को (ब्रह्म-निर्वाण को) प्राप्त करते हैं ।।२५।।

जो यति विदितात्मा हैं, आत्मा को जान गये हैं, जो काम तथा क्रोध से रहित हो गये हैं, जिन्होंने अपने चित्त को, मन को संयत कर लिया है, अपने वश में कर लिया है, उन्हें परम मुक्ति (ब्रह्म-निर्वाण) आस-पास या सम्मुख रखा हुआ-सा मिल जाता है ।।२६।।

अन्तर्ज्योतिः[7]—अपने भीतर ही ज्योति देखने वाला; **एव**[2]—ही; **यः**[6]—जो; **सः**[8]—वह; **योगी**[10]—योगी; **ब्रह्मनिर्वाणम्**[11]—महान् मुक्ति को; **ब्रह्मभूतः**[9]—ब्रह्ममय हुआ-हुआ; **अधिगच्छति**[12]—पा जाता है ।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ।।२५।।

लभन्ते[8]—प्राप्त करते हैं; **ब्रह्मनिर्वाणम्**[7]—महान् मुक्ति को; **ऋषयः**[6]—ऋषि लोग; **क्षीणकल्मषाः**[1]—नष्ट हो गये हैं पाप जिनके; **छिन्नद्वैधाः**[2]—जिनकी द्वैध-बुद्धि छूट गई है, जो सब में समान-बुद्धि से बरतते हैं; **यतात्मानः**[5]—जिन्होंने अपने को संयम में ढाल लिया है; **सर्वभूतहिते**[3]—सब प्राणियों के हित में; **रताः**[4]—रत, लगे रहते हैं।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ।।२६।।

कामक्रोधवियुक्तानाम्[1]—जो काम तथा क्रोध से रहित हो गये हैं; **यतीनाम्**[4]—यतियों के; **यतचेतसाम्**[2]—जिन्होंने अपने चित्त को संयत कर लिया है, वश में कर लिया है; **अभितः**[5]—चारों ओर; **ब्रह्मनिर्वाणम्**[6]—महान् मुक्ति; **वर्तते**[7]—होता है; **विदितात्मनाम्**[3]—साक्षात्कार किया है, जान लिया है आत्मा को जिन्होंने, आत्म-दर्शी ।

बाह्य विषयों के स्पर्श को बाहर करके, दृष्टि को भौहों के बीच में जमाकर, नासिका में चलने वाले प्राण तथा अपान को समान करके——॥२७॥

इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि को वश में करने वाला, मोक्ष पाने के लिये कटिबद्ध, इच्छा, भय तथा क्रोध से रहित जो मुनि है वह सदा मुक्त ही है ॥२८॥

जो मेरे विषय में यह जानता है कि मैं 'यज्ञ' और 'तप' का भोक्ता हूँ, सब लोकों का महेश्वर हूँ, सब प्राणियों

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥

स्पर्शान्[2]–विषयों के स्पर्शों को; **कृत्वा**[5]–करके; **बहिः**[3]–बाहर; **बाह्यान्**[1]–बाहर के; **चक्षुः**[7]–दृष्टि को; **च**[6]–और; **एव**[4]–ही; **अन्तरे**[9]–बीच में; **भ्रुवोः**[8]–भौंहों के; **प्राणापानौ**[11]–प्राण तथा अपान इन दोनों को (यहाँ प्राण-अपान का अर्थ है श्वास-प्रश्वास); **समौ**[12]–सम; **कृत्वा**[13]–करके; **नासाभ्यन्तरचारिणौ**[10]–नासिका के बीच में चलनेवाले ।

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिः[1]–जीत ली हैं इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि जिसने; **मुनिः**[4]–परमेश्वर का सदा मनन करने वाला; **मोक्षपरायणः**[3]–मोक्ष के लिये कटिबद्ध; **विगतेच्छाभयक्रोधः**[5]–इच्छा, भय तथा क्रोध जिसका विगत हो गया है, हट गया है; **यः**[2]–जो; **सदा**[7]–सदा; **मुक्तः**[8]–मुक्त; **एव**[9]–ही; **सः**[6]–वह ।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

भोक्तारम्[3]–भोगनेवाले को; **यज्ञतपसाम्**[3]–'यज्ञों' और 'तपों' के; **सर्वलोकमहेश्वरम्**[4]–सब लोकों के महेश्वर को; **सुहृदम्**[6]–सुहृद्

का सुहृद् हूँ—वह ऐसा जानकर शान्ति को प्राप्त होता है ॥२९॥

'यज्ञ' उस काल के प्रचलित कर्मकाण्ड का सूचक है, 'तप' उस काल के प्रचलित ज्ञानकाण्ड का सूचक है।

श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् में जो ब्रह्मविद्या का वर्णन किया गया है, उसके अन्तर्गत जो योगशास्त्र है, उसमें जो कृष्णार्जुन-संवाद है, उस संवाद का 'कर्म-संन्यास-योग' नामक पंचम अध्याय समाप्त हुआ।*

उपसंहार

१. कर्म-मार्ग तथा कर्मत्याग-मार्ग

जीवन पर विचार करते हुए भारतीय विचारकों ने जीवन की दो प्रवृत्तियों पर विचार किया है। उनका कहना है कि या तो मनुष्य संसार के विषयों में प्रवृत्त होता है, या उनसे निवृत्त होता है। संसार के विषयों की तरफ़ खिंचाव को 'प्रवृत्ति-मार्ग' कहा गया है, विषयों से निवृत्त होकर परमात्मा की तरफ़ खिंचाव को 'निवृत्ति-मार्ग' कहा गया है। जिस समय गीता लिखी गई, उस समय 'प्रवृत्ति-मार्ग' का रूप हो गया था श्रौत-स्मार्त कर्मों का, यज्ञ-याग आदि का करना जिससे कहा जाता था कि 'स्वर्ग' की प्राप्ति होती है; 'निवृत्ति-मार्ग' का रूप हो गया था सब प्रकार के कर्मों को त्याग देना, घर-गृहस्थी का परित्याग कर संन्यास ले लेना जिससे कहा जाता था कि 'मोक्ष' की प्राप्ति होती है।

'प्रवृत्ति-मार्ग' को 'कर्म-योग' तथा 'निवृत्ति-मार्ग' को 'कर्म-त्याग-योग' कह सकते हैं। इस प्रकरण में 'योग' का अर्थ है—'मार्ग', रास्ता। गीता में प्रवृत्ति-मार्ग (कर्म) तथा निवृत्ति-मार्ग (त्याग-संन्यास) के लिए दूसरे शब्द हैं—'योग' तथा 'सांख्य'। प्रवृत्ति-मार्ग तथा 'योग' का एक ही अर्थ है; निवृत्ति-मार्ग तथा 'सांख्य' का भी एक ही अर्थ है। इस प्रकरण में 'योग' का अर्थ 'कर्मयोग' हो जाता है। गीता में सांख्य-मार्ग के लिए 'संन्यास', 'ज्ञान-मार्ग' तथा योग-मार्ग के लिए 'कर्म-मार्ग' या 'कर्म-संन्यास-मार्ग' का भी प्रयोग किया है। गीता के समय इन दोनों मार्गों का क्या अभिप्राय था?

(क) **कर्मयोग (कर्मकाण्ड)**—जैसा हमने अभी कहा गीता के समय 'कर्मयोग' का अर्थ था कर्मकांड, अर्थात् यज्ञ-याग आदि। यज्ञ-याग के लिए बड़े

को; **सर्वभूतानाम्**[5]—सब प्राणियों के; **ज्ञात्वा**[7]—जानकर; **माम्**[1]—मुझे; **शान्तिम्**[8]—शान्ति को; **ऋच्छति**[9]—प्राप्त होता है।

*** इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे कर्म-संन्यास-योगो नाम पंचमोऽध्यायः।**

विस्तृत विधि-विधान बने हुए थे, अनेक प्रकार के यज्ञों का प्रतिपादन किया गया था। इन यज्ञों का वर्णन चतुर्थ अध्याय में किया जा चुका है। यज्ञ किसी कामना से किये जाते थे। पुत्र-प्राप्ति के लिए, शत्रुओं के विनाश के लिए, सम्पत्ति के लिए, स्वर्ग प्राप्ति के लिए—इन तथा इन जैसी कामनाओं की प्राप्ति के लिए देवताओं को यज्ञ में हवि देकर उन्हें तृप्त किया जाता था और समझा जाता था कि देवता प्रसन्न होकर हमारी मनोकामना पूर्ण करेंगे। इस 'कर्मकांड' का अर्थ गीता का 'कर्मयोग' नहीं था।

(ख) **कर्मत्याग-योग (ज्ञानकांड)**—उस समय यज्ञ-याग आदि की निरर्थकता के विरुद्ध एक आवाज़ उठी हुई थी। यह कहा जाता था कि कर्म करने से मनुष्य कर्मों के बन्धन में पड़ता है, और बार-बार जन्म-मरण के गोरखधंधे में उलझा रहता है। हमें 'स्वर्ग' नहीं चाहिए, 'मोक्ष' चाहिए, 'मुक्ति' चाहिए, जन्म-मरण के व्यूह में से निकलना ही हमारा लक्ष्य है। जबतक हम संसार में रमे रहेंगे, इसमें प्रवृत्त रहेंगे, तब तक सुख के साथ दुःख से भी पीड़ित रहेंगे। इसमें से निकलने का एकमात्र रास्ता संन्यास है, घर-गृहस्थी छोड़ देना है, कर्मों को त्याग देना और ज्ञान में लीन रहना है। जैसे यज्ञ-याग आदि को कर्मकांड कहा जाता था, वैसे सांख्य-मार्ग को, संन्यास-मार्ग को, कर्म-त्याग-मार्ग को ज्ञानकांड कहा जाता था।

(ग) **'कर्म' तथा 'ज्ञान' का पारस्परिक विवाद**—गीता के समय कर्मकांड तथा ज्ञानकांड का पारस्परिक विवाद चल रहा था। कर्मकांडी ज्ञानकांडियों का खंडन करते थे, ज्ञानकांडी कर्मकांडियों का खंडन करते थे। गीता के बहुत बाद भी ज्ञानकांडी तथा कर्मकांडियों का विवाद जारी रहा। शंकर (७८८-८२०) ज्ञानकांडी थे, उन्होंने गीता की ज्ञानपरक व्याख्या कर दी। मंडन मिश्र आदि मीमांसक कर्मकांडी थे, वे यज्ञादि पर ही बल देते रहे। गीता के समय और बाद भी देश में ये दो पक्ष बने रहे। ज्ञानकांडी कहते कि बिना ज्ञान के 'मोक्ष' नहीं, कर्मकांडी कहते कि बिना कर्मकांड के 'स्वर्ग' नहीं।

२. गीता का समन्वयात्मक विचार

ऐसी ही स्थिति कभी रही होगी जब श्रीकृष्ण ने एक नया विचार दिया। उन्होंने 'कर्मकांड' से 'कर्म' के विचार को ले लिया, यह स्वीकार किया कि कर्म के बिना जीवन नहीं चल सकता, यह भी स्वीकार किया कि जीवन ही कर्ममय है, यज्ञमय है। परन्तु क्योंकि कर्म बन्धन में डाल देता है इसलिए उन्होंने 'ज्ञानकांड' से कर्म के फल को त्याग देने के विचार को, संन्यास के विचार को ले लिया, और इस प्रकार कर्मकांड तथा ज्ञानकांड का समन्वय करके 'निष्काम-कर्म' के एक नवीन विचार को जन्म दिया।

श्रीकृष्ण ने गीता में प्रवृत्ति-मार्ग तथा निवृत्ति-मार्ग का, योग तथा सांख्य का, कर्म तथा ज्ञान का समन्वय कर दिया है। इसी समन्वय के कारण यह भ्रम हो

जाता है कि गीता कर्मयोग की प्रशंसा कर रही है या ज्ञानयोग की। कर्मयोग की बातें कहते-कहते गीता ज्ञानयोग की बात कहने लगती है; ज्ञानयोग की बात कहते-कहते वह कर्मयोग की बात कहने लगती है। इसका कारण यही है कि श्रीकृष्ण ने 'कर्मयोग' में से 'कर्म' को ले लिया है, ज्ञानयोग में से 'अनासक्ति' को ले लिया है, कर्म तथा अनासक्ति को मिला कर 'कर्म में अनासक्ति'—इस नवीन विचार को जन्म दिया है जिसे गीता में 'निष्काम-कर्म' का नाम दिया गया है। 'निष्काम-कर्म' का अर्थ है—ज्ञानयोग तथा कर्मयोग का समन्वय।

गीता के ज्ञानयोग तथा कर्मयोग के समन्वय के कारण ही अर्जुन को समझ नहीं पड़ा कि श्रीकृष्ण क्या बात कह रहे हैं। तभी अर्जुन ने पाँचवें अध्याय के शुरू में पूछा: "कभी तुम ज्ञानयोग की प्रशंसा करते हो, कभी कर्मयोग की। यह घपले की बात क्या है? निश्चित कर के एक बात कहो।"

इस शंका का उत्तर देते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं: 'ज्ञान' तथा 'कर्म', 'सांख्य' तथा 'योग'—ये दोनों मार्ग एक-दूसरे के विरुद्ध नहीं हैं, जिस किसी मार्ग से भी हम चलें ठीक लक्ष्य तक पहुँच जाते हैं, परन्तु इन दोनों में 'ज्ञान-मार्ग' कठिन है, 'कर्म-मार्ग' सरल है, हम सब के व्यवहार में आ सकता है। परन्तु कौन-सा 'कर्म-मार्ग'? मीमांसकों का 'कर्म-कांड' नहीं, परन्तु ऐसा 'कर्म-मार्ग' जिस पर संन्यास की, ज्ञान की, अकर्म की छाप लगी हुई हो।

तो फिर गीता के 'ज्ञान' तथा 'कर्म' के समन्वय का, 'निष्काम-कर्म' का क्या रूप है? गीता ने 'निष्काम-कर्म' को 'कर्मयोग' का नाम दिया है। यह भी कहा है कि 'कर्म' का सिद्धान्त एक रहस्य है। यह रहस्य क्या है? 'कर्मयोग' का रहस्य यह है कि कर्म न करते हुए भी कर्म किया जाता है, और करते हुए भी ऐसा जान पड़ता है कि कर्म क्रिया ही नहीं—**'नैव कुर्वन् न कारयन्'**। 'न' कहते हुए भी करते रहना 'सांख्य-मार्ग' है, 'हां' कहते हुए भी न करते रहना 'योग-मार्ग' है। गीता की टेक 'करते हुए न करने' पर है क्योंकि इसी सिद्धान्त का गीता ने प्रतिपादन किया है। गीता का कहना है कि कर्म तो करना ही है, यह तो छूट ही नहीं सकता, परन्तु इसे ऐसे करो जैसे न करते हो। 'कर्म करना'—यह योग-मार्ग है, 'ऐसे करना जैसे न कर रहे हों'—यह सांख्य-मार्ग है। इस प्रकार 'कर्म करो परन्तु ऐसे करो जैसे न कर रहे हो'—यह कह कर गीता ने सांख्य तथा योग का समन्वय कर दिया है।

ऐसे कर्मयोगी का चित्र गीता ने पाँचवें अध्याय में खींचा है। कर्मयोगी के इस चित्र में तथा ज्ञानयोगी में कोई भेद नहीं है। परन्तु भेद न होते हुए भी इनमें भेद है। वह भेद क्या है?

(क) ज्ञानयोगी—सांख्यमार्गी, ज्ञानयोगी या संन्यासी वह है जो कुछ न करके सब-कुछ करता है। यद्यपि बाहर से वह कर्मत्याग कर देता है तो भी भीतर से उसमें कर्म ठसाठस भरा हुआ है। उसमें अनंत स्फूर्ति भरी हुई है। अगर एक सचमुच का श्रेष्ठ संन्यासी जिसकी सदैव समाधि लगी रहती है. जो बिल-

कुल निर्विकार है, दस दिन भी हमारे बीच में आकर रह जाय तो उससे हमें कितना प्रकाश, कितनी स्फूर्ति मिलती है। आचार्य विनोबा ने यह दृष्टांत देकर लिखा है कि अनेक वर्षों तक काम का ढेर लगा कर भी जो नहीं होता वह केवल उसके दर्शन से, अस्तित्वमात्र से हो जाता है। यंत्र जब वेग से घूमता है, तो ऐसा दिखाई देता है मानो घूम नहीं रहा, मानो स्थिर है। संन्यासी की भी स्थिति ऐसी ही होती है। उसकी शान्ति में से, स्थिरता में से, अकर्म में से अनन्त शक्ति, अपार प्रेरणा निकलती है।

(ख) **कर्मयोगी**—योगमार्गी, कर्मयोगी या निष्काम-कर्मी वह है जो सब-कुछ करके भी कुछ नहीं करता। ज्ञानयोग का बाह्य रूप अकर्म का है, आभ्यन्तर रूप कर्म का है; कर्मयोगी का बाह्य रूप कर्म का है, आभ्यन्तर रूप अकर्म का है। तभी तो गीता ने कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखने को कहा है। ज्ञानयोग, सांख्यमार्ग या संन्यास—वह मार्ग जिसमें कर्म न करते हुए सब कर्म करने को कहा गया है एक सिद्ध पुरुष के लिए शक्य है, साधक के लिए शक्य नहीं। साधक के लिए तो कर्मयोग ही शक्य है, व्यवहार्य है, ऐसा योग, ऐसा मार्ग जिसमें व्यक्ति कर्म तो करता है, परन्तु अपने कर्मों के फल को भगवान् को अर्पित करके कर्मों से अलग हो जाता है, कर्म-फल में आसक्त नहीं होता। इसीलिए द्वितीय अध्याय में कहा कि सांख्य और योग दोनों मार्ग एक ही हैं, पृथक् नहीं हैं, तो भी योगमार्ग—कर्मयोग—ज्ञानमार्ग की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक होने के कारण श्रेष्ठतर है।

छठा अध्याय

ध्यान-योग या आत्म-संयम-योग

भगवद्‌गीता के टीकाकारों का मत है कि गीता तीन भागों में विभक्त है। इसके कुल १८ अध्याय हैं जिनमें से पहले छः अध्याय 'कर्मयोग' पर हैं, अगले छः 'भक्तियोग' पर हैं, और अन्तिम छः 'ज्ञानयोग' पर हैं। गीता के टीकाकार भी तीन दृष्टियों को लेकर चले हैं। शंकराचार्य आदि अद्वैतवादी गीता को 'ज्ञानयोग' का ग्रन्थ मानते हैं, रामानुजाचार्य आदि विशिष्टाद्वैतवादी तथा मध्वाचार्य आदि द्वैतवादी गीता को 'भक्तियोग' का ग्रन्थ मानते हैं, तिलक आदि कर्मवादी गीता को 'कर्मयोग' का ग्रन्थ मानते हैं। ये सब टीकाकार गीता में जहाँ अपने मत के विरुद्ध बात देखते हैं वहां अपनी दृष्टि से समाधान करने का प्रयत्न करते हैं। असल में, गीता में इन तीनों मार्गों का प्रतिपादन किया गया है और तीनों द्वारा जीवन में शान्ति की प्राप्ति होती है—यह कहा गया है। **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तान् तथैव भजाम्यहम्'** (४—११) का यही अर्थ है—जो जिस मार्ग से भगवान् को पाना चाहता है, ज्ञान-मार्ग से हो, भक्ति-मार्ग से हो, कर्म-मार्ग से हो, सब मार्गों से वहीं पहुँचते हैं, इन मार्गों में आपस में कोई विरोध नहीं है। जो लोग इन मार्गों में विरोध समझते हैं वे गीता के तत्त्व को नहीं समझते।

प्रत्येक व्यक्ति की मानसिक-रचना भिन्न-भिन्न होती है। कोई ज्ञानमार्ग को आसान समझता है, कोई भक्ति मार्ग को, कोई ज्ञानमार्ग को, जिसकी रुचि के जो मार्ग अनुकूल पड़े उसी मार्ग से वह चले, परन्तु क्योंकि संसार के सब जीव कर्म करते हैं, कर्म से विरत होना कठिन है, इसलिए सुकर होने के कारण 'कर्मयोग' सब से अधिक व्यावहारिक है। उसी कर्मयोग का पहले छः अध्यायों में वर्णन किया है। छठे अध्याय में यह बतलाया है कि 'कर्मयोग' का साधन क्या है? 'कर्मयोग' का अर्थ है—'काम' तथा 'क्रोध' को त्याग देना, इसी का अर्थ है 'निष्काम-कर्म' करना। यह तभी संभव है जब इन्द्रियों का निग्रह किया जाय। इन्द्रियों का निग्रह किया जा सकता है 'ध्यान' से। तो 'ध्यान' कैसे किया जाय, इसका क्या उपाय है? इसी ध्यान का वर्णन छठे अध्याय में किया गया है, इसी कारण छठे अध्याय का शीर्षक 'ध्यान-योग' या आत्म-संयम-योग है। यह योग तीन योगों के अतिरिक्त कोई चौथा योग नहीं है, यह 'कर्मयोग' का साधन है, ध्यान का नाम ही ध्यान-योग कह दिया गया है।

अगले छः अध्यायों में क्योंकि 'भक्ति-योग' का वर्णन करना है इसलिए इस अध्याय में 'ध्यान-योग' का वर्णन करके 'भक्ति-योग' की नींव रख दी गई है।

[कर्म-योगी तथा ज्ञान-योगी एक ही हैं]

श्री भगवान् ने कहा : **जो व्यक्ति अपने कर्तव्य-कर्म को करते हुए कर्म-फल पर आश्रित नहीं रहता (कर्म-फल मिलेगा, इस आशा से कर्म नहीं करता अपितु यह उसका कर्तव्य है, यह समझ कर करता है), वह संन्यासी भी है, योगी भी है। यह समझना कि जिसने अग्निहोत्र आदि कर्मों को छोड़ दिया या जिसने सब कर्म छोड़ दिये, निठल्ला बैठ गया, वह संन्यासी है, वह योगी है——यह ग़लत है ॥१॥**

हे पांडव ! जिसे 'ज्ञान-योग' (संन्यास) कहते हैं उसी को 'कर्म-योग' समझो क्योंकि (जैसे संन्यासी सब संकल्पों को, फल की आशाओं को, कर्म का त्याग करके छोड़ देता है वैसे) कोई भी कर्म-योगी जब तक संकल्प का, फल की आशा का त्याग नहीं करता तक तक वह कर्म-योगी नहीं होता ॥२॥

श्री भगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

अनाश्रितः[3]–आश्रय या सहारा न रखता हुआ; **कर्मफलम्**[2]–कर्म के फल को; **कार्यम्**[4]–करने योग्य; **कर्म**[5]–कर्म को; **करोति**[6]–करता है; **यः**[1]–जो; **सः**[7]–वह; **संन्यासी**[8]–संन्यासी है; **च**[9]–और; **योगी**[10]–योगी है; **च**[11]–और; **न**[13]–नहीं; **निरग्निः**[12]–अग्निहोत्र न करने वाला; **न**[16]–नहीं; **च**[14]–और; **अक्रियः**[15]–कर्म न करने वाला।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

यम्[2]–जिस बात को; **संन्यासम्**[3]–संन्यास; **इति**[4]–यह; **प्राहुः**[5]–कहते हैं; **योगम्**[7]–योग; **तम्**[6]–उसे; **विद्धि**[8]–समझ; **पाण्डव**[1]–हे अर्जुन; **न**[13]–नहीं; **हि**[9]–निश्चय से; **असंन्यस्तसंकल्पः**[10]–

लोक-व्यवहार में धन, पुत्र प्राप्ति आदि कर्म करने के लिए जब यजमान यज्ञ प्रारंभ करता है तब संकल्प वाक्य पढ़ता है—**'अमुक-फल-सिद्धयर्थम् अमुक-कर्म करिष्ये'**। यह संकल्प कहलाता है। संन्यास में इस प्रकार के संकल्प का त्याग करना पड़ता है क्योंकि उसमें कर्म का ही त्याग करना होता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्मयोग में भी कर्म-फल के संकल्प को छोड़ना पड़ता है इसलिए कर्म-योग तथा ज्ञान-योग दोनों एक ही हैं।

जब साधक 'कर्म-योग' के लक्ष्य को पाने के लिये ऊपर चढ़ रहा होता है तब उसका साधन 'कर्म' होता है, जब वह लक्ष्य पर आरूढ़ हो जाता है, वहाँ तक पहुँच जाता है तब (वहाँ टिके रहने का) साधन 'शम' अर्थात् शान्ति होता है ।।३।।

'कर्म' तो रजोगुण का प्रतीक हैं, 'शम' सत्त्वगुण का प्रतीक है; 'कर्म' में चंचलता है, 'शम' में स्थिरता है। लक्ष्य पर पहुंचने के बाद 'कर्म' नहीं रहता, कर्म का 'शमन' हो जाता है; 'कर्म' का 'अकर्म' हो जाता है, 'निष्कर्म' हो जाता है। कर्म में 'अशान्ति' है परन्तु उसका लक्ष्य 'शान्ति' है।

(तो मुनि 'योगारूढ़' कब कहलाता है?) जब कोई मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में या कर्मों में आसक्त नहीं रहता,

---

संकल्प को न त्यागने वाला; **योगी**[12]—योगी; **भवति**[14]—होता है; **कश्चन**[11]--कोई भी।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ।।३।।

आरुरुक्षोः[2]—ऊपर चढ़ने की इच्छा वाले; **मुनेः**[3]—मननशील व्यक्ति के लिये; **योगम्**[1]—कर्मयोग को; **कर्म**[4]—कर्म; **कारणम्**[5]—साधन; **उच्यते**[6]—कहा जाता है; **योगारूढस्य**[8]—जो कर्मयोग पर पहुँच गया है; **तस्य**[7]—उसके; **एव**[10]—ही; **शमः**[9]—कर्मफल के संकल्पों का शमन; **कारणम्**[11]—साधन; **उच्यते**[12]—कहा जाता है।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ।।४।।

यदा[1]—जब; **हि**[6]—निश्चय से; **न**[2]—नहीं; **इन्द्रियार्थेषु**[3]—इन्द्रियों के विषयों में; **न**[4]—नहीं; **कर्मसु**[5]—कर्मों में; **अनुषज्जते**[7]—आसक्त

सब संकल्पों को त्याग देता है, तब उसे 'योगारूढ़' कहते हैं (वह व्यक्ति 'कर्म-योग' की ऊपर की मंजिल पर चढ़ गया) ।।४।।

गीता में 'कर्मयोगी' का वर्णन ठीक ऐसा किया गया है जैसा 'ज्ञानयोगी' का, 'संन्यासी' का, क्योंकि गीता 'कर्मयोगी' तथा 'ज्ञानयोगी' को एक ही स्तर का मानती है। इस श्लोक में भी 'योगारूढ़' का या 'कर्मयोगी' का वर्णन करते हुए यही कहा है कि वह इन्द्रियों के विषयों में न उलझा हो, कर्म-फल में आसक्त न हो। यही वर्णन 'ज्ञानयोगी' का है। दोनों में कोई भेद नहीं है।

कभी-कभी लोग कहने लगते हैं कि हम कोई साधु-महात्मा तो हैं नहीं जो इतना ऊँचा उठ सकें जहाँ तक गीता हमें उठाना चाहती है। उनके लिए श्रीकृष्ण कहते हैं : मेरा उपदेश साधु-महात्माओं के लिए ही नहीं है, मेरा उपदेश व्याव-हारिक है, सांसारिक व्यक्तियों के लिए है। यह मत कहो, मैं जड़ हूँ, व्यवहारी हूँ, संसारी जीव हूँ, मुझ से क्या होगा, मैं कर्मयोगी या ज्ञानयोगी कैसे बन सकूँगा। प्रत्येक मनुष्य कर्म से ऊँचा उठ सकता है।

[आत्मोद्धार]

मनुष्य को चाहिये कि वह अपना उद्धार अपने-आप ही करे, अपने-आपको कभी नीचे न गिरने दे। मनुष्य स्वयं ही अपना मित्र है, स्वयं ही अपना शत्रु है ।।५।।

होता है; **सर्वसंकल्पसंन्यासी**[9]–सब संकल्पों को त्याग देने वाला; **योगारूढः**[10]–कर्मयोग पर पहुँचा हुआ; **तदा**[8]–तब; **उच्यते**[11]–कहलाता है।

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।।५।।

उद्धरेत्[3]–उद्धार करे; **आत्मना**[1]–अपने द्वारा; **आत्मानम्**[2]–अपना; **न**[5]–नहीं; **आत्मानम्**[4]–अपने को; **अवसादयेत्**[6]–नीचे गिराये; **आत्मा**[8]–स्वयं; **एव**[9]–ही; **हि**[7]–निश्चय से; **आत्मनः**[10]–अपना; **बन्धुः**[11]–मित्र है; **आत्मा**[12]–स्वयं; **एव**[13]–ही; **रिपुः**[15]–शत्रु है; **आत्मनः**[14]–अपना।

जिसने अपने आत्मा से अपने को (अपने मन को) जीत लिया है उसका आत्मा उसका मित्र है : जो 'अनात्मा' है—जिसने अपने आत्मा से अपने मन को नहीं जीता, वह अपने ही साथ शत्रु का-सा बर्ताव करता है ।।६।।

जिसने आत्मा अर्थात् अपने मन को जीत लिया है, जो सम्पूर्ण रूप से शान्त हो गया है, उसका 'परम-आत्मा' (Higher self) सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, मान-अपमान में सम रहता है, एक-सरीखा रहता है (उसमें क्षोभ नहीं पैदा होता) ।।७।।

यहाँ आत्मा के दो पहलुओं का वर्णन है। एक तो वह जो सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, मान-अपमान से क्षुब्ध रहता है, जब वह इन्द्रियों के वश में रहता है; दूसरा वह जब वह इन्द्रियों को अपने वश में कर लेता है। जब वह इन्द्रियों के वश में न रह कर उन्हें अपने वश में कर लेता है, तब 'आत्मा' को ही यहाँ 'परमात्मा' कह दिया गया है, तब आत्मा मानो परमात्म-रूप हो जाता है।

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ।।६।।

बन्धुः[5]–मित्र; **आत्मा**[3]–आत्मा; **आत्मनः**[2]–आत्मा का; **तस्य**[1]–उसका; **येन**[6]–जिसने; **आत्मा**[8]–आत्मा; **एव**[4]–ही; **आत्मना**[7]–आत्मा से; **जितः**[9]–जीत लिया; **अनात्मनः**[10]–जिसने आत्मा को नहीं जीता उसका; **तु**[11]–तो; **शत्रुत्वे**[15]–शत्रुता में; **वर्तेत**[16]–बर्तता है; **आत्मा**[12]–आत्मा; **एव**[13]–ही; **शत्रुवत्**[14]–शत्रु की तरह।

आत्मा शब्द के संस्कृत में तीन अर्थ हैं—अन्तरात्मा, मन तथा मैं। इनमें से जो जहाँ ठीक जँचे वहाँ वही अर्थ कर लेना चाहिए।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुख-दुःखेषु तथा मानापमानयोः ।।७।।

जितात्मनः[5]–जिसने मन को जीत लिया है उसके; **प्रशान्तस्य**[4]–जो संपूर्ण रूप से शान्त हो गया है उसके; **परमात्मा**[6]–परम आत्मा; **समाहितः**[7]–सम रहता है; **शीतोष्ण-सुख-दुःखेषु**[1]–सर्दी-गर्मी, सुख तथा दुःख में; **तथा**[2]–और; **मानापमानयोः**[3]–मान तथा अपमान में।

जिसका आत्मा ज्ञान तथा विज्ञान से तृप्त है, जो कूटस्थ है, अपरिवर्तनशील है, जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है, जिसके लिये मट्टी का ढेला, पत्थर और सुवर्ण एक-समान हैं, ऐसे कर्म-योगी को 'युक्त' अर्थात् भगवान् में जुड़ा हुआ कहा जाता है ॥८॥

सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष करने योग्य, बन्धु, साधु तथा पापी—इन सब में जो सम-बुद्धि रखता है, उसे विशेष व्यक्ति ही समझना चाहिये ॥९॥

[ध्यान-योग की साधना]

जिस व्यक्ति ने इन्द्रियों को वश में कर लिया, आत्मा का उद्धार कर लिया, वह योगी है। योगी क्या साधन करे ? उसी साधना का, ध्यान के उपाय का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं :

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्ठाश्मकाञ्चनः ॥८॥

ज्ञान-विज्ञान-तृप्तात्मा[1]—ज्ञान तथा विज्ञान से जिसका अन्तःकरण तृप्त है; **कूटस्थः**[2]—जो अपरिवर्तनीय है; **विजितेन्द्रियः**[3]—जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है; **युक्तः**[6]—भगवान् के साथ जुड़ा हुआ; **इति**[7]—यह; **उच्यते**[8]—कहा जाता है; **योगी**[5]—योगी; **सम-लोष्ठ-अश्म-काञ्चनः**[4]—जो मट्टी के ढेले, पत्थर तथा सुवर्ण को एक समान समझता है।

ज्ञान तथा विज्ञान में शंकराचार्य ने यह भेद किया है कि पुस्तकस्थ ज्ञान को 'ज्ञान' कहा है, उसी ज्ञान के व्यवहार में आने को 'विज्ञान' कहा है।

कूटस्थ का अर्थ है—'कूट' की तरह स्थित रहनेवाला। कूट लुहार के उस लोहे को कहते हैं जिस पर रखकर गर्म लोहा तपा कर कूटा जाता है। तपा लोहा ढल जाता है परन्तु कूट नहीं ढलता, वह वैसे-का-वैसा बना रहता है। आत्मा भी जब इन्द्रियों के वेग से प्रभावित न हो तब कूट की तरह अडिग रहनेवाला कहलायेगा।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

सुहृद्[1]—अच्छे हृदय वाला; **मित्र**[2]—मित्र; **अरि**[3]—शत्रु; **उदासीन**[4]—पक्षपात रहित; **मध्यस्थ**[5]—दोनों पक्षों को मान्य; **द्वेष्य**[6]—

योगी को चाहिये कि एकान्त में अकेला बैठकर, अपने चित्त तथा आत्मा को वश में रखकर, वासना से रहित होकर, परिग्रह की भावना को छोड़कर, अपने मन को परमात्मा के साथ लगातार जोड़े ॥१०॥

स्वच्छ स्थान पर अपना स्थिर आसन बिछा कर, ऐसी जगह जो न अधिक ऊँची हो, न अधिक नीची हो, और आसन पर पहले कुशा, फिर मृगछाला और उस पर वस्त्र बिछाकर ॥११॥

जिससे द्वेष किया जाय; **बन्धुषु**[7]–बान्धवों में; **साधुषु**[8]–धर्मात्मा पुरुषों में; **अपि**[11]–भी; **च**[9]–और; **पापेषु**[10]–पापियों में; **समबुद्धिः**[12]–समान भाव रखनेवाला; **विशिष्यते**[13]–विशेष होता है।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

योगी[1]–कर्मयोगी; **युञ्जीत**[10]–जोड़े; **सततम्**[8]–लगातार; **आत्मानम्**[9]–अपने मन को; **रहसि**[6]–एकान्त में; **स्थितः**[7]–बैठकर; **एकाकी**[5]–अकेला; **यतचित्तात्मा**[1]–चित्त तथा आत्मा जिसने वश में कर लिया है; **निराशीः**[2]–वासना-रहित होकर; **अपरिग्रहः**[3]–संचय की भावना से रहित होकर।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥

शुचौ[1]–शुद्ध; **देशे**[2]–स्थान में; **प्रतिष्ठाप्य**[11]–स्थापित करके; **स्थिरम्**[10]–स्थिर; **आसनम्**[5]–आसन को; **आत्मनः**[4]–अपने; **न**[6]–नहीं; **अति उच्छ्रितम्**[7]–बहुत ऊँचा; **न**[8]–नहीं; **अतिनीचम्**[9]–बहुत नीचा; **चैलाजिनकुशोत्तरम्**[3]–चैल अर्थात् कपड़ा, अजिन अर्थात् मृगचर्म, कुश अर्थात् कुशा घास, उत्तरम् अर्थात् एक-दूसरे के ऊपर हैं जिसमें।

वहाँ मन को एकाग्र कर, चित्त तथा इन्द्रियों की क्रियाओं को रोक कर, आसन पर बैठकर आत्म-शुद्धि अर्थात् अन्तःकरण या मन की शुद्धि के लिये योग में जुट जाय ।।१२।।

अपनी पीठ, सिर और गर्दन को सीधा अर्थात् एक सीध में तथा अचल रखकर अर्थात् बिना हिले-डुले, स्थिर होता हुआ, नासा के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर, अन्य किसी दिशा में न देखते हुए ।।१३।।

प्रशान्त मनवाला, भय से रहित, ब्रह्मचर्य के व्रत में टिका हुआ, मन का संयम करके, मुझ में ही चित्त गाड़कर, मत्परायण होकर, मुझ से संबंध जोड़कर बैठ जाये ।।१४।।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ।।१२।।

तत्र[1]–वहाँ; **एकाग्रम्**[5]–एकाग्र; **मनः**[4]–मन को; **कृत्वा**[6]–करके; **यतचित्तेन्द्रियक्रियः**[7]–चित्त तथा इन्द्रिय की क्रियाओं को वश में करके; **उपविश्य**[3]–बैठकर; **आसने**[2]–आसन पर; **युञ्ज्यात्**[10]–जोड़े; **योगम्**[9]–योग को; **आत्मविशुद्धये**[8]–अन्तःकरण या मन की शुद्धि के लिये ।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।।१३।।

समम्[2]–एक सीध में; **कायशिरोग्रीवम्**[1]–काया, सिर तथा गर्दन को; **धारयन्**[5]–रखता हुआ; **अचलम्**[4]–बिना हिले-डुले; **स्थिरः**[6]–स्थिर; **संप्रेक्ष्य**[9]–देखकर; **नासिकाग्रम्**[8]–नासिका के अग्रभाग को; **स्वम्**[7]–अपने; **दिशः**[11]–इधर-उधर दिशाओं को; **च**[3]–और; **अनवलोकयन्**[12]–न देखता हुआ ।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचर्यव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ।।१४।।

प्रशान्तात्मा[1]–शान्त मनवाला; **विगतभीः**[2]–भयरहित; **ब्रह्मचर्यव्रते**[3]–ब्रह्मचर्य के व्रत में; **स्थितः**[4]–टिका हुआ; **मनः**[6]–मन को; **संयम्य**[7]–वश में करके; **मच्चित्तः**[8]–मुझ में चित्त डालकर; **युक्तः**[5]–जुड़ा हुआ; **आसीत**[10]–बैठे; **मत्परः**[9]–मुझ में परायण होकर ।

वातावरण के स्थान में प्रकृति का स्वाभाविक वातावरण होता था, जहाँ बैठते ही चित्त अपने-आप एकाग्रता की तरफ़ जाता था।

(३) **एकाकी ध्यान**—ध्यान का तीसरा नियम यह है कि मनुष्य जहाँ एकान्त में जाय वहाँ अकेला जाय। सब के बीच में बैठ कर ध्यान करने से ध्यान नहीं जमता। अकेलेपन में उस महान् विश्व-शक्ति का सूक्ष्म स्पन्दन हृदय को एकदम स्पर्श करता है, इसलिए करता है क्योंकि वहाँ विक्षोभकारी अन्य कारण उपस्थित नहीं होते।

(४) **इन्द्रिय-निग्रह**—ध्यान का चौथा नियम यह है कि इन्द्रियों को वश में रखा जाय, सांसारिक विषयों में से उन्हें खींच लिया जाय। सतत ध्यान, एकान्त, एकाकीपन—ये सब इन्द्रियों को विषयों से खींचने के लिए ही तो हैं।

(५) **वासना-त्याग**—मनुष्य इन्द्रियों से चित्त को खींच कर एकान्त में बैठ सकता है, परन्तु फिर भी विषयों की वासना उसे सता सकती है। वह विषयों का भोग तो नहीं करता, परन्तु विषयों के भोग की वासना को हृदय में लिये बैठा रहता है। इसलिए ध्यान का पाँचवाँ नियम यह है कि इन्द्रियों को ही विषयों से खींचकर सन्तुष्ट न रहे, अपितु विषयों की वासना का भी त्याग करे। अगर एकान्त में बैठकर, विषय से दूर हट कर भी विषयों के ध्यान में डूबा रहे तो एकान्त भी व्यर्थ है, एकाकीपन भी व्यर्थ है।

(६) **अपरिग्रह**—जो इन्द्रियों के विषयों से अपने मन को खींच लेता है और जिसमें विषयों के प्रति वासना भी नहीं रहती उसका जीवन अपरिग्रह का हो जाता है, वह संसार की किसी भोग्य वस्तु से चिपटता नहीं, उसे बटोर कर रखने की लालसा उसमें नहीं रहती।

(७) **एकाग्रता**—ऐसा मन जिसमें विषयों के प्रति शून्य-भाव पैदा हो गया है, जिसे कोई सांसारिक वस्तु नहीं खींचती, एकाग्र हो जाता है।

(८) **आसन**—ऐसा एकाग्र मन से आसन पर स्थिर चित्त होकर बैठता है, अन्यथा आसन पर बैठे हुए को भी मन लिये-लिये जहाँ-तहाँ भटकता है। असली आसन तो तभी जमता है जब इन्द्रियाँ वश में आ जाती हैं, वासना मिट जाती है, सांसारिक विषयों से संबंध छूट जाता है, मन एकाग्र हो जाता है। ध्यान-योग का आसन यही आसन है।

(९) **निर्भयता**—एकाग्र मन होकर जब योगी आसन पर बैठता है तब वह निर्भय होकर बैठता है। उसे इस बात का भय नहीं रहता कि विषय उसे खींचेंगे। जब तक मन एकाग्र नहीं हो जाता तब तक यह भय बना ही रहता है कि कहीं संसार के विषय उसे खींचकर मार्ग से च्युत न कर दें।

(१०) **ब्रह्मचर्य**—जब योगी इस अवस्था में पहुँच जाता है तब वह 'ब्रह्म' अर्थात् महानता में 'चर्य' अर्थात् विचरण करने लगता है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है—महानता की तरफ़ चरण करना, गति करना। महानता की तरफ़ गति शरीर से, मन से, आत्मा से होती है। शरीर की महानता के लिए प्राचीन ऋषि-महर्षि

यौन-मनोवेगों पर नियन्त्रण रखते थे। इससे उनका शरीर बलिष्ठ होता था। वे कहते थे कि ब्रह्मचर्य से मृत्यु को भी जीता जा सकता है। मन की महानता ब्रह्मचर्य का दूसरा रूप था। ब्रह्मचारी सब प्रकार की मानसिक क्षुद्रता का त्याग कर देता है—यही मानसिक ब्रह्मचर्य है। आत्मा की महानता का अर्थ है परमात्मा के गुणों को अपने अन्दर धारण करना। ध्यान-योगी में निर्भयता के वाद ब्रह्म की महानता—ब्रह्मचर्य—आ जाती है।

(११) **भगवान् में चित्त लगाना**—जो व्यक्ति महानता में विचरण करने लगना है उसका भगवान् में चित्त रमण करता है। उसे गीता में '**मच्चित्तः**' कहा है—मुझ में चित्त आ जुड़ा है जिसका।

(१२) **नियमित जीवन**—कर्मयोगी के विषय में जो-कुछ कहा गया, जिस अवस्था को वह ध्यानयोग से प्राप्त करता है, वह नियमित जीवन की अवस्था है। कर्मयोगी का जीवन नपा-तुला होता है। उसका आहार, उसकी निद्रा, उसका जागरण सब-कुछ नपा-तुला होता है। यह नहीं कि आज भर पेट खा लिया, कल उपवास कर लिया; आज रात भर सिनेमा देखा, कल दिन भर खुर्राटे लगाये। न अधिक खाना, न भूखों मरना, न अधिक जागना, न दिनभर सोना—ऐसा नियमित जीवन कर्मयोगी का होना चाहिए जिसमें सहायता मिलती है ध्यान-योग से।

[ध्यान-योगी या योग-युक्त के लक्षण—समाधि अवस्था]

जैसे द्वितीय अध्याय (५४–७१) में 'स्थित-प्रज्ञ' के लक्षण कहे हैं, जैसे पंचम अध्याय (१८–२८) में 'कमयोगी' के लक्षण कहे हैं, वैसे छठे अध्याय में १८वें श्लोक से 'ध्यानयोगी' के लक्षण कहे गये हैं। वे लक्षण क्या हैं ?

जब अपने वश में किया हुआ चित्त केवल आत्मा में स्थित हो जाता है तब वह सब कामनाओं से निस्पृह हो जाता है (उसे किसी कामना की आकांक्षा नहीं रहती), ऐसे व्यक्ति को 'युक्त' कहा जाता है (युक्त अर्थात् ध्यान से युक्त—ध्यान-योगी) ॥१८॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

यदा[3]–जव; **विनियतम्**[1]–विशेष तौर से नियत अर्थात् बंधा हुआ, वश में किया हुआ; **चित्तम्**[2]–मन; **आत्मनि**[4]–आत्मा में;

जिस प्रकार वायु-रहित स्थान में पड़ा हुआ दीपक काँपता नहीं है--यह उपमा उस योगी की मानी गई है जिसका चित्त वश में है, और जो आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ने का उद्योग कर रहा है ॥१९॥

जिस अवस्था में पहुँचकर, योग के अभ्यास द्वारा, चित्त निरुद्ध और उपराम को पा जाता है, जिस अवस्था में (अपने) आत्मा के द्वारा ही आत्मा (परमात्मा) को पहचान कर अपने में संतोष पाता है। (यहां चित्त-निरोध-शब्द पातंजल योग-दर्शन के 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' का स्मरण कराता है) ॥२०॥

एव[5]–ही; **अवतिष्ठते**[6]–ठहर जाता है, स्थित हो जाता है; **निःस्पृहः**[9]–आकांक्षा रहित; **सर्वकामेभ्यः**[8]–सब कामनाओं से; **युक्तः**[10]–योगयुक्त या ध्यानयुक्त; **इति**[11]–यह; **उच्यते**[12]–कहा जाता है; **तदा**[7]–तब ।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

यथा[1]–जैसे; **दीपः**[3]–दीपक; **निवातस्थः**[2]–वायुरहित स्थान में पड़ा हुआ; **न**[4]–नहीं; **इङ्गते**[5]–चेष्टा करता है, काँपता है; **सा**[6]–वह; **उपमा**[7]–उपमा; **स्मृता**[12]–कही गई है; **योगिनः**[11]–योगी की; **यतचित्तस्य**[10]–चित्त को वश में कर लिया है जिसने उसकी; **युञ्जतः**[9]–जुड़े हुए; **योगम्**[9]–ध्यानयोग में; **आत्मनः**[8]–आत्मा के ।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥

यत्र[1]–जहाँ; **उपरमते**[5]–उपराम को पा जाता है; **चित्तम्**[4]–मन; **निरुद्धम्**[3]–निरुद्ध हुआ, वश में हुआ; **योगसेवया**[2]–योग के अभ्यास द्वारा; **यत्र**[7]–जहाँ; **च**[6]–और; **एव**[12]–ही; **आत्मना**[8]–आत्मा के द्वारा; **आत्मानम्**[9]–परमात्मा को; **पश्यन्**[10]–देखकर, पहचान कर; **आत्मनि**[11]–आत्मा में; **तुष्यति**[13]–सन्तोष पाता है ।

जिस अवस्था में पहुँचकर अतीन्द्रिय (इन्द्रियों से प्राप्त न होनेवाले) किन्तु बुद्धिग्राह्य (बुद्धि से प्राप्त होनेवाले) अत्यधिक (परम) सुख को अनुभव करता है, और जिस अवस्था में स्थित होकर यह अपने तत्त्व से (अपने मूल से) चलायमान नहीं होता, डिगता नहीं ॥२१॥

जिसे पा जाने पर यह समझता है कि इससे बड़ा दूसरा कोई लाभ नहीं है, और जिसमें स्थित हो जाने पर यह बड़े-से-बड़े दुःख से भी विचलित नहीं होता ॥२२॥

उसकी योग संज्ञा समझो (उसका नाम योग है)। योग है दुःख के साथ जो हमारा संयोग है उससे अलग

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

सुखम्[5]–सुख को; **आत्यन्तिकम्**[4]–अत्यन्त; **यत्**[3]–जो; **तत्**[6]–वह; **बुद्धिग्राह्यम्**[2]–बुद्धि से प्राप्त होनेवाला; **अतीन्द्रियम्**[1]–इन्द्रियों से प्राप्त न होने वाला; **वेत्ति**[8]–जानता है; **यत्र**[7]–जहाँ; **न**[13]–नहीं; **च**[9]–और; **एव**[14]–ही; **अयम्**[11]–यह; **स्थितः**[10]–स्थिर होकर; **चलति**[15]–चलायमान है; **तत्त्वतः**[12]–तत्व से, मूल से, जड़ से ।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते ॥२२॥

यम्[1]–जिसको; **लब्ध्वा**[2]–प्राप्त होकर; **च**[9]–और; **अपरम्**[5]–दूसरा; **लाभम्**[6]–लाभ; **मन्यते**[8]–मानता है; **न**[7]–नहीं; **अधिकम्**[4]–अधिक; **ततः**[3]–उससे; **यस्मिन्**[10]–जिसमें; **स्थितः**[11]–ठहरा हुआ, स्थित हुआ-हुआ; **न**[15]–नहीं; **दुःखेन**[13]–दुःख से; **गुरुणा**[12]–बड़े भारी से; **अपि**[14]–भी; **विचाल्यते**[16]–विचलित होता है ।

तं विद्याद् दुःखसंयोग-वियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

तम्[3]–उसको; **विद्यात्**[4]–समझे; **दुःखसंयोगवियोगम्**[1]–दुःख के साथ जो हमारा साथ है उससे रहित; **योगसंज्ञितम्**[2]–'योग' यह संज्ञा अर्थात् नाम है जिसका, योगसंज्ञक; **सः**[5]–वह; **निश्चयेन**[8]–

हो जाना—'दुःख-संयोग का वियोग'। इस योग का अभ्यास बिना ऊबे और दृढ़ संकल्प से करना चाहिये ॥२३॥

संकल्प से उत्पन्न होनेवाली सब कामनाओं का पूर्ण रूप से त्याग करके, मन से ही सब इन्द्रियों को सब ओर से नियम में लाकर (वश में करके) ॥२४॥

धैर्ययुक्त बुद्धि से धीरे-धीरे शान्त होता जाय और मन को आत्मा में पिरोकर अन्य किसी वस्तु का भी विचार न करे ॥२५॥

जहाँ-जहाँ चंचल और अस्थिर मन भागे वहाँ-वहाँ से उसका नियमन करके (काबू में लाकर) उसे आत्मा के (अपने) वश में ले आये ॥२६॥

निश्चय से; **योक्तव्यः**[9]—करना चाहिये; **योगः**[6]—योग; **अनिर्विण्ण-चेतसा**[7]—विना ऊबे हुए चित्त से।

संकल्पप्रभवान्कामाँस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

संकल्पप्रभवान्[1]—संकल्प से उत्पन्न होने वाली; **कामान्**[3]—कामनाओं को; **त्यक्त्वा**[5]—छोड़ कर; **सर्वान्**[2]—सबको; **अशेषतः**[4]—जो शेष न रहे ऐसी, सर्वथा; **मनसा**[6]—मन से; **एव**[9]—ही; **इन्द्रियग्रामम्**[7]—इन्द्रियों के समूह को; **विनियम्य**[10]—नियम में लाकर; **समन्ततः**[8]—सब ओर से।

शनैःशनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

शनैःशनैः[1]—धीरे-धीरे; **उपरमेत्**[2]—उपराम को पा जाय; **बुद्ध्या**[4]—बुद्धि से; **धृतिगृहीतया**[3]—धैर्य से ग्रहण की गई, धैर्य-युक्त; **आत्म-संस्थम्**[6]—आत्मा में स्थित; **मनः**[5]—मन; **कृत्वा**[7]—करके; **न**[10]—नहीं; **किंचित्**[8]—कुछ; **अपि**[9]—भी; **चिन्तयेत्**[11]—विचार करे।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

यतः यतः[5]—जहाँ-जहाँ से; **निश्चरति**[6]—भाग जाता है; **मनः**[4]—मन; **चञ्चलम्**[3]—चंचल; **अस्थिरम्**[2]—अस्थिर; **ततः ततः**[7]—वहाँ-

इस प्रकार के योगी को जिसका मन भलीभाँति शान्त हो गया है, जिसके मन के राजसिक विचार (मन के आवेश) शान्त हो गये हैं, जो ब्रह्मभूत--परमात्मा के साथ एक--हो गया है, जो निष्पाप है, उसे उत्तम सुख प्राप्त होता है ।।२७।।

इस प्रकार वह योगी, जिसके सब पाप दूर हो गये हैं, आत्मा को सदा ध्यान-योग में लगाता हुआ, सरलता से ब्रह्म के संस्पर्श से उत्पन्न होनेवाले सुख का अनुभव करता है ।।२८।।

[सम-भाव]

सर्वत्र 'सम-भाव' से देखनेवाला योगयुक्त व्यक्ति सब प्राणियों में अपने को और अपने में सब प्राणियों को देखता है ।।२९।।

वहाँ से; **नियम्य**[8]–नियमन करके, रोककर; **एतत्**[1]–यह, इसको; **आत्मनि**[9]–आत्मा में; **एव**[10]–ही; **वशम्**[11]–वश में; **नयेत्**[12]–ले आये।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ।।२७।।

प्रशान्तमनसम्[2]–जिसका मन भलीभाँति शान्त हो गया है; **हि**[1]–निश्चय से; **एनम्**[5]–इसको; **योगिनम्**[7]–योगी को; **सुखम्**[9]–सुख; **उत्तमम्**[8]–उत्तम; **उपैति**[10]–प्राप्त होता है; **शान्तरजसम्**[4]–शान्त हो गया है राजसिक विकार जिसका; **ब्रह्मभूतम्**[6]–जो ब्रह्म के साथ एक हो गया है; **अकल्मषम्**[3]–जो निष्पाप है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ।।२८।।

युञ्जन्[6]–लगाता हुआ; **एवम्**[3]–इस प्रकार; **सदा**[4]–सदा; **आत्मानम्**[5]–आत्मा को; **योगी**[2]–योगी; **विगतकल्मषः**[1]–जिसके पाप दूर हो गये हैं; **सुखेन**[7]–सरलता से; **ब्रह्मसंस्पर्शम्**[8]–ब्रह्म-प्राप्ति से उत्पन्न को; **अत्यन्तम्**[9]–अत्यन्त; **सुखम्**[10]–सुख; **अश्नुते**[11]–अनुभव करता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।।२९।।

सर्वभूतस्थम्[5]–सब प्राणियों में स्थित को; **आत्मानम्**[4]–आत्मा को, अपने को; **सर्वभूतानि**[7]–सब प्राणियों को; **च**[6]–और;

जो मुझे सब जगह देखता है और सब वस्तुओं को मुझ में देखता है वह मेरी दृष्टि से ओझल नहीं होता और मैं उसकी दृष्टि से ओझल नहीं होता ॥३०॥

गीता यह कल्पना करके लिखी गई है कि इसका उपदेश स्वयं भगवान् कर रहे हैं। गीता का उपदेश तो व्यास महर्षि का दिया हुआ है। श्रीकृष्ण के मुख से यह उपदेश दिया जा रहा है, और श्रीकृष्ण अपने को भगवान् मान कर यह उपदेश दे रहे हैं। इसलिए भगवान् के तौर पर जो-कुछ कहना चाहिए वह अपने नाम से कहते हैं। परन्तु इतने से श्रीकृष्ण को स्वयं भगवान् मान लेना युक्तियुक्त नहीं है। श्रीकृष्ण तो व्यास-महर्षि के रचे गीता के भगवान् का पार्ट अदा करनेवाले पात्र हैं। भगवान् का पार्ट अदा करने की दृष्टि से श्रीकृष्ण का अपने प्रति तथा अर्जुन का श्रीकृष्ण के प्रति भगवान् का-सा भाव धारण करना और श्रीकृष्ण की भगवान् के रूप में अपनी बात कहना युक्तिसंगत है।

जो एकत्व में स्थित होकर (मेरे साथ एकत्व बुद्धि को मन में रखकर) सब प्राणियों में स्थित रहनेवाले मेरी

आत्मनि[8]–आत्मा में, अपने में; **ईक्षते**[9]–देखता है; **योगयुक्तात्मा**[1]–योगयुक्त व्यक्ति; **सर्वत्र**[2]–सब जगह; **समदर्शनः**[3]–सम-भाव से देखने वाला, समदर्शी।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

यः[1]–जो; **माम्**[3]–मुझे; **पश्यति**[4]–देखता है; **सर्वत्र**[2]–सब जगह; **सर्वम्**[6]–सब को; **च**[5]–और; **मयि**[7]–मुझ में; **पश्यति**[8]–देखता है; **तस्य**[9]–उसके लिये; **अहम्**[10]–मैं; **न**[11]–नहीं; **प्रणश्यामि**[12]–नष्ट होता हूँ; **सः**[14]–वह; **च**[13]–और; **मे**[15]–मेरे लिये; **न**[16]–नहीं; **प्रणश्यति**[17]–नष्ट होता है।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

सर्वभूतस्थितम्[4]–सब प्राणियों में स्थित रहनेवाले को; **यः**[1]–जो; **माम्**[5]–मुझे; **भजति**[6]–उपासना करता है; **एकत्वम्**[2]–एकत्व बुद्धि में; **आस्थितः**[3]–स्थित हुआ; **सर्वथा**[9]–सब तरह से; **वर्तमानः**[10]–बरतता हुआ; **अपि**[11]–भी; **सः**[7]–वह; **योगी**[8]–योगी; **मयि**[12]–मुझ में; **वर्तते**[13]–बरतता है।

उपासना करता है वह सब तरह से बर्तता हुआ भी मुझ में ही बर्तता है (बाहर से वह कितना ही व्यावहारिक जगत् में डूबा हो, भीतर से वह ब्रह्म में ही लीन रहता है) ।।३१।।

हे अर्जुन ! जो व्यक्ति, सुख हो या दुःख हो, सब तरफ़ 'आत्मौपम्य'-दृष्टि से सम-भाव से देखता है वह परम योगी समझा जाता है ।।३२।।

'आत्मौपम्य-दृष्टि' का अर्थ है—अपनी उपमा देकर देखना, अर्थात् किसी को दुःख हुआ तो अपने को दुःख हुआ, यह सोचना। जो इस प्रकार दूसरे के सुख-दुःख में अपने को डाल कर सोच सकता है उसकी दृष्टि 'आत्मौपम्य-दृष्टि' है।

[मन की चंचलता]

अर्जुन ने कहा : **हे मधुसूदन ! जो यह तूने साम्य-बुद्धि का 'बुद्धि-योग' बतलाया है (मन के) चंचल होने के कारण (बुद्धि-योग में) कोई स्थिर स्थिति प्राप्त कर सकेगा**

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।।३२।।

आत्मौपम्येन[3]–अपनी उपमा से, अपने सादृश्य से; **सर्वत्र**[4]–सब तरफ; **समम्**[5]–सम-भाव से; **पश्यति**[6]–देखता है; **यः**[2]–जो; **अर्जुन**[1]–हे अर्जुन; **सुखम्**[8]–सुख; **वा**[7]–या; **यदि**[9]–यदि; **वा**[10]–वा; **दुःखम्**[11]–दुःख; **सः**[12]–वह; **योगी**[13]–योगी; **परमः**[14]–परम, श्रेष्ठ ; **मतः**[15]–समझा जाता है, माना जाता है ।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ।।३३।।

यः[2]–जो; **अयम्**[3]–यह; **योगः**[4]–योग; **त्वया**[5]–तूने; **प्रोक्तः**[7]–कहा है; **साम्येन**[6]–सम-बुद्धि के रूप में; **मधुसूदन**[1]–हे कृष्ण; **एतस्य**[8]–इसका; **अहम्**[9]–मैं; **न**[13]–नहीं; **पश्यामि**[14]–देखता हूँ; **चंचलत्वात्**[10]–चंचल होने से; **स्थितिम्**[12]–स्थिति को; **स्थिराम्**[11]–स्थिर को।

——यह मुझे नहीं दीखता। (मन के चंचल होने के कारण साधक बुद्धियोग के एकाग्रता, आसन आदि साधनों द्वारा मन को स्थिर कर ले——ऐसा मुझे नहीं दीखता) ।।३३।।

हे कृष्ण ! मन (बड़ा) चंचल है, मथ डालनेवाला है, बलवान् है, हठी है। मैं तो मानता हूँ कि उसका निग्रह करना वायु को वश में करने के समान दुष्कर है, कठिन है ।।३४।।

मन चंचल है, उसका निग्रह करना है। कई टीकाकार इसका यह अर्थ कर देते हैं कि मन का स्वभाव ही चंचलता का है। अगर 'चंचलता' मन का स्वभाव हो, तब उसके 'निग्रह' का कोई अर्थ नहीं रहता। स्वभाव तो 'स्व'-भाव है, 'अपना' स्वरूप है, उसका निग्रह कैसा ? निग्रह में तो उसे बदलना होगा। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय, तो चंचलता मन का स्वभाव नहीं है, मन का स्वभाव 'स्थिरता' है। कमल के पत्ते पर पानी कितना चंचल दिखाई देता है, कहीं टिकता नहीं, परन्तु क्या चंचलता पानी का स्वभाव है। पानी तो स्थिरता ढूंढ रहा है, उसकी चंचलता स्थिरता ढूंढने के लिए है। जहाँ उसे अपनी जगह मिली वहीं वह स्थिर होकर टिक जाता है। इसी प्रकार मन अपनी स्थिरता को ढूंढने के लिए चंचल दिखाई देता है, जहाँ उसे बैठने को जगह मिली वहीं वह स्थिर होकर बैठ जाता है। पानी कमल के पत्ते के कारण चंचल दिखाई देता है, मन संसार की वासनाओं के कारण चंचल दिखाई देता है, ज्यों ही यह वासनाओं को छोड़ता है, त्यों ही यह अपने स्थिर स्वभाव में आ जाता है। गीता ने इतना ही कहा है कि मन चंचल है, यह नहीं कहा कि मन का स्वभाव ही चंचलता का है। मन की चंचलता वासनाओं के कारण है, इसलिए वासनाओं को दूर करने के लिए वैराग्य की आवश्यकता पर बल देते हुए गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं :

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।।३४।।

चंचलम्[4]–चंचल; **हि**[1]–निश्चय से; **मनः**[3]–मन; **कृष्ण**[2]–हे कृष्ण; **प्रमाथि**[5]–मथ डालनेवाला; **बलवत्**[7]–बलवान्; **दृढम्**[6]–हठी; **तस्य**[8]–उसका; **अहम्**[10]–मैं; **निग्रहम्**[9]–निग्रह, वश; **मन्ये**[14]–मानता हूँ; **वायोः**[11]–वायु के; **इव**[12]–तरह; **सुदुष्करम्**[13]–अति दुष्कर, कठिन।

[मन के सयम का उपाय]

श्री भगवान् ने कहा : **हे महाबाहु ! निस्सन्देह मन का निग्रह करना बड़ा कठिन है, यह चंचल है, किन्तु हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन ! वह 'अभ्यास' तथा 'वैराग्य' से वश में किया जा सकता है ॥३५॥**

जिसने अपने-आप को वश में नहीं किया उसके लिये योग को प्राप्त कर सकना अत्यन्त कठिन है——ऐसा मेरा मत है। परन्तु जिसने अपने को (अपने शरीर, मन, बुद्धि को) यत्न के द्वारा वश में कर लिया है वह उपायों द्वारा योग को प्राप्त कर सकता है ॥३६॥

[योग-भ्रष्ट की गति]

योग के विषय में ये सब बातें सुनकर अर्जुन के मन में शंका हुई कि योग मार्ग के राही को अगर सिद्धि न मिली, उसने संसार के विषयों से तो नाता तोड़ लिया

श्री भगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

असंशयम्[2]–निस्सन्देह; **महाबाहो**[1]–हे महाबाहु; **मनः**[3]–मन; **दुर्निग्रहम्**[5]–कठिन निग्रह या वश करना है जिसका; **चलम्**[4]–चंचल; **अभ्यासेन**[8]–'अभ्यास' से; **तु**[6]–तो; **कौन्तेय**[7]–हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन; **वैराग्येण**[10]–'वैराग्य' से; **च**[9]–और; **गृह्यते**[11]–पकड़ा जाता है, वश में किया जाता है।

तुलना कीजिए——'अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः——योगदर्शन।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

असंयतात्मना[1]–जिसने अपने-आपको वश में नहीं किया; **योगः**[2]–योग; **दुष्प्रापः**[3]–प्राप्त कर सकना कठिन है; **इति**[4]–यह; **मे**[5]–मेरा; **मतिः**[6]–मत है; **वश्यात्मना**[7]–जिसने अपने-आप को वश में कर लिया है; **तु**[9]–तो; **यतता**[8]–यत्न के द्वारा; **शक्यः**[12]–हो सकता है, सम्भव है; **अवाप्तुम्**[11]–प्राप्त करने को; **उपायतः**[10]–उपाय से।

परन्तु परमात्मा के साथ उसका मेल न हुआ, श्रद्धा से योग-मार्ग पर चल तो पड़ा परन्तु चंचल मन ने उसे बीच में ही चलायमान कर दिया, उसकी गति तो साँप-छछून्दर की हो जायगी, वह न इधर का रहेगा न उधर का। उसकी क्या गति होगी? इसी प्रश्न को अर्जुन पूछता है :

अर्जुन ने कहा : **हे कृष्ण! अगर कोई श्रद्धा से युक्त साधक योग-मार्ग पर चल पड़ा परन्तु यत्न पूरा न होने के कारंण उसका मन योग से विचलित हो गया, वह योग-भ्रष्ट हो गया और वह योग की सिद्धि को, योग के उद्देश्य को न पा सका, तो वह किस गति को प्राप्त करता है? ॥३७॥**

हे महाबाहु! कहीं दोनों ओर से स्थान-भ्रष्ट हुआ-हुआ, दोनों में से किसी तरफ़ भी न जमा हुआ, ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग पर किंकर्तव्य-विमूढ़ हुआ-हुआ वह बादल की तरह नष्ट तो नहीं हो जाता? (जैसे बादल न बरसे तो आकाश में बना रहे, बरसे तो खेती को लाभ दे, परन्तु

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥

अयतिः[4]–पूरा यत्न न करने वाला; **श्रद्धया**[5]–श्रद्धा से; **उपेतः**[6]–युक्त; **योगात्**[2]–योग मार्ग से; **चलितमानसः**[3]–मन विचलित हो गया जिसका वह; **अप्राप्य**[8]–न पाकर; **योगसंसिद्धिम्**[7]–योग की सिद्धि को; **काम्**[9]–किस; **गतिम्**[10]–गति को; **कृष्ण**[1]–हे कृष्ण; **गच्छति**[11]–जाता है, प्राप्त करता है।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

कच्चित्[2]–कहीं; **न**[10]–नहीं; **उभयविभ्रष्टः**[9]–दोनों ओर से भ्रष्ट हुआ-हुआ; **छिन्नाभ्रम्**[7]–छिन्न-भिन्न बादल की; **इव**[8]–तरह; **नश्यति**[11]–नष्ट हो जाता है; **अप्रतिष्ठः**[6]–कहीं न टिका हुआ; **महाबाहो**[1]–हे महाबाहु; **विमूढः**[5]–किंकर्तव्य-विमूढ़; **ब्रह्मणः**[3]–ब्रह्म-प्राप्ति के; **पथि**[4]–मार्ग में।

आकाश में ही छिन्न-भिन्न हो जाय, तो न इधर का रहे, न उधर का रहे—ऐसा तो नहीं होता। क्या ऐसे मार्ग पर चल पड़ना, जिसे मनुष्य पा न सके, उचित है या ऐसे मार्ग पर पग ही न धरे?) ॥३८॥

हे कृष्ण! इस मेरे संशय को तू बिल्कुल छिन्न-भिन्न कर सकता है। तेरे बिना अन्य कोई इस संशय को छिन्न-भिन्न करनेवाला नहीं मिल सकता ॥३९॥

श्री भगवान् ने कहा : **ऐसे मनुष्य का विनाश न तो यहाँ होता है, न वहाँ। हे तात! कोई भी कल्याण-कार्य करने वाला कभी दुर्गति को नहीं प्राप्त करता ॥४०॥**

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

एतत्[3]–यह, इस; **मे**[2]–मेरे; **संशयम्**[4]–संशय को; **कृष्ण**[1]–हे कृष्ण; **छेत्तुम्**[6]–छिन्न-भिन्न करने को; **अर्हसि**[7]–सकता है; **अशेषतः**[5]–बिल्कुल; **त्वद्**[9]–तुझ से; **अन्यः**[10]–भिन्न, तेरे बिना, दूसरा; **संशयस्य**[12]–संशय के; **अस्य**[11]–इसके; **छेत्ता**[13]–छिन्न करनेवाला; **न**[14]–नहीं; **हि**[8]–निश्चय से; **उपपद्यते**[15]–मिल सकता है।

श्री भगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

पार्थ[1]–हे अर्जुन; **न**[3]–नहीं; **एव**[7]–ही; **इह**[4]–यहाँ; **न**[5]–नहीं; **अमुत्र**[6]–वहाँ; **विनाशः**[8]–विनाश; **तस्य**[2]–उसका; **विद्यते**[9]–होता है; **न**[15]–नहीं; **हि**[10]–निश्चय से; **कल्याणकृत्**[13]–कल्याण-कार्य करनेवाला; **कश्चित्**[12]–कोई भी; **दुर्गतिम्**[14]–दुर्गति को; **तात**[11]–हे प्रिय स्नेह-पात्र; **गच्छति**[16]–जाता है, प्राप्त करता है।

जिस स्थान को पुण्यशाली लोग पाते हैं उसे पाकर, वहाँ बहुत समय तक रहने के उपरान्त वह योग-भ्रष्ट, पवित्र और श्रीमान् लोगों के घर में जन्म लेता है ॥४१॥

अथवा, वह बुद्धिमान् योगियों के कुल में ही जन्म लेता है। श्रीमान् लोगों के स्थान में योगियों के कुल में ही जो जन्म लेना है वह तो इस संसार में और भी दुर्लभ है ॥४२॥

हे कुरुनन्दन ! वहाँ वह पूर्वजन्म के 'बुद्धि-संयोग' को (संस्कारों को) फिर पा जाता है और (जहाँ से पहले छोड़ा था) वहाँ से फिर 'संसिद्धि' (मोक्ष) पाने के लिये यत्न करता है ॥४३॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

प्राप्य[4]–पाकर; **पुण्यकृताम्**[2]–पुण्य करने वालों के; **लोकान्**[3]–लोकों को; **उषित्वा**[7]–रहने के उपरान्त; **शाश्वतीः**[5]–बहुत; **समाः**[6]–वर्ष; **शुचीनाम्**[8]–शुद्ध आचरणवालों के; **श्रीमताम्**[9]–श्रीमानों के; **गेहे**[10]–घर में; **योगभ्रष्टः**[1]–योग से डिगा हुआ; **अभिजायते**[11]–उत्पन्न होता है।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

अथवा[1]–अथवा; **योगिनाम्**[3]–योगियों के; **एव**[4]–ही; **कुले**[5]–कुल में; **भवति**[6]–होता है; **धीमताम्**[2]–बुद्धिमानों के; **एतत्**[9]–यह; **हि**[12]–निश्चय से; **दुर्लभतरम्**[13]–अधिक दुर्लभ है; **लोके**[11]–लोक में; **जन्म**[10]–जन्म; **यत्**[8]–जो; **ईदृशम्**[7]–ऐसा।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

तत्र[2]–वहाँ; **तम्**[3]–उसको; **बुद्धिसंयोगम्**[5]–बुद्धि के संस्कारों को; **लभते**[6]–प्राप्त करता है; **पौर्वदेहिकम्**[4]–पूर्वजन्म के; **यतते**[11]–यत्न करता है; **च**[7]–और; **ततः**[8]–वहाँ से; **भूयः**[9]–फिर; **संसिद्धौ**[10]–मोक्ष पाने में; **कुरुनन्दन**[1]–हे अर्जुन।

वह अपने पिछले जन्म के अभ्यास के द्वारा विवश-सा होकर योग की ओर खिंचता है क्योंकि योग का जिज्ञासु तक भी सकाम विधि-विधान करनेवाले से, 'शब्द-ब्रह्म' तक सीमित रह जाने वाले से, ब्रह्म की सिर्फ़ शाब्दिक चर्चा करने वाले से आगे निकल जाता है ।।४४।।

यहाँ कहा है कि योग का जिज्ञासु 'शब्द-ब्रह्म' से आगे निकल जाता है। 'शब्द-ब्रह्म' क्या है ? 'ब्रह्म' दो प्रकार का है—'शब्द-ब्रह्म' तथा 'पर-ब्रह्म'। 'शब्द-ब्रह्म' तो वह है जिसकी वेद-मंत्रों में, विधि-विधान में, अनुष्ठान में, सिर्फ़ शब्दों में चर्चा है; 'पर-ब्रह्म' वह है जो विधि-विधान से, यज्ञ-याग आदि से, शब्दों से परे है, आगे है, जिसकी सिर्फ़ शाब्दिक चर्चा नहीं है। गीता का कहना है कि योगी तो क्या, योग का जिज्ञासु तक भी, जो 'पर-ब्रह्म' के पाने के लिए चल पड़ा है, ब्रह्म की सिर्फ़ शाब्दिक चर्चा करनेवाले से आगे पहुँचा हुआ है।

वहाँ से आगे, प्रयत्न से योग के लिये परिश्रम करता हुआ योगी पाप से छूटकर अनेक जन्म-जन्मान्तरों में अपने

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ।।४४।।

पूर्वाभ्यासेन[3]–पिछले जन्म के अभ्यास से; **तेन**[2]–उससे; **एव**[4]–ही; **ह्रियते**[8]–खिंचता है; **हि**[7]–निश्चय से; **अवशः**[5]–विवश; **अपि**[6]–भी; **सः**[1]–वह; **जिज्ञासुः**[10]–जिज्ञासु; **अपि**[11]–भी; **योगस्य**[9]–योग-मार्ग का; **शब्दब्रह्म**[12]–जिस ब्रह्म की केवल शाब्दिक चर्चा है उसे; **अतिवर्तते**[13]–उल्लंघन कर जाता है, परे निकल जाता है।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।।४५।।

प्रयत्नात्[3]–प्रयत्न से; **यतमानः**[4]–परिश्रम करता हुआ; **तु**[2]–तो; **योगी**[7]–योगी; **संशुद्धकिल्विषः**[5]–पाप से शुद्ध होकर; **अनेक-जन्मसंसिद्धः**[6]–जन्म-जन्मान्तरों में अपने को पूर्ण बनाया है जिसने; **ततः**[1]–वहाँ से आगे; **याति**[10]–जाता है, प्राप्त करता है; **पराम्**[8]–परम; **गतिम्**[9]–गति को।

'यतमान'-शब्द 'यती प्रयत्ने' धातु से बना है। यह धातु आत्मनेपदी है। आत्मनेपद में शानच् प्रत्यय होता है, और इस दृष्टि से 'यतमान' व्याकरण के

आप को पूर्ण बनाता हुआ परम गति को प्राप्त होता है ॥४५॥

योगी तपस्वियों से बड़ा है, वह ज्ञानियों से भी बड़ा माना जाता है। योगी कर्मकांडियों से भी बड़ा है, इसलिये हे अर्जुन ! तू योगी हो जा ॥४६॥

सब योगियों में भी उसे मैं युक्ततम (सबसे अधिक मेरे साथ जुड़ा हुआ, सर्व-श्रेष्ठ) मानता हूँ जो मुझ में अपने

अनुसार शुद्ध प्रयोग है। परन्तु गीता (२–६०) में **'यततो ह्यपि कौन्तेय'**— इस स्थल में 'यततः' यह परस्मैपद में अशुद्ध प्रयोग किया गया है। व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध प्रयोग 'यतमानस्य' होना चाहिये था; ७–३ में **'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये। यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः'**— इस श्लोक में 'यतति' की जगह 'यतते' और 'यतताम्' की जगह 'यतमानानाम्' होना चाहिये था क्योंकि यह धातु आत्मनेपदी है। आत्मनेपद में 'शानच्' और परस्मैपद में 'शतृ' प्रत्यय होता है जिसे यहां छन्द की दृष्टि से ध्यान में नहीं रखा गया।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

तपस्विभ्यः[2]—तपस्वियों से; **अधिकः**[3]—बड़ा; **योगी**[1]—योगी; **ज्ञानिभ्यः**[5]—ज्ञानियों से; **अपि**[6]—भी; **मतः**[8]—माना जाता है; **अधिकः**[7]—बड़ा; **कर्मिभ्यः**[9]—कर्मकाण्डियों से; **च**[4]—और; **अधिकः**[11]—बड़ा; **योगी**[10]—योगी; **तस्मात्**[12]—इसलिये; **योगी**[14]—योगी; **भव**[15]—हो जा; **अर्जुन**[13]—हे अर्जुन।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

योगिनाम्[2]—योगियों में; **अपि**[3]—भी; **सर्वेषाम्**[1]—सब में; **मद्गतेन**[6]—मेरे में गये हुए से; **अन्तरात्मना**[7]—अन्तरात्मा से; **श्रद्धावान्**[5]—श्रद्धावाला; **भजते**[9]—भजन करता है; **यः**[4]—जो; **माम्**[8]—मुझे; **सः**[10]—वह; **मे**[11]—मेरा; **युक्ततमः**[12]—सबसे अधिक युक्त, परमात्मा में जुड़ा हुआ; **मतः**[13]—मानने योग्य है।

अन्तरात्मा को डालकर (मुझ में मन पिरोकर) श्रद्धापूर्वक मेरा भजन करता है ॥४७॥

श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् में जो ब्रह्मविद्या का वर्णन किया गया है, उसके अन्तर्गत जो योगशास्त्र है, उसमें जो कृष्णार्जुन-संवाद है, उस संवाद का 'ध्यानयोग' (आत्म-संयम-योग) नामक षष्ठ अध्याय समाप्त हुआ ।*

उपसंहार

१. ध्यान-योग

चतुर्थ अध्याय के १७वें श्लोक में 'कर्म'-'विकर्म'-'अकर्म'—इन तीन शब्दों का प्रयोग किया गया है। हम देख चुके हैं कि आचार्य विनोबा ने 'विकर्म' का अपना विलक्षण अर्थ किया है। उनका कहना है कि 'कर्म' को इस प्रकार करना चाहिए ताकि वह 'अकर्म' हो जाय। 'कर्म' योगमार्ग है, 'अकर्म' सांख्यमार्ग है; 'कर्म' का 'अकर्म' हो जाना 'सांख्य' का 'योग' के साथ समन्वय है। परन्तु 'कर्म' की परिणति 'अकर्म' में कैसे होती है? ठीक ऐसे जैसे बच्चा जब घुटने चलता है तब खड़े होकर चलना उसे 'कर्म' मालूम पड़ता है, परन्तु चलते-चलते वह चलने लगता है परन्तु उसे मालूम ही नहीं होता कि वह चल रहा है, उसका 'कर्म' 'अकर्म' हो जाता है। बच्चे का तथा माता का 'कर्म' 'अकर्म' कैसे हो गया? माता अपने रोगी बच्चे के लिए रातों जागती है। एक रात का जागना ही मनुष्य को तोड़ देता है, माँ बच्चे के लिए कैसे इतना जाग जाती है? माता के लिए रातों जागना रूपी 'कर्म' 'अकर्म' हो जाता है, उसे उसका श्रम अनुभव नहीं होता। 'कर्म' में जब मन का सहयोग होता है, जब 'कर्म' में मन अपनी शक्ति भर देता है, तब 'कर्म' 'अकर्म' हो जाता है। गीता के 'कर्मयोग' का अर्थ भी तो कर्म के फल को छोड़कर 'कर्म' को 'अकर्म' बना देना ही है। 'कर्म' में मन का शक्ति भर देना, उसमें प्राण का संचार कर देना ही 'विकर्म' है। विशेष कर्म होने के कारण इसे 'विकर्म' कहते हैं। 'कर्म' की सहायता के लिए 'विकर्म' निरन्तर चाहिए। छठे अध्याय में इसी 'विकर्म' के प्रकार बताये हैं। 'कर्म' की साधना किन-किन 'विकर्मों' से होती है? ये 'विकर्म' हैं—ध्यान, भक्ति, आत्मा-अनात्मा का विवेक आदि। ध्यान से कर्म में शक्ति भरती है, भक्ति से भी कर्म में तीव्रता आती है। छठे अध्याय में 'कर्म' में प्राण डालनेवाले 'विकर्म' का अर्थात् ध्यान-योग का वर्णन है।

२. ध्यान-योग के साधन

'कर्म-योग' का श्रीकृष्ण ने जो अर्थ दिया है उसका अभिप्राय है—'फल की आसक्ति छोड़ना' (६–१)। 'फल की आसक्ति' छोड़ दी तो 'कर्म' 'अकर्म'

***इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ध्यान-योगो (आत्म-संयम-योगो) नाम षष्ठोऽध्यायः ।**

हो गया, 'योग' तथा 'सांख्य' में भेद न रहा क्योंकि सांख्य या संन्यास-मार्ग भी तो जब कर्मों को छोड़ने की बात कहता है तब उसका अभिप्राय कर्मों के फल से बचने का ही होता है। 'कर्मयोग' भी यही चाहता है, परन्तु 'फल की आसक्ति' छोड़ देना कोई हँसी-खेल नहीं है, यह कैसे छूटे ?

इसका उत्तर देते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि इसका उपाय तो 'इन्द्रिय-निग्रह' है (६-४)। जबतक इन्द्रियाँ विषयों में भटकती रहेंगी, विषयों का संकल्प करती रहेंगी, उनमें रस लेती रहेंगी तब तक तो आसक्ति छूट ही नहीं सकेगी, विषयों का रस हमें हर समय फल पाने के लिए ललचाता रहेगा। इन्द्रियों की दासता से मुक्ति पाकर, इन्द्रियों पर आश्रित न रहकर, अपने-आप पर भरोसा रख कर उठ खड़ा हो, अपना असली बन्धु तो तू आप है—यह सोचकर अपने उद्धार के लिए जुट जा और साधना का पल्ला पकड़ (६-५)।

गीता में कही गयी 'साधना' पर विचार करते हुए हम निम्न पाँच बातों पर विचार करेंगे :

(क) चित्त की एकाग्रता,
(ख) जीवन में संयम,
(ग) सम-दृष्टि,
(घ) श्री अरविंद का सम-दृष्टि का अर्थ,
(ङ) अभ्यास, वैराग्य और श्रद्धा।

३. चित्त की एकाग्रता

(क) **चित्त की एकाग्रता के भौतिक साधन**—इस अध्याय में चित्त की एकाग्रता की विधि बतलाई गई है। किस स्थान में ध्यान करे, कैसे ध्यान करे, किसका ध्यान करे ? एकान्त स्थान में, भीड़-भाड़ से दूर, इकला, शुद्ध-पवित्र जगह पर आसन बिछा कर, पीठ-सिर-गर्दन को एक सीध में रख कर, नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि गड़ा कर, इधर-उधर न देखता हुआ भगवान् के चिन्तन में मन रमा कर ध्यान में बैठे। इस प्रकार भौतिक दृष्टि से इन्द्रियों के विषयों से हट जाने से विषयों की तरफ़ न जाने में मन को सहायता मिलती है। शहरों के प्रलोभनों में चित्त विषयों में न जाता भी चला जाता है—इसलिए पर्यावरण ही बदल देना मन की एकाग्रता का बड़ा भारी साधन है।

(ख) **चित्त की एकाग्रता के मानसिक साधन**—परन्तु अगर पर्यावरण तो बदल दिया, भौतिक दृष्टि से विषयों को छोड़ दिया, परन्तु एकान्त में बैठकर मन उन्हीं में उलझा रहा, उन्हीं का रस लेता रहा, तो क्या लाभ ? इसीलिए गीता कहती है कि एकान्त में, इकला बैठकर, **'यतचित्तात्मा'** हो, **'मच्चित्तः'** हो, **'मत्परः'** हो। एकान्त में तो बैठे, परन्तु मन में दिन-रात भरे संसार के विषयों को बाहर निकाल कर बैठे, चित्त को जीतकर बैठे—**'यतचित्तात्मा**। जीते कैसे ? भगवान् में चित्त लगा दे—**'मच्चित्तः'**; भगवान् के लिए अपने को निछावर कर दे—**'मत्परः'**। मन शून्य नहीं रहता। या तो उसमें इन्द्रियों के विषय ज़ोर मारते

रहेंगे, या उनका स्थान भगवान् को देना होगा। जब मन में भगवान् आ बसेंगे तब मन अपने-आप एकाग्र हो जायगा और हमारा 'कर्म' फलासक्ति से रहित हो जायगा, हमारे 'कर्म' करते रहने पर भी वह 'अकर्म' हो जायगा, कर्म-योगी तथा सन्यास-योगी में कोई भेद नहीं रहेगा।

४. जीवन में संयम

ध्यान-योग का उद्देश्य कर्म की आसक्ति को छुड़ाना है ताकि हम कहने भर को निष्काम-कर्म न करें, सही मानों में निष्काम कर्म कर सकें। इसका पहला साधन कहा—'चित्त की एकाग्रता'। 'चित्त की एकाग्रता' का अर्थ है इन्द्रियों के विषयों से हमें जो रस मिलता है उससे चित्त को हटाकर भगवान् में जोड़ देना। इसी को गीता में 'युक्त' कहा है—'युक्त' अर्थात् भगवान् से जोड़ा गया। जब मन भगवान् के साथ एकाग्रता के कारण जुड़ जाता है तब विषयों का रस छूट जाता है, आसक्ति रहती ही नहीं। आसक्ति छोड़ने का दूसरा साधन गीता ने कहा है—'जीवन में संयम'। 'जीवन में संयम' का अर्थ है—जीवन की सब क्रियाओं को नाप-तोल कर करना। सोये हैं तो सोते रहें, जाग रहे हैं तो रातभर सिनेमा देखते रहें, खाने लगे तो गले तक भर गये, उपवास करने लगे हैं तो हड्डी-हड्डी निकल आयी—यह सब भी आसक्ति है। अपनी हर इन्द्रिय पर पहरा रखो। आँख देखे, परन्तु आँख के विषयों में इतनी न डूब जाय कि दृश्य जगत् में ही भटकती रहे; कान सुने, परन्तु राग में और तान में इतना न लीन हो जाय कि हर समय तबला और मृदंग ही सूझे; जिह्वा चखे, परन्तु चखने ही चखने में व्याकुल न रहे। जब जीवन इस प्रकार नाप-तोल कर चलता है, तब अपने-आप वह अनासक्त हो जाता है, निष्काम हो जाता है।

५. सम-दृष्टि

गीता में 'सम-दृष्टि' पर बहुत बल दिया गया है। छठे अध्याय में भी 'सम-दृष्टि' को 'ध्यान-योग' का साधन माना गया है। 'सम-दृष्टि' होगी तो 'ध्यान' होगा, भगवान् में 'ध्यान' होगा, तो 'अनासक्ति' होगी। 'सम-दृष्टि' का वर्णन करते हुए (५–१८) गीता ने कहा है : ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते तथा चांडाल में पंडित सम-दृष्टि से देखते हैं। ५–१९ में भी कहा है : जिनका मन 'सम-भाव' में स्थित है—'**येषां साम्ये स्थितं मनः**'—उन्होंने इसी जन्म में संसार पर विजय पा ली—'**इहैव तैर्जितः सर्गः**'। छठे अध्याय के २९, ३० श्लोक में कहा है : जो आत्मा को सब प्राणियों में और सब प्राणियों को आत्मा में देखता है वह सम-दर्शन है, सम-दर्शी है ; जो मुझे सब में देखता है और सबको मुझ में देखता है उससे मैं ओझल नहीं होता, वह मुझसे ओझल नहीं होता। इसी अध्याय के ३२वें श्लोक में कहा है : जो व्यक्ति सब को अपने समान देखता है वह परम श्रेष्ठ योगी है। इसी श्लोक में कहा गया है कि सुख-दुःख दोनों में जो समान-स्थिति में रहता है वह 'सम-दृष्टि' है; ५–२० में भी कहा है कि प्रिय को प्राप्त कर हर्ष न करे, अप्रिय को

प्राप्त कर उद्विग्न न हो, २–५६ में भी यही बात कही गई है। तो फिर 'अनासक्ति' की साधक इस 'सम-दृष्टि' का क्या अर्थ है जो बुद्धि-योग द्वारा प्राप्त होती है ?

(क) **'सम-दृष्टि' का दार्शनिक अर्थ**—'सम-दृष्टि' का अर्थ यह है कि हमें दूसरों को अपने समान समझना चाहिए। किसी को ऊँचा, किसी को नीचा नहीं समझना चाहिए। ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते, चांडाल को जो पीड़ा होती है वह ठीक ऐसी ही होती है जैसी मुझे। भूख का दुःख सब का समान है, बीमारी का कष्ट ब्राह्मण को कम हो, चांडाल को अधिक हो—ऐसा नहीं होता। जब मनुष्य दूसरों को अपने समान समझ कर बरतता है, सबको अपने में और अपने को सब में देखता है, तब वह भेद-दृष्टि से न देखकर सम-दृष्टि से देखता है, और तब स्वार्थ में न अटक कर परार्थ की दृष्टि से सोचने लगता है। सारी आसक्ति की जड़ स्वार्थ है, जब स्वार्थ न रहा, जब अपने पर ही दृष्टि टिकी न रह कर सब पर चली गई, तब आसक्ति की गुंजाइश कहाँ रही ? अगर हर प्राणी में भगवान् विद्य-मान है, तब दार्शनिक-दृष्टि तो भेद-भाव को बनाये नहीं रख सकती; एक ही सूत्र जब सब मनकों को पिरो रहा है, तब माला के सब मनके एक-से मनके हैं। दूसरों का सुख-दुःख मेरा सुख-दुःख है, मेरा सुख-दुःख दूसरों का सुख-दुःख है—जब यह वृत्ति मन में आ जाती है तब मनुष्य सुख-दुःख की भी पर्वाह नहीं करता, तब तो दूसरों के दुःख दूर करने में स्वयं दुःख झेलता हुआ भी सुख ही अनुभव करता है, उसके लिए न सुख रहता है, न दुःख रहता है, उसके लिए तो प्राणीमात्र की सेवा ही अपनी सेवा हो जाती है।

(ख) **'सम-दृष्टि' का आध्यात्मिक अर्थ**—श्री अरविंद का कहना है कि 'सम-दृष्टि' का जो यह दार्शनिक अर्थ किया जाता है वह गीता की पूरी भावना को व्यक्त नहीं करता। इस अर्थ में तो सभी लोग 'सम-दृष्टि'-शब्द का प्रयोग करते हैं। कौन नहीं कहता कि हमें सब के साथ सम-भाव से बरतना चाहिए ? गीता 'सम-दृष्टि'-शब्द का जब प्रयोग करती है तब इस शब्द का वह दार्शनिक अर्थ तो होता ही है जिसका हमने अभी वर्णन किया, परन्तु इसका इससे भी अधिक, इससे भी उच्चतर अर्थ होता है। 'सम-दृष्टि' का वह अर्थ है—'आध्यात्मिक सम-दृष्टि'। श्री अरविंद का 'आध्यात्मिक सम-दृष्टि' का क्या रूप है ?

६. श्री अरविंद का सम-दृष्टि का अर्थ

श्री अरविंद का कहना है कि संसार में प्रत्यक्ष तौर पर दो तत्व पाये जाते हैं। एक तरफ़ विषमता है, अशान्ति है, उद्वेष है; दूसरी तरफ़ समता है, शान्ति है, प्रसाद है। संसार की यह विषमता, यह अशान्ति, यह उद्वेग जो हमें परेशान रखते हैं, प्रकृति के धर्म हैं, आत्मा के धर्म नहीं; समता, शान्ति, प्रसाद भी हममें वर्तमान रहते हैं, ये आत्मा के धर्म हैं, प्रकृति के धर्म नहीं। सारे झगड़े की जड़ यह है कि प्रकृति के ये धर्म आत्मा अपनाये बैठा है। साधना का अर्थ यह है कि आत्मा अपने को प्रकृति से अलग कर ले। जब आत्मा अपने को प्रकृति से अलग कर लेगा तब

आत्मा का जो अपना स्वभाव है, अपना धर्म है, वह प्रकट हो जायगा। आत्मा का धर्म, स्वभाव है—समत्व, शान्ति, प्रसाद। विषमता आत्मा का धर्म नहीं है, प्रकृति का धर्म है। आत्मा में विषमता —किसी को बड़ा, किसी को छोटा समझना, आत्मा में विक्षोभ, सुख-दुःख के वशीभूत होना—तभी तक होता है जब तक आत्मा अपने को प्रकृति से अलग नहीं कर लेता।

तो क्या आत्मा अपने को प्रकृति से अलग कर सकता है? श्री अरविंद कहते हैं कि अपने को प्रकृति से अलग करने की प्रक्रिया हमारे जीवन में सदा चलती रहती है। उदाहरणार्थ, हम आंखें खोले देख रहे हैं, इतने में तार आ गया कि हमारे घर चोरी हो गई। अब हम घंटों आँखें खोले बैठे रहें परन्तु मन कहीं और लगा रहता है। वह देखता हुआ भी नहीं देखता, सुनता हुआ भी नहीं सुनता। ऐसा क्यों होता है? ऐसा इसलिए होता है क्योंकि मन ने अपने को इन्द्रियों से अलग कर लिया। ठीक ऐसे आत्मा अपने को मन से, बुद्धि से अलग कर सकता है। गीता ने ध्यान-योग की जो टेकनीक दी है वह आत्मा के अपने को प्रकृति के गुणों से अलग करके अपने स्वाभाविक समत्व के गुण में लौट जाने की प्रक्रिया है।

श्री अरविंद का तो कहना है कि आत्मा का गुण समत्व ही है, आत्मा में विषमता तथा उद्वेग हैं ही नहीं, ये आत्मा के भीतर के गुण नहीं, बाहर के गुण हैं, प्रकृति के गुण हैं। सिर्फ़ इस अव्यक्त स्थिति को व्यक्त करने की आवश्यकता है। प्रश्न यह है कि यह कैसे सिद्ध हो कि समत्व आत्मा का स्वाभाविक गुण है?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री अरविंद कहते हैं कि 'समत्व आत्मा का स्वाभाविक गुण है'—इसका प्रमाण यह है कि सुख में तो हमें सुख मिलता ही है, दुःख में भी हमें ऐसा भासता है कि इस दुःख को देखकर कोई सत्ता इसके पीछे बैठी सुख की ही अनुभूति कर रही है। योद्धा को युद्ध में जो घाव लगते हैं उनमें उसे कोई शारीरिक सुख नहीं मिलता, न पराजित होने पर उसे कोई मानसिक सन्तोष ही होता है; परन्तु युद्ध में तो उसे पूरा आनन्द ही मिलता है, चाहे वह युद्ध उसे पराजित और ज़ख्मी करा दे या विजयी बना दे। वह पराजय और ज़ख्म की संभावना को और विजय की आशा को युद्ध के ताने-बाने के तौर पर स्वीकार करता है और उसके अन्दर रहनेवाला आनन्द पराजय तथा विजय एवं ज़ख्मी होने या न होने दोनों अवस्थाओं के पीछे से झाँकता है। प्रायः घावों के रहते और पीड़ा के होते हुए भी युद्ध में अपने करतबों की स्मृति सुख देती है, हार में भी ज़बर्दस्त शत्रु का सामना करने के कारण योद्धा को हर्ष और गर्व होता है, अगर वह हीन कोटि का योद्धा है तो उसे द्वेष और प्रतिशोध की भावनाओं से भी एक प्रकार का क्रूर सुख मिलता है। सुख में तो आत्मा सुख अनुभव करता ही है, दुःख के पीछे भी सुख की झलक दीख पड़ती है, किसी खिड़की के पीछे बैठा आत्मा दुःख में भी सुख की झाँकी लेता है—इससे सिद्ध है कि 'समत्व' आत्मा का स्वाभाविक गुण है, उसका धर्म है, उसे केवल व्यक्त मात्र करना है, प्रकट मात्र करना है।

श्री अरविंद का कहना है कि जब किसी क्रिया के द्वारा हम प्रकृति के विक्षोभों में से बाहर निकल आयेंगे, प्रकृति से अपने को अलग कर लेंगे, तब हम में समता का भाव आ नहीं जायगा, हमारी स्वभावसिद्ध समता प्रकट हो जायगी, वह समता जो प्रकृति के साथ युक्त होने के कारण अबतक अप्रकट है। परन्तु यह बात ध्यान में रहे कि अन्त में यद्यपि हमें प्रकृति के सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणों से अलग हो जाना है, तभी तो आत्म-तत्व का स्वरूप प्रकट होगा, प्रकृति के इन तीन गुणों से परे पहुँचना है, तो भी आरंभिक अवस्था में हमें इन तीन गुणों में से किसी एक गुण का आश्रय लेकर ही आगे बढ़ना होगा। इसके लिए समत्व का यह आरंभ तामस हो सकता है, राजस हो सकता है, सात्त्विक हो सकता है। इन तीनों में से निकल जाने के बाद आत्मा की विशुद्ध समता की अवस्था प्रकट होती है। वह कैसे ?

(क) **समत्व का तामस आरंभ**—श्री अरविंद का कहना है कि मानव स्वभाव में तामसी समता होना संभव है। जब प्राणवृत्ति आलसी होकर पड़ गई हो, जीवन के आघातों का प्रत्युत्तर जड़ता के कारण बंद हो गया हो, एक प्रकार की मंद संज्ञा-हीनता के कारण जीवन के सुखों के प्रति अनिच्छा हो गई हो, सुखों का अधिक भोग करते-करते मनुष्य थक गया हो, आवेग शिथिल पड़ गया हो, जीवन की यंत्रणा सहते-सहते जीवन के प्रति एक प्रकार की निराशा, घृणा या ग्लानि पैदा हो गई हो, जगत् से जी ऊब गया हो, जगत् ही भयरूप या त्रासरूप हो उठा हो, हर वस्तु से अरुचि उत्पन्न हो गई हो, जब ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाय तब ये सब कारण मिलकर तामसिक समता को ले आते हैं, तब मनुष्य सुख-दुःख, ऊँच-नीच का भेद नहीं करता, सब को सम-दृष्टि से देखता है। केवल तामसिक समता के अन्दर वास्तविक मुक्ति नहीं है। किन्तु जैसा कि भारतीय यतियों ने किया, इस तामसिक समता को यदि प्रकृति के परे जो अक्षर ब्रह्म है उसकी स्थिति, शक्ति तथा आनन्द के द्वारा सात्विक बनाया जा सके, तो आरंभ करने के लिए तामसिक समता भी एक शक्तिशाली साधन है। इस प्रकार की तामसिक समता जो सात्विक समता की तरफ़ ले जायेगी स्वभावतः संन्यास की ओर, जीवन और कर्मों के त्याग की ओर ले जायेगी, कर्मण्यता की ओर नहीं। फिर भी गीता इस प्रकार के संन्यास और त्याग को स्वीकार करती है और उसे एक स्थान देती है, जीवन के जन्म, मरण, जरा, व्याधि जो दोष हैं, उन्हें देखकर ऐसे जीवन से पीछे हटने की वृत्ति को गीता बुरा नहीं मानती, किन्तु इस साधना से यदि कोई लाभ उठाना है तो इसके साथ-साथ एक उच्चतर अवस्था की अनुभूति चाहिए और भगवान् में ही आनन्द और भगवान् का ही आश्रय—'**मामाश्रित्य**'—चाहिए। तामस वैराग्य मनुष्य के लिए किसी उच्चतर लक्ष्य का रास्ता खोले बिना उसकी शक्तियों को क्षीण कर देता है, परन्तु जो जीव अधिकारी हैं उनके लिए यह तामसी विरक्ति आध्यात्मिक विकास में सहायक यों हो सकती है कि उनके निम्न स्तर के जीवन में उनका घुले-मिले रहना, जो उनके सत्वगुण के जागरण में बाधक होकर उनकी उच्चतर संभावना को

अटकाते हैं, वे नष्ट हो जाते हैं। यह तामसी साम्यावस्था है जिसका आश्रय लेकर साधक आगे बढ़ सकता है।

(ख) **समत्व का राजस प्रारंभ**—ऊपर हमने जिस समता का वर्णन किया वह संसार से 'तामसिक निवृत्ति' है, निराशा की निवृत्ति, संसार के जन्म, मरण, जरा, व्याधि को देखकर संसार से भाग खड़े होना, सुख-दुःख दोनों से बचने का यत्न करना, परन्तु साधना तो वास्तव में तब शुरू होती है जब जिन चीज़ों से हम भागना चाहते हैं उन्हें अपने काबू में करें। संसार के विषयों से भाग कर समता प्राप्त करने की जगह संसार के विषयों के साथ जूझकर, उनके वश में पड़ने के स्थान में उन्हें अपने वश में करके जो समता प्राप्त होती है वह राजस समता है। राजस समता के 'आत्मवशित्व', 'इन्द्रिय-निग्रह', 'आत्म-संयम'—ये मुख्य आधार स्तम्भ हैं। तामस समता में दुर्बलता है, राजस समता में आत्म-बल प्रकट होता है। तामस समता का मूल मंत्र 'निवृत्ति' है; राजस समता का मूल मंत्र 'प्रवृत्ति' है। यह प्रवृत्ति जीवन के संग्राम को उस क्षेत्र में ले जाती है जहाँ विजय के गर्व से मनुष्य अपना मस्तक ऊँचा कर सकता है। कुछ छितरे हुए बाह्य उद्देश्यों और क्षणिक सफलताओं के लिए लड़ने-झगड़ने के बजाय यह साधना साधक को आध्यात्मिक युद्ध के द्वारा और आंतरिक विजय के द्वारा प्रकृति और स्वयं जगत् को ही जय करने के रास्ते पर ले जाती है। तामस निवृत्ति जगत् के सुख-दुःख, दोनों से किनारा काटती तथा उनसे भागना चाहती है, राजस प्रवृत्ति उन्हें सहने, उन्हें काबू करने और उनसे ऊपर उठने का रास्ता निकालती है। यह सुखद और दुःखद सभी चीज़ों के धक्कों को सहती है और उन्हें चकनाचूर कर देती है। इसकी पूर्णता तब समझनी चाहिए जब जीव बिना दुःखी या अनुरक्त हुए, बिना उत्तेजित या व्याकुल हुए संसार के सब स्पर्शों को सह सके।

इसी राजस-समत्व का वर्णन करते हुए गीता ने कहा है: "दुःखों के बीच जिसका मन उद्विग्न नहीं होता, सुखों के बीच जिसे उनकी कोई इच्छा नहीं होती, राग-द्वेष-भय जिससे निकल गये, वही 'स्थितधी मुनि' है। जो, चाहे उसे शुभ प्राप्त हो या अशुभ, सभी विषयों में स्नेहशून्य रहता है, न उनका हर्षपूर्ण स्वागत करता न उनसे द्वेष करता है, उसकी बुद्धि ज्ञान में स्थित है। जो कोई यहाँ, इस शरीर में काम-क्रोध से उत्पन्न होनेवाले वेग को सह सकता है वही योगी है, वही सुखी है। शीत और उष्ण, सुख और दुःख देनेवाले जो मात्रा-स्पर्श हैं वे अनित्य हैं, आते हैं और जाते हैं, इन्हें सहना सीखो। जिस पुरुष को ये व्यथित या दुःखी नहीं करते, सुख-दुःख में जो सम और धीर रहता है वही अमृत पाने योग्य है।"

(ग) **समत्व का सात्विक प्रारम्भ**—श्री अरविंद का कहना है कि गीता राजस समत्व के वीर-धर्म को इसी शर्त पर स्वीकार करती है जिस शर्त पर वह तामस समत्व को स्वीकार करती है। वह शर्त यह है कि राजस के ऊपर ज्ञान की सात्विक दृष्टि, इसके मूल में आत्म-साक्षात्कार का लक्ष्य और इसकी चाल में दिव्य स्वभाव की ओर ऊर्ध्वगति होनी चाहिए।

विशुद्ध मनीषी अपने आचार-विचार के लिए प्रारंभ ही सात्विक समता से करता है। वह भी तामस व्यक्ति की तरह जड़, प्राकृतिक और बाह्य जगत् की क्षणभंगुरता को देखता-समझता है और यह जानता है कि यह जगत् हमारी कामनाओं को पूर्ण नहीं कर सकता, न यह हमें सच्चा सुख ही दे सकता है, परन्तु इससे उसमें तामस व्यक्ति की तरह कोई नैराश्य, उदासी, ऊबना नहीं पैदा होता। वह स्थिर-शांत बुद्धि से सब-कुछ देख लेता और राजस व्यक्ति की तरह घबराहट या उद्वेग में भी नहीं पड़ता, न राजस-वृत्तिवाले की तरह किसी संघर्ष में पड़ता है। गीता के शब्दों में वह समझ लेता है: "विषय तथा इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न होनेवाले ये भोग दुःख के ही कारण हैं, इनका आदि है, अन्त है, इसलिए ज्ञानी, जागृत बुद्धि वाला पुरुष (बुध) इनमें रमण नहीं करता। उसका आत्मा इन बाह्य स्पर्शों में आसक्त नहीं होता, वह अपना सुख अपने अन्दर ही पाता है। वह यह देख पाता है कि हम ही तो अपने शत्रु हैं और हम ही अपने मित्र हैं। वह सदा सावधान रहता है और अपनी अन्तःशक्ति का प्रयोग कर अपने-आप को इस कैदखाने से एकदम छुड़ा लेता है—'**उद्धरेदात्मनात्मानम्**'। वह ज्ञान से तृप्त हो जाता है, अपनी इन्द्रियों का स्वामी हो जाता है, सात्विक समत्व के द्वारा योगी हो जाता है क्योंकि '**समत्वं योग उच्यते**'—समत्व ही तो योग है। उसकी दृष्टि में मट्टी, पत्थर, सोना सब बराबर हैं; सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख में, मान-अपमान में वह एकरस, शान्त और सम रहता है; शत्रु, मित्र, तटस्थ, उदासीन सब के लिए आत्मभाव में सम होता है क्योंकि वह यह देखता है कि ये संबंध अनित्य हैं जो जीवन की सदा बदलने वाली परिस्थिति से उत्पन्न होते हैं। वह साधु-असाधु, सदाचारयुत विद्वान्, सुसंस्कृत ब्राह्मण और पतित चांडाल अर्थात् मनुष्य मात्र के लिए सम, आत्मभाव-युक्त हो जाता है।" गीता में जिस सात्विक समता का वर्णन है, वह यही समता है।

(घ) आत्मा की विशुद्ध त्रिगुणातीत समता—परन्तु जैसा हमने पहले कहा, ये तीनों प्रकार की समता एक ऊँची, विशुद्ध आध्यात्मिक समता की भूमिका मात्र हैं। तम, रज तथा सत्त्व—ये तीनों प्रकृति के गुण हैं। आत्मा अपनी विशुद्ध समता को पाने के लिए तामस समता से प्रारंभ कर सकता है, राजस समता से प्रारंभ कर सकता है, सात्विक समता से प्रारंभ कर सकता है, परन्तु हैं ये तीनों प्रारंभ। वास्तविक आध्यात्मिक समता तो तब प्रकट होती है जब आत्मा अपने को प्रकृति के तीनों गुणों से पृथक् कर लेता है, प्रकृति से छूट जाता है, अपने स्वरूप में आ जाता है, आत्मस्थ हो जाता है। जब संसार के चारों तरफ़ के विक्षोभों के बीच में पड़ा हुआ आत्मा यह अनुभव करने लगे कि संसार के विक्षोभ, सुख-दुःख, मान-अपमान अलग हैं, वह आत्मा उनसे अलग है, पृथक् है, बाहर के विक्षोभ उसकी सत्ता को छू तक नहीं सकते, वे बाहर ही रहते हैं, उसके अन्दर प्रवेश नहीं कर सकते, उसे स्पर्श तक नहीं कर सकते, तब इस अवस्था को 'आध्यात्मिक-समत्व' कहा जाता है। इसे 'समत्व' इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह अवस्था विक्षोभ

उपस्थित होने पर उतार-चढ़ाव में नहीं आती, यह अवस्था एक-रस रहती है, एक-समान रहती है, इस अवस्था में भिन्नता, विषमता नहीं आती। जब आत्मा प्रकृति से अपने स्वरूप को पृथक् कर लेता है, अपने स्वरूप को प्रकृति से पृथक् अनुभव करने लगता है, तब वह अपने विशुद्ध रूप में आ जाता है, प्रकृति के बंधन से छूट जाता है। विषमता प्रकृति का धर्म है, समता आत्मा का धर्म है, आत्मा प्रकृति की विषमता से मुक्त होकर अपनी समता में समा जाता है। यह आध्यात्मिक समावस्था है, समत्व है। ऐसी अवस्था में उसे सुख-दुःख नहीं पहुँचता, उसका शुद्ध प्रसाद रूप प्रकट हो जाता है। गीता साधक को सत्त्वगुण की, रजोगुण की या तमोगुण की समता में न रखकर इस आध्यात्मिक-समत्व में लाना चाहती है।

यह अवस्था त्रिगुणातीत अवस्था है, इसी अवस्था को लाने के लिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कहा है: **'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'**—हे अर्जुन! तू प्रकृति के सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणों से अलग हो जा। गीता का यह उपदेश सांख्य-दर्शन के इस सिद्धान्त पर आधारित है कि संसार में दो तत्व हैं--'प्रकृति' तथा 'पुरुष'। जो-कुछ हो रहा है वह प्रकृति द्वारा ही हो रहा है, पुरुष अर्थात् आत्मा कुछ नहीं करता, प्रकृति के किये को अपना किया समझता है, ठीक ऐसे जिस प्रकार स्फटिक मणि में बाहर की वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ता है। प्रकृति के सत्त्व, रज, तम—ये तीन गुण जो-कुछ करते हैं उन्हें यह पुरुष अपना किया मानने लगता है, इसी से संसार के सब कष्ट हैं, अगर आत्मा प्रकृति के साथ कल्पित की हुई इस एकात्मता को काट दे तब वह अपने त्रिगुणातीत स्वरूप में आ जाता है। हम समझते हैं, हम कर्ता हैं, परन्तु हम कर्ता कहाँ हैं? हम जो-कुछ करते हैं उसका निर्धारण होता है हमारे भूत-काल के द्वारा, हमारे वंशानुक्रम के द्वारा, हमारी शिक्षा-दीक्षा के द्वारा, हमारी परिस्थिति के द्वारा और हमारे पीछे यह जो दारुण, जटिल चीज़ लगी हुई है, जिसे हम 'कर्म' कहते हैं, उसके द्वारा। यह 'कर्म' क्या है? यह हम पर और जगत् पर अतीत-काल में प्रकृति की जो क्रिया हो चुकी है उसका समूह है। तभी गीता ने कहा है: **'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते'**—प्रकृति के गुणों द्वारा सब कर्म हो रहे हैं, यह प्रकृति का अपना स्वभाव है, उसका अपने में प्रतिबिम्ब देखकर यह पुरुष कहने लगता है, "मैं कर रहा हूं"। असल में तो हम **'यंत्रारूढ़'** की तरह संसार में जीते हैं। मक्खी पहिये पर बैठी घूमती है और समझती है कि मैं घूम रही हूँ; यंत्र चल रहा है परन्तु उसका दाँता समझता है कि मैं चल रहा हूँ; प्रकृति काम कर रही है, आत्मा समझता है कि 'मैं कर रहा हूँ'। प्रकृति कर रही है, मैं यंत्र की तरह प्रकृति के घुमाये घूम रहा हूँ, प्रकृति कर्ता है, मैं समझता हूँ मैं कर्ता हूँ—इस बात को स्पष्ट करते हुए श्री अरविंद लिखते हैं:

"परमाणु के अंदर भी एक इच्छा-शक्ति है, पर यह स्पष्ट दीख पड़ता है कि यह स्वाधीन इच्छा-शक्ति नहीं हैं क्योंकि यह इच्छा-शक्ति यंत्रवत् है,

परमाणु इस पर स्वत्व नहीं रखता, परमाणु इसको नहीं चलाता, यह परमाणु को यंत्रवत् चलाती है। परमाणु में तमोगुण है जो रजोगुण तथा सत्त्वगुण को कैद किये रखता है। इससे ऊपर के स्तर में उद्भिद् कोटि है, उसमें रजोगुण बाहर निकल पड़ा है, वह स्नायवीय प्रतिक्रियाएँ करता है, परन्तु ये प्रतिक्रियाएँ भी यंत्रवत् चलती हैं, इन इच्छाओं में स्वतंत्रता नहीं होती। इससे ऊपर के स्तर में पशु कोटि के जीव हैं, जिनमें तमोगुण के विरुद्ध रजोगुण ज़ोर मारता है, परन्तु उनमें भी यंत्रवत् कार्य होता है—**'यंत्रारूढानि मायया'**—का ही यहाँ रूप है। पशुओं को उनके कर्मों का ज़िम्मेवार नहीं ठहराया जा सकता। परमाणुओं को आँधी के लिए, आग को जलाने के लिए जितना दोष दिया जा सकता है उससे अधिक दोष शेर को अन्य प्राणियों के खा जाने के लिए नहीं दिया जा सकता क्योंकि मारना, खाना शेर स्वतंत्रता से नहीं करता, अपनी प्रकृति की विवशता से करता है। परमाणु के समान पशु भी अपनी प्रकृति की यांत्रिकता के अनुसार ही चलता है। मनुष्य में हम समझते हैं कि वह स्वतंत्र है, वह कर्ता है, भोक्ता है, परन्तु यह हमारी ग़लत धारणा है। मनुष्य में सत्वगुण प्रधान हो जाता है, परन्तु क्या स्वभाव में सत्वगुण की प्रधानता स्वाधीनता का लक्षण है? मनुष्य के अन्दर जो इच्छा है क्या वह स्वाधीन इच्छा है? गीता इस बात को स्वीकार नहीं करती। गीता का कहना है कि जिस बुद्धि के कारण हम मनुष्य को स्वाधीन कहते हैं, यंत्रवत् चलने वाला नहीं कहते, वह बुद्धि भी प्रकृति का ही एक उपकरण है, बुद्धि द्वारा जो कर्म होता है वह कितना ही सात्विक क्यों न हो, होता वह प्रकृति के द्वारा ही है, और मनुष्य भी परमाणु तथा पशु की तरह यंत्रवत् ही चलता है, चलाती उसे प्रकृति ही है, प्रकृति ही कर्ता है, भोक्ता है; पुरुष कर्ता नहीं, भोक्ता नहीं। योग का शुद्ध रूप प्रकृति तथा पुरुष के सान्निध्य को तोड़ देना है, पुरुष को प्रकृति से अलग कर लेना है, जब पुरुष प्रकृति से अपने को अलग कर लेगा तब वह त्रिगुणातीत हो जायगा, तब वह अपनी समावस्था में आ जायेगा।"

७. अभ्यास, वैराग्य तथा श्रद्धा

ध्यान-योग के लिए चित्त की एकाग्रता, संयम तथा समत्व आवश्यक हैं। परन्तु इन सब को सिद्ध कैसे किया जाय? इसका उत्तर देते हुए गीता ने कहा है: **'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते'** (६–३५)—'अभ्यास' तथा 'वैराग्य' से एकाग्रता हो सकती है, संयम हो सकता है, समत्व हो सकता है। इन दोनों के अलावा एकाग्रता, संयम तथा समत्व का एक तीसरा साधन है—'श्रद्धा'। तभी गीता ने कहा: **'श्रद्धावान्भजते यो माम्'**—जो श्रद्धा से मेरा भजन करता है वह मेरा प्रिय है। इन तीनों के विषय में कुछ लिखना उपयुक्त होगा।

(क) **अभ्यास**—हमारे काम दो तरह के होते हैं—'विध्वंसक' (Destructive) तथा 'विधायक' (Constructive)। खेत में से घास निकाल देना 'विध्वंसक' कार्य है, घास की जगह खेती करना 'विधायक' कार्य है।

चित्त में से विषयों का झाड़-झंकाड़ निकाल देना 'वैराग्य' है, उसकी जगह भगवान् का चिंतन करना 'अभ्यास' है। योगदर्शन में भी कहा है—**'अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः'**—अभ्यास और वैराग्य से चित्त को वश में किया जा सकता है। इनमें से अभ्यास के लिए योगदर्शन में लिखा है: **'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः'**—चित्त की सात्विक स्थिति में यत्न करते रहना अभ्यास है। अगर निरन्तर चित्त को एकाग्र करते रहने का यत्न किया जायगा तो मन वश में आ जायगा। बुरे मार्ग में बार-बार जाने से उसका अभ्यास हो जाता है, अच्छे मार्ग में वार-वार जाने से उसका अभ्यास हो जाता है। यह कहना कि मन को हम वश में कर ही नहीं सकते, ग़लत है; गीता का कहना है कि हम अभ्यास नहीं करते, अभ्यास करें तो मन वश में हो जाता है।

(ख) **वैराग्य**—'विधायक' कार्य को गीता में 'अभ्यास' कहा है, 'विध्वंसक' कार्य को 'वैराग्य' कहा है। वैराग्य से भी एकाग्रता, संयम तथा समत्व सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ, मिठाई खाने को सब ललचाते हैं, परन्तु अगर पता चल जाय कि मिठाई में विष मिला है तव उससे एकदम वैराग्य हो जाता है। संसार के विषयों के प्रति भी सव की लालसा है, परन्तु अगर यह समझ आ जाये कि इन विषयों में फँसकर व्यक्ति रोगों से घिर जाता है तब विषय वैराग्य को उत्पन्न कर देते हैं।

(ग) **श्रद्धा**—अभ्यास तथा वैराग्य के अलावा चित्त को एकाग्र करने का तीसरा साधन है—'श्रद्धा'। गीता ३–३१ में कहा है: **'श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः'**—श्रद्धा से युक्त लोग कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। ६–४७ में कहा है: **'श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः'**—जो श्रद्धा से मेरा भजन करता है वह मेरे साथ जुड़ा हुआ है। श्रद्धा का संबंध हृदय के साथ है। भगवान् के प्रति जो अपने को हृदय से समर्पित कर देता है उसका चित्त एकाग्र रहता है, वह संयमी होता है, उसके लिए समत्व की भावना बुद्धि का नहीं, हृदय का भाव होता है।

सातवाँ अध्याय
ज्ञान-विज्ञान योग

हम पहले कह आये हैं कि गीता के १८ अध्याय हैं। इनमें पहले छः अध्यायों में 'कर्मयोग' का वर्णन है, अगले छः अध्यायों में 'भक्तियोग' का वर्णन है, अन्तिम छः अध्यायों में 'ज्ञानयोग' का वर्णन है। इस प्रकार गीता तीन षट्कों में बँटी हुई है। इसका यह अर्थ नहीं कि कर्म-योग में भक्ति या ज्ञान का समावेश नहीं, भक्ति-योग में कर्म या ज्ञान का समावेश नहीं तथा ज्ञान-योग में कर्म या भक्ति का समावेश नहीं। गीता समन्वयात्मक ग्रन्थ है। मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य की मानसिक रचना में इच्छा, ज्ञान, क्रिया—ये तीन गुण पाये जाते हैं। अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग करें तो 'इच्छा' Feeling को कहते हैं, 'ज्ञान' Knowing को कहते हैं, 'क्रिया' Willing को कहते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो Feeling का प्रत्यक्ष रूप 'Emotion' है, Knowing का प्रत्यक्ष रूप 'Knowledge' है, Willing का प्रत्यक्ष रूप 'Action' है। 'कर्मयोग' का आधार Willing (Action) है, 'भक्ति-योग' का आधार Feeling (Emotion) है, 'ज्ञानयोग' का आधार Knowing (Knowledge) है। ये तीन प्रकार के योग मनुष्य के मन की रचना के आधार पर खड़े हैं। परन्तु जैसे 'इच्छा' में 'ज्ञान' तथा 'क्रिया' रहते हैं, जैसे 'क्रिया' में 'इच्छा' तथा 'ज्ञान' रहते हैं, जैसे 'ज्ञान' में 'इच्छा' तथा 'क्रिया' रहते हैं, मन में इन तीनों का समावेश है, वैसे 'कर्मयोग' में ज्ञान तथा भक्ति, 'भक्तियोग' में ज्ञान तथा कर्म, 'ज्ञानयोग' में कर्म तथा भक्ति रहते हैं। गीता का मार्ग समन्वय का मार्ग है—इसीलिए गीता में जगह-जगह कहा गया है कि सांख्य और योग को बाल-बुद्धि के लोग ही पृथक्- पृथक् कहते हैं, तत्वतः सब मार्ग एक ही हैं। यह देखते हुए कि मनुष्यों की मानसिक-रचना भिन्न-भिन्न होती है, गीता ने तीन मार्गों का वर्णन किया है। कई लोग कर्म-प्रधान होते हैं उनके लिए 'कर्मयोग', कई लोग भक्ति-प्रधान होते हैं, उनके लिए 'भक्तियोग' तथा कई लोग ज्ञान-प्रधान होते हैं उनके लिए 'ज्ञानयोग' का वर्णन है। क्योंकि गीता सब मार्गों का समन्वय करती है, यही कारण है कि कर्म की बात कहते-कहते वह भक्ति या ज्ञान की बात एक-साथ कह जाती है, भक्ति की बात कहते-कहते वह कर्म तथा ज्ञान की बात, ज्ञान की बात कहते-कहते वह कर्म तथा भक्ति की बात कह जाती है, और पाठक भ्रम में पड़ जाता है कि यह मिली-जुली बात क्यों कह दी। गीता का यह मिला-जुलापन उसकी समन्वयात्मक-दृष्टि के कारण है।

पहले षट्क में 'कर्मयोग' का वर्णन करने के बाद अब ७वें से १२वें अध्याय तक दूसरे षट्क में 'भक्तियोग' का वर्णन है। जैसा आचार्य विनोवा ने कहा, गीता का अन्तिम लक्ष्य 'कर्म' को 'अकर्म' बना देना है, और उसका साधन 'विकर्म' है। विनोबा की विचारधारा में 'विकर्म' का अर्थ उलटा कर्म नहीं, अपितु 'विशेष कर्म' है, कर्म के भीतर की जान है। 'विकर्म' के अनेक रूप हैं जिनसे 'कर्म' को प्रगतिशील, प्राणवान् बनाया जा सकता है। उनमें से एक रूप है—'भक्ति'। उसी 'भक्ति' का सातवें अध्याय में वर्णन है।

पिछले अध्याय में कहा गया था—'श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः'—जो श्रद्धापूर्वक मेरा भजन करता है उसे मैं सबसे अधिक अपने साथ जुड़ा हुआ मानता हूँ—इसी भूमिका में 'भक्तियोग' के सूत्र को उठा कर सातवाँ अध्याय प्रारंभ होता है।

[ज्ञान-विज्ञान द्वारा समग्र ईश्वर का ध्यान]

श्री भगवान् ने कहा : **हे पार्थ! (कर्मफल में मन को 'आसक्त' न करके) मुझ में मन को 'आसक्त' करके, (संसार के भौतिक पदार्थों का आश्रय न लेकर) मेरा आश्रय लेकर, जिस योग (भक्ति-योग) का अभ्यास करता हुआ, असन्दिग्ध तौर पर जिस प्रकार तू मुझे 'समग्र' अर्थात् पूर्ण रूप से जान जायगा—वह सुन ॥१॥**

मैं तुझे यह सारा विज्ञान-सहित ज्ञान बतलाऊँगा जिसे जान लेने के बाद इस लोक में जानने को फिर और कुछ शेष नहीं रह जाता ॥२॥

श्री भगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

मयि[2]—मुझ में; **आसक्तमनाः**[3]—आसक्त किये हुए मनवाला; **पार्थ**[1]—हे अर्जुन; **योगम्**[5]—भक्तियोग को; **युञ्जन्**[6]—अभ्यास करता हुआ, लगा हुआ; **मद्आश्रयः**[4]—मेरे आश्रयवाला; **असंशयम्**[10]—असन्दिग्ध तौर पर; **समग्रम्**[8]—पूर्ण रूप से; **माम्**[7]—मुझे; **यथा**[9]—जिस प्रकार; **ज्ञास्यसि**[11]—जान जायगा; **तत्**[12]—वह; **शृणु**[13]—सुन।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

ज्ञानम्[5]—ज्ञान को; **ते**[2]—तुझे; **अहम्**[1]—मैं; **सविज्ञानम्**[4]—विज्ञान-सहित; **इदम्**[3]—यह; **वक्ष्यामि**[7]—बतलाऊँगा; **अशेषतः**[6]—सम्पूर्णता

इस श्लोक में 'ज्ञान-विज्ञान' शब्द एक-साथ आये हैं। गीता के ३–४१ में **'पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञान-विज्ञाननाशनम्'** आया है, ६–८ में **'ज्ञान-विज्ञान-तृप्तात्मा'** पद आया है। इसी से इस अध्याय का शीर्षक 'ज्ञान-विज्ञान योग'—ऐसा इस अध्याय के अन्त के संकल्प में दिया गया है। शंकराचार्य ने शास्त्रों के आधार पर जो ज्ञान हो उसे 'ज्ञान' (Indirect or Theoretical knowledge) तथा आत्म-साक्षात्कार के आधार पर जो ज्ञान हो उसे 'विज्ञान' (Direct knowledge or Practical Realization) का नाम दिया है।

हजारों मनुष्यों में से कोई-एक योग की सिद्धि के लिये यत्न करता है और जो लोग यत्न करते हुए योग की सिद्धि कर लेते हैं उनमें से कोई-एक ही मुझे तात्विक रूप में जान पाता है ॥३॥

से; **यत्**[8]–जिसे; **ज्ञात्वा**[9]–जानकर; **न**[14]–नहीं; **इह**[10]–इस लोक में; **भूयः**[11]–फिर; **अन्यत्**[12]–और-कुछ; **ज्ञातव्यम्**[13]–जानने को; **अवशिष्यते**[15]–बच रहता है।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

मनुष्याणाम्[1]–मनुष्यों के; **सहस्रेषु**[2]–हजारों में; **कश्चित्**[3]–कोई; **यतति**[5]–यत्न करता है; **सिद्धये**[4]–सिद्धि के लिये; **यतताम्**[6]–उन यत्न करने वालों में; **अपि**[8]–भी; **सिद्धानाम्**[7]–सिद्धों के; **कश्चित्**[9]–कोई; **माम्**[10]–मुझे; **वेत्ति**[12]–जानता है; **तत्त्वतः**[11]–तात्विक रूप में, यथार्थ रूप में।

'यतति' का यहाँ आर्ष-प्रयोग है, व्याकरण की दृष्टि से 'यतते' होना चाहिये। इसी प्रकार इस श्लोक में 'यतताम्' भी अशुद्ध प्रयोग है। व्याकरण की दृष्टि से 'यतमानानाम्' होना चाहिये। गीता के दूसरे अध्याय के ६० श्लोक में **'यततो ह्यपि कौन्तेय'**—इस स्थल पर भी 'यततः' की जगह 'यतमानस्य' होना चाहिये। 'यती प्रयत्ने' धातु आत्मनेपदी है, परन्तु गीता में २-६० तथा ७-३ में इसे परस्मैपदी के तौर पर प्रयुक्त किया गया है जो व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है। ७-४५ में **'प्रयत्नाद्यतमानस्तु'**—इस श्लोक में 'यतमान'-शब्द में 'यती प्रयत्ने' धातु का आत्मनेपद में व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध प्रयोग किया गया है।

[जगत् में ईश्वर का स्वरूप तथा उसका दर्शन]

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—मेरा रूप (मेरी प्रकृति) इन आठ में बँटा हुआ है, विभक्त है ।।४।।

यह आठ प्रकार के भेदों वाला मेरा 'अपर' रूप है, जड़ रूप है । हे महाबाहु ! मेरे 'पर' रूप को, चेतन (जीव) रूप को भी जान ले जो 'अपर' रूप से भिन्न है और जिसके द्वारा यह संसार धारण किया जाता है ।।५।।

संसार में जड़ तथा चेतन—ये दो तत्व दिखलाई देते हैं। जड़ का रूप अष्टधा प्रकृति है, चेतन का रूप संसार के अनन्त जीव हैं । ये दोनों मिलकर ईश्वर का रूप बनते हैं, इनमें हम ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते हैं। जड़ तथा चेतन—ये दोनों मिल कर ईश्वर का शरीर बनते हैं, जड़-चेतन रूप इस सृष्टि का दर्शन ही ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन है। इसमें जड़ प्रकृति ईश्वर का 'अपर' रूप है, चेतन जीव ईश्वर का 'पर' रूप है। ईश्वर का निज रूप 'पर' तथा 'अपर' से परे है।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।।४।।

भूमिः[1]—पृथ्वी; **आपः**[2]—जल; **अनलः**[3]—अग्नि; **वायुः**[4]—वायु; **खम्**[5]—आकाश; **मनः**[6]—मन; **बुद्धिः**[7]—बुद्धि; **एव**[10]—भी; **च**[8]—और; **अहंकारः**[9]—अहंकार; **इति**[11]—ऐसे; **इयम्**[12]—यह; **मे**[14]—मेरी; **भिन्ना**[16]—विभक्त है, बँटी हुई है; **प्रकृतिः**[15]—स्वरूप, प्रकृति; **अष्टधा**[13]—आठ प्रकार से ।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ।।५।।

अपरा[2]—अपर अर्थात् जड़ प्रकृति रूप; **इयम्**[1]—यह; **इतः**[4]—इससे; **तु**[5]—तो; **अन्याम्**[6]—अन्य, भिन्न; **प्रकृतिम्**[10]—स्वरूप को, प्रकृति को; **विद्धि**[11]—जान; **मे**[7]—मेरी; **पराम्**[9]—पर रूप वाली, चेतन जीव वाली; **जीवभूताम्**[8]—जीव रूप; **महाबाहो**[3]—हे महा भुजाओं वाले अर्जुन; **यया**[12]—जिससे; **इदम्**[13]—यह; **धार्यते**[15]—धारण किया जाता है; **जगत्**[14]—संसार ।

संसार के सब प्राणी इन दोनों से (जड़ प्रकृति तथा चेतन जीव से) उत्पन्न होते हैं—यह समझ ले और मैं इस संपूर्ण जगत् का 'प्रभव' अर्थात् मूल हूँ, मैं ही इस संपूर्ण जगत् का 'प्रलय' हूँ, अर्थात् अन्त हूँ। (इस जड़-चेतन का अधिष्ठाता मैं हूँ; जैसे शरीर में आत्मा है, वह शरीर का अधिष्ठाता है, वैसे इस जड़-चेतन जगत् का परमेश्वर अधिष्ठाता है; जैसे आत्मा का दर्शन इस शरीर द्वारा ही होता है, वैसे परमात्मा का दर्शन इस जड़-चेतनमयी सृष्टि द्वारा ही होता है) ॥६॥

हे धनंजय! (मैं इस जड़-चेतन का प्रभव तथा प्रलय हूँ), मुझ से परे अन्य कोई वस्तु नहीं है। जो-कुछ भी संसार में यह-सब है, वह-सब मुझ में उसी प्रकार पिरोया हुआ है जैसे मणियाँ धागे में पिरोई रहती हैं ॥७॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

एतद् योनीनि[3]—यह कारण है जिनका, इससे उत्पन्न (योनि का अर्थ है—उत्पत्ति-स्थान); **भूतानि**[2]—प्राणी; **सर्वाणि**[1]—सब; **इति**[4]—यह; **उपधारय**[5]—समझ ले; **अहम्**[6]—मैं; **कृत्स्नस्य**[7]—सारे का; **जगतः**[8]—जगत् का; **प्रभवः**[9]—उत्पत्ति-स्थान; **प्रलयः**[11]—विनाश; **तथा**[10]—और।

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥

मत्तः[2]—मुझ से; **परतरम्**[3]—अधिक परे; **न**[6]—नहीं; **अन्यत्**[5]—अन्य; **किंचित्**[4]—कोई वस्तु; **अस्ति**[7]—है; **धनंजय**[1]—हे अर्जुन; **मयि**[13]—मुझ में; **सर्वम्**[9]—सब; **इदम्**[8]—यह; **प्रोतम्**[14]—पिरोया हुआ है; **सूत्रे**[10]—धागे में; **मणिगणाः**[11]—मणियाँ; **इव**[12]—तरह।

हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन ! जलों में रस मैं हूँ, चन्द्र तथा सूर्य की प्रभा मैं हूँ, सब वेदों में ओंकार मैं हूँ, आकाश में शब्द मैं हूँ, पुरुषों में पौरुष मैं हूँ ॥८॥

पृथ्वी में सुगन्ध मैं हूँ, अग्नि में तेज मैं हूँ, सब प्राणियों में जीवन मैं हूँ, तपस्वियों में तप मैं हूँ ॥९॥

हे पार्थ ! सब वस्तुओं का सनातन बीज मुझे समझ । बुद्धिमानों की बुद्धि मैं हूँ, तेजस्वियों का तेज मैं हूँ ॥१०॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥

रसः[4]–रस; **अहम्**[2]–मैं; **अप्सु**[3]–जलों में; **कौन्तेय**[1]–हे कुन्ती के पुत्र; **प्रभा**[6]–प्रकाश; **अस्मि**[7]–हूँ; **शशिसूर्ययोः**[5]–चन्द्र तथा सूर्य में; **प्रणवः**[9]–ओंकार; **सर्ववेदेषु**[8]–सब वेदों में; **शब्दः**[11]–शब्द; **खे**[10]–आकाश में; **पौरुषम्**[13]–पौरुष; **नृषु**[12]–मनुष्यों में ।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥

पुण्यः गन्धः[2]–सुगन्ध; **पृथिव्याम्**[1]–पृथिवी में; **च**[3]–और; **तेजः**[5]–प्रकाश; **च**[7]–और; **अस्मि**[6]–हूँ; **विभावसौ**[4]–अग्नि में; **जीवनम्**[9]–जीवन; **सर्वभूतेषु**[8]–सब प्राणियों में; **तपः**[12]–तप; **च**[10]–और; **अस्मि**[13]–हूँ; **तपस्विषु**[11]–तपस्वियों में ।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

बीजम्[4]–बीज; **माम्**[5]–मुझे; **सर्वभूतानाम्**[2]–सब प्राणियों का; **विद्धि**[6]–जान; **पार्थ**[1]–हे अर्जुन; **सनातनम्**[3]–सनातन; **बुद्धिः**[9]–बुद्धि; **बुद्धिमताम्**[8]–बुद्धिमानों की; **अस्मि**[12]–हूँ; **तेजः**[11]–तेज; **तेजस्विनाम्**[10]–तेजस्वियों का; **अहम्**[7]–मैं ।

बलवानों का 'काम' और 'राग' से रहित बल मैं हूँ। हे भरत-कुल में श्रेष्ठ अर्जुन! मैं सब प्राणियों में धर्म के विरुद्ध न रहने वाली लालसा हूँ ॥११॥

बलवानों के 'काम' और 'राग' से क्या अभिप्राय है? शंकराचार्य ने 'काम' का अर्थ किया है अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा; 'राग' का अर्थ किया है प्राप्त वस्तु को अपने पास बनाये रखने की इच्छा। इन दो इच्छाओं से—'काम' (Desire) तथा 'राग' (Attachment) से—व्यक्ति, समाज तथा देश अपना बल प्रकट करते हैं। जब किसी समाज में 'काम' तथा 'राग' उद्वेलित हो जाते हैं, तब अपना बल प्रदर्शित करने के लिए वह समाज, वह देश उत्पात करता है, युद्ध करता है, दूसरे पर आक्रमण करता है। बल प्रदर्शित करने का यह कुत्सित रूप है। जिस बल में 'काम' तथा 'राग' न हो, वह दैवीय बल है, ईश्वरीय बल है, बल के रूप में भगवान् का विशुद्ध रूप है।

धर्म के अविरुद्ध लालसा का क्या अभिप्राय है? प्राय: मनुष्य अपनी लालसा को पूर्ण करने के लिए अधार्मिक कार्य करता है। ऐसी धर्म-विरोधी लालसा में भगवान् नहीं रहते, भगवान् रहते हैं उस लालसा में जो धर्म के अनुकूल हो।

और जो सात्त्विक, राजस तथा तामस 'भाव' हैं (भाव अर्थात् मनुष्य की प्रकृति—किसी की सात्त्विक प्रकृति होती है, सत्त्वगुण से उत्पन्न होने वाली; किसी की राजस, रजोगुण से उत्पन्न होने वाली, किसी की तामस तमोगुण से उत्पन्न

बलं बलवतां चाऽहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

बलम्[5]—बल; **बलवताम्**[3]—बलवानों का; **च**[6]—और; **अहम्**[2]—मैं; **काम-राग-विवर्जितम्**[4]—काम तथा राग से रहित; **धर्मा-विरुद्धः**[8]—धर्म से अविरुद्ध अर्थात् धर्म के अनुकूल; **भूतेषु**[7]—प्राणियों में; **कामः**[9]—लालसा, इच्छा; **अस्मि**[10]—हूँ; **भरतर्षभ**[1]—भरत-कुल में श्रेष्ठ हे अर्जुन।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

ये[3]—जो; **च**[1]—और; **एव**[2]—ही; **सात्त्विकाः**[4]—सत्वगुण से उत्पन्न; **भावाः**[5]—भाव अर्थात् प्रकृति या स्वभाव; **राजसाः**[8]—रजोगुण

होने वाली प्रकृति है)—ये सब केवल मुझसे ही प्रकट होते हैं, मैं उनमें नहीं हूँ, वे मुझ में हैं ॥१२॥

सत्व, रज, तम—परमात्मा की शक्ति से उत्पन्न हुए हैं, परमात्मा के आश्रय से रहते हैं, उसके आश्रय से टिके हुए हैं; सत्वादि के आश्रय से परमात्मा टिका हुआ हो—ऐसी बात नहीं है। उदाहरणार्थ, राजा की शक्ति से उसके राज-कर्मचारी टिके होते हैं, राज-कर्मचारियों की शक्ति से राजा नहीं टिका होता। तभी कहा, ये मुझ में टिके रहते हैं, ये मुझ में हैं; मैं इन में नहीं। 'ये मुझ में हैं'—इसका अर्थ है, ये मेरे आश्रय से टिके हुए हैं; 'मैं इनमें नहीं'—इसका अर्थ है, मैं इनके आश्रय पर टिका हुआ नहीं।

[प्रकृति के गुणों के कारण भ्रम अर्थात् मोह]

(यद्यपि प्रकृति के सत्व, रज, तम—ये तीन गुण मेरे कारण ही टिके हुए हैं तो भी) यह सारा जगत् प्रकृति के इन तीन गुणों को ही सब-कुछ समझ कर, इनके द्वारा भ्रम में पड़ कर मुझे नहीं पहचान पाता। (इसलिये नहीं पहचान पाता क्योंकि) मैं इन तीन गुणों से परे हूँ और अविनाशी हूँ। (और मनुष्य की दृष्टि इन तीन गुणों तक ही सीमित रह कर आगे नहीं जा पाती) ॥१३॥

से उत्पन्न; **तामसाः**[9]–तमोगुण से उत्पन्न; **च**[6]–और; **ये**[7]–जो; **मत्तः**[11]–मुझ से; **एव**[12]–ही; **इति**[13]–यह; **तान्**[10]–उन्हें; **विद्धि**[14]–समझ; **न**[20]–नहीं; **तु**[15]–तो; **अहम्**[17]–मैं; **तेषु**[16]–उनमें; **ते**[18]–वे; **मयि**[19]–मुझ में।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाऽभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

त्रिभिः[3]–तीन प्रकार के; **गुणमयैः**[1]–गुणों वालों से; **भावैः**[4]–भावों से, प्रकृति से; **एभिः**[2]–इनसे; **सर्वम्**[6]–सारा; **इदम्**[5]–यह; **जगत्**[7]–संसार; **मोहितम्**[8]–भ्रम में पड़ा है; **न**[13]–नहीं; **अभिजानाति**[14]–जानता है; **माम्**[11]–मुझे; **एभ्यः**[9]–इनसे; **परम्**[10]–परे; **अव्ययम्**[12]–अविनाशी को।

यह (तीन गुणों वाली) गुणमयी (प्रकृति) मेरी दैवी माया है (दिव्य गुणों के कारण यह 'दैवी' है, अलौकिक है)। इसका पार पाना कठिन है। जो लोग केवल मेरी शरण में आ जाते हैं वे इस माया (रूपी नदी को) पार कर जाते हैं ॥१४॥

'माया' का अर्थ माया तो है ही, परन्तु श्री सातवलेकर ने इसका अर्थ कला, कौशल, हुनर, कारीगरी किया है। माया से, हुनर से कुम्हार मट्टी से घड़ा बना डालता है, घड़े का लोग उपयोग करते हैं, घड़े के मूल मट्टी को भूल जाते हैं घड़ा बना रहा तो प्रसन्न, घड़ा टूट गया तो दुःखी होते हैं। यह सब क्यों होता है ? माया द्वारा, कारीगरी के द्वारा मट्टी से घड़ा बना, उसी माया, कारीगरी द्वारा तीन गुणों को लेकर संसार बना। इस माया ने, परमेश्वर की कारीगरी ने ही तो हमारा ध्यान इसके मूल से भटका दिया है। वृक्ष, वनस्पति, पशु, पक्षी—ये सब परमेश्वर की माया है, उसकी कारीगरी है, ठीक ऐसे जैसे घड़ा मनुष्य की माया है, मनुष्य की कारीगरी है।

परन्तु माया से जिनकी बुद्धि हर ली जाती है, जिन्होंने आसुरी भाव धारण कर लिया है, बुरे काम करने वाले मूर्ख, नराधम लोग मेरी शरण में नहीं आते (इसलिये वे माया रूपी नदी को पार भी नहीं कर पाते) ॥१५॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

दैवी[3]–दिव्यगुणों वाली, अलौकिक; **हि**[1]–निश्चय से; **एषा**[2]–यह; **गुणमयी**[4]–सत्व, रज, तम—इन तीन गुणों वाली; **मम**[5]–मेरी; **माया**[6]–कारीगरी; **दुरत्यया**[7]–दुर्लङ्घ्य है; **माम्**[9]–मुझे; **एव**[10]–ही; **ये**[8]–जो; **प्रपद्यन्ते**[11]–प्राप्त करते हैं, शरण में आते हैं; **मायाम्**[14]–माया को; **एताम्**[13]–इसको; **तरन्ति**[15]–तर जाते हैं; **ते**[12]–वे।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

न[10]–नहीं; **माम्**[9]–मुझे; **दुष्कृतिनः**[7]–दुष्कर्मी; **मूढाः**[8]–मूढ़; **प्रपद्यन्ते**[11]–प्राप्त करते हैं; **नराधमाः**[6]–नराधम; **मायया**[1]–माया

[भक्तों के चार प्रकार]

जो भगवान् की शरण में आ जाते हैं उनका वर्णन करते हुए गीता ने शरणागत भक्तों के चार प्रकार बतलाये हैं :

हे भरत-कुल में श्रेष्ठ अर्जुन ! चार प्रकार के सुकर्मी मेरी भक्ति करते हैं। वे हैं—आर्त (दुःखी), जिज्ञासु, अर्थार्थी (प्रत्येक बात में अर्थ देखने वाला) तथा ज्ञानी ॥१६॥

उन सब में ज्ञानी व्यक्ति, जो सदा ब्रह्म के साथ युक्त रहता है, जो एक-भक्ति है, अनन्य-भक्ति वाला है, सब से विशिष्ट है, सब से श्रेष्ठ है क्योंकि मैं इस प्रकार के ज्ञानी भक्त को अत्यन्त प्रिय हूँ, और वह मुझे अत्यन्त प्रिय है ॥१७॥

से; **अपहृतज्ञानाः**[2]—हरी गयी है बुद्धि (ज्ञान) जिनकी वे; **आसुरम्**[3]—आसुरी; **भावम्**[4]—भाव को; **आश्रिताः**[5]—धारण किया है जिन्होंने ।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

चतुर्विधाः[3]—चार प्रकार के; **भजन्ते**[7]—भक्ति करते हैं; **माम्**[6]—मुझे; **जनाः**[5]—लोग; **सुकृतिनः**[4]—सुकर्मी; **अर्जुन**[2]—हे अर्जुन; **आर्तः**[8]—दुःखी; **जिज्ञासुः**[9]—जानने की इच्छा वाला; **अर्थार्थी**[10]—सांसारिक पदार्थों की चाहवाला या प्रत्येक बात में अर्थ देखनेवाला; **ज्ञानी**[12]—जिसने ज्ञान को पा लिया है, ज्ञानवान्; **च**[11]—और; **भरतर्षभ**[1]—भरत-कुल में श्रेष्ठ हे अर्जुन !

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

तेषाम्[1]—उन सबमें; **ज्ञानी**[4]—ज्ञानी व्यक्ति; **नित्ययुक्तः**[2]—सदा ब्रह्म के साथ युक्त हुआ-हुआ; **एकभक्तिः**[3]—अनन्य भक्ति वाला; **विशिष्यते**[5]—सब से श्रेष्ठ है; **प्रियः**[10]—प्रिय; **हि**[6]—क्योंकि; **ज्ञानिनः**[7]—ज्ञानी का; **अत्यर्थम्**[9]—अत्यन्त; **अहम्**[8]—मैं; **सः**[12]—वह; **च**[11]—और; **मम**[13]—मुझे, मेरा; **प्रियः**[14]—प्रिय है ।

वैसे तो उक्त सभी श्रेष्ठ हैं, परन्तु ज्ञानी को तो मैं अपना आत्मा ही मानता हूँ क्योंकि वह अपनी आत्मा को मेरे साथ युक्त करके, जोड़ कर, मुझ में स्थित हो कर अति उत्तम गति को पाता है ॥१८॥

सभी प्रकार के भक्त अच्छे हैं, परन्तु ज्ञानी सब से श्रेष्ठ है। यह क्यों? यह इसलिए क्योंकि 'आर्त' तो अपने मानसिक कष्ट को दूर करने के लाभ के लिए भगवान् को भजता है, 'अर्थार्थी' सांसारिक लाभ के लिए भगवान् को भजता है, 'जिज्ञासु' बौद्धिक लाभ के लिए भगवान् को भजता है, परन्तु ज्ञानी भक्त तो किसी लाभ के लिए भगवान् का आश्रय नहीं लेता, वह तो 'नित्ययुक्त' है, 'एक-भक्ति' है, 'युक्तात्मा' है, भगवान् के प्रति उसने अपने को निस्स्वार्थ तथा निष्काम भाव से अर्पित कर दिया है। दूसरे भक्त माँगते हैं, यह कुछ माँगता नहीं, अपने को ही अर्पण कर देता है, उसी में जा बैठता है, इसलिए यह सर्वोत्तम है।

अनेक जन्मों के अनन्तर यह अनुभव हो जाने से कि— "जो-कुछ है सब वासुदेव ही है"—ज्ञानवान् मुझे पा लेता

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

उदाराः[4]—श्रेष्ठ हैं; **सर्वे**[2]—सब; **एव**[3]—ही; **एते**[1]—ये; **ज्ञानी**[6]—ज्ञानी; **तु**[5]—तो; **आत्मा**[7]—आत्मा; **एव**[8]—ही; **मे**[9]—मेरा; **मतम्**[10]—मानता हूँ; **आस्थितः**[18]—स्थित होकर; **सः**[12]—वह; **हि**[11]—क्योंकि; **युक्तात्मा**[13]—आत्मा को जोड़कर; **माम्**[16]—मुझे; **एव**[17]—ही; **अनुत्तमाम्**[14]—अत्यन्त उत्तम को; **गतिम्**[15]—गति को।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

बहूनाम्[1]—अनेकों; **जन्मनाम्**[2]—जन्मों के; **अन्ते**[3]—अन्त में; **ज्ञानवान्**[4]—ज्ञानवान्; **माम्**[8]—मुझे; **प्रपद्यते**[9]—पा लेता है; **वासुदेवः**[6]—सब प्राणियों में वास करनेवाला; **सर्वम्**[5]—वही सब है; **इति**[7]—यह (जान जानेवाला); **सः**[10]—वह; **महात्मा**[11]—महात्मा; **सुदुर्लभः**[12]—अत्यन्त दुर्लभ है।

है। ऐसा महात्मा अत्यन्त कठिनता से मिलता है। ('वासुदेव' का अर्थ है—'सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततो ह्यहम्' [शान्ति पर्व, ३४१-४०]—'मैं सब प्राणियों में वास करता हूँ इसलिये मेरा नाम वासुदेव है') ॥१९॥

[ईश्वर के अतिरिक्त अन्य देवताओं के उपासक]

जो अपने को भगवान् के अर्पण नहीं करते, उन्हीं की भक्ति में सराबोर नहीं रहते, वे भगवान् के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न कामनाओं की पूर्ति के उद्देश्य से अन्य देवताओं की उपासना में लगे रहते हैं। कामनाओं की पूर्ति के उद्देश्य से भगवान् के अतिरिक्त अन्य देवताओं के उपासकों के विषय में गीता में कहा है :—

अपनी-अपनी प्रकृति अर्थात् स्वभाव के अनुसार प्रेरित हुए-हुए, भिन्न-भिन्न कामनाओं के कारण जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, वे भिन्न-भिन्न नियमों का आश्रय लेकर (भगवान् के अतिरिक्त) अन्य देवताओं की उपासना करते हैं। (अमुक कामना अमुक नियम के अनुसार पूरी होनी चाहिये—इस खड़पच में पड़कर लोग भगवान् में दिल लगाने के स्थान में कामनाओं को पूर्ण करनेवाले देवताओं की उपासना करने लगते हैं और संसार में भिन्न-भिन्न मतवादों को खड़ा कर देते हैं) ॥२०॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

कामैः[5]—भोगों की कामनाओं से; **तैः तैः**[4]—उन-उन से; **हृत-ज्ञानाः**[6]—जिनका ज्ञान हरा जा चुका है; **प्रपद्यन्ते**[11]—प्राप्त होते हैं, उपासना करते हैं; **अन्यदेवताः**[10]—अन्य देवताओं को; **तम् तम्**[7]—उस-उस; **नियमम्**[8]—नियम को; **आस्थाय**[9]—आश्रय लेकर (अर्थात् जिस देवता की पूजा के लिये जो-जो नियम, विधि-विधान लोक में प्रसिद्ध है उस-उस नियम को धारण करके); **प्रकृत्या**[2]—प्रकृति से (अपने स्वभाव से); **नियताः**[3]—प्रेरित हुए-हुए; **स्वया**[1]—अपनी।

जो-जो भक्त श्रद्धापूर्वक जिस-जिस देवता के रूप की पूजा करना चाहता है मैं देवता के उस-उस रूप में उसकी श्रद्धा को अचल बना देता हूँ ।।२१।।

डॉ० राधाकृष्णन ने इस श्लोक की व्याख्या करते हुए लिखा है कि आत्मा अपने संघर्ष में जितना ऊँचा उठ जाता है परमात्मा उसे कृतार्थ करने के लिए ठीक उतना ही नीचे झुकता है। परमात्मा जिन रूपों में प्रकट हो सकता है उनकी संख्या असीम है। जैसे छाया अपने मूल-तत्व की प्रकृति को प्रतिबिम्बित करती है, वैसे भगवान् अपनी मूल प्रकृति में रहता हुआ भी जो व्यक्ति विकास की जिस सतह पर होता है उसी सतह पर जब वह भगवान् को अपनी किसी भी कामना के लिए स्मरण करता है तो भगवान् अपनी छाया डाल देता है, अपना आशीर्वाद पहुँचा देता है। डॉ० राधाकृष्णन लिखते हैं कि गीता के अनुसार सब प्रकार की पूजा ऊँचा उठाती है। चाहे हम किसी भी वस्तु पर श्रद्धा क्यों न करें, अगर हमारी श्रद्धा मन के भीतर से उपजी है, तो वह प्रगति में सहायक होती है। गीता के ये वाक्य सार्वभौम-धर्म के द्योतक हैं, प्रत्येक धर्म के प्रति सहिष्णुता के द्योतक हैं। हमें किसी धर्म के प्रति हीन भावना नहीं रखनी चाहिए—इस भाव का इनमें बीज है।

ऐसा भक्त उस श्रद्धा से युक्त होकर उस देवता की आराधना करना चाहता है और उससे ही वह अपनी कामनाओं को पा जाता है, परन्तु वास्तव में उन कामनाओं को मैं ही पूर्ण कर रहा होता हूँ ।।२२।।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।।२१।।

यः यः[1]—जो-जो; **याम्-याम्**[3]—जिस-जिसको; **तनुम्**[4]—देवता के तनु अर्थात् शरीर को; **भक्तः**[2]—भक्त; **श्रद्धया**[5]—श्रद्धा से; **अर्चितुम्**[6]—पूजा करने को; **इच्छति**[7]—चाहता है; **तस्य-तस्य**[8]—उस-उसकी; **अचलाम्**[13]—अचल; **श्रद्धाम्**[12]—श्रद्धा को; **ताम्**[10]—उस देवता के प्रति; **एव**[11]—ही; **विदधामि**[14]—बना देता हूँ; **अहम्**[9]—मैं।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान्हि तान् ।।२२।।

सः[1]—वह; **तया**[2]—उससे; **श्रद्धया**[3]—श्रद्धा से; **युक्तः**[4]—युक्त हुआ; **तस्य**[5]—उस देवता के; **आराधनम्**[6]—पूजा को; **ईहते**[7]—चाहता

परन्तु इन अल्प-बुद्धि वालों को जो फल मिलता है वह नाशवान् होता है। देवताओं की पूजा करने वाले लोग देवताओं को पाते हैं किन्तु मेरे भक्त मेरे ही पास पहुँचते हैं ॥२३॥

यहाँ देवताओं में और भगवान् में भेद किया गया है। गीता के समय का कर्मकांड देवताओं की पूजा पर बल देता था। गीता ने कर्मकांड को भी स्वीकार किया है, परन्तु गीता का कहना है कि कर्मकांड से संसार की कामनाएँ पूर्ण होती हैं, इनसे भगवान् नहीं मिलते। कर्मकांड से भी जो मनोकामनाएँ पूर्ण होती हैं उनके पूर्ण करने में भी हाथ भगवान् का ही होता है, इसलिए यथार्थ दृष्टि सकामता को छोड़ कर निष्कामता से अपने को भगवान् के प्रति अर्पण कर देने की ही है। जब कामना पूर्ण होना अपने हाथ में नहीं तब कामना को रखना ही क्यों ?

[अज्ञान के कारण ईश्वर के विषय में भ्रम]

बुद्धि-हीन लोग मुझ अव्यक्त को (देवताओं के रूप में) व्यक्ति हुआ मानने लगते हैं (तभी वे भगवान् की भिन्न-

---

है; **लभते**[16]–प्राप्त करता है; **च**[8]–और; **ततः**[9]–उस देवता से; **कामान्**[14]–कामनाओं को; **मया**[10]–मुझ से; **एव**[11]–ही; **विहितान्**[12]–विधान किये हुए; **हि**[15]–निश्चय से; **तान्**[13]–उनको।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद् भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

अन्तवत्[6]–नाशवान्; **तु**[1]–परन्तु; **फलम्**[5]–फल; **तेषाम्**[2]–उनका; **तत्**[4]–वह; **भवति**[7]–होता है; **अल्पमेधसाम्**[3]–अल्प बुद्धि-वालों का; **देवान्**[9]–देवताओं को; **देवयजः**[8]–देवताओं की पूजा करने वाले; **यान्ति**[10]–पहुँचते हैं; **मद्भक्ताः**[11]–मेरे भक्त; **यान्ति**[14]–पहुँचते हैं; **माम्**[12]–मुझे; **अपि**[13]–ही।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२५॥

अव्यक्तम्[8]–अव्यक्त; **व्यक्तिम्**[10]–व्यक्तिम्—देवता के रूप में व्यक्ति को; **आपन्नम्**[11]–प्राप्त हुए को; **मन्यन्ते**[12]–मानने लगते हैं; **माम्**[9]–मुझे; **अबुद्धयः**[1]–बुद्धिहीन लोग; **परम्**[5]–परम; **भावम्**[6]–

भिन्न देवताओं के रूप में, व्यक्ति रूप में उपासना करते हैं)। मेरे परम अविनाशी और जिसके सम्मुख दूसरा कोई उत्तम नहीं है ऐसे रूप को न जानते हुए (वे ऐसा करते हैं) ।।२४।।

मैं अपनी योग-माया से ढके रहने के कारण सबको प्रकट रूप में प्रकाशित नहीं होता। योग-माया से ढके रहने के कारण यह मूढ़ मनुष्य मुझ अज तथा अव्यय को नहीं पहचानता ।।२५।।

'योग-माया' का अर्थ है—सत्व, रज, तम इन तीन गुणों के योग से जो माया बनती है उससे ब्रह्म का वास्तविक रूप ढका रहता है; 'अज' और 'अव्यय' ब्रह्म की सत्ता के दो पक्ष हैं; जो पैदा नहीं होता वह 'अज' और जो विनष्ट नहीं होता वह 'अव्यय'।

भाव को, रूप को; **अजानन्तः**[7]—न जानते हुए; **मम**[6]—मेरे; **अव्ययम्**[4]—अविनाशी को; **अनुत्तमम्**[3]—जिससे दूसरा कोई उत्तम नहीं ऐसे को, सर्वोत्तम को।

'अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नम्' का 'अव्यक्त' को 'व्यक्त' हुआ समझना—यह अर्थ भी हो सकता है, अर्थात् बुद्धिहीन लोग जो 'अप्रकट' है उसे 'प्रकट' मानने लगते हैं। परन्तु यहाँ क्योंकि 'व्यक्तिमापन्नम्' आया है इसलिए इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जो 'अव्यक्त' है, उसे निर्बुद्धि लोग 'व्यक्ति'-विशेष, 'देवता'-विशेष मानने लगते हैं।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ।।२५।।

न[5]—नहीं; **अहम्**[2]—मैं; **प्रकाशः**[4]—प्रकट रूप में, प्रकाशित रूप में होता हूँ; **सर्वस्य**[3]—सब का; **योगमायासमावृतः**[1]—प्रकृति के तीन गुणों के योग रूपी माया से ढका हुआ; **मूढः**[7]—मूढ़; **अयम्**[6]—यह; **न**[12]—नहीं; **अभिजानाति**[13]—पहचानता है; **लोकः**[8]—संसार, मनुष्य; **माम्**[9]—मुझे; **अजम्**[10]—अजन्मा को; **अव्ययम्**[11]—अविनाशी को।

हे अर्जुन ! (मुझे तो मूढ मनुष्य नहीं पहचान पाते, परन्तु) मैं उन सब प्राणियों को जानता हूँ जो अतीत में हो चुके हैं, जो इस समय विद्यमान हैं और जो भविष्य में होनेवाले हैं; मुझे कोई नहीं जानता ॥२६॥

हे भारत ! हे परंतप ! इस संसार में इच्छा तथा द्वेष से उत्पन्न होने वाले सुख-दुःखादि द्वन्द्वों के मोह से सब प्राणी भ्रम में फँसे रहते हैं (और मेरा ध्यान करने के स्थान में संसार के विषयों में उलझे रहते हैं) ॥२७॥

प्राणी-मात्र में दो मूल-प्रवृत्तियाँ ज़बर्दस्त हैं। अपनी सुरक्षा के लिए हमारे भीतर जीवन को बनाये रखने की क्रियाएँ 'इच्छा' (Desires) कहलाती हैं, और जब जीवन को बनाये रखनेवाली इच्छाओं के सम्मुख बाधा आ खड़ी होती है तब सुरक्षा की भावना से ही 'द्वेष' (Aversion) पैदा होता है। 'इच्छा' से सुख तथा 'द्वेष' से दुःख होता है। संसार के ये तथा इसी प्रकार के द्वन्द्व हैं, इन द्वन्द्वों को ही यथार्थ समझ कर मनुष्य इन्हीं में उलझा रहता है, असल में द्वन्द्वों में फँसे रहना भ्रमजाल में फँसे रहना है क्योंकि वास्तविक सत्ता इनकी नहीं, भगवान् की है, उसी में ध्यान जमाना उचित है।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

वेद[9]–जानता हूँ; **अहम्**[8]–मैं; **समतीतानि**[2]–जो व्यतीत हो चुके हैं; **वर्तमानानि**[4]–जो वर्तमान हैं; **च**[3]–और; **अर्जुन**[1]–हे अर्जुन; **भविष्याणि**[6]–जो होंगे; **च**[5]–और; **भूतानि**[7]–प्राणियों को; **माम्**[11]–मुझे; **तु**[10]–तो; **वेद**[14]–जानता है; **न**[13]–नहीं; **कश्चन**[12]–कोई भी।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥२७॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन[4]–इच्छा तथा द्वेष से जो उठे हुए अर्थात् उत्पन्न हुए; **द्वन्द्वमोहेन**[5]–सुख-दुःखादि द्वन्द्वों के मोह से, भ्रम से; **भारत**[1]–अर्जुन; **सर्वभूतानि**[6]–सब प्राणी; **संमोहम्**[7]–भ्रम को; **सर्गे**[3]–संसार में; **यान्ति**[8]–जाते हैं, जा पड़ते हैं; **परंतप**[2]–हे परम तपस्वी।

परन्तु जिन पुण्यात्मा मनुष्यों के पाप का अन्त हो गया है, वे सुख-दुःखादि द्वन्द्वों के मोह से, भ्रम से मुक्त हो कर दृढ़-व्रत होकर मेरी भक्ति करते हैं ।।२८।।

[ज्ञान के कारण मोक्ष-प्राप्ति]

जो लोग मेरा आश्रय लेकर, मेरी शरण में आकर, जरा तथा मरण से मुक्ति पाने के लिये, जन्म तथा मृत्यु से छुटकारा पाने का यत्न करते हैं वे ब्रह्म को, संपूर्ण अध्यात्म-ज्ञान को और अखिल कर्म के रहस्य को जान जाते हैं ।।२९।।

और जो अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ सहित मुझे जान जाते हैं वे भगवान् के साथ युक्त-चित्त होनेवाले मृत्यु के समय भी मेरा ही स्मरण करते हैं ।।३०।।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ।।२८।।

येषाम्[3]–जिनका; **तु**[1]–परन्तु; **अन्तगतम्**[6]–अन्त हो गया है; **पापम्**[5]–पाप; **जनानाम्**[4]–मनुष्यों का; **पुण्यकर्मणाम्**[2]–पुण्य कर्म करने वालों का; **ते**[7]–वे; **द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः**[8]–सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों के भ्रम से मुक्त हुए-हुए; **भजन्ते**[11]–भक्ति करते हैं; **माम्**[10]–मुझे (मेरी); **दृढव्रताः**[9]–दृढ़ संकल्प वाले ।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ।।२९।।

जरामरणमोक्षाय[4]–जन्म तथा मृत्यु से छुटकारा पाने के लिये; **माम्**[2]–मुझे; **आश्रित्य**[3]–आश्रय ले कर; **यतन्ति**[5]–यत्न करते हैं; **ये**[1]–जो; **ते**[6]–वे; **ब्रह्म**[8]–ब्रह्म को; **तत्**[7]–उस; **विदुः**[13]–जान जाते हैं; **कृत्स्नम्**[10]–संपूर्ण को; **अध्यात्मम्**[11]–अध्यात्म ज्ञान को, आत्मा के विषय में ज्ञान को; **कर्म**[12]–कर्म को; **च**[9]–और; **अखिलम्**[12]–संपूर्ण को ।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ।।३०।।

साधिभूताधिदैवम्[2]–अधिभूत और अधिदैव के सहित; **माम्**[5]–मुझे; **साधियज्ञम्**[4]–अधियज्ञ के सहित; **च**[3]–और; **ये**[1]–जो; **विदुः**[6]–

यहाँ 'ब्रह्म', 'कर्म', 'अध्यात्म', 'अधिभूत', 'अधिदैव' तथा 'अधियज्ञ' शब्दों का प्रयोग किया गया है। इनकी व्याख्या आठवें अध्याय में की गई है इसलिए यहाँ इनका विवेचन नहीं किया जा रहा।

श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् में जो ब्रह्मविद्या का वर्णन किया गया है, उसके अन्तर्गत जो योगशास्त्र है, उसमें जो कृष्णार्जुन-संवाद है, उस संवाद का 'ज्ञान-विज्ञान-योग' नामक सप्तम अध्याय समाप्त हुआ।*

उपसंहार

१. ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन

हम पहले लिख आये हैं कि ७ से १२ अध्यायों का षट्क भक्ति-योग प्रधान है। भक्ति किसी निर्गुण सत्ता की नहीं हो सकती। भक्ति के लिए तो भगवान् को शरीर धारण कर सामने खड़ा होना चाहिए। तो क्या भगवान् निर्गुण होते हुए सगुण भी हैं, अशरीरी होते हुए शरीरधारी भी हैं? गीता ने निर्गुण भगवान् के सगुण रूप का, अशरीरी के शरीर का बड़ी कवितामयी भाषा में वर्णन किया है। गीता कहती है: हे अर्जुन! देख मुझ अशरीरी का शरीर। पानी में रस मैं हूँ, सूर्य-चन्द्र का तेज मैं हूँ, वेदों का ओंकार मैं हूँ, आकाश में आवाज़ मैं हूँ, पुरुषों का पराक्रम मैं हूँ, मट्टी की सुगन्ध मैं हूँ, अग्नि का प्रकाश मैं हूँ, प्राणीमात्र का जीवन मैं हूँ, तपस्वी का तप मैं हूँ, बुद्धिमान् की बुद्धि मैं हूँ, बलवान् का बल मैं हूँ। आश्चर्य यही है कि मैं ही सब जगह हूँ, मेरे आश्रय से ही सब टिके हैं, परन्तु फिर भी मूढ़, मन्दमति मेरी जगह अन्य देवताओं की उपासना करते हैं, वे यह नहीं जानते कि उस उपासना से जो फल मिलता है उसका देनेवाला भी मैं ही हूँ। मैं सब जगह हूँ परन्तु क्योंकि योग-माया से, प्रकृति से चारों तरफ़ से ढका हुआ हूँ, इसलिए यह दुनिया मुझे न देखकर मेरी योग-माया को ही देखती है, मुझे सब-कुछ न समझ कर उसी को सब-कुछ समझती है क्योंकि मेरा अविनाशी और अनुपम रूप प्रकृति के त्रिगुणात्मक पर्दे के पीछे ढका हुआ है। प्रकृति के पर्दे को जो उघाड़ लेता है वह मेरा प्रत्यक्ष दर्शन कर लेता है। क्या मैं पानी के रस में प्रत्यक्ष नहीं दीख पड़ता, क्या मैं सूर्य-चन्द्र के तेज में, वेदों की ओंकार ध्वनि में, आकाश के गुंजायमान शब्द में, पुरुष के पराक्रम में, प्राणियों के जीवन में, तपस्वियों के तप में प्रत्यक्ष नहीं दीख जाता? जो इन सब जगह मेरे दर्शन करता है वह ईश्वर

जान जाते हैं; **प्रयाणकाले**[9]–मृत्यु के समय; **अपि**[10]–भी; **च**[12]–और; **माम्**[11]–मुझे; **ते**[7]–वे; **विदुः**[13]–स्मरण करते हैं; **युक्तचेतसः**[8]–भगवान् में चित्त लगाये हुए।

* **इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे ज्ञान-विज्ञान-योगो नाम सप्तमोऽध्यायः।**

के प्रत्यक्ष दर्शन करता है। यह पृथिवी, ये नदी-नाले, ये पहाड़, ये सूर्य-चन्द्र-तारे—ये सब क्या हैं, अगर ईश्वर के शरीर नहीं हैं ? जो इस प्रकार ईश्वर के दर्शन कर लेता है वह मेरा भक्त है, वह मेरे विना नहीं, मैं उसके विना नहीं।

सृष्टि में भगवान् के प्रत्यक्ष दर्शन करना—यह विचार पाश्चात्य-विचारक **ऑगस्ट कौम्टे** के विचार से मिलता-जुलता है। उसने 'मानव-धर्म' (Religion of Humanity) की स्थापना की थी। उसका कहना था कि कोई ऐसी शक्ति है जो हमसे बाहर, हमसे ऊपर, हमसे परे है, जिसके सम्मुख हमें बरबस सिर झुकाना पड़ता है, जिसे हमें सर्वोपरि मानना पड़ता है। वह शक्ति क्या है ? धर्मवादी उस शक्ति को ईश्वर, परमेश्वर कहते हैं, परन्तु कौम्टे तो ईश्वरवादी नहीं था, भौतिकवादी था, प्रत्यक्षवादी था, वह ईश्वर जैसी अप्रत्यक्ष शक्ति को कैसे मानता ? उसका कहना था कि 'मानवता' (Humanity) ही वह महान् शक्ति है, वह महती सत्ता है जो हम से ऊपर है, हमसे परे है, जिसके सामने हमें बरबस सिर झुकाना पड़ता है, परन्तु साथ ही जो प्रत्यक्ष भी है। 'मानवता' को उसने प्रत्यक्ष ईश्वर कहा, 'मानवता' का मन्दिर बनाने, उसकी पूजा करने का उपक्रम किया। गीता का सृष्टि को प्रत्यक्ष ब्रह्म कहना, कौम्टे के मानवता को ही ईश्वर मानने के समान है।

इसी भाव को अपने शब्दों में प्रकट करते हुए श्री सातवलेकर ने अपनी 'पुरुषार्थबोधिनी' नामक गीता की टीका में लिखा है : "इस प्रकृति में सत्व, रज और तम की साम्यावस्था रही तो वही मूल प्रकृति कहलाती है, और सत्व, रज, तम इन तीन गुणों में विषमता हो गई तो उसमें उस प्रकृति की विकृति बनती है और यह जगत् उस विकृति से प्रकट होता है। प्रकृति और विकृति में इस तरह सत्व, रज, तम गुणों की समता और विषमता का ही भेद है । समता हो या विषमता हो, दोनों अवस्थाओं में वह परमेश्वर की प्रकृति है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। इस प्रकृति का एक अंश हमारा शरीर है इसलिए हमारा शरीर भी परमेश्वर के शरीर का एक भाग है। इसी तरह परमेश्वर के शरीर में सब के शरीर समाये हैं, अथवा मनुष्यों, पशु-पक्षियों, वृक्ष-वनस्पतियों, स्थावर-जंगमों तथा सूर्य-चन्द्रादिकों के सब शरीर मिलकर होनेवाला जो यह प्रचंड ब्रह्मांड-रूपी विराट् देह है, वही परमेश्वर का प्रत्यक्ष शरीर है, जिसमें हर-एक का बिन्दु-मात्र शरीर समाया हुआ है और कोई उससे बाहर नहीं है। यही उसका 'विश्वरूप-दर्शन' है जिसका वर्णन गीता के ग्यारहवें अध्याय में है।"

२. भक्तों के चार प्रकार तथा विनोबा का स्पष्टीकरण

गीता में भक्तों के चार प्रकार बतलाये हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी। इनकी व्याख्या आचार्य विनोवा ने अपने ही ढंग से की है। उनकी व्याख्या का सार निम्न है :

मुख्य तौर पर भक्ति के तीन प्रकार हैं—सकाम-भक्ति, निष्काम-भक्ति तथा पूर्ण भक्ति ! इनमें निष्काम-भक्ति एकांगी है, पूर्ण-भक्ति सर्वाङ्गी है। निष्काम-भक्ति करनेवालों के तीन भेद हैं—आर्त, जिज्ञासु तथा अर्थार्थी। इस प्रकार भक्ति के कुल पाँच भेद हुए : (क) सकाम-भक्ति, (ख) आर्त की भक्ति, (ग) जिज्ञासु की भक्ति, (घ) अर्थार्थी की भक्ति, (ङ) पूर्ण भक्ति या ज्ञानी की भक्ति। ये पांचों क्या हैं ?

(क) **सकाम भक्ति**—कुछ इच्छा रखकर भगवान् के पास जाने को सकाम-भक्ति कहते हैं। माँ ने बच्चे की पीठ ठोककर कहा 'शाबाश', तो उसकी तबीयत होती है कि माँ का और काम करें। बहुत-से लोग सार्वजनिक क्षेत्र में इसीलिए कूदते हैं कि मान-सम्मान मिले। इसमें हर्ज क्या है ? ऐसा मान मिलने से व्यक्ति सार्वजनिक सेवा में सुस्थिर हो जायगा। तभी गीता में कहा है : "मेरा भक्त सकाम होगा तो भी उसकी भक्ति दृढ़ करूँगा। उसके मन में गोलमाल नहीं होने दूंगा। किसी भी निमित्त से क्यों न हो, जो भक्त मेरे पास आयेगा मैं उसकी पीठ पर हाथ फेरूँगा।" निमित्त कुछ भी हो, तुम भक्ति-मंदिर में जाओ तो। पहले यदि कामना लेकर भी जाओगे, तो भी आगे चल कर निष्काम हो जाओगे। आग में किसी भी लकड़ी को डालिये, वह जल उठेगी। परमेश्वर की भक्ति भी इसी तरह की आग है। चाहे सकाम-भक्ति हो, चाहे निष्काम-भक्ति; इस आग के संपर्क में आकर सबके हृदय में भक्ति की आग सुलग उठती है।

(ख) **आर्त की भक्ति**—सकाम-भक्ति का उल्टा है 'निष्काम-भक्ति'। 'निष्काम-भक्ति' के तीन प्रकार हैं—आर्त, जिज्ञासु तथा अर्थार्थी। आर्त-भक्ति क्या है ? आर्त होता है दया-प्रार्थी, भगवान् के लिए रोने-चिल्लाने और छटपटानेवाला। वह इस बात के लिए उत्सुक, व्याकुल, अधीर, आतुर रहता है कि कब भगवान् के प्रेम-रस का पान करूँगा, कब उससे गले लिपट कर जीवन को कृतार्थ करूँगा, कब उसके चरणों में अपने को डालकर धन्य होऊँगा।

(ग) **जिज्ञासु की भक्ति**—इस कोटि के भक्तों में कोई गौरीशंकर पर बार-बार चढ़ेंगे और मरेंगे, कोई उत्तर-ध्रुव की खोज में निकलेंगे और अपनी खोज के फल कागज़ पर लिख कर उन्हें बोतल में बन्द करके पानी में छोड़ कर मर जायेंगे, कोई ज्वालामुखी के गर्भ में उतरेंगे। जिज्ञासु भक्त के पास अदम्य जिज्ञासा होती है। वह प्रत्येक वस्तु के गुण-धर्म की खोज करता है। मनुष्य जैसे नदी-मुख के द्वारा अन्त में समुद्र को पा जाता है, उसी तरह यह जिज्ञासु भी अन्त में परमेश्वर तक पहुँच जायगा।

(घ) **अर्थार्थी की भक्ति**—अर्थार्थी का अर्थ है, प्रत्येक बात में अर्थ देखनेवाला। 'अर्थ' का मतलब पैसा नहीं, बल्कि हित-कल्याण है। किसी भी बात की जाँच करते समय वह उसे इस कसौटी पर कसेगा कि इसके द्वारा समाज का क्या हित, क्या कल्याण होगा, वह 'अर्थ' को देखेगा, 'हित' को देखेगा। वह देखेगा कि मैं जो कुछ कहता, लिखता, करता हूँ, उससे संसार का मंगल होगा या नहीं।

निरुपभोगी अहितकर क्रिया उसे स्वीकार न होगी। संसार के हित की चिन्ता करनेवाला कितना बड़ा महात्मा है! जगत् का कल्याण ही उसका आनन्द है।

जो 'प्रेम' की दृष्टि से समस्त क्रियाओं को देखता है वह आर्त, जो 'ज्ञान' की दृष्टि से देखता है वह 'जिज्ञासु' और जो सब के 'कल्याण' की दृष्टि से देखता है वह अर्थार्थी। एक हृदय के द्वारा, दूसरा बुद्धि के द्वारा, तीसरा कर्म के द्वारा ईश्वर के पास पहुँचता है—ये तीनों तीन प्रकार के भक्त हैं।

(ङ) **पूर्ण भक्ति या ज्ञानी की भक्ति**—सकाम तथा निष्काम भक्ति एकांगी हैं, सर्वाङ्गी भक्ति पूर्ण-भक्ति है, ज्ञानी की भक्ति है। ज्ञानी की भक्ति तथा जिज्ञासु की भक्ति में भेद है। जिज्ञासु तो ज्ञान पाने के मार्ग पर है, ज्ञानी ज्ञान पा चुका है। ज्ञानी-भक्त पूर्ण-भक्त है। उसे जो-कुछ दीखता है वह सब परमेश्वर का ही रूप है। कुरूप-सुरूप, राव-रंक, स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी सर्वत्र परमात्मा के ही पावन दर्शन! ऐसे भक्त को चींटी से लेकर चंद्र-सूर्य तक सर्वत्र एक ही परमात्मा दीखता है और उसका हृदय आनन्द से हिलोरें मारता रहता है। गंभीर सागर में उसे परमेश्वर का विलास दिखाई देता है, गो-माता में उसे ईश्वर का वात्सल्य नज़र आता है, पृथ्वी में उसकी क्षमता दीख पड़ती है, निरभ्र आकाश में उसकी निर्मलता, रवि-चन्द्र-तारों में उसका तेज और भव्यता दीख पड़ती है। फूल में उसकी कोमलता और दुर्जनों में अपनी परीक्षा करनेवाला परमेश्वर दीखता है। इस तरह 'एक ही परमात्मा सर्वत्र रम रहा है' यह देखने का अभ्यास ज्ञानी भक्त किया करते हैं। ऐसा करते हुए वह ज्ञानी भक्त एक दिन परमेश्वर में ही मिल जाता है।

गीता ने सब प्रकार के भक्तों को श्रेष्ठ माना है परन्तु ज्ञानी की भक्ति को सर्वश्रेष्ठ माना है (७–१७)। इसका अर्थ यह है कि भक्ति तो सब प्रकार की श्रेष्ठ है, परन्तु जहाँ 'ज्ञान' तथा 'भक्ति' दोनों का समन्वय है वह सर्वश्रेष्ठ है। समझा यह जाता है कि 'भक्ति' के साथ 'ज्ञान' का मेल नहीं। इस बात को गीता ने स्वीकार नहीं किया।

३. सप्तम अध्याय पर श्री अरविंद के विचार

(क) **ज्ञानयोग तथा भक्तियोग का समन्वय**—गीता के सप्तम अध्याय पर श्री अरविंद के विचार मनन करने योग्य हैं। उनका कहना है कि जैसे १म से ६ष्ठ अध्याय तक 'कर्म' तथा 'ज्ञान' का समन्वय किया गया है, वैसे ७म से १२श अध्याय तक 'ज्ञान' तथा 'भक्ति' का समन्वय किया गया है। जैसे १म से ६ष्ठ अध्याय में यह कहा गया है कि 'कर्मयोग' तथा 'ज्ञानयोग' में आधारभूत भेद नहीं है— **'सांख्य-योगी पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः'**, जब कर्म निष्काम हो जाता है तब वही स्थिति उत्पन्न हो जाती है जो ज्ञानयोग में होती है, वैसे ही ७म से १२श अध्यायों में कहा गया है कि 'ज्ञानयोग' तथा 'भक्तियोग' में कोई विरोध नहीं है। समझा यह जाता है कि ज्ञानी व्यक्ति भक्त नहीं हो सकता, भक्त व्यक्ति ज्ञानी

नहीं हो सकता। गीता इस बात को स्वीकार न करते हुए 'ज्ञानयोग' तथा 'भक्तियोग' को एक पीठिका पर ला बैठाती है।

सातवें अध्याय से 'भक्तियोग' की चर्चा प्रारंभ करने के लिए गीता ने पाँचवें अध्याय में भूमिका बाँध दी है। वहाँ 'यज्ञ' का वर्णन किया गया है, जीवन को यज्ञमय कहा गया है। 'यज्ञ' का अर्थ है—उत्सर्ग कर देना, अपने को अर्पण कर देना, अपना सब-कुछ भगवान् के चरणों में भेंट के रूप में चढ़ा देना, कर्म को अपना किया न समझकर करना। भक्ति में भी तो यही-कुछ किया जाता है, सब-कुछ उसी के लिए किया जाता है। अगर 'कर्म' की पूर्णता 'यज्ञ' में होती है, तो 'यज्ञ' की पूर्णता 'भक्ति' में होती है। इसी विषय का विस्तार ७म से १२श अध्यायों में किया गया है। इस विषय के प्रतिपादन के लिए गीता के सातवें अध्याय में १ से १४ श्लोक तक गीता ने ब्रह्म की दो प्रकृतियों का वर्णन किया है—अपरा तथा परा। संसार के पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहं-कार—ये ब्रह्म की 'अपरा-प्रकृति' है, वह परिवर्तनशील प्रकृति है; इससे परे परिवर्तनहीन, अचल, सत्-चित्-आनन्द रूप उसकी जो प्रकृति है, वह उसकी 'परा-प्रकृति' है। जीव ब्रह्म की 'अपरा-प्रकृति' के सान्निध्य में रहने के कारण प्रकृति के सत्व-रज-तम इन तीन गुणों में चल रहे कर्म को अपना कर्म समझता है, यह उसका भ्रम है क्योंकि जीव प्रकृति का अंश नहीं, ब्रह्म का अंश है—**'ममैवांशः सनातनः'** (१५—७)—इसलिए उसे अपने को प्रकृति से पृथक् कर लेना ही अपने यथार्थ रूप में आ जाना है। १४ श्लोक तक यह कह चुकने के बाद कि ब्रह्म की दो प्रकृतियाँ हैं—'अपरा-प्रकृति' तथा 'परा-प्रकृति', गीता—इसी अध्याय के अगले १६ श्लोकों में इस तथ्य का प्रतिपादन करती है कि जीव को 'अपरा-प्रकृति' के साथ एकात्मता स्थापित करने के स्थान में 'परा-प्रकृति' के साथ एकात्मता स्थापित करनी चाहिए। ब्रह्म की 'परा-प्रकृति' के साथ एकात्मता का दूसरा नाम 'भक्ति' है। ७वें अध्याय के इन दो भागों पर श्री अरविंद के निम्न विचार हैं :

(ख) **ब्रह्म की अपरा तथा परा प्रकृति**—गीता ने ७वें अध्याय का प्रारंभ करते हुए कहा है—ब्रह्म का 'समग्र' रूप जानना चाहिए। ब्रह्म के 'समग्र' रूप को जानने पर हम ब्रह्म के दो पहलुओं को जान जायेंगे जिनका नाम गीता ने 'ज्ञान' तथा 'विज्ञान' दिया है। 'ज्ञान' का अर्थ है ब्रह्म का जान लेना, 'विज्ञान' का अर्थ है उसका अनुभव कर लेना; जब ब्रह्म को जान कर उसका अनुभव कर लिया जाता है तब ज्ञान तथा विज्ञान द्वारा ब्रह्म को 'समग्र' रूप से हम जान जाते हैं। गीता का कहना है कि इस प्रकार ब्रह्म का 'समग्र' रूप से जानने का यत्न करनेवाले बिरले हैं, जो यत्न करते हैं उनमें से उसे पा जानेवाले तो और भी बिरले हैं। तो फिर उसका जान लेना क्या है, उसका स्वरूप क्या है? ४थे श्लोक में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है—ब्रह्म के दो रूप हैं, उसकी दो प्रकृतियां हैं। एक है पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार—यह आठ प्रकार

की प्रकृति। यह ब्रह्म की 'अपरा-प्रकृति' (Lower nature) है। इसके अतिरिक्त ब्रह्म की एक दूसरी प्रकृति है—**'इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्'**—इस अपरा से भिन्न मेरी दूसरी प्रकृति है जिसे 'परा-प्रकृति' (Higher nature) कहते हैं। 'अपरा' तथा 'परा'—दोनों ब्रह्म की ही प्रकृतियाँ हैं, परन्तु 'अपरा-प्रकृति' यह संसार है, 'परा-प्रकृति' ब्रह्म का वह चैतन्य रूप है जिससे इस संसार का धारण होता है—**'ययेदं धार्यते जगत्'**। वह 'परा-प्रकृति' ही संसार को उत्पन्न करती है—**'एतद्योनीनि भूतानि'**, उससे परे कुछ नहीं है—**'मत्तः परतरं नान्यत्'**, उसी में सब पिरोया हुआ है—**'मयि सर्वमिदं प्रोतम्'**, वही जलों में रस है, सूर्य-चन्द्र में ज्योति है, पृथिवी में गंध है, वही सब का बीज है। जिस तत्व को हम 'जीव' कहते हैं वह उसी ब्रह्म की 'परा-प्रकृति' का अंश है। गीता का कहना है कि 'परा-प्रकृति' कैसी है? **'जीवभूताम्'** (७–५)—अर्थात् जो 'जीव' बनी हुई है। श्री अरविंद का कहना है कि **'जीवात्मिकाम्'** और **'जीवभूताम्'** में आधारभूत भेद है। अगर **'जीवात्मिकाम्'** कहा होता तब इसका यह अर्थ होता है कि 'परा-प्रकृति' तथा 'जीव' में कोई भेद नहीं है। गीता ने ऐसा नहीं कहा। गीता ने कहा है—**'जीवभूताम्'**—परा-प्रकृति 'जीव' बनी हुई है। इसका यह अर्थ है कि 'परा-प्रकृति' अपने शुद्ध रूप में 'जीव' नहीं है, 'जीव' से बहुत अधिक है, महान् है, 'जीव' तो उसका एक रूप है, एक अंश है—**'ममैवांशः सनातनः'** (१५–७)। श्री अरविंद का कहना है कि गीता के अनुसार जीव ब्रह्म नहीं है, ब्रह्म का अंश है, ब्रह्म की परा-प्रकृति 'जीवात्मक' नहीं है, 'जीवभूत' है। अगर ब्रह्म तथा जीव एक ही होते तो गीता को यह कहना चाहिए था कि परा-प्रकृति 'जीवात्मक' है, यह नहीं कहना चाहिए था कि वह 'जीव-भूत' है; 'जीव-भूत' ही ब्रह्म में लीन होने का प्रयत्न कर सकता है, 'जीवात्मक' तो पहले से ही ब्रह्म है, उसे ब्रह्म में लीन होने की बात कहना—**'मद्गतेनान्तरात्मना'** (६–४७)—असंगत है।

गीता का कहना है कि जैसे प्राणियों में ब्रह्म की परा-प्रकृति जीव रूप में प्रकट होती है, वैसे ही वह पृथिवी में गन्ध रूप में, जल में रस रूप में, अग्नि में तेज रूप में, सूर्य-चन्द्र में ज्योति रूप में प्रकट होती है। इन सब का आधार ये स्वयं नहीं हैं, ब्रह्म की परा-प्रकृति ही सब का आधार है।

(ग) **जीव का अपरा-प्रकृति का सान्निध्य छोड़कर परा-प्रकृति में लीन होने का यत्न ही भक्ति है**—सांख्य-शास्त्र के अनुसार संसार के दो मूल तत्व हैं, 'प्रकृति' तथा 'पुरुष'। ये दोनों एक-दूसरे से अलग-अलग हैं। जितनी क्रियाएँ हैं, कर्म हैं, वे सब प्रकृति करती है, पुरुष नहीं करता, परन्तु प्रकृति के सान्निध्य के कारण प्रकृति के किये को पुरुष अपना किया मानता है। जैसे स्फटिक में पुष्प का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे प्रकृति के सात्विक, राजसिक, तामसिक कर्मों का पुरुष में प्रतिबिम्ब पड़ता है, वास्तव में पुरुष निष्क्रिय है, अकर्ता है, अभोक्ता है, मुक्त-स्वभाव है। सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार पुरुष का अपने को प्रकृति से अलग करके जान लेना

ही मुक्ति है। श्री अरविंद का कहना है कि गीता सांख्य-सिद्धान्त तक आकर ही नहीं रुक जाती। गीता का कहना है कि सांख्य-सिद्धान्त जिसे सत्व, रज, तम के रूप में प्रकृति कहता है, वह तो ब्रह्म की ही 'अपरा-प्रकृति' है, यह निम्न श्रेणी की प्रकृति है। जब जीव अपने को इस प्रकृति से जुदा कर लेता है, तब प्रकृति के कर्म तो शान्त हो जाते हैं, परन्तु तब वह ब्रह्म की 'परा-प्रकृति' के संपर्क में आता है, उच्च श्रेणी की प्रकृति के संपर्क में, ब्रह्म की जड़ प्रकृति का सम्पर्क छोड़कर ब्रह्म के सत्-चित्-आनन्द रूप प्रकृति के संपर्क में आता है, और तब दिव्य शक्ति के संपर्क में आने के कारण उसका यह नया 'दिव्य-जन्म' और 'दिव्य-कर्म' प्रारंभ होता है। यह स्थिति ज्ञान से प्राप्त होती है, प्रकृति के सत्व, रज, तम—इन तीन गुणों से अपने को अलग जान लेने के बाद शुरू होती है इसलिए इसका आधार ज्ञानयोग है, परन्तु क्योंकि इस स्थिति में आकर वह अपने को परा-प्रकृति में लीन कर देता है इसलिए यह ज्ञानयोग होता हुआ भक्तियोग भी है। इस स्थिति में ज्ञानयोग तथा भक्तियोग का समन्वय हो जाता है। इसी का वर्णन इस अध्याय के १५ से ३० श्लोक तक किया गया है।

आठवाँ अध्याय

अक्षर-ब्रह्म-योग

सातवें अध्याय के अन्त में 'ब्रह्म'-'कर्म'-'अध्यात्म'-'अधिभूत'-'अधिदैव' तथा 'अधियज्ञ' शब्दों का प्रयोग हुआ है। हमने कहा था कि इन शब्दों का अर्थ अगले अध्याय में स्पष्ट किया गया है। सातवें अध्याय के अन्त में यह भी कहा गया है कि जो 'ब्रह्म' को तथा 'कर्म' आदि को जान जाते हैं वे जरा-मरण से भी मुक्त हो जाते हैं। इसीलिए इस अध्याय में 'ब्रह्म' आदि की व्याख्या तथा मरण समय में 'ब्रह्म' में लीन होने की चर्चा की गई है। अर्जुन ने इस अध्याय में 'ब्रह्म'-'कर्म'-'अध्यात्म'-'अधिभूत'-'अधिदैव'-'अधियज्ञ' तथा 'अन्त-काल'—इन सात विषयों के संबंध में प्रश्न उठाया है। श्रीकृष्ण ने तीसरे और चौथे श्लोक में पहले छ: प्रश्नों का संक्षिप्त उत्तर दे दिया है। 'कर्म'-'अध्यात्म'-'अधिभूत'-'अधिदैव'-'अधियज्ञ'—ये पांचों 'ब्रह्म' के ही रूप हैं। ये पाँच और 'ब्रह्म'—कुल छ: हो गये। सातवाँ प्रश्न 'अन्तकाल' के संबंध में है। तीसरे और चौथे श्लोक के आगे सारा अध्याय 'अन्तकाल' का ही वर्णन कर रहा है।

[सात प्रश्न]

अर्जुन ने कहा : हे पुरुषोत्तम! वह 'ब्रह्म' क्या है? 'अध्यात्म' क्या है? 'कर्म' क्या है? 'अधिभूत' किसे कहते हैं? 'अधिदैव' किसे कहते हैं ॥१॥

अर्जुन उवाच

किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥

किम्[4]—क्या है; **तत्**[2]—वह; **ब्रह्म**[3]—ब्रह्म; **किम्**[6]—क्या है; **अध्यात्मम्**[5]—अध्यात्म; **किम्**[8]—क्या है; **कर्म**[7]—कर्म; **पुरुषोत्तम**[1]—हे पुरुषों में श्रेष्ठ; **अधिभूतम्**[10]—अधिभूत; **च**[9]—और; **किम्**[11]—किसे; **प्रोक्तम्**[12]—कहते हैं; **अधिदैवम्**[13]—अधिदैव; **किम्**[14]—किसे; **उच्यते**[15]—कहते हैं।

हे मधुसूदन कृष्ण ! इस देह में 'अधियज्ञ' कौन और कैसे है ? जो नियतात्मा है, अर्थात् जिसने अपने-आपको वश में कर लिया है, वह इस संसार से प्रस्थान करते समय तुझको किस प्रकार जान पा सकता है ।।२।।

[एक ब्रह्म के छः भाव]

श्री भगवान् ने कहा : **परम अक्षर-तत्व 'ब्रह्म' है; उस ब्रह्म का 'स्व-भाव' ('स्व' अर्थात् निज, 'भाव' अर्थात् सत्ता) के रूप में संसार के पदार्थों में विद्यमान रहना 'अध्यात्म' कहलाता है; उस ब्रह्म का 'भूत-भाव' अर्थात् जड़ चेतन दोनों को उत्पन्न करने वाले सृष्टि-व्यापार करने को 'कर्म' का नाम दिया जाता है ।।३।।**

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ।।२।।

अधियज्ञः[3]—अधियज्ञ; **कथम्**[7]—कैसे; **कः**[4]—कौन; **अत्र**[2]—यहाँ; **देहे**[6]—देह में; **अस्मिन्**[5]—इसमें; **मधुसूदन**[1]—हे मधुसूदन कृष्ण; **प्रयाण-काले**[10]—महाप्रस्थान करते समय; **च**[8]—और; **कथम्**[11]—कैसे; **ज्ञेयः**[12]—जानने योग्य; **असि**[13]—तू है; **नियतात्मभिः**[9]—जो नियतात्मा हैं उनसे ।

श्री भगवानुवाच

अक्षरं परमं ब्रह्म स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ।।३।।

अक्षरम्[2]—न नष्ट होने वाला; **परमम्**[1]—परम; **ब्रह्म**[3]—ब्रह्म ही; **स्वभावः**[4]—'स्व' अर्थात् निज 'भाव' अर्थात् सत्ता; **अध्यात्मम्**[5]—अध्यात्म; **उच्यते**[6]—कहलाता है; **भूतभावोद्भवकरः**[7]—जड़-चेतन दोनों भूतों को उत्पन्न करने वाला; **विसर्गः**[8]—सृष्टि-व्यापार करना; **कर्मसंज्ञितः**[9]—कर्म का नाम दिया जाता है ।

ब्रह्म के लिए 'अक्षर'-शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है। एक अर्थ है—'अक्षर', अर्थात् क्षर न होनेवाला, अविनाशी, अमूर्त रूप। दूसरा अर्थ है—'अक्ष-र'—'अक्ष' अर्थात् आँखों के लिए 'र' अर्थात् रमणीक, सुन्दर, मूर्त रूप।

(सृष्टि के मूल-तत्व का 'अ-क्षर' रूप तो ब्रह्म ही है, परन्तु संसार में 'अक्षर' के अतिरिक्त मेरा एक दूसरा रूप 'क्षर' है। यह) क्षर-भाव 'अधिभूत' कहाता है; इन भूतों में रहने वाला मेरा पुरुष-रूप अर्थात् जीव-रूप 'अधिदैवत' है; हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन! इस देह में मैं ही 'अधियज्ञ' हूँ ॥४॥

अर्जुन के सारे प्रश्नों का उत्तर देते हुए श्रीकृष्ण ने ब्रह्म के छः रूपों का वर्णन किया है। ब्रह्म के सृष्टि में छः रूप हैं: अक्षर-भाव, स्व-भाव, भूत-भाव, क्षर-भाव, पुरुष-भाव, तथा यज्ञ-भाव। ये सब भिन्न-भिन्न रूप हैं, परन्तु हैं ये सब ब्रह्म के ही रूप। इन्हीं को क्रमशः 'ब्रह्म'-'अध्यात्म'-'कर्म'-'अधिभूत'-'अधिदैवत'-'अधियज्ञ' कहते हैं। इनका अभिप्राय क्या है?

संस्कृत में किसी शब्द के साथ 'अधि' उपसर्ग लगने से उस शब्द का अर्थ हो जाता है—'उससे संबंध रखनेवाला', 'उस विषय का'। 'अध्यात्म' का अर्थ हुआ—'आत्मा से संबंध रखनेवाला'; 'अधिभूत' का अर्थ हुआ—पंच महाभूतों तथा प्राणियों (जड़-चेतन) से संबंध रखनेवाला; 'अधिदैवत' का अर्थ हुआ—देवताओं से संबंध रखनेवाला; 'अधियज्ञ' का अर्थ हुआ—यज्ञ से संबंध रखनेवाला। अर्जुन का प्रश्न यह है कि हे श्रीकृष्ण! ब्रह्म क्या है, उसका आत्मा से क्या संबंध है, उसका जड़-चेतन भूतमात्र से क्या संबंध है, उसका देवताओं से क्या संबंध है, उसका यज्ञ से क्या संबंध है? श्रीकृष्ण ने इन सब प्रश्नों का एक ही उत्तर दे दिया—'**अहमेवात्र**'—मैं ही इन सब में हूँ, मेरे ही ये नाना रूप हैं, यही मेरा इन सब के साथ संबंध है। ऐसा उत्तर देने की क्या आवश्यकता हुई? ऐसा उत्तर देने की आवश्यकता इसलिए हुई क्योंकि सृष्टि के संबंध में जो भिन्न-भिन्न विचार हैं उनमें से कौन-सा ठीक है—यह प्रश्न अर्जुन के मन में उठ खड़ा हुआ। वे भिन्न-भिन्न विचार कौन-से हैं? ये विचार ही अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैवत तथा अधियज्ञ हैं। यह कैसे?

ब्रह्म के मूर्त-अमूर्त दोनों रूप हैं; अमूर्त रूप तो सृष्टि के परे है ही; मूर्त रूप यह सृष्टि ही है।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥४॥

अधिभूतम्[3]–अधिभूत; **क्षरः**[1]–क्षर रूप; **भावः**[2]–सत्ता; **पुरुषः**[5]–जीवरूप; **च**[4]–और; **अधिदैवतम्**[6]–अधिदैवत; **अधियज्ञः**[12]–अधियज्ञ; **अहम्**[10]–मैं; **एव**[11]–ही; **अत्र**[8]–इस, यहाँ; **देहे**[9]–शरीर में; **देहभृतांवर**[7]–हे देहधारियों में श्रेष्ठ।

(क) **अध्यात्म**—सृष्टि के विषय में एक पक्ष यह है कि सृष्टि का कोई कर्ता नहीं, यह अपने 'स्वभाव' से चल रही है। 'अध्यात्म' में 'आत्मा' का अर्थ है—'अपना रूप', 'अपनापन'। इसी 'अपनेपन' को गीता ने 'स्व-भाव', 'निज-सत्ता' कहा है। वैसे तो अध्यात्म का प्रचलित अर्थ आध्यात्मिक होता है, परन्तु यहाँ इस शब्द का यह अर्थ नहीं है। यहाँ 'अध्यात्म' का अर्थ स्वयं गीता ने 'स्व-भाव' किया है। सृष्टि के विषय में जो यह पक्ष है कि यह अपने-आप चल रही है, इसका कोई नियन्ता नहीं, इसमें कोई नियम नहीं, इसका इस प्रकार चलना इसका स्वभाव ही है—इसी को यहाँ 'अध्यात्म' कहा है। श्रीकृष्ण ने भगवान् की तरफ़ से इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है—'**अहमेवात्र**'। यह ठीक है कि ऐसा दीखता है कि यह सृष्टि अपने- आप चल रही है, परन्तु ऐसी बात नहीं है, सृष्टि के इस 'स्वभाव' में—'**अहमेवात्र**'—मैं ही बैठा हूँ।

(ख) **कर्म**—सृष्टि के विषय में दूसरा पक्ष यह है कि यह बात ग़लत है कि इसमें कोई नियम नहीं है, इसमें नियम दिखाई देता है, यह सृष्टि 'कर्म' के द्वारा चल रही है, 'कर्म' अर्थात् कार्य-कारण का नियम। संसार में नियम नहीं, यह स्वभाव से ही चल रही है—इस बात को न माननेवाले यह मानते हैं कि संसार में नियम हैं, परन्तु उनका कोई नियामक नहीं है, 'कर्म' स्वयं सृष्टि-चक्र को चलाने के लिए पर्याप्त है। 'कर्म' क्या है ? गीता कहती है—'**भूतभावोद्भवकरः**'—जड़-चेतन को उत्पन्न करनेवाला नियम ही 'कर्म' है, वह नियम जो सृष्टि का सर्जन करता है। श्रीकृष्ण ने भगवान् की तरफ़ से इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है—'**अहमेवात्र**'। यह ठीक है कि ऐसा दीखता है कि यह सृष्टि सिर्फ़ कार्य-कारण के नियम से चल रही है, 'कर्म' ही इस सृष्टि का संचालक है, परन्तु ऐसी बात नहीं है, सृष्टि के 'कर्म' में—'**अहमेवात्र**'—मैं ही बैठा हूँ।

(ग) **अधिभूत**—सृष्टि के विषय में तीसरा पक्ष यह है कि यह सृष्टि पाँच महाभूतों का विकार है, इन पाँच महाभूतों को—पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश को—छोड़कर सृष्टि के मूल में अन्य कोई तत्व नहीं, न स्वभाव से सृष्टि चल रही है, न कर्म से; यह सृष्टि चल रही है पाँच महाभूतों से। इस पक्ष में युक्ति क्या है ? इसमें युक्ति है—सृष्टि का 'क्षर-भाव', विनाशी स्वरूप। सृष्टि बनती-बिगड़ती रहती है, यह अक्षर न होकर क्षर है, नाशवान् है। पाँचों महाभूत हर समय बनते-बिगड़ते रहते हैं, नष्ट होते रहते हैं, सृष्टि भी बनती-बिगड़ती रहती है, नष्ट होती रहती है, इसलिए ये पाँचों महाभूत ही सृष्टि के कारण हैं। श्रीकृष्ण भगवान् की तरफ़ से इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि यह ठीक है कि सृष्टि की रचना में ये पाँच महाभूत कारण बने दीखते हैं, परन्तु ये भी तो मेरे ही चलाये चलते हैं, इन को चलानेवाला भी मैं ही तो हूँ—'**अहमेवात्र**'।

(घ) **अधिदैवत**—सृष्टि के विषय में चौथा पक्ष यह है कि ये पाँच महाभूत सृष्टि को नहीं चला रहे, इन महाभूतों के भीतर उनका एक-एक देवता बैठा है, वही इन भूतों को चला रहा है। इन सब जड़ महाभूतों में उनके भीतर कोई-न-

कोई चेतन 'पुरुष' रहता है, वही उसका देवता है, वही उस महाभूत का संचालन करता है। सूर्य का देवता, चन्द्र का देवता—सब का देवता अलग-अलग है। इसी को गीता ने कहा है—'**पुरुषश्चाधिदैवतम्**'। श्रीकृष्ण भगवान् की तरफ़ से इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि अगर कोई पुरुष देवता बनकर इन महाभूतों में बैठा हुआ है तो उसके भीतर भी तो मैं ही बैठा हूँ—'**अहमेवात्र**'—फिर सृष्टि का नियामक वह है या मैं हूँ ?

(ङ) **अधियज्ञ**—सृष्टि के विषय में पाँचवाँ पक्ष यह है कि सृष्टि का कारण यज्ञ है, यज्ञ से ही सबकी उत्पत्ति होती है। तृतीय अध्याय, १० श्लोक में कहा है—'**सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा**'; चतुर्थ अध्याय में भी २३वें श्लोक से अन्त तक यज्ञ की ही चर्चा है। इस पक्ष के पोषक परमेश्वर को यज्ञ रूप मानते हैं। संपूर्ण सृष्टि यज्ञमयी है, त्यागमयी है, हर वस्तु दूसरे पर आधारित है, स्वयं तभी टिक सकती है जब दूसरे को टिकाती है, अपने-आप में कोई वस्तु स्वतंत्र रूप में टिकी हुई नहीं है। त्याग ही सृष्टि का मूल तत्व है, जब 'स्व' का त्याग होता है, 'पर' के लिए जीवन होता है, तभी संसार चल सकता है, सिर्फ़ अपने लिए जीने में जीवन नष्ट हो जाता है। यही यज्ञ है, सृष्टि का यही कारण है, इसके बिना सृष्टि एक क्षण नहीं जी सकती। श्रीकृष्ण भगवान् की तरफ़ से इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं, यह ठीक है, यज्ञ से सृष्टि चल रही है, परन्तु यज्ञ में भी तो—'**अहमेवात्र**'—मैं ही बैठा हूँ।

सातवें अध्याय के अन्त में कहा था कि जो मुझे 'कृत्स्न' रूप में जानते हैं, संपूर्ण, समग्र रूप में जानते हैं, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैवत, अधियज्ञ—इन सब में मुझे ही जानते-समझते हैं, वे '**प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुः**'—संसार से कूच करते समय भी उनका चित्त मुझ में ही रमा रहता है। यही अर्जुन का सातवाँ प्रश्न था—अन्त-काल के संबंध में प्रश्न। इसी सातवें प्रश्न का उत्तर आगे के श्लोकों में देते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं :

[अन्तकाल]

अन्तकाल में मुझे ही स्मरण करते-करते जो देह त्याग करता है वह मेरे स्वरूप को पाता है—इसमें कोई सन्देह नहीं ॥५॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥

अन्तकाले[3]–अन्त काल में; **च**[1]–और; **माम्**[4]–मुझ को; **एव**[5]–ही; **स्मरन्**[6]–स्मरण करते-करते; **मुक्त्वा**[8]–त्याग करके; **कलेवरम्**[7]–शरीर को; **यः**[2]–जो; **प्रयाति**[9]–प्रयाण करता है; **सः**[10]–वह;

हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन ! जिस-जिस भावना को स्मरण करते हुए मनुष्य अन्तकाल में शरीर को छोड़ता है उस-उस भावना में रंगा होने के कारण वैसे ही कलेवर को प्राप्त होता है ॥६॥

इसलिये सब कालों में मुझे स्मरण करता रह और (जीवन के संग्राम में) जूझता रह। इस प्रकार मुझ में मन तथा बुद्धि अर्पित कर देने से तू निस्सन्देह मुझ को ही प्राप्त होगा ॥७॥

मद्भावम्[11]–मेरे स्वरूप को; **याति**[12]–पाता है; **न**[15]–नहीं; **अस्ति**[16]–है; **अत्र**[13]–यहाँ, इसमें; **संशयः**[14]–कोई सन्देह।

यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥६॥

यम्[3]–जिस; **यम्**[4]–जिस; **वा अपि**[5]–भी; **स्मरन्**[7]–स्मरण करता हुआ; **भावम्**[6]–भावना को; **त्यजति**[9]–छोड़ता है; **अन्ते**[2]–अन्तकाल में; **कलेवरम्**[8]–शरीर को; **तम्**[10]–उस; **तम्**[11]–उस; **एव**[12]–ही; **एति**[13]–प्राप्त होता है; **कौन्तेय**[1]–हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन; **सदा**[14]–सदा; **तद्भावभावितः**[15]–उसी भावना के रंग में रंगा होने के कारण।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥७॥

तस्मात्[1]–इसलिये; **सर्वेषु**[2]–सब; **कालेषु**[3]–समय में; **माम्**[4]–मुझ को; **अनुस्मर**[5]–स्मरण कर; **युध्य**[7]–जीवन-संग्राम को कर; **च**[6]–और; **मयि**[8]–मुझमें; **अर्पितमनोबुद्धिः**[9]–मन तथा बुद्धि को अर्पित कर देने वाला; **माम्**[11]–मुझ को; **एव**[12]–ही; **एष्यसि**[13]–प्राप्त कर लेगा; **असंशयम्**[10]–निस्सन्देह ही।

हे पार्थ ! जो व्यक्ति 'अभ्यास-योग' से चित्त को एकाग्र कर उसे कहीं दूसरी जगह भागने नहीं देता वह निरन्तर चिन्तन करने से दिव्य परम पुरुष को पा जाता है ॥८॥

अन्त-काल में जो भगवान् का स्मरण करता है वह भगवान् को पा जाता है—५वें श्लोक के इस कथन से कोई कह सकता है कि मरते समय भगवान् का स्मरण कर लेंगे, सारी आयु भगवान् के ध्यान में क्यों लगायें ? इस शंका को गीताकार ने स्वयं उठा कर उसका उत्तर दे दिया है। मनुष्य जब चाहे जिस भावना को मन में ला कर खड़ा कर ले—यह संभव नहीं है। अन्तकाल में वही भावना सामने आती है जिसका जीवन में सदा से अभ्यास रहता है, जिससे वह सारे जीवन में रंगा रहता है—'**तद्भावभावितः**'—उस भावना से सदा भावित रहता है। इसीलिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया कि तू सब कालों में भगवान् का स्मरण करता रह, इसका अभ्यास कर—'**अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा**'—ऐसा न समझ कि मृत्यु के समय जब चाहेगा भगवान् का ध्यान कर लेगा। इस प्रकरण में श्री तिलक कहते हैं कि शास्त्रकार जीवन-काल की अपेक्षा मृत्यु-काल को विशेष महत्वपूर्ण मानते हैं। शास्त्रों का कहना है कि जीवन में ब्रह्म तथा आत्मा की एकता का ज्ञान हो, न हो, परन्तु अगर मृत्यु के समय यह ब्रह्म-ज्ञान हो गया, इस ज्ञान में मनुष्य ने देह छोड़ा, तो वह ब्रह्म में लीन हो जाता है, अन्यथा जो भाव मरण-काल में होगा, उसी भावना को लेकर जीव अगला जन्म धारण करता है। मरण-काल में ब्रह्म के स्मरण का अर्थ है सब संचित कर्मों का क्षय हो जाना—'**ज्ञानाग्नि-दग्धकर्माणम्**' (४–१९)—ज्ञान की अग्नि में कर्मों का जल जाना। श्री तिलक का कहना है कि कर्म बने रहेंगे तो कर्म-फल के लिए जन्म ग्रहण करना होगा, परन्तु अगर देह-त्याग के समय ब्रह्म-ज्ञान रहा तो उस ज्ञान में कर्म आग से तिनके की तरह जल जाते हैं, उनका फल नहीं रहता, ज्ञानाग्नि ही रह जाती है।

'अन्त-काल' के महत्व को ईसाई-धर्म में भी समझा जाता है। ईसाई लोग मरते समय पादरी को बुलाते हैं जो मृत्यु के शिकंजे में फँसे व्यक्ति को पापों से

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नाऽन्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थाऽनुचिन्तयन् ॥८॥

अभ्यासयोगयुक्तेन[2]–जो व्यक्ति 'अभ्यास-योग' से चित्त को एकाग्र कर कहीं दूसरी जगह भागने नहीं देता; **चेतसा**[4]–चित्त से; **नाऽन्यगामिना**[3]–अन्य ओर न जाने वाले; **परमम्**[5]–परम; **पुरुषम्**[8]–पुरुष को; **दिव्यम्**[7]–दिव्य को; **याति**[9]–प्राप्त कर लेता है; **पार्थ**[1]–हे अर्जुन; **अनुचिन्तयन्**[5]–निरन्तर चिन्तन करता हुआ।

छुड़ाता है। हिन्दू-धर्म में तीर्थ-स्थान पर जाकर प्राण छोड़ना महत्वपूर्ण इसीलिए समझा जाता है क्योंकि अन्त समय को वे ईश्वर के साथ जोड़ देना चाहते हैं।

'अन्त-काल' की एक व्याख्या श्री सातवलेकर ने की है। उनका कहना है कि जीवन में अन्त तो हर क्षण हो रहा है, पहला क्षण बीता, उसका अन्त हुआ, तभी दूसरा क्षण आता है, वह बीता तब तीसरा क्षण आता है। इस प्रकार क्षण का अन्त होता है, दिन का अन्त होता है, अवस्था का अन्त होता है, देह का अन्त हो जाता है। गीता का कहना है कि प्रत्येक प्रकार के अन्त में जो भगवान् का स्मरण करता है वह भगवान् को ही प्राप्त होता है। जो इस प्रकार हर तरह के अन्त में भगवान् का स्मरण करेगा, उसे तो भगवान् के स्मरण का अभ्यास ही हो जायगा, इसी को गीता ने '**अभ्यास-योग-युक्तेन चेतसा**' कहा है। जो प्रत्येक क्षण को जीवन का अन्त समझ कर नहीं चलता उसे क्या पता है कि किस क्षण जीवन का अन्त आ जाय? जीवन का अन्त कोई ऐलान करके तो आता नहीं। बैठे-बिठाये लोग चल देते हैं। इस कारण यही उचित है कि हम जीवन के हर क्षण को जीवन का अन्त समझकर भगवान् का स्मरण करें। ऐसा करने से मृत्यु के समय ब्रह्म ही हमारे ध्यान में होगा और साधक ब्रह्म में लीन हो जायेगा, उसके कर्म अपने-आप श्री तिलक के कथनानुसार ज्ञानाग्नि से दग्ध हो जायेंगे, उसके कर्म, जल जाने के कारण, उसके बन्धन के कारण नहीं बनेंगे।

[परम पुरुष का रूप जिसका अन्तकाल में ध्यान करना है]

तो फिर उस ब्रह्म का जिसका अन्त-काल में ध्यान करना है क्या रूप है? इसी प्रश्न को सम्मुख रख कर गीता कहती है:

जो व्यक्ति इस संसार से प्रस्थान के समय अचल मन से, भक्ति से सराबोर होकर और योग-बल से भृकुटी के बीच में अच्छी तरह प्राण को स्थापित करके उस कवि (क्रांत-द्रष्टा), पुरातन, नियन्ता, अणु से भी अणु सबके

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९॥

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥

कविम्[2]—क्रान्त-द्रष्टा को; **पुराणम्**[3]—पुरातन, सनातन; **अनुशासितारम्**[4]—नियन्ता; **अणोः**[5]—अणु से; **अणीयांसम्**[6]—अधिक छोटा,

पालन हार, अचिन्त्य, सूर्य के समान तेजस्वी, अन्धकार से दूर (उस भगवान् का) स्मरण करता है वह उस दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है ॥९-१०॥

वेद जाननेवाले जिसे 'अक्षर' नाम से पुकारते हैं, वीतराग यति लोग जिसमें प्रवेश करते हैं, ब्रह्मचारी लोग जिसकी प्राप्ति की इच्छा से ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं उस 'ओंकार'-पद का मैं तेरे लिये संक्षेप से वर्णन करूँगा ॥११॥

अति सूक्ष्म; **अनुस्मरेत्**[12]—स्मरण करे; **यः**[1]—जो; **सर्वस्य**[7]—सबका; **धातारम्**[8]—पालन करने हारा; **अचिन्त्यरूपम्**[9]—अचिन्त्य स्वरूपवाला; **आदित्यवर्णम्**[10]—सूर्य के समान तेजस्वी; **तमसः**[11]—अन्धकार से; **परस्तात्**[12]—दूर; **प्रयाणकाले**[15]—अन्तकाल में; **मनसा**[18]—मन से ध्यान करता है; **अचलेन**[17]—स्थिर (मन) से; **भक्त्या**[15]—भक्ति से; **युक्तः**[16]—आप्लावित होकर; **योगबलेन**[21]—योग बल से; **च**[19]—और; **एव**[20]—ही; **भ्रुवोः**[22]—भृकुटी के; **मध्ये**[23]—बीच में; **प्राणम्**[25]—प्राण को; **आवेश्य**[26]—स्थापित करके; **सम्यक्**[24]—अच्छी तरह से; **सः**[14]—वह; **तम्**[27]—उस; **परम्**[28]—परम; **पुरुषम्**[30]—पुरुष को; **उपैति**[31]—प्राप्त करता है; **दिव्यम्**[29]—दिव्य को।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

यत्[2]—जिसे; **अक्षरम्**[3]—अक्षर नाम से; **वेदविदः**[1]—वेदों के ज्ञाता; **वदन्ति**[4]—कहते हैं; **विशन्ति**[8]—प्रवेश करते हैं; **यत्**[7]—जिस में; **यतयः**[6]—यतिजन; **वीतरागाः**[5]—आसक्ति से रहित; **यद्**[9]—जिसको; **इच्छन्तः**[10]—इच्छा करते हुए; **ब्रह्मचर्यम्**[11]—ब्रह्मचर्य का; **चरन्ति**[12]—पालन करते हैं; **तत्**[13]—उस; **ते**[15]—तेरे लिये; **पदम्**[14]—पद को; **संग्रहेण**[16]—संक्षेप से; **प्रवक्ष्ये**[17]—वर्णन करूँगा।

तुलना कीजिये—

'सर्वे वेदाः यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥' कठ० २,१५ ॥

इन्द्रियों के सब द्वारों को संयम में रखकर, मन को हृदय में रोक कर, प्राण को अपने मूर्धा (मस्तक) में स्थिर करके, योग द्वारा समाधि में बैठकर—'ओ३म्'—इस एक अक्षर रूपी ब्रह्म का उच्चारण और मेरा चिन्तन करता हुआ जो देह का त्याग करता हुआ संसार से प्रयाण करता है वह परम गति को, उच्चतम गति को प्राप्त करता है ॥१२-१३॥

हे पार्थ ! जो व्यक्ति 'अनन्यचित्त' होकर, अन्य किसी वस्तु में चित्त को न डालकर, निरन्तर मेरा ही स्मरण करता है, ऐसे नित्ययुक्त (सदा मुझ में रमे हुए) योगी

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

सर्वद्वाराणि[1]—सब द्वारों को; **संयम्य**[2]—संयम में रख कर; **मनः**[3]—मन को; **हृदि**[4]—हृदय में; **निरुध्य**[5]—रोक कर; **च**[6]—और; **मूर्ध्नि**[9]—मस्तक में; **आधाय**[10]—स्थिर करके; **आत्मनः**[7]—अपने; **प्राणम्**[8]—प्राण को; **आस्थितः**[12]—समाधि में बैठा हुआ; **योगधारणाम्**[11]—योग को धारण करके; **ओम्**[14]—ओम्; **इति**[15]—ऐसा; **एकाक्षरम्**[16]—एक अक्षर-रूप; **ब्रह्म**[17]—ब्रह्म का; **व्याहरन्**[18]—उच्चारण करता हुआ; **माम्**[19]—मुझ को; **अनुस्मरन्**[20]—चिन्तन करता हुआ; **यः**[13]—जो; **प्रयाति**[23]—प्रयाण करता है; **त्यजन्**[22]—छोड़ता हुआ; **देहम्**[21]—देह को; **सः**[24] वह; **याति**[27]—प्राप्त करता है; **परमाम्**[25]—श्रेष्ठ; **गतिम्**[26]—गति को ।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

अनन्यचेताः[3]—अन्य में चित्त को न डालने वाला; **सततम्**[5]—निरन्तर; **यः**[2]—जो; **माम्**[6]—मुझ को; **स्मरति**[7]—स्मरण करता है;

के लिये में सुलभ हूँ (उसे मुझे पाने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती) ॥१४॥

मुझ तक पहुँच जाने के बाद, परम सिद्धि को प्राप्त हो चुके महात्मा लोग, दुःख के घर और अस्थायी जन्म को फिर से धारण नहीं करते (पुनर्जन्म से मुक्त हो जाते हैं) ॥१५॥

हे अर्जुन ! ब्रह्म-लोक से लेकर जितने लोक हैं वहाँ से फिर पुनर्जन्म की तरह लौटना होता है, परन्तु मेरे पास पहुँच जाने के बाद फिर से जन्म नहीं लेना पड़ता ॥१६॥

[मृत्यु के बाद कितने काल तक जीव ब्रह्म-लोक में रहता है—
ब्रह्मा के दिन-रात का वर्णन]

१६वें श्लोक में 'ब्रह्म-लोक' का नाम लिया। जो महात्मा लोग ब्रह्म-ज्ञान के कारण ब्रह्म में समा जाते हैं उनके तो पुनर्जन्म का प्रश्न ही नहीं उठता, परन्तु जो ब्रह्म-लोक को जाते हैं वे कितने काल तक ब्रह्म-लोक में निवास करके सृष्टि के चक्र में लौटते हैं, कितने काल तक उनका ब्रह्म-लोक में निवास होता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गीता का कथन है :

नित्यशः[4]—सदा ही; **तस्य**[8]—उस मनुष्य को; **अहम्**[11]—मैं; **सुलभः**[12]—सुलभ हूँ; **पार्थ**[1]—हे अर्जुन; **नित्ययुक्तस्य**[9]—सदा मुझ में रमे हुए का; **योगिनः**[10]—योगी का।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

माम्[5]—मुझ को; **उपेत्य**[6]—प्राप्त करके; **पुनर्जन्म**[9]—पुनर्जन्म; **दुःखालयम्**[7]—दुःख के घर; **अशाश्वतम्**[8]—अस्थायी; **न**[10]—नहीं; **आप्नुवन्ति**[11]—प्राप्त करते; **महात्मानः**[4]—महात्मा लोग; **संसिद्धिम्**[3]—सिद्धि को; **परमाम्**[1]—परम; **गताः**[3]—प्राप्त हुए।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

आब्रह्मभुवनात्[2]—ब्रह्मलोक से लेकर; **लोकाः**[3]—जितने लोक हैं; **पुनरावर्तिनः**[4]—जिनमें पुनः-पुनः आगमन होता रहता है; **अर्जुन**[1]—हे अर्जुन; **माम्**[7]—मुझ को; **उपेत्य**[8]—प्राप्त करके; **तु**[5]—परन्तु; **कौन्तेय**[6]—हे अर्जुन; **पुनर्जन्म**[9]—पुनर्जन्म; **न**[10]—नहीं; **विद्यते**[11]—रहता।

जो दिन-रात की परिभाषा में बात करते हैं वे जानते हैं कि (ब्रह्म-लोक में) ब्रह्मा का एक दिन एक हजार युगों का होता है, और उसकी रात्रि भी एक हजार युग लम्बी होती है ॥१७॥

ब्रह्मा के दिन के आरंभ होने पर सब व्यक्त पदार्थ अव्यक्त प्रकृति से उत्पन्न हो जाते हैं, ब्रह्मा की रात्रि के आने पर फिर वे सब व्यक्त पदार्थ उसी अव्यक्त कही जाने वाली प्रकृति में लीन हो जाते हैं ॥१८॥

हे पार्थ ! यह वही भूतों का समुदाय बेबस-सा (ब्रह्मा की) रात्रि के आगमन पर बार-बार विलीन हो जाता है

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

सहस्रयुगपर्यन्तम्[4]–एक हजार युगों तक; **अहः**[3]–दिन; **यत्**[2]–जो; **ब्रह्मणः**[1]–ब्रह्म का; **विदुः**[7]–जानते हैं; **रात्रिम्**[5]–रात्रि को; **युगसहस्रान्ताम्**[6]–सहस्र युगों वाली; **ते**[8]–वे; **अहोरात्रविदः**[10]–दिन रात को जानने वाले; **जनाः**[9]–जन ।

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

अव्यक्तात्[4]–प्रकृति से; **व्यक्तयः**[2]–व्यक्त पदार्थ; **सर्वाः**[1]–सब; **प्रभवन्ति**[5]–उत्पन्न हो जाते हैं; **अहरागमे**[3]–ब्रह्मा के दिन के प्रारम्भ होने पर; **रात्र्यागमे**[6]–ब्रह्मा की रात्रि के आगमन पर; **प्रलीयन्ते**[10]–लीन हो जाते हैं; **तत्र**[7]–वहाँ; **एव**[9]–ही; **अव्यक्त- संज्ञके**[8]–अव्यक्त कही जाने वाली प्रकृति में ।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

भूतग्रामः[4]–भूतों का समुदाय; **सः**[1]–वह; **एव**[2]–ही; **अयम्**[3]–यह; **भूत्वा भूत्वा**[5]–हो-हो कर, बार बार ; **प्रलीयते**[8]–विलीन हो

और (ब्रह्मा के) दिन के आगमन पर (बार-बार) प्रकट हो जाता है ॥१९॥

परन्तु इस अव्यक्त से भी परे एक और सनातन सत्ता है जो सब भूतों के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नहीं होती ॥२०॥

इस श्लोक में 'अव्यक्त'-शब्द का दो अर्थों में प्रयोग किया गया है। एक 'अव्यक्त' तो वह है जो सांख्य-दर्शन की 'प्रकृति' है ; दूसरा अव्यक्त स्वयं 'ब्रह्म' है। 'अव्यक्त'-शब्द का प्रकृति तथा ब्रह्म दोनों के लिए यहाँ प्रयोग किया गया है—पहला 'अव्यक्त'-शब्द प्रकृति के लिए प्रयुक्त हुआ है, दूसरा ब्रह्म के लिए, तभी कहा है कि-अव्यक्त के परे एक अन्य अव्यक्त है। 'प्रकृति' अव्यक्त है, परन्तु इससे बने पदार्थ नष्ट हो जाते हैं, 'ब्रह्म' भी अव्यक्त है, परन्तु वह नष्ट नहीं होता, इन नाशवान् पदार्थों के पीछे वह नाशहीन सत्ता बनी रहती है।

वह 'अव्यक्त' (जो प्रकृति से भी परे है) 'अक्षर' कहलाता है, अविनाशी कहलाता है, उसी को परम गति कहते हैं, सर्वोच्च अवस्था कहते हैं। इस अवस्था को प्राप्त

जाता है; **रात्र्यागमे**[7]—ब्रह्मा की रात्रि के आगमन पर; **अवशः**[6]—विवश सा; **पार्थ**[9]—हे अर्जुन; **प्रभवति**[11]—प्रकट होता है ; **अहरागमे**[10]—ब्रह्मा के दिन के आने पर।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

परः[4]—परे ; **तस्मात्**[2]—उससे ; **तु**[1]—परन्तु ; **भावः**[9]—सत्ता ; **अन्यः**[5]—और; **अव्यक्तः**[8]—अव्यक्त (अप्रकट) ब्रह्म ; **अव्यक्तात्**[3]—अव्यक्त (प्रकृति) से; **सनातनः**[7]—सनातन; **यः**[6]—जो; **सः**[10]—वह; **सर्वेषु**[11]—सब; **भूतेषु**[12]—भूतों में ; **नश्यत्सु**[13]—नष्ट होने पर भी; **न**[14]—नहीं; **विनश्यति**[15]—नष्ट होता है ।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥

अव्यक्तः[1]—अव्यक्त (अप्रकट) ब्रह्म; **अक्षरः**[2]—अक्षर (अविनाशी) ; **इति**[3]—इस प्रकार; **उक्तः**[4]—कहा जाता है; **तम्**[5]—उसको; **आहुः**[8]—

कर फिर वहाँ से निवृत्ति नहीं होती, लौटना नहीं होता, वही मेरा परम धाम है, निवास-स्थान है ॥२१॥

हे पार्थ ! वह परम पुरुष जिसमें सब भूत निवास करते हैं और जिससे यह सारा संसार व्याप्त है, अनन्य-भक्ति द्वारा प्राप्त किया जा सकता है ॥२२॥

इस प्रकरण में जीव की दो गतियों का वर्णन किया गया है—एक गति तो वह है जिसमें जीव का पुनरागमन नहीं होता, दूसरी गति वह है जिसमें उसका पुनरागमन होता है। जिस गति में पुनरागमन नहीं होता उसकी तो कोई समस्या नहीं, परन्तु जिसमें पुनरागमन होता है उसके संबंध में प्रश्न उठ सकता है कि किस काल में मृत्यु होने पर जीव फिर जन्म ग्रहण करता है। इस संबंध में गीता का कथन है :

[मृत्यु के काल के संबंध में गीता के विचार—दो कालों के दो मार्ग]

हे भरत-कुल में श्रेष्ठ अर्जुन ! जिस काल में संसार से चल पड़ने के बाद योगी लोग फिर इस संसार में लौट-

---

कहते हैं; **परमाम्**[6]–परम; **गतिम्**[7]–गति; **यम्**[9]–जिसको; **प्राप्य**[10]–प्राप्त करके; **न**[11]–नहीं; **निवर्तन्ते**[12]–लौटते हैं; **तद्**[13]–वह; **धाम**[16]–स्थान; **परमम्**[15]–सर्वोच्च; **मम**[14]–मेरा।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

पुरुषः[12]–पुरुष; **सः**[10]–वह; **परः**[11]–परम; **पार्थ**[2]– हे अर्जुन; **भक्त्या**[14]–भक्ति से ; **लभ्यः**[15]–प्राप्त किया जा सकता है ; **तु**[1]–और; **अनन्यया**[13]–अनन्य; **यस्य**[3]–जिसके; **अन्तःस्थानि**[4]–अन्दर ही स्थित ; **भूतानि**[5]–सब भूत ; **येन**[6]–जिससे ; **सर्वम्**[8]–सब; **इदम्**[7]–यह; **ततम्**[9]–व्याप्त है।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

यत्र[3]–जिस; **काले**[4]–काल में; **तु**[1]–और; **अनावृत्तिम्**[7]–आवागमन के चक्कर का न होना; **आवृत्तिम्**[9]–'पुनरपि जन्म पुनरपि

कर नहीं आते और जिस काल में संसार से चल पड़ने के बाद वे लौट आते हैं—उस काल का मैं अब वर्णन करूँगा ।।२३।।

अग्नि प्रज्वलित हो रही हो, उसका प्रकाश फैल रहा हो, शुक्ल पक्ष हो, उत्तरायण के छः महीने चल रहे हों, उस समय इस संसार से प्रस्थान करनेवाले ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म तक पहुँच जाते हैं ।।२४।।

अग्नि से धूँआ उठ रहा हो, रात्रि का समय हो, कृष्ण पक्ष हो, दक्षिणायन के छः महीने चल रहे हों, उस समय संसार से प्रस्थान करनेवाला योगी चन्द्रमा की ज्योति प्राप्त करके वापस लौट आता है ।।२५।।

मरणं[7]—जन्म-मरण का चक्कर या फेर; **च**[8]—और; **एव**[10]—ही; **योगिनः**[6]—योगि-जन; **प्रयाताः**[5]—इस संसार को छोड़ने के बाद; **यान्ति**[11]—प्राप्त करते हैं; **तम्**[12]—उस; **कालम्**[13]—काल को; **वक्ष्यामि**[14]—कहूँगा; **भरतर्षभ**[2]—हे भरत-कुल में श्रेष्ठ ।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ।।२४।।

अग्निः[2]—अग्नि; **ज्योतिः**[1]—ज्योतिः; **अहः**[3]—दिन; **शुक्लः**[4]—शुक्ल-पक्ष; **षण्मासाः**[5]—छै महीने; **उत्तरायणम्**[6]—उत्तरायण; **तत्र**[7]—वहाँ; **प्रयाताः**[8]—इस संसार को छोड़ दिया है जिन्होंने; **गच्छन्ति**[12]—जाते हैं; **ब्रह्म**[11]—ब्रह्म को; **ब्रह्मविदः**[9]—ब्रह्मज्ञानी; **जनाः**[10]—लोग ।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ।।२५।।

धूमः[1]—धूआँ; **रात्रिः**[2]—रात; **तथा**[3]—और; **कृष्णः**[4]—कृष्ण-पक्ष; **षण्मासाः**[5]—छै महीने; **दक्षिणायनम्**[6]—दक्षिणायन; **तत्र**[7]—वहाँ; **चान्द्रमसम्**[9]-चन्द्रमा की; **ज्योतिः**[10]—प्रकाश को; **योगी**[8]—योगी; **प्राप्य**[11]—प्राप्त करके; **निवर्तते**[12]—लौट आता है ।

जगत् के शुक्ल अर्थात् प्रकाशमान तथा कृष्ण अर्थात् अन्धकारमय--ये दो मार्ग सदा से माने गये हैं। इनमें से एक मार्ग से जाने वाला लौटकर नहीं आता, दूसरे मार्ग से जानेवाला वापस लौट आता है ॥२६॥

गीता में 'जीव' तथा 'ब्रह्म' के पारस्परिक-संबंध में दो अवस्थाओं का वर्णन किया है। एक अवस्था तो वह है जिसमें अन्त-काल में जीव को ब्रह्म-ज्ञान हो जाता है। जिसे ज्ञान हो जाता है उसके कर्म ज्ञानाग्नि से दग्ध हो जाते हैं अतः वह मुक्त हो जाता है, ब्रह्म में लीन हो जाता है; दूसरी अवस्था वह है जिसमें अन्त-काल में ब्रह्म-ज्ञान नहीं होता, इस अवस्था में अन्तकाल में जो विचार होते हैं उन्हीं के अनुसार वह जन्म ग्रहण करता है। ब्रह्म-ज्ञान न होनेवालों के भी दो भेद हैं। एक तो वे हैं जो शुक्ल-पक्ष में मरते हैं, दूसरे वे हैं जो कृष्ण पक्ष में मरते हैं। शुक्ल-पक्ष में मरने का अर्थ है शुभ कार्य करते हुए मरना; कृष्ण-पक्ष में मरने का अर्थ है अशुभ कार्य करते हुए मरना। शुभ कार्य करते हुए मरनेवालों से अभिप्राय यहाँ उन कर्मकांडियों से है जो गीता के काल में यज्ञ-याग आदि करते थे, यज्ञ-याग आदि को स्वर्ग-प्राप्ति का साधन मानते थे। गीता का कहना है कि ब्रह्म-ज्ञानी तो ब्रह्म में लीन हो जाते हैं, कर्मकांडी स्वर्ग-लोक को जाते हैं, स्वर्ग-लोक अर्थात् ब्रह्मलोक को। ब्रह्मलोक में जाकर फिर वे लौट आते हैं। पृथ्वीलोक में उनका दिन-रात २४ घंटे का है, तो ब्रह्म-लोक में उनका दिन-रात ब्रह्मा का दिन-रात है, सहस्रों वर्षों का है, परन्तु सहस्रों वर्ष ब्रह्मलोक में रहकर भी लौट वे आते ही हैं, उनकी नित्य-मुक्ति नहीं होती। जो अशुभ कर्म करते हैं वे ब्रह्मलोक तक भी नहीं पहुँचते, वे चन्द्रलोक तक पहुँच कर ही लौट आते हैं। चन्द्रलोक तक पहुँच कर लौट आने का अर्थ यह है कि वे इसी पृथिवी और इसी चाँद की सृष्टि में आवागमन करते रहते हैं, यहीं जन्मते, यहीं मरते रहते हैं।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥२६॥

शुक्लकृष्णे[4]–'शुक्ल' अर्थात् प्रकाशमान, 'कृष्ण' अर्थात् अन्धकारमय; **गती**[5]–दो मार्ग; **हि**[1]–क्योंकि; **एते**[3]–ये दो; **जगतः**[2]–संसार के; **शाश्वते**[6]–सनातन; **मते**[7]–माने गये हैं; **एकया**[8]–एक मार्ग से; **याति**[10]–जाता है; **अनावृत्तिम्**[9]–जिसमें लौटना नहीं होता; **अन्यया**[11]–दूसरे से; **आवर्तते**[13]–लौट आता है या आवागमन प्रारम्भ हो जाता है; **पुनः**[12]–फिर।

हे पार्थ ! जो योगी इन दोनों मार्गों को जान जाता है वह कभी मोह में, भ्रम में नहीं पड़ता, इसलिये हे अर्जुन ! तू सब कालों में योग में जुटा रह ॥२७॥

यह सब जान लेने के बाद वेदों के अध्ययन से, यज्ञों को करने से, तपों को तपने से, दानों को देने से जो पुण्य-फल प्राप्त होने की बात कही जाती है, योगी उस सब को पार कर जाता है, और सबसे पहला और परम स्थान प्राप्त कर लेता है ॥२८॥

श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् में जिस ब्रह्मविद्या का वर्णन किया गया है, उसके अन्तर्गत जो योगशास्त्र है, उसमें जो कृष्णार्जुन-संवाद है, उस संवाद का 'अक्षर-ब्रह्म-योग'-नामक अष्टम अध्याय समाप्त हुआ।*

नैते पार्थ सृती जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

न[7]—नहीं; एते[2]—ये दो; पार्थ[1]—हे अर्जुन ! सृती[3]—दो मार्ग; जानन्[4]—जानता हुआ; योगी[6]—योगी; मुह्यति[8]—मोह अर्थात् भ्रम को पाता है; कश्चन[5]—कोई भी; तस्मात्[9]—इसलिये; सर्वेषु[10]—सब; कालेषु[11]—कालों में; योगयुक्तः[12]—योग में जुटा हुआ; भव[13]—हो; अर्जुन[9]—हे अर्जुन ।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

वेदेषु[4]—वेदों के अध्ययन में; यज्ञेषु[6]—यज्ञों के विधानों में; तपःसु—[7]—तपों के तपने में; च[5]—और; एव[14]—ही; दानेषु[8]—दानों के देने में; यत्[9]—जो; पुण्यफलम्[10]—पुण्य का फल; प्रदिष्टम्[11]—कहा गया है; अत्येति[15]—पार करता है; तत्[12]—उस; सर्वम्[13]—सबको; इदम्[2]—इसको; विदित्वा[3]—जान कर; योगी[1]—योगी जन; परम्[18]—उत्कृष्ट; स्थानम्[19]—स्थान को; उपैति[20]—प्राप्त करता है; च[16]—और; आद्यम्[17]—पहला ।

* इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षर-ब्रह्म-योगो नामाष्टमोऽध्यायः ।

उपसंहार

गीता के आठवें अध्याय में मृत्यु की तैयारी, ब्रह्मा के दिन-रात तथा मृत्यु के बाद शुक्ल-कृष्ण गति—ये तीन महत्वपूर्ण विचार आये हैं जिन पर प्रकाश डालना आवश्यक है। ये तीनों क्या हैं ?

१. मृत्यु की तैयारी

(क) **अन्तिम घड़ी के संस्कार**—गीता का कहना है कि जीवन भर के जो संस्कार होते हैं, उन्हीं का निचोड़ अन्तिम घड़ी के संस्कार होते हैं। जिस प्रकार व्यापारी रोज़ का, महीने का, साल भर का जमा-खर्च बही में दर्ज करता-करता अन्त में नफ़ा-नुक्सान का शेष-पत्र निकाल लेता है, उसी प्रकार जीवन भर के हमारे संस्कारों का जमा-खर्च जीवन की अन्तिम घड़ी में शेष-पत्र की तरह हमारे सामने आ जाता है। इस शेष-पत्र के अनुसार व्यापारी का अगला व्यापार चलता है, इसी प्रकार जीवन भर के संस्कारों के जमा-खर्च के योग के अनुसार हमारा अगला जन्म होता है। तभी गीता ने कहा कि जिस विचार का स्मरण करते हुए मनुष्य जीवन के अन्तिम क्षणों में अपने देह का त्याग करता है उन्हीं विचारों में रंगा हुआ वह अगले जन्म को पाता है। शास्त्रकारों ने जीवन भर के संस्कारों को विशेष महत्व दिया है, परन्तु अन्तिम घड़ी के संस्कारों को तो बहुत ही अधिक महत्व दिया गया है। अन्तिम घड़ी के शुभ संस्कारों को शुक्ल पक्ष के, दिन के, सूर्य के, उत्तरा- यण के संस्कार कहा है; अन्तिम घड़ी के अशुभ संस्कारों को कृष्ण पक्ष के, रात के, चन्द्र के, दक्षिणायन के सस्कार कहा है। शुभ संस्कारों से मोक्ष मिलता है, अशुभ से जन्म-मरण का चक्कर चलता रहता है।

(ख) **अन्तिम घड़ी के संस्कार एकदम नहीं बनते**—गीता का कहना है कि अन्तिम घड़ी के जो विचार होंगे वैसा ही अगला जन्म होगा। अन्तिम घड़ी में भगवान् में चित्त रम जाये तो मनुष्य जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाय। कई लोग कहा करते हैं कि अगर यही बात है तो जन्मभर क्यों रूखा जीवन बिताया जाय, अन्तिम घड़ी में राम-नाम जप लेंगे। ईसाई लोग मृत्यु के समय पादरी को बुला कर पापों को स्वीकार करते हैं और समझते हैं कि इससे स्वर्ग मिल जायगा, हिन्दू बनारस में जाकर देह-त्याग करने से मुक्ति पाना चाहते हैं। यह सब मिथ्या भ्रम है। अन्तिम घड़ी तो व्यापारी का जीवन-भर का शेष-पत्र है, यह शेष-पत्र एक दिन की कमाई नहीं है। तभी गीता ने कहा है, अन्तिम घड़ी के संस्कार 'अभ्यास' से बनते हैं—'**अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना**'। जब हम जीवन के एक-एक क्षण को अन्तिम घड़ी समझेंगे तभी हर क्षण में भगवान् का स्मरण करेंगे, और यही अभ्यास, जब जीवन का सचमुच अन्तिम क्षण आ जायगा, तब हमारा साथ देगा।

(ग) **हम अन्तिम घड़ी की तैयारी नहीं करते**—गीता का कहना है कि सब कालों में भगवान् का स्मरण कर और जीवन का संग्राम करता जा। हम क्या

करते हैं ? हम समझते ही नहीं कि हमें मरना है, अगर समझते हैं तो मृत्यु का तो नाम ही नहीं लेते, मृत्यु से क्या डरते, उसे सामने ही नहीं आने देते। ऐसी अवस्था में मृत्यु की तैयारी कौन करेगा ? आचार्य विनोबा ने ठीक लिखा है : कालेज में प्रोफ़ेसर तर्कशास्त्र पढ़ाता है—"मनुष्य मर्त्य है, सुकरात मनुष्य है, अतः सुकरात मरेगा।" वह सुकरात का उदाहरण देता है, अपना क्यों नहीं देता ? वह यह क्यों नहीं कहता—"सब मनुष्य मर्त्य हैं, मैं प्रोफ़ेसर भी मर्त्य हूँ, तुम शिष्य भी मर्त्य हो, मैं भी मरूँगा, तुम भी मरोगे।" वह मरण को सुकरात पर ढकेल देता है, वह मर चुका है, अब झगड़ा करने तो नहीं आने वाला है। गुरु तथा शिष्य सुकरात को मरण सौंप कर अपने को सुरक्षित समझ बैठते हैं, परन्तु इस तरह मृत्यु टालने से टलनेवाली नहीं है, वह आने ही वाली है, इसलिए गीता का कहना है कि भगवान् के स्मरण का अभ्यास डालकर हमें उसके लिए तैयारी करनी चाहिए।

२. ब्रह्मा के दिन-रात

(क) ब्रह्मा के दिन-रात बतलाने की आवश्यकता क्यों पड़ी ?—इस अध्याय के १७वें श्लोक में लिखा है कि ब्रह्मा का दिन सहस्र युग का होता है, रात भी सहस्र युग की होती है। ब्रह्मा के दिन-रात बतलाने की श्रीकृष्ण को आवश्यकता क्यों पड़ी ? गीता साधक के हृदय में यह बात गाड़ देना चाहती है कि जो कर्मकांडी लोग स्वर्ग-प्राप्ति के लिए अत्यन्त उत्सुक रहते हैं, यह समझते हैं कि इन्द्रियों के जैसे सुख तथा भोग इस संसार में उपलब्ध होते हैं वैसे स्वर्ग में भी मिलेंगे, उन्हें यह समझ लेना चाहिए कि स्वर्ग-लोक या ब्रह्म-लोक कितना भी महान् क्यों न हो, मनुष्यों के तो क्या ब्रह्मा के सहस्रों युगों का भी क्यों न हो, वह भी टिकनेवाला नहीं, नाशवान् है। तभी १८वें श्लोक में कहा कि ब्रह्मा के दिन होने पर संसार प्रकट हो जाता है, ब्रह्मा की रात होने पर यह संसार विलीन हो जाता है, यह सारा भूत-ग्राम बार-बार इसी प्रकार जन्म लेता और नष्ट हो जाता है, इसमें रम कर नित्य सुख नहीं प्राप्त होता, इसके पीछे, इसके परे एक सत्ता है जो इस नाशवान् संसार के पीछे, इससे परे विद्यमान है, वही अविनाशी सत्ता है, अक्षर सत्ता है, वही शान्ति का परम धाम है, साधक का उद्देश्य उसी के साथ एकात्मता उत्पन्न करना होना चाहिए, तभी उसे परम सुख मिल सकता है।

(ख) ब्रह्मा के रात-दिन का विवरण—१७वें श्लोक में कहा है कि सहस्र युगों का समय ब्रह्मा का एक दिन होता है, इतना ही समय ब्रह्मा की एक रात होती है। जितने प्राचीन टीकाकार हैं (मनु० १ अ०, ६८–७३) सब का कहना है कि यहाँ 'युग' से अभिप्राय 'दिव्य-युग' से है। 'दिव्य-युग' का क्या अर्थ है ? 'दिव्य-युग' का अर्थ है—सत्य युग, त्रेता, द्वापर और कलियुग, इन चारों युगों का सम्मिलित समय। 'दिव्य-युग' को 'महायुग' या 'चतुर्युगी' भी कहते हैं। इनमें सत्य-युग का समय ४,००० दैवी वर्ष का है—**'चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां कृतं युगम्'**, (मनु०, १ अ० ६९)। त्रेता में ३,००० दैवी वर्ष, द्वापर में २,००० दैवी वर्ष और

कलियुग में १,००० दैवी वर्ष। परन्तु एक युग समाप्त होते ही दूसरा युग एकदम प्रारंभ नहीं होता। बीच के दो युगों के संधि-काल में कुछ दैवी वर्ष बीत जाते हैं। इस प्रकार सत्य-युग (कृत युग) के आदि और अन्त में ४०० दैवी वर्ष का, त्रेता के आदि और अन्त में ३०० दैवी वर्ष का, द्वापर के आदि और अन्त में २०० दैवी वर्ष का और कलियुग के आदि तथा अन्त में १०० दैवी वर्ष का सन्धि-काल है। सब युगों के सन्धि-काल का समय ४००+४००+३००+३००+२००+२००+१००+१००=२,००० दैवी वर्ष बनता है। ये दो हज़ार दैवी वर्ष तथा चारों युगों के दस हज़ार दैवी वर्ष कुल मिला कर १२ हज़ार दैवी वर्ष हुए। चारों युगों के ये १२ हज़ार वर्ष मानवी-वर्ष तो हो नहीं सकते, तब तो युगों का समय बहुत थोड़ा रह जायगा, इसलिए शास्त्रकारों ने इन वर्षों को मानवी-वर्ष न मानकर दैवी-वर्ष माना है। ये १२ हज़ार दैवी-वर्ष एक 'दिव्य-युग' हुआ, ऐसे १ हज़ार दिव्य-युगों के सहस्र दिव्य-युग हुए, इन सहस्र दिव्य-युगों का समय ब्रह्मा का १ दिन हुआ, और इतना ही समय ब्रह्मा की १ रात हुई। इस दिन के होते ही सृष्टि व्यक्त हो जाती है, रात के होते ही सृष्टि विलीन हो जाती है।

प्रश्न यह है कि ये १२ हज़ार दैवी-वर्ष जिसे 'दिव्य-युग'—'महा-युग'—या 'चतुर्युगी' कहा जाता है इसके मानवी-वर्ष कितने होते हैं?

३६० मानवी दिनों का १ दैवी दिन होता है, इस प्रकार ३६० मानवी वर्षों का १ दैवी वर्ष बनता है। इस हिसाब से १२०००×३६०=४३,२०,००० मानवी वर्षों की एक चतुर्युगी बनी, दिव्य-युग बना या महायुग बना। क्योंकि गीता के अनुसार '**सहस्र-युग-पर्यन्तम्**'—१,००० दिव्य-युगों का ब्रह्मा का एक दिन होता है इसलिए ४३,२०,०००×१,०००=४,३२,००,००,००० मानवी वर्षों का ब्रह्मा का एक दिन हुआ। भगवद्गीता का '**सहस्र-युग-पर्यन्तम्**' जैसा का वैसा ही निरुक्त (१४.९) में, सूर्य सिद्धान्त (१, १५–२०), मनु (१, ६८–७३), महाभारत शान्तिपर्व (२३१, १७–३१) में मिलता है, इससे प्रतीत होता है कि सृष्टि के काल के सम्बन्ध में भारतीय विचारकों की यही धारणा थी। गीता ने इस काल का ज़िक्र सिर्फ़ इस बात के लिए किया है कि भले ही इतने दीर्घ काल तक हम इन्द्रियों का भोग करें, परन्तु ये सब भोग अनित्य हैं, नष्ट होनेवाले हैं, नित्य तथा अविनाशी ब्रह्म तो, जिसे प्राप्त कर लेने के बाद कोई दुःख नहीं रहता, इस नाशवान् सृष्टि से परे ही है। सृष्टि का यह काल वर्तमान युग के विचारकों से मेल खाता है।

(ग) **ब्रह्मा के दिन-रात का एक अन्य अर्थ**—मानुषी-दिन तथा दैवी-दिन में भेद होता है। मानुषी-दिन २४ घंटे का है, तो दैवी-दिन एक बरस का हो सकता है। वह कैसे? मानुषी तथा दैवी में भेद क्या है? जब हम संसार के विषयों में लिप्त रहते हैं, इन्द्रियों के दास रहते हैं, तब हमारी मानुषी-सत्ता होती है; जब हम ब्रह्म में रम रहे होते हैं, आध्यात्मिक सत्ता के साथ एक हो रहे होते हैं, तब हमारी दैवी-सत्ता होती है। संसार के विषय अनेक हैं, दैवीय तथा आध्यात्मिक अनुभव

एक है। जब मनुष्य का चित्त एक अनुभव में रमा होता है तब समय का भान नहीं रहता, समय का भान तभी होता है जब चित्त में अनेक प्रकार के अनुभव उपद्रव मचा रहे हों; इसी प्रकार जब चित्त आनन्द में विभोर होता है तब भी समय का भान नहीं होता, समय का भान तभी होता है जब चित्त विक्षिप्त, चंचल हो, दुःखी हो। एकाग्र मन घंटों बैठा रहता है, और घंटे बीत जाते हैं, अनुभव यह होता है कि अभी एक ही क्षण बीता है; आनन्द में लीन मन को मालूम ही नहीं होता कि कब दिन हुआ, कब रात हुई। समय क्या है ? समय दो अनुभवों के बीच को मापने का मान-दंड है। अगर अनुभव दो न हों, एक ही बना रहे, तो सहस्र युग बीत जाने पर भी समय गति नहीं करेगा, एक ही बिन्दु पर टिका रहेगा। समय काल में दूरी का नाम है, परन्तु जहाँ एक ही बिन्दु हो, काल का ज्ञान ही न हो, मनुष्य एक ही अनुभव में रम रहा हो, वहाँ दूरी हो नहीं सकती। आइन्स्टीन का कथन है कि समय का आधार व्यक्ति की चेतना पर आश्रित है। हमारे सहस्र युग ब्रह्मा के एक दिन के समान हैं—इसका अर्थ यही है कि समय को दिन-रात में हमने अपनी सुविधा के लिए बाँट रखा है, परन्तु वास्तव में समय हमारी चेतना के अनुभव पर टिका हुआ है। अगर कोई एक ही अनुभव में सहस्र युगों तक बना रह सकता है तो उसके लिए समय खड़ा हो जाता है, ठीक ऐसे जैसे आठ घंटे की नींद के बाद हम अनुभव करते हैं कि अभी तो बिस्तर पर लेटे थे।

३. मृत्यु के बाद शुक्ल तथा कृष्ण गति

वैदिक-साहित्य में मृत्यु के बाद जीव की दो गतियों का वर्णन पाया जाता है। यह वर्णन वेदों में, उपनिषदों में, गीता में पाया जाता है। इसका अन्तरंग अर्थ क्या है, क्या ये दोनों गतियाँ यथार्थ, भौतिक गतियाँ हैं, क्या मृत्यु के बाद आत्मा इन्हीं मार्गों से जाता है, या ये लाक्षणिक हैं ? इस संबंध में शास्त्रकारों का ठीक-ठीक अभिप्राय क्या था—यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इतना अवश्य प्रतीत होता है कि गीता के समय मृत्यु के बाद आत्मा के गमन के विषय में दो मार्गों का सिद्धान्त प्रचलित था। जैसे गीता के समय 'यज्ञ' की बात प्रचलित थी, वैसे मृत्यु के बाद आत्मा के 'दो मार्गों' से जाने की बात भी प्रचलित थी। जैसे गीताकार ने 'यज्ञ'-शब्द को अपना नया अर्थ दिया, वैसे 'दो मार्गों' की बात को भी श्रीकृष्ण ने नया ही अर्थ दिया। यह विचार किस क्रम से विकसित हुआ, इसका कुछ दिग्दर्शन हम नीचे करा रहे हैं :

(क) **वैदिक-काल में दो मार्गों का वर्णन**—ऋग्वेद (१०.८८.१५) में दो मार्गों का वर्णन करते हुए लिखा है :

द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥

अर्थात्, हम यह सुनते आये हैं कि मनुष्यों की दो प्रकार की गतियाँ हैं—'देव' तथा 'पितर'। ये जो सृष्टि के नर हैं, माता हैं, पिता हैं, और जो गतिमान्

विश्व है वह इन दो मार्गों से जाता है। वेदों में इन दो मार्गों के विषय में इससे अधिक नहीं कहा गया।

(ख) **उपनिषद् काल में दो मार्गों का वर्णन**—उपनिषद् काल को दो मार्गों में बाँटा जा सकता है। एक पहला काल, दूसरा पीछे का काल। पहले के काल में इतना ही आभास मिलता है कि मरने के बाद आत्मा की दो गतियाँ होती हैं—ज्ञानमार्गी ब्रह्म को प्राप्त होते हैं, कर्मकांडी पुनर्जन्म लेते हैं। यह वर्णन कठोपनिषद् (२—५, ६, ७) में आता है। वहाँ लिखा है :

> **हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।**
> **यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम॥**
> **योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।**
> **स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथा कर्म यथा श्रुतम्॥**

अर्थात्, मरने के पश्चात् आत्मा की गति कैसी होती है—वह गुह्य बात कहता हूँ। कई आत्मा दूसरा देह प्राप्त करने के लिए गर्भ को प्राप्त होते हैं, और दूसरे स्थाणु अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। यहाँ यह विचार उभर रहा है कि ज्ञानमार्गी मुक्त हो जाते हैं, कर्मकांडी बार-बार जन्म लेते हैं।

उपनिषदों के दूसरे काल में जब बृहदारण्यक तथा छान्दोग्योपनिषद् की रचना हुई तब यह विचार और विस्तृत हुआ। बृहदारण्यक (६—२) तथा छान्दोग्य (५—१०) में लगभग वही वर्णन पाया जाता है जिसका गीता के ८वें अध्याय के २४ और २५ श्लोकों में हमने अभी उल्लेख किया है। इन वर्णनों में भेद बहुत थोड़ा है।

उपनिषदों के वर्णन के अनुसार (प्रश्नोपनिषद्, प्रथम प्रश्न, ९—१५) एक मार्ग का नाम उत्तरायण है, प्राण-मार्ग है, देवयान-मार्ग है, निवृत्ति-मार्ग है, शुक्ल-मार्ग है; दूसरे मार्ग का नाम दक्षिणायन है, रयि-मार्ग है, पितृयाण-मार्ग है, प्रवृत्ति-मार्ग है, कृष्ण-मार्ग है।

(ग) **गीता में दो मार्गों का वर्णन**—गीता में भी इन दो मार्गों का वर्णन है, परन्तु गीता ने २४ तथा २५ श्लोकों में उत्तरायण तथा दक्षिणायन का वर्णन करके २६वें श्लोक में इन दोनों में नया अर्थ भर दिया है। ये दोनों मार्ग प्राचीन काल से चले आ रहे थे, इसलिए इन दोनों का उल्लेख तो गीता ने किया, परन्तु जैसे 'यज्ञ' को गीता ने अपना रंग दे दिया, त्याग का, समर्पण का, वैसे 'दो मार्गों' को भी गीता ने अपना रंग दे दिया। २६वें श्लोक में कहा है—'**शुक्ल-कृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते**'—संसार में निरन्तर शुक्ल-गति तथा कृष्ण-गति चलती रहती है। शुक्ल-गति अर्थात् शुभ कर्म, कृष्ण-गति अर्थात् अशुभ कर्म—इन दोनों मार्गों से संसार के प्राणी चला करते हैं, अच्छे कर्म करनेवाले ब्रह्म को प्राप्त करते हैं, बुरे कर्म करनेवाले बार-बार इस मर्त्य लोक के चक्कर में फँसा करते हैं। शुभ कर्म को लाक्षणिक तौर पर प्रकट करने के लिए धधकती चिता की अग्नि की ज्वाला, दिन, शुक्ल-पक्ष, उत्तरायण जहाँ छः महीने तक सूर्य अस्त ही नहीं होता—आदि शब्दों से प्रकट किया है; अशुभ कर्म को लाक्षणिक तौर पर प्रकट करने के लिए धधकती चिता के धूएँ, रात्रि, कृष्ण पक्ष, दक्षिणायन जहाँ छः महीने सूर्य का प्रकाश दीखता नहीं—आदि शब्दों से प्रकट किया है।

नौवाँ अध्याय

राजविद्या-राजगुह्य-योग

मानवें अध्याय में कहा था—'**ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः**'—मैं तुझे 'विज्ञान-सहित ज्ञान' की दीक्षा दूंगा। 'विज्ञान-सहित-ज्ञान' की दीक्षा देते-देते सातवें अध्याय के अन्त में ब्रह्म, कर्म, अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ तथा अन्त-काल—इन सब बातों की चर्चा छिड़ गई। अर्जुन को इन सब के रहस्य जानने की इच्छा हुई, विशेष रूप से अन्त-काल के रहस्य को उसने जानना चाहा। इसी कारण ८वें अध्याय में इसी का वर्णन हुआ, विशेष रूप में अन्त-काल का वर्णन हुआ। इस प्रकार ७वें अध्याय में उठाये गये 'ज्ञान-विज्ञान'—इस विषय का पूरा वर्णन नहीं हो पाया, बीच में सात प्रश्न उठ खड़े हुए, उनका श्रीकृष्ण ने समाधान कर दिया। नवम अध्याय में 'ज्ञान-विज्ञान सहित' उसी विषय को फिर उठा कर गीता कहती है:

[गुह्य राजविद्या]

श्री भगवान् ने कहा : **मैं तुझे, क्योंकि तू दोष-दृष्टि से रहित है, इसलिये गुह्य से भी गुह्य विज्ञान-सहित ज्ञान बतलाता हूँ जिसके जान लेने से तू अशुभ से मुक्त हो जायेगा ॥१॥**

श्री भगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

इदम्[3]—इस; **तु**[8]—क्योंकि; **ते**[1]—तुझे; **गुह्यतमम्**[4]—गुह्य से भी गुह्य; **प्रवक्ष्यामि**[7]—बतलाउँगा; **अनसूयवे**[2]—दोष-दृष्टि से रहित तुझ को; **ज्ञानम्**[5]—ज्ञान को; **विज्ञानसहितम्**[6]—विज्ञान के सहित; **यत्**[9]—जिसको; **ज्ञात्वा**[10]—जान कर; **मोक्ष्यसे**[12]—मुक्ति प्राप्त करेगा; **अशुभात्**[11]—अशुभ से।

'ज्ञान-सहित विज्ञान' का गीता में कई जगह उल्लेख आया है। ३–४१ में कहा है : "पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञान-विज्ञान नाशनम्"; ६–८ में कहा है "ज्ञान-विज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः"; ७–२ में कहा है "ज्ञानं तेऽहं सविज्ञान-मिदं वक्ष्याम्यशेषतः"—इससे प्रतीत होता है कि 'ज्ञान' तथा 'विज्ञान' गीता के समय के दो भावपूर्ण शब्द थे। 'ज्ञान' का अर्थ सामान्य ज्ञान तथा 'विज्ञान' का अर्थ अनुभवगम्य ज्ञान है। वर्तमान पारिभाषिक शब्दों में 'ज्ञान' को 'सामाजिक शिक्षा' (Humanities) तथा 'विज्ञान' को तकनीकी शिक्षा (Technology) कहा जा सकता है। गीता में क्योंकि आध्यात्मिक चर्चा चल रही है इसलिए यहाँ पर 'ज्ञान' का अर्थ प्रचलित आध्यात्मिक ज्ञान (Theory) से है, और 'विज्ञान' का अर्थ आध्यात्मिक ज्ञान की उन बारीकियों से है जिन्हें आध्यात्मिक जीवन की तकनीकी या क्रियात्मक शिक्षा (Practice) कहा जा सकता है। सातवें अध्याय में गीता में जिस 'ज्ञान-विज्ञान' की चर्चा प्रारम्भ की गई थी उसी को लक्ष्य में रख कर इस अध्याय में श्रीकृष्ण कहते हैं :

(यह जो गुह्य से गुह्य रहस्य मैं बतलाने लगा हूँ) यह विद्याओं में राजविद्या है, और गुह्य विद्याओं में अत्यन्त गुह्य विद्या है। यह पवित्र विद्या है, अति उत्तम विद्या है, प्रत्यक्ष-फल देने वाली विद्या है, धर्म के अनुकूल विद्या है, साधन करने में बड़ी सुगम विद्या है (परन्तु सुगम होने के कारण साधारण नहीं किन्तु) अविनाशी विद्या है ।।२।।

इस स्थल का अर्थ करते हुए विनोबा कहते हैं : भगवान् इस राज-विद्या को 'प्रत्यक्षावगमम्' कहते हैं। यह विद्या शब्दों में न समानेवाली, परन्तु प्रत्यक्ष अनुभव की कसौटी पर कसी हुई—ऐसी विद्या है। जब गुड़ खाते हैं तब उसकी मिठास प्रत्यक्ष मालूम देती है, उसी तरह इस अध्याय में जो-कुछ कहा गया है वह यद्यपि गुह्य है, तो भी अनुभव से उसका प्रत्यक्ष किया जा सकता है। यह विद्या वैसे तो

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम् ।।२।।

राजविद्या[2]–राजविद्या; **राजगुह्यम्**[3]–गुह्यविद्याओं में अत्यन्त गुह्य; **पवित्रम्**[4]–पवित्र विद्या; **इदम्**[1]–यह; **उत्तमम्**[5]–अत्युत्तम विद्या; **प्रत्यक्षावगमम्**[6]–प्रत्यक्ष फल देने वाली; **धर्म्यम्**[7]–धर्म के अनुकूल; **सुसुखम्**[9]–सुगम, आसान; **कर्त्तुम्**[8]–साधन करने में; **अव्ययम्**[10]–अविनाशी ।

गूढ़ है, परन्तु श्रीकृष्ण उसे सब के लिए सुलभ और खोल कर रख रहे हैं; वेदों की अलमारी में बंद इस गूढ़ रहस्य को गीता के रचयिता ने मानो चौराहे पर लाकर रख दिया है।

इस श्लोक में राज-विद्या और राज-गुह्य—इन शब्दों का प्रयोग हुआ है। इन शब्दों के दो अर्थ हो सकते हैं। 'राज-विद्या' का अर्थ है—विद्यानां राजा—अर्थात्, विद्याओं में राजा, जो सब से बड़ी विद्या हो वह 'राज-विद्या'; इसी प्रकार 'राज-गुह्य' का अर्थ है—गुह्यानां राजा—अर्थात् गुह्यों का राजा, जो सब से बड़ी रहस्यमयी वस्तु हो वह 'राज-गुह्य'। गीता में इन्हीं अर्थों में इन शब्दों का प्रयोग किया गया है। ये दोनों शब्द 'राजवैद्य' या 'राज-योग' की कोटि के हैं। जहाँ 'राजन्' शब्द 'श्रेष्ठ' या 'उत्कृष्ट' अर्थ में प्रयुक्त होता है वहां इसका शब्द से पहले प्रयोग होता है। यही प्रकरण-संगत अर्थ प्रतीत होता है। कई टीकाकार इन शब्दों का एक दूसरा अर्थ करते हैं। वे कहते हैं —राज्ञां विद्या—राज-विद्या, राज्ञां गुह्यम्—राज-गुह्यम्, अर्थात् जो राजा लोगों की विद्या, राजा लोगों का गुह्य-रहस्य है वह राज-विद्या तथा राज-गुह्य कहलाता है। उपनिषदों के समय में ऋषि लोग राजाओं के पास जाकर आध्यात्मिक उपदेश लेते थे, जनक आदि राजाओं ने अनेक ऋषियों को अध्यात्म-ज्ञान दिया—ऐसा उल्लेख उपनिषदों में अनेक स्थानों में पाया जाता है। गीता में चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में लिखा है: **'इमं विवस्वते योगम्'**—इस योग को विवस्वान् को दिया गया, विवस्वान् ने मनु को, मनु ने इक्ष्वाकु को इस रहस्य की शिक्षा दी जो कालान्तर में नष्ट हो गया, उसी की श्रीकृष्ण गीता में शिक्षा दे रहे हैं। इस सबसे यह भी प्रतीत होता है कि यह रहस्यमय ज्ञान प्राचीन-काल में राजाओं के पास एक गुप्त निधि के तौर से रहता था और वे किसी जिज्ञासु भक्त को इसकी दीक्षा देते थे। जो-कुछ भी हो, श्रीकृष्ण ने गीता में जो ज्ञान दिया है, उसे जगह-जगह 'रहस्य', (३–३) 'गुह्यतम' (१५–२०) 'गुह्याद् गुह्यतरम्' (१८–६३) कहा है। राजा लोग इसकी दीक्षा देते रहे हों, या ऋषि लोग, इसमें सन्देह नहीं कि इस अध्याय में जिस रहस्य का उद्घाटन किया गया है उसे गीताकार अत्यन्त गोपनीय समझते हैं, बड़े ऊँचे दर्जे का समझते हैं। इस रहस्य के बारे में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कहा:

हे परन्तप ! यह रहस्य एक ऐसा धर्म है, जिसे श्रद्धा न रखने वाले पुरुष नहीं पा सकते, और उसे न पा सकने

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३॥

अश्रद्दधानाः[4]–श्रद्धा न रखने वाले; **पुरुषाः**[5]–पुरुष; **धर्मस्य**[3]–धर्म का; **अस्य**[2]–इसका; **परन्तप**[1]–हे परम तपस्वी; **अप्राप्य**[7]–न

के कारण मृत्युमय संसार के मार्ग में बार-बार लौट आते हैं ।।३।।

[गुह्य राजविद्या का उपदेश]

वह गुह्य राजविद्या क्या है जिसके जानने से मृत्युमय संसार में मनुष्य नहीं लौटता, जिसका गीता में जगह-जगह 'गुह्य', 'रहस्य' के तौर पर उल्लेख किया गया है ? उसी गुह्य का, रहस्य का उद्घाटन करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं :

(मैं अव्यक्त हूँ फिर भी) इस सारे संसार को मैंने अपने अव्यक्त रूप द्वारा व्याप्त किया हुआ है। मुझमें सब प्राणी स्थित हैं, निवास करते हैं, मैं उनमें स्थित नहीं हूँ, मैं उनमें निवास नहीं करता ।।४।।

(यद्यपि सब प्राणी मुझ में स्थित हैं) तो भी सब प्राणी मुझ में स्थित नहीं हैं, देखो यह कैसी मेरी करनी है, कैसा योग-सामर्थ्य है ! मेरा आत्मा (ममात्मा) सब प्राणियों को उत्पन्न करने वाला (भूत-भावनः) है, सब प्राणियों का भरण-पोषण करने वाला (भूतभृत्) है किन्तु फिर भी वह उनमें नहीं है, उनमें समाया हुआ (भूतस्थ) नहीं ।।५।।

प्राप्त करके; **माम्**[6]–मुझे; **निवर्तन्ते**[9]–लौटते हैं; **मृत्युसंसारवर्त्मनि**[8]–मृत्युमय संसार के मार्ग में।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ।।४।।

मया[1]–मैंने ; **ततम्**[6]–व्याप्त किया हुआ है ; **इदम्**[3]–यह; **सर्वम्**[4]–सारा; **जगत्**[5]–संसार; **अव्यक्तमूर्तिना**[2]–अव्यक्त रूपवाले ने; **मत्स्थानि**[9]–मुझमें स्थित; **सर्वभूतानि**[8]–सारे प्राणी व पंच-भूत; **न**[12]–नहीं; **च**[7]–और; **अहम्**[10]–मैं; **तेषु**[11]–उनमें; **अवस्थितः**[13]–ठहर रहा हूँ।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ।।५।।

न[4]–नहीं; **च**[1]–और; **मत्स्थानि**[3]–मुझ में स्थित; **भूतानि**[2]–प्राणी; **पश्य**[8]–देख; **मे**[5]–मेरा; **योगम्**[7]–योग-सामर्थ्य; **ऐश्वरम्**[6]–

गीता की राज-विद्या का गुह्य रहस्य यही विरोधाभास है। एक तरफ़ कहा कि सब प्राणी मुझ में स्थित हैं, दूसरी तरफ़ कह दिया कि प्राणी मुझ में स्थित नहीं हैं; एक तरफ़ कहा कि मेरा आत्मा भूतभृत् है, प्राणियों को धारण करनेवाला है, दूसरी तरफ़ कह दिया कि मेरा आत्मा भूतस्थ नहीं है, प्राणियों को धारण करता हुआ भी उनमें 'अपनत्व' को डाल कर नहीं रह रहा। यही तो सृष्टि के रचयिता का सबसे बड़ा योग-बल है। वह प्राणियों को अपने भीतर बैठाकर भी न बैठाये हुए है, उनको उत्पन्न करके, उनका भरण-पोषण करते हुए भी उनके साथ 'लगाव' में नहीं बँधा हुआ। कमल का पत्ता पानी में है, परन्तु पानी में रहता हुआ भी पानी में नहीं है। यही वह रहस्य है जो दीखता नहीं, छिपा हुआ है, गुप्त है। श्रीकृष्ण इसी रहस्य को गुरु बनकर अर्जुन के कान में फूंकना चाहते हैं। उनका कहना है कि जैसे भगवान् सृष्टि के कण-कण को रच कर भी, कण-कण में व्याप्त होकर भी सृष्टि से अलग हैं, अन्दर होते हुए भी बाहर हैं, इसी तरह से मनुष्य जब सृष्टि में रहता हुआ, सब कर्मों को करता हुआ कर्मों से अलग रहता है, तब वह राज-विद्या और राज-गुह्य को जान जाता है।

इस प्रकरण में गीता ने निम्न स्थापनाएँ की हैं जिन पर गहराई से विचार करना चाहिए :

(क) मैं अव्यक्त हूँ, अव्यक्त से समूचा व्यक्त जगत् तत है, विस्तृत है, भरा पड़ा है।

(ख) ये भूत मुझ में हैं।

(ग) ये भूत मुझ में नहीं हैं—यह मेरे योग का चमत्कार है।

(क) **अव्यक्त व्यक्त में है**—अव्यक्त का अर्थ है जो प्रकट न हो, अप्रकट हो, सूक्ष्म हो। यह तो स्पष्ट है कि स्थूल सूक्ष्म में नहीं रह सकता, सूक्ष्म ही स्थूल में रह सकता है। ब्रह्म क्योंकि सारी सृष्टि का आधारभूत सूक्ष्म तत्व है इसलिए यह स्थापना कि अव्यक्त इस व्यक्त जगत् के कण-कण में रम रहा है, ठीक ही स्थापना है।

(ख) **भूत मुझ में हैं**—उक्त कथन में दूसरी स्थापना यह है कि जब इस स्थूल जगत् के कण-कण में मैं ही सूक्ष्म तत्व के रूप में रम रहा हूँ तो यह स्पष्ट है कि ये स्थूल-भूत मुझ में हैं, मेरे आधार पर ही ये टिके हुए हैं, मैं सूक्ष्म-तत्व उनके आधार पर नहीं टिका हुआ। उदाहरणार्थ, घड़े में मट्टी रहती है, स्वर्ण के कड़े में स्वर्ण रहता है, मट्टी में घड़ा, या स्वर्ण में कड़ा नहीं रहता। सूक्ष्म, अपरिमित, असीमित ही स्थूल में, परिमित में, सीमित में व्याप सकता है, स्थूल सूक्ष्म में, अपरिमित में, असीमित में नहीं व्याप सकता; संसार की सब जड़ वस्तुएँ और चेतन प्राणी भगवान् में हैं।

ईश्वरीय; **भूतभृत्**[9]–प्राणियों का भरण-पोषण करने वाला; **न**[15]–नहीं; **च**[11]–और; **भूतस्थः**[14]–भूतों में समाया हुआ; **मम**[12]–मेरा; **आत्मा**[13]–आत्मा; **भूतभावनः**[10]–सब प्राणियों को उत्पन्न करने वाला।

(ग) **भूत मुझ में नहीं हैं**—उक्त कथन में तीसरी स्थापना यह है कि भूत मुझ में नहीं हैं। यह स्थापना दूसरी स्थापना का विरोध करती है। गीता कहती है कि यह विरोध ही भगवान् के योग का चमत्कार है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि यद्यपि भूत मुझ में हैं तब भी वे मुझ में नहीं हैं। मुझ में कैसे नहीं हैं? ठीक ऐसे जैसे कमल का पत्ता जल में रहता हुआ भी जल में नहीं है, वह जल से लिप्त नहीं होता; ठीक ऐसे जैसे आकाश में वायु का बवंडर आता रहता है, आँधियाँ-तूफ़ान उठते हैं, परन्तु आकाश वायु के इन परिवर्तनों से लिप्त नहीं होता, अपने अखंड रूप में बना रहता है। यही तो राज-विद्या है, गुह्य-रहस्य है। संसार में रहते हुए संसार से बाहर रहें, कर्म करते हुए कर्म से लिप्त न हो, भूतों को गोद में बैठाये हुए भूतों में रमने न लगे—यह योग का ऐश्वर्य है, योग का चमत्कार है।

तीनों स्थापनाओं को संक्षेप में गीता ने फिर दोहराया है—'भूतभृत्—**'न च भूतस्थः'**—**'ममात्मा भूतभावनः'**। **'भूतभृत्'** का अर्थ है—'भूत मुझ में हैं'। **'न च भूतस्थः'** का अर्थ है—'भूत मुझ में नहीं हैं'। **'ममात्मा भूतभावनः'** का अर्थ है—मैं ही सब भूतों में व्याप रहा हूँ, उनकी सत्ता का कारण हूँ, मुझ अव्यक्त से समूचा जगत् भरा पड़ा है।

जिस प्रकार (अपरिवर्तनशील) आकाश में (परिवर्तनशील) प्रचण्ड वायु सदा स्थित रहती है, उसी प्रकार ये सब (परिवर्तनशील) प्राणी मुझ (अपरिवर्तनशील ब्रह्म) में निवास करते हैं—यह समझ ले ॥६॥

सृष्टि तथा ब्रह्म में जो विरोध है, सृष्टि परिवर्तनशील है, ब्रह्म अपरिवर्तनशील है, तो भी अपरिवर्तनशील ब्रह्म परिवर्तनशील सृष्टि को धारण किये हुए है, ठीक ऐसे जैसे अचल आकाश चंचल वायु को अपने भीतर समाये रखता है। इस राज-विद्या का गुह्य रहस्य यही है कि सृष्टि को अपनी गोद में बैठाये हुए भी भगवान् सृष्टि से अलिप्त है। वायु आकाश में झंझावात मचाता है, परन्तु आकाश उससे अलिप्त रहता है, सृष्टि के भूत—जड़-चेतन—ब्रह्म में बनते-बिगड़ते

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

यथा[1]–जिस प्रकार; **आकाशस्थितः**[6]–आकाश में स्थित; **नित्यम्**[5]–सदा; **वायुः**[4]–वायु; **सर्वत्रगः**[2]–सब जगह जाने वाला; **महान्**[3]–प्रचण्ड; **तथा**[7]–उसी प्रकार; **सर्वाणि**[8]–सारे; **भूतानि**[9]–प्राणी; **मत्स्थानि**[10]–मेरे में स्थित; **इति**[11]–इस प्रकार से; **उपधारय**[12]–समझ ले, निश्चय कर।

रहते हैं परन्तु ब्रह्म निर्विकार बना रहता है—यह क्या कम रहस्य की बात है?

हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन! सृष्टि के चक्र की समाप्ति पर सब भूत—जड़-चेतन—मेरी प्रकृति में समा जाते हैं और सृष्टि-चक्र के अगले चक्र के प्रारम्भ होने पर मैं ही फिर उनका सर्जन कर देता हूँ ॥७॥

मैं अपनी 'प्रकृति' को, अपनी माया को हाथ में लेकर, 'प्रकृति' के, अपने स्वभाव के वश में रहने वाले परतन्त्र सम्पूर्ण भूतों के समुदाय को बार-बार उत्पन्न करता हूँ ॥८॥

भगवान् के तो प्रकृति वश में है, परन्तु जीव प्रकृति के वश में है, राजविद्या इसी बात में है कि जैसे भगवान् प्रकृति को वश में किये हुए हैं वैसे जीव भी अपने को अवश न समझे, प्रकृति के वश में न समझे, भगवान् की तरह प्रकृति को अपने वश में समझे।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥

सर्वभूतानि[3]–सब प्राणी; **कौन्तेय**[1]–हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन; **प्रकृतिम्**[5]–प्रकृति को; **यान्ति**[6]–प्राप्त करते हैं; **मामिकाम्**[4]–मेरी; **कल्प-क्षये**[2]–सृष्टि के चक्र की समाप्ति पर; **पुनः**[10]–फिर (अगले चक्र में); **तानि**[8]–वे (प्राणी); **कल्पादौ**[7]–सृष्टि-चक्र के प्रारम्भ में; **विसृजामि**[11]–सर्जन कर देता हूँ; **अहम्**[9]–मैं।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥

प्रकृतिम्[2]–प्रकृति को, माया को; **स्वाम्**[1]–अपनी; **अवष्टभ्य**[3]–लेकर, स्वीकार कर; **विसृजामि**[11]–उत्पन्न करता हूँ; **पुनः पुनः**[10]–बार-बार; **भूतग्रामम्**[9]–भूतों के समुदाय को; **इमम्**[7]–इस; **कृत्स्नम्**[8]–सारे; **अवशम्**[6]–परतन्त्र; **प्रकृतेः**[4]–प्रकृति के; **वशात्**[5]–वश के कारण।

हे धनञ्जय ! ये सब कर्म मुझे (कर्म करते हुए भी) बन्धन में नहीं डालते क्योंकि मैं (कर्म करता हुआ भी) उन कर्मों में उदासीन के समान आसक्ति को छोड़कर बरतता हूँ ॥९॥

हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन ! मेरी देख-रेख में यह प्रकृति इस चर तथा अचर जगत् को उत्पन्न करती है, (क्योंकि मैं इसकी देख-रेख कर रहा हूँ) इस कारण यह सारा संसार का चक्र घूम रहा है ॥१०॥

मानव-शरीर का जब मैं आश्रय लेता हूँ तब मूढ लोक मेरी अवज्ञा करते हैं, अवहेलना करते हैं (कोई किसी को

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥

न[11]–नहीं; **च**[5]–और; **माम्**[8]–मुझको; **तानि**[9]–वे; **कर्माणि**[10]–कर्म; **निबध्नन्ति**[12]–बन्धन में डालते हैं; **धनञ्जय**[1]–हे अर्जुन; **उदासीनवद्**[6]–उदासीन के समान; **आसीनम्**[7]–स्थित हुए; **असक्तम्**[4]–आसक्ति से रहित; **तेषु**[2]–उनमें; **कर्मसु**[3]–कर्मों में ।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

मया[2]–मेरे द्वारा; **अध्यक्षेण**[3]–देख-रेख करने वाले; **प्रकृतिः**[4]–प्रकृति; **सूयते**[6]–उत्पन्न करती है; **सचराचरम्**[5]–जड़ और चेतन पदार्थों के साथ; **हेतुना**[8]–कारण से; **अनेन**[7]–इससे; **कौन्तेय**[1]–हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन; **जगत्**[9]–संसार; **विपरिवर्तते**[10]–परिवर्तित होता रहता है ।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

अवजानन्ति[11]–अवज्ञा (अवहेलना) करते हैं; **माम्**[10]–मुझको; **मूढाः**[6]–मूर्ख जन; **मानुषीम्**[7]–मनुष्य की; **तनुम्**[8]–शरीर को;

छोटा, किसी को बड़ा, किसी को चाण्डाल, किसी को ब्राह्मण कहता है। ऊँच नीच का ऐसा भेदभाव करते हुए और मनुष्य-मनुष्य में अन्तर डालते हुए ये लोग ऐसा इसलिये करते हैं) क्योंकि वे मेरी परम प्रकृति को, उच्चतर प्रकृति को, सब प्राणियों में मैं ही बस रहा हूँ, सब प्राणियों का मैं ही महेश्वर हूँ—मेरे इस रूप को नहीं जान रहे होते (जो मेरे उच्चतर रूप को जान जाते हैं और यह समझते हैं कि मैं ही सब मनुष्यों में विविध रूप में शरीर धारण करता हूँ वे सब मनुष्यों को एक-समान दृष्टि से देखते हैं) ॥११॥

[आसुरी प्रकृति]

(जो मेरे परम रूप को नहीं जानते) उनकी आशा व्यर्थ, कर्म व्यर्थ, ज्ञान व्यर्थ जाता है, वे विवेकहीन होते हैं, वे मोह में डाल रखनेवाली राक्षसी तथा आसुरी प्रकृति का आश्रय लिये होते हैं (राक्षसी और आसुरी स्वभाव के कारण वे मेरे परम रूप को नहीं जान पाते) ॥१२॥

आश्रितम्[9]–आश्रित हुए-हुए को; **परम्**[3]–परम, श्रेष्ठ; **भावम्**[4]–सत्ता को; **अजानन्तः**[5]–न जानते हुए; **मम**[2]–मेरा; **भूतमहेश्वरम्**[1]–सब प्राणियों के महेश्वर।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

मोघाशाः[1]–जिनकी आशा व्यर्थ है; **मोघकर्माणः**[2]–जिनके कर्म व्यर्थ हैं; **मोघज्ञानाः**[3]–जिनका ज्ञान व्यर्थ है; **विचेतसः**[4]–अज्ञानी जन; **राक्षसीम्**[5]–राक्षसों की; **आसुरीम्**[7]–असुरों की; **च**[6]–और; **एव**[10]–ही; **प्रकृतिम्**[9]–प्रकृति को; **मोहिनीम्**[8]–मोह पैदा करने वाली; **श्रिताः**[11]–आश्रय लिये हुए।

[दैवी प्रकृति]

इसके विपरीत, हे पार्थ ! महात्मा लोग दैवी प्रकृति का (दैवीय स्वभाव का) आश्रय लेकर, मुझे प्राणीमात्र का आदिकारण समझ कर, अनन्य चित्त से मुझ अनश्वर (ब्रह्म) की उपासना करते हैं ।।१३।।

ऊपर के दो श्लोकों में आसुरी-प्रकृति तथा दैवी-प्रकृति में भेद दर्शाया है। जिसकी 'आसुरी-प्रकृति' होती है, असुरों की-सी प्रकृति होती है, स्वभाव होता है, वह संसार में भगवान् को न देखकर अपने 'अहम्' को ही देखता है, 'अहम्' में रत रहता है, संसार के फँदे में फँसा रहता है; जिसकी 'दैवी-प्रकृति' होती है, देवों का-सा स्वभाव होता है, वह संसार की तरफ़ पीठ फेरकर ब्रह्म की तरफ़ मुँह कर लेता है, अपने जीवन को 'संसार' की उपासना में खो देने के स्थान में 'भगवान्' के प्रति अर्पण कर देता है। उक्त कथन में राक्षसी-प्रकृति का अर्थ तमोगुणी-स्वभाव, आसुरी-प्रकृति का अर्थ रजोगुणी-स्वभाव तथा दैवी-प्रकृति का अर्थ सत्त्वगुणी-स्वभाव है।

(दैवी प्रकृति के सत्त्वगुणी महात्मा लोग) सदा मेरा कीर्तन करते हुए, गुणगान करते हुए, निरन्तर यत्न करते हुए, अपने निश्चय पर डटे हुए, नित्य मेरे साथ भक्ति की डोर में बंधे हुए, मेरी उपासना करते हैं ।।१४।।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ।।१३।।

महात्मानः[6]–महात्मा लोग; **तु**[1]–परन्तु; **माम्**[7]–मुझे; **पार्थ**[2]–हे अर्जुन ! **दैवीम्**[3]–दैवी; **प्रकृतिम्**[4]–प्रकृति को; **आश्रिताः**[5]–आश्रय लेते हुए; **भजन्ति**[12]–उपासना करते हैं; **अनन्यमनसः**[11]–एकाग्र मन वाले; **ज्ञात्वा**[10]–जान कर; **भूतादिम्**[8]–प्राणीमात्र के आदि कारण; **अव्ययम्**[9]–अनश्वर, अविनाशी ।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ।।१४।।

सततम्[2]–सदा; **कीर्तयन्तः**[3]–कीर्तन (गुण-गान) करते हुए; **माम्**[7]–मुझ को; **यतन्तः**[5]–निरन्तर यत्न करते हुए; **च**[4]–और; **दृढव्रताः**[1]–अपने निश्चय पर डटे हुए; **नमस्यन्तः**[8]–नमन (भक्ति)

[सब जगह 'मैं-ही-मैं' हूँ]

(इस 'भक्ति-यज्ञ' के अलावा) दूसरे लोग 'ज्ञान-यज्ञ' से भजन करते हुए मेरी उपासना करते हैं। बहुत करके कई लोग मेरी एकत्व रूप में, कई नाना रूप में उपासना करते हैं, मैं तो विश्वतोमुख हूँ, सब कहीं रहनेवाला हूँ ॥१५॥

(भगवान् की लोग नाना रूपों में उपासना करते हैं परन्तु) मैं ही श्रौत-यज्ञ (क्रतु) हूँ, मैं ही स्मार्त-यज्ञ (यज्ञ) हूँ; मैं ही पितरों को दिया जाने वाला पिंडदान (स्वधा) हूँ; मैं ही अग्नि को दी जाने वाली ओषधि (सामग्री) हूँ, मैं ही मंत्र हूँ; मैं ही घृत हूँ, मैं ही अग्नि हूँ, मैं ही आहुति हूँ ॥१६॥

करते हुए; **च**[6]-और; **माम्**[11]–मुझ को; **भक्त्या**[10]–भक्ति से; **नित्ययुक्ताः**[9]–नित्य योग (भक्ति) करते हुए; **उपासते**[12]–उपासना करते हैं।

ज्ञानयज्ञेन चाऽप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

ज्ञानयज्ञेन[3]–ज्ञान-यज्ञ से; **च**[8]–और; **अपि**[10]–भी; **अन्ये**[6]–दूसरे; **यजन्तः**[4]–यजन करते हुए; **माम्**[1]–मुझको; **उपासते**[11]–उपासना करते हैं; **एकत्वेन**[5]–एकत्व रूप से; **पृथक्त्वेन**[7]–नाना रूप से; **बहुधा**[9]–बहुत प्रकार से; **विश्वतोमुखम्**[2]–सब ओर मुखवाले, विश्वद्रष्टा को।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥

अहम्[2]–मैं; **क्रतुः**[1]–श्रौत यज्ञ; **अहम्**[4]–मैं; **यज्ञः**[3]–स्मार्त यज्ञ; **स्वधा**[5]–पितरों को दिया जाने वाला पिण्डदान; **अहम्**[6]–मैं; **अहम्**[8]–मैं; **औषधम्**[7]–अग्नि को दी जाने वाली ओषधि (सामग्री); **मन्त्रः**[10]–मन्त्र; **अहम्**[9]–मैं; **अहम्**[12]–मैं; **एव**[17]–ही; **आज्यम्**[11]–घृत; **अग्निः**[13]–अग्नि; **अहम्**[14]–मैं; **अहम्**[16]–मैं; **हुतम्**[15]–आहुति हूँ।

मैं इस जगत् का पिता हूँ, माता हूँ, धारण करने वाला हूँ, पितामह हूँ, मैं ही जानने योग्य हूँ, मैं पवित्र ओंकार हूँ, ऋक्-साम-यजुर्वेद मैं ही हूँ ॥१७॥

गति मैं हूँ, पोषक मैं हूँ, प्रभु मैं हूँ, साक्षी मैं हूँ, निवास मैं हूँ, शरण मैं हूँ, सुहृद् मैं हूँ, संसार की उत्पत्ति-विनाश-स्थिति मैं हूँ, मैं ही विश्राम का स्थान हूँ, अनश्वर बीज मैं हूँ ॥१८॥

मैं ही तपता हूँ, मैं ही वर्षा को रोक रखता और बरसने देता हूँ, मैं अमृत हूँ साथ ही मृत्यु भी मैं ही हूँ, मैं सत् भी हूँ, असत् भी हूँ ॥१९॥

पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥

पिता[3]–पिता; अहम्[14]– मैं; अस्य[1]–इसका; जगतः[2]–जगत् का; माता[4]–माता; धाता[5]–धारण करने वाला; पितामहः[6]–दादा; वेद्यम्[8]–जानने योग्य; पवित्रम्[9]–पवित्र ; ओंकारः[10]–ओंकार; ऋक्[11]–ऋग्वेद; साम[12]–सामवेद; यजुः[13]–यजुर्वेद; एव[15]–ही; च[7]–और ।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृद् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

गतिः[1]–गति (शरण, आश्रय); भर्ता[2]–पोषक; ; प्रभुः[3]–प्रभु; साक्षी[4]–साक्षी; निवासः[5]–निवासस्थान; शरणम्[6]–शरण; सुहृद्[7]–सुहृद्; प्रभवः[8]–उत्पत्ति-स्थान; प्रलयः[9]–विनाश; स्थानम्[10]–स्थिति; निधानम्[11]–आधार; बीजम्[13]–बीज; अव्ययम्[12]–न नष्ट होने वाला ।

तपाम्यहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥

तपामि[2]–तपता हूँ; अहम्[1]–मैं; वर्षम्[3]–वर्षा को; निगृह्णामि[4]–रोकता हूँ; उत्सृजामि[6]–छोड़ता हूँ, बरसने देता हूँ; च[5]–और; अमृतम्[10]–अमृत; च[7]–और; एव[14]–ही; मृत्युः[12]–मृत्यु; च[11]–और; सद्-असत्[15]–सत् और असत्; च[13]–और; अहम्[9]–मैं; अर्जुन[8]–हे अर्जुन ।

इन श्लोकों में भगवान् कहते हैं कि संसार में जो-कुछ है वह 'मैं-ही-मैं' हूँ। इसी को भक्त की वाणी में कहा जाय तो कहना होगा कि भक्त कहता है: 'तू ही-तू' है। राज-विद्या तथा राज-गुह्य यही है कि भक्त संसार में हर वस्तु को भगवान् का रूप देखता है, जिधर देखता है उधर उसे भगवान् ही भगवान् दीखता है। भक्त कहता है कि लोग कहते हैं उन्हें भगवान् कहीं दीखता नहीं, परन्तु उसे तो सूर्य-चन्द्र में, नदी-पहाड़ में, पृथ्वी-आकाश में, पशु-मनुष्य में सब जगह भगवान् ही दीखता है, उसे तो भगवान् के सिवाय कुछ दीखता ही नहीं। ऐसी विद्या जिसमें न दीखनेवाला ही दीखने लगे और दीख रहा संसार आँख से ओझल हो जाय गुह्य-विद्या नहीं तो क्या है?

[कर्मकांडियों तथा भक्तिमार्गियों में भेद]

तीनों वेदों को जाननेवाले, सोम-रस का पान करने वाले, पाप से रहित कर्मकांडी लोग यज्ञों द्वारा मेरी उपासना करते हुए स्वर्ग प्राप्ति की प्रार्थना करते हैं। वे अपने पुण्य-कर्मों को लेकर इन्द्र-लोक में पहुँचते हैं, वहाँ द्युलोक में दिव्य देव-दुर्लभ भोगों को भोगते हैं ॥२०॥

(परन्तु) वे उस विशाल स्वर्ग-लोक का आनन्द भोग लेने के बाद, जब उनका संचित पुण्य क्षीण हो जाता है,

---

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥२०॥

त्रैविद्याः[1]–तीनों वेदों को जानने वाले; **माम्**[4]–मुझको; **सोमपाः**[2]–सोमरस को पीनेवाले; **पूतपापाः**[3]–पापरहित; **यज्ञैः**[5]–यज्ञों द्वारा; **इष्ट्वा**[6]–यजन करके; **स्वर्गतिम्**[7]–स्वर्ग प्राप्ति को; **प्रार्थयन्ते**[8]–प्रार्थना करते हैं, चाहते हैं; **ते**[9]–वे; **पुण्यम्**[10]–पुण्य कर्म को; **आसाद्य**[12]–लेकर; **सुरेन्द्रलोकम्**[11]–इन्द्र लोक में; **अश्नन्ति**[16]–खाते हैं, भोगते हैं; **दिव्यान्**[14]–दिव्य; **दिवि**[13]–स्वर्ग में; **देवभोगान्**[15]–देवों के भोगों को।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

ते[1]–वे; **तम्**[2]–उस; **भुक्त्वा**[5]–भोग करके; **स्वर्गलोकम्**[4]–स्वर्गलोक को; **विशालम्**[3]–विशाल को; **क्षीणे**[7]–क्षीण होने पर;

समाप्त हो जाता है, तब फिर मर्त्य-लोक में आ जाते हैं। इस प्रकार तीनों वेदों की शरण में आनेवाले ये कर्मकांडी लोग कामनाओं की कामना करते रहने के कारण (कामकामाः) जन्म-मरण के चक्कर काटा करते हैं ॥२१॥

(इसके विपरीत) जो लोग अनन्य-भाव से मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, मुझ में रत रहने वाले उन भक्तजनों के 'योग-क्षेम' का भार मैं उठाता हूँ ॥२२॥

'योग-क्षेम' शब्द महत्वपूर्ण है। 'योग' का अर्थ है—जो प्राप्त न हो उसे प्राप्त कर लेना; 'क्षेम' का अर्थ है—प्राप्त हो जाने पर उसे संभाल रखना। जो सारा भार अपने कन्धों पर लादे नहीं फिरते, सारा भार भगवान्-भरोसे डाल छोड़ते हैं, उनके योग-क्षेम की चिंता उन्हें नहीं करनी पड़ती, भगवान् ही उनकी चिंता करते हैं। बाइबल में कहा है : Come unto me that are heavy-laden and I shall give you rest.

पुण्ये[6]—पुण्यों के; **मर्त्यलोकम्**[8]—इस मरणशील संसार में; **विशन्ति**[9]—पहुँचते हैं; **एवम्**[10]—इस प्रकार; **त्रयीधर्मम्**[11]—तीन वेदोक्त धर्म को; **अनुप्रपन्नाः**[12]—शरण में गये हुए; **गतागतम्**[14]—जाने और आने के क्रम को, आवागमन को; **कामकामाः**[13]—कामनाओं की कामना करने वाले; **लभन्ते**—[15]—पाते हैं।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

अनन्याः[2]—अनन्य भाव (भक्ति) वाले; **चिन्तयन्तः**[5]—निरन्तर चिन्तन-परायण; **माम्**[4]—मुझे; **ये**[1]—जो; **जनाः**[3]—लोग; **पर्युपासते**[6]—उपासना करते हैं; **तेषाम्**[7]—उनका; **नित्याभियुक्तानाम्**[8]—नित्य मुझ में रत रहने वालों का; **योगक्षेमम्**[9]—अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति (योग) और प्राप्त वस्तु का रक्षण (क्षेम) को; **वहामि**[11]—वहन करता हूँ, भार उठाता हूँ; **अहम्**[10]—मैं।

[अन्य देवनोपासकों तथा भक्तिमार्गियों में भेद]

हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन ! जो भक्त अन्य देवताओं की भी श्रद्धापूर्वक पूजा करते हैं. वे भी मेरी ही पूजा करते हैं. भले ही उनकी यह पूजा विधिपूर्वक नहीं होती (विधिरहित होने पर भी वे मुझे ही भजते हैं) ।।२३।।

क्योंकि सब यज्ञों का, अर्थात् सब प्रकार की पूजाओं का भोगनेवाला, उनका स्वामी तो मैं ही हूँ । वे लोग मेरे सच्चे स्वरूप को नहीं पहचानते इसलिये गिर जाया करते हैं, विधि-रहित पूजा किया करते हैं ।।२४।।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ।।२३।।

ये[5]–जो; **अपि**[4]–भी; **अन्यदेवताः**[7]–अन्य देवों की; **भक्ताः**[6]–भक्त जन; **यजन्ते**[8]–पूजा करते हैं, संगति करते हैं, दान आदि करते हैं, देवों के निमित्त से ; **श्रद्धया**[2]–श्रद्धा से; **अन्विताः**[3]–ओत-प्रोत हृदय वाले, युक्त; **ते**[9]–वे; **अपि**[10]–भी; **माम्**[11]–मुझको; **एव**[12]–ही; **कौन्तेय**[1]–हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन; **यजन्ति**[14]–पूजा करते हैं; **अविधिपूर्वकम्**[13]–भले ही यह पूजा उनकी विधिपूर्वक नहीं होती ।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनाऽतश्च्यवन्ति ते ।।२४।।

अहम्[7]–मैं; **हि**[1]–क्योंकि; **सर्वयज्ञानाम्**[2]–सब यज्ञों का; **भोक्ता**[3]–भोग करने वाला; **च**[4]–और; **प्रभुः**[5]–सामर्थ्यवान्, स्वामी; **एव**[8]–ही; **च**[6]–और; **न**[13]–नहीं; **तु**[9]–परन्तु; **माम्**[11]–मुझ को; **अभिजानन्ति**[14]–पहचानते हैं; **तत्त्वेन**[12]–यथार्थ (सत्य) रूप से; **अतः**[15]–इस कारण से; **च्यवन्ति**[16]–च्युत हो जाया करते हैं, भ्रष्ट हो जाते हैं, श्रेयोमार्ग को छोड़ प्रेयोमार्ग की ओर अग्रसर होते हैं; **ते**[10]–वे ।

देवों की पूजा करने वाले देवों को, पितरों की पूजा करने वाले पितरों को, भूतों की पूजा करने वाले भूतों को और मेरी पूजा करने वाले मुझ को प्राप्त होते हैं ।।२५।।

'देवों' की पूजा का अर्थ 'देवता', 'पितरों' की पूजा का अर्थ मर कर 'पितर' बन जानेवाले तथा 'भूतों' की पूजा का अर्थ 'भूत-प्रेत' समझा जाता है, परन्तु गीता जैसे आध्यात्मिक ग्रन्थ में ये अर्थ ठीक नहीं जँचते। 'देव' का अर्थ इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियों की पूजा करनेवाले, अर्थात् इन्द्रियों के विषयों में रत रहनेवाले लोग विषयों को प्राप्त करते हैं—यह अर्थ है--'देवों की पूजा करनेवाले देवों को प्राप्त होते हैं'—इसका। 'पितर' का अर्थ बुजुर्ग लोग है। पितरों की पूजा करनेवाले, अर्थात् प्राचीन परंपरा में रत रहनेवाले, प्राचीन-संस्कृति का गुण-गान करनेवाले पितरों को प्राप्त करते हैं, प्राचीन-संस्कृति के उपासक बन जाते हैं—यह अर्थ है 'पितरों की पूजा करने-वाले पितरों को प्राप्त होते हैं'—इसका। 'भूत' का अर्थ प्रकृति के पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश आदि तत्व हैं। भूतों की पूजा करनेवाले, अर्थात् भौतिक-जगत् के ज्ञान-विज्ञान के रहस्य की खोज करनेवाले इन विज्ञानों में इतने रम जाते हैं कि इन्हीं का रूप हो जाते हैं। 'देव'-'पितर' 'भूत'--इन तीन के बाद कहा : भगवान् में दिन-रात मस्त रहनेवाले भगवन्मय हो जाते हैं—'**यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्**'—मेरे भक्त मुझमय हो जाते हैं।

[राजविद्या का साधन है--समर्पण]

जो-कोई मुझे भक्ति के साथ पत्ती, फूल, फल या थोड़ा-सा जल भी अर्पित करता है उस प्रयतचित्त अर्थात्

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ।।२५।।

यान्ति[3]–प्राप्त करते हैं; **देवव्रताः**[1]–देवों की पूजा करने वाले; **देवान्**[2]–देवों को; **पितॄन्**[5]–पितरों को; **यान्ति**[6]–प्राप्त करते हैं; **पितृव्रताः**[4]–पितरों की पूजा करने वाले; **भूतानि**[8]–भूतों को; **यान्ति**[9]–प्राप्त करते हैं; **भूतेज्याः**[7]–भूतों की पूजा करने वाले; **यान्ति**[13]–प्राप्त करते हैं; **मद्याजिनः**[10]–मेरी पूजा करने वाले; **अपि**[11]–भी; **माम्**[12]–मुझको ।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ।।२६।।

पत्रम्[1]–पत्ता; **पुष्पम्**[2]–फूल; **फलम्**[3]–फल; **तोयम्**[4]–जल; **यः**[5]–जो; **मे**[6]–मुझे; **भक्त्या**[7]–भक्तिभाव से; **प्रयच्छति**[8]–अर्पित

भक्ति-भाव से कुछ-न-कुछ करने की इच्छा वाले भक्त की भेंट को मैं (प्रसन्नता से) ग्रहण कर लेता हूँ ॥२६॥

कर्मकांड का मार्ग मीमांसकों का मार्ग था। यह यज्ञ-याग का मार्ग था। इसमें बहुत सामग्री जुटानी पड़ती थी। गीता ने 'यज्ञ' का अर्थ ही बदल दिया, इसका अर्थ त्याग तथा समर्पण कर दिया। इस अर्थ में कर्मकांड तथा भक्तिमार्ग का समन्वय हो गया। परन्तु जहाँ तक शुद्ध कर्मकांड का प्रश्न है, शुद्ध यज्ञ का प्रश्न है, वहाँ तक कर्मकांड तथा भक्तिमार्ग में ज़मीन-आसमान का अन्तर है। कर्मकांड में बेतहाशा सामग्री जुटानी पड़ती है, तब स्वर्ग की प्राप्ति होती है, भक्ति-मार्ग में श्रद्धा से अर्पित किया हुआ एक तुलसी-दल भक्त को भगवान् तक पहुँचा देता है क्योंकि भक्ति-मार्ग का कथन है कि भगवान् भाव का भूखा है, पूजा की सामग्री का नहीं। सुदामा के तंडुल श्रीकृष्ण भाव के कारण खाते रहे, तंडुलों के ढेर के कारण नहीं—इसी बात को स्पष्ट करने के लिये यहाँ पत्र, पुष्प, फल की बात कही।

हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन ! तू जो-कुछ करता है, जो-कुछ खाता है, जो-कुछ होम-हवन करता है और जो-कुछ तू दान देता है, जो-कुछ तपस्या करता है, उस सब को मुझे अर्पण करते हुए कर ॥२७॥

जिस राज-विद्या का रहस्य इस अध्याय में खोला गया है वह राज-विद्या यही है। गीता कहती है कि तू यह निश्चय से समझ ले कि जबतक तू अपना बोझ अपने कन्धों पर उठाये फिरेगा तब तक कर्म के बन्धन से नहीं छूटेगा, कर्म करता जा और उसे भगवान् के अर्पण करता जा। जब तू कर्म में से अहंकार की

करता है; **तद्**[11]–वह; **अहम्**[12]–मैं; **भक्त्युपहृतम्**[10]–भक्तिभाव से कुछ न कुछ करने की इच्छा वाले भक्त की भेंट को; **अश्नामि**[13]–ग्रहण करता हूँ; **प्रयतात्मनः**[9]–प्रयतचित्त (इन्द्रियजयी या प्रयत्न-शील) की।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

यत्[2]–जो-कुछ; **करोषि**[3]–करता है; **यत्**[1]–जो-कुछ; **अश्नासि**[5]–खाता है; **यत्**[6]–जो-कुछ; **जुहोषि**[7]–हवन करता है; **ददासि**[9]–दान करता है; **यत्**[8]–जो-कुछ; **यत्**[10]–जो-कुछ; **तपस्यसि**[11]–तप का आचरण करता है; **कौन्तेय**[1]–हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन; **तत्**[12]–उसको; **कुरुष्व**[14]–कर दे; **मदर्पणम्**[13]–मेरे अर्पण।

बुद्धि को हटा लेगा तब वह कर्म तेरा न रह कर भगवान् का हो जायगा। जैसे भगवान् सृष्टि का व्यवहार चलाता हुआ भी उससे उदासीन रहता है, उसमें फँसता नहीं, वैसे तू सब-कुछ करता हुआ भी यह समझकर कि यह तू नहीं कर रहा, जैसे एक भारी मशीन में जड़ा पुर्ज़ा काम करता हुआ भी काम नहीं करता, काम तो बड़ी मशीन ही करती है, वैसे इस ब्रह्मांड का चक्र तू नहीं चला रहा, वह चला रहा है, तू तो उसका पुर्ज़ा है; क्योंकि तू पुर्ज़ा है इसलिए जो-कुछ तू करता है वह अपना किया न समझकर उसी का किया समझ। कर्मों को करते हुए भी उनके बन्धन से मुक्त होने की राज-विद्या का यही रहस्य है।

इस प्रकार बरतने से (कर्म करके भी) कर्मों के शुभ तथा अशुभ फल रूपी बन्धनों से तू मुक्त रहेगा। अपने मन को कर्मों के त्याग के मार्ग (संन्यास-योग) में दृढ़तापूर्वक लगाकर तू मुक्त हो जायगा और 'मामुपैष्यसि'—मुझे पा जायेगा ॥२८॥

मैं सब प्राणियों के लिये एक-सा हूँ। मुझे किसी से न द्वेष है, न प्रेम। जो भक्तिपूर्वक मुझे भजते हैं वे मुझ में हैं और मैं उनमें हूँ ॥२९॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

शुभाशुभफलैः[3]—कर्मों के शुभाशुभ फलों से; **एवम्**[1]—इस प्रकार; **मोक्ष्यसे**[5]—तू मुक्त रहेगा; **कर्मबन्धनैः**[4]—कर्म के फल रूपी बन्धनों से; **संन्यासयोगयुक्तात्मा**[2]—कर्मों के त्याग के मार्ग में अपने मन को दृढ़तापूर्वक लगाने वाला; **विमुक्तः**[6]—विमुक्त हुआ; **माम्**[7]—मुझको; **उपैष्यसि**[8]—पा जायेगा।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाऽप्यहम् ॥२९॥

समः[3]—एक-सा; **अहम्**[1]—मैं; **सर्वभूतेषु**[2]—सब प्राणियों में; **न**[4]—नहीं; **मे**[5]—मेरा; **द्वेष्यः**[6]—द्वेष योग्य, शत्रु; **अस्ति**[7]—है; **न**[8]—नहीं; **प्रियः**[9]—प्रेम-पात्र; **ये**[11]—जो; **भजन्ति**[14]—भजन करते हैं; **तु**[10]—परन्तु; **माम्**[12]—मुझे; **भक्त्या**[13]—भक्तिपूर्वक; **मयि**[16]—मुझ में; **ते**[15]—वे; **तेषु**[20]—उनमें; **च**[17]—और; **अपि**[19]—भी; **अहम्**[18]—मैं।

अगर कोई दुराचारी-से-दुराचारी व्यक्ति भी अनन्य भाव से मुझे भजता है तो उसे साधु ही मानना चाहिये क्योंकि उसने अच्छे (मार्ग पर चलने का) संकल्प कर लिया है ।।३०।।

इस कथन की व्याख्या करते हुए डॉ० राधाकृष्णन लिखते हैं: कर्म पूरी तरह कभी बंधन में नहीं डालता। पतन की निम्नतम गहराइयों में विद्यमान पापी में भी एक ज्योति रहती है जिसे वह बुझा नहीं सकता, भले ही वह उसे बुझाने की कितनी ही कोशिश क्यों न करे और उससे कितना ही विमुख क्यों न हो जाये। भले ही हम पतित हों, फिर भी परमात्मा हमें हमारे अस्तित्व के मूल द्वारा संभाले रहता है और वह सदा अपनी ज्योति की किरणें हमारे अन्धकारपूर्ण और विद्रोही हृदयों में भेजने को उद्यत रहता है। हमारी अपनी अपूर्णता और पाप की अनुभूति ही हमारे हृदयों में विद्यमान भगवान् के दबाव को प्रकट कर देती है।

इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि हमें अपने कर्मों के परिणामों से आसानी से छुटकारा मिल सकता है। हम कारण को अपना कार्य उत्पन्न करने से रोक नहीं सकते। विश्व की व्यवस्था में किसी मनमाने हस्तक्षेप की अनुमति नहीं दी जा सकती। जब कोई पापी अनन्य-भक्ति के साथ परमात्मा की ओर अभिमुख होता है, तब एक नया कारण उपस्थित हो जाता है। उस पापी का उद्धार उसके पश्चात्ताप की शर्त पर आधारित रहता है। पश्चात्ताप हृदय का एक सच्चा परिवर्तन होता है और उसमें अतीत के पाप के लिए मनस्ताप या दुःख और उस पाप की भविष्य में पुनरावृत्ति को रोकने का निश्चय सम्मिलित रहता है। जब एक बार इस संकल्प को अपना लिया जाता है, तब निम्नतर का उच्चतर में रूपान्तर स्थिरतापूर्वक होने लगता है। यदि हम मानवीय प्रयत्न में ही विश्वास रखें, तो उन्नति बहुत कठिन हो सकती है। गलतियों, अपूर्णता पर विजय पाना कठिन है, परन्तु जब आत्मा अपने अहंकार को त्याग देता है और अपने-आप को भगवान् के प्रति खोल देता है, तब सारा भार भगवान् संभाल लेता है और

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।।३०।।

अपि[3]–भी; **चेत्**[1]–यदि; **सुदुराचारः**[2]–बहुत अधिक दुराचारी; **भजते**[6]–भजता है; **माम्**[5]–मुझको; **अनन्यभाक्**[4]–अनन्यभाव से भजन करने वाला; **साधुः**[8]–साधु; **एव**[9]–ही; **सः**[7]–वह; **मन्तव्यः**[10]–मानने योग्य है; **सम्यग्**[13]–अच्छा, शुभ; **व्यवसितः**[14]–संकल्प करने वाला है; **हि**[11]–क्योंकि; **सः**[12]–वह।

आत्मा को आध्यात्मिक-स्तर तक ऊपर उठा लेता है। तुलसीदास का कथन है—'कोयला अपना कालापन तभी त्यागता है जब आग उसके अन्तरतम में प्रविष्ट हो जाती है।'

(जब दुराचारी व्यक्ति अनन्यभाव से मुझे भजता है तब) वह जल्दी ही धर्मात्मा बन जाता है, उसे चिरस्थायी शान्ति प्राप्त हो जाती है। हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन ! तू निश्चित रूप से जान ले—'न मे भक्तः प्रणश्यति'—मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता ॥३१॥

हे अर्जुन ! चाहे कोई नीच कुल में ही उत्पन्न क्यों न हुआ हो, अगर वह मेरी शरण में आ जाता है, चाहे स्त्रियाँ हों, वैश्य हों, शूद्र हों—वे भी परम गति को (मोक्ष को) प्राप्त करते हैं ॥३२॥

इस श्लोक के दो अर्थ किये जाते हैं। एक तो यह कि नीच-कुल के जरायम-पेशा व्यक्ति, स्त्रियाँ, वैश्य तथा शूद्र—ये चारों अगर भगवान् की शरण में आ जाते हैं तो परम गति प्राप्त करते हैं। दूसरा अर्थ यह किया जाता है कि स्त्रियाँ, वैश्य

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

क्षिप्रम्[1]–शीघ्र ही; **भवति**[3]–होता है; **धर्मात्मा**[2]–धर्मात्मा; **शश्वत्**[4]–सदा रहने वाली; **शान्तिम्**[5]–शान्ति को; **निगच्छति**[6]–प्राप्त कर लेता है; **कौन्तेय**[7]–हे कुन्ती-पुत्र; **प्रतिजानीहि**[8]–विश्वास कर, जान ले; **न**[11]–नहीं; **मे**[9]–मेरा; **भक्तः**[10]–भक्त; **प्रणश्यति**[12]–नष्ट होता है ।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

माम्[13]–मेरी शरण में ; **हि**[1]–क्योंकि; **पार्थ**[2]–हे अर्जुन ; **व्यपाश्रित्य**[14]–शरणागत होकर ; **ये**[9]–जो; **अपि**[8]–भी ; **स्युः**[10]–हों; **पापयोनयः**[7]–पाप योनि वाले; **स्त्रियः**[3]–स्त्रियाँ; **वैश्याः**[4]–वैश्य; **तथा**[6]–और; **शूद्राः**[5]–शूद्रजन; **ते**[11]–वे; **अपि**[12]–भी; **यान्ति**[17]–प्राप्त करते हैं; **पराम्**[15]–परम; **गतिम्**[16]–गति को ।

तथा शूद्र—ये तीन नीच-कुल में उत्पन्न होनेवाले अगर भगवान् की शरण में आ जाते हैं तो परम गति प्राप्त करते हैं। इसमें कोई अर्थ भी क्यों न हो, गीताकार का अभिप्राय तो एक ही है, और वह यह कि किसी की कुछ भी स्थिति क्यों न हो, कोई भी लिंग हो, जाति हो, उपजाति हो, अगर वह भगवान् की शरण में आ जाता है तब ऊँच-नीच का भेद नहीं रहता, भगवान् के सम्मुख सब एक हो जाते हैं। कहनेवाले कह सकते हैं कि अगर स्त्रियों, शूद्रों तथा वैश्यों को 'पापयोनि' कहा गया है, तो गीताकार की दृष्टि में इनकी स्थिति पापमय है। गीता जैसा आध्यात्मिक ग्रन्थ जो बार-बार 'समत्व' को अपना लक्ष्य बना कर चल रहा है इस प्रकार की बात कहे—यह असंगत है, इसलिए यह मानना ग़लत है कि 'पापयोनि'-शब्द स्त्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों का विशेषण है। इसमें सन्देह नहीं कि गीताकार के समय स्त्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों की सामाजिक स्थिति ब्राह्मणों से नीची थी, उसी सामाजिक-अवस्था का यहाँ उल्लेख-मात्र किया है, उस सामाजिक-स्थिति को यहाँ मान्यता नहीं दी गई।

(जब नीच कुल में उत्पन्न व्यक्ति भगवान् की शरण में आ आने से परम गति को प्राप्त करते हैं) तब पुण्यवान् ब्राह्मणों और भक्त राजर्षियों की तो बात ही क्या? यह संसार अनित्य है, दुःखपूर्ण है, (ऐसे अनित्य तथा दुःख-पूर्ण) संसार को पाकर (तेरा कल्याण इसी में है कि) तू मेरा भजन कर ।।३३।।

मुझ में मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरी पूजा कर,

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ।।३३।।

किम्[2]—क्या; **पुनः**[1]—फिर से कहना ही क्या; **ब्राह्मणाः**[4]—ब्राह्मण जन; **पुण्याः**[3]—पुण्यकर्मों से युक्त; **भक्ताः**[7]—भक्त जन; **राजर्षयः**[6]—राजर्षि; **तथा**[5]—और; **अनित्यम्**[9]—न रहने वाला; **असुखम्**[8]—सुख से विहीन; **लोकम्**[11]—लोक को; **इमम्**—[10]—इसको; **प्राप्य**[12]—प्राप्त करके; **भजस्व**[14]—भजन कर; **माम्**[13]— मुझको।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ।।३४।।

मन्मनाः[1]—मुझ में मन लगाने वाला; **भव**[4]—हो, बन; **मद्भक्तः**[2]—मेरा भक्त; **मद्याजी**[3]—मेरी पूजा करने वाला; **माम्**[5]—मुझे; **नमस्कुरु**[6]—

मुझे प्रणाम कर, इस प्रकार से अपने को मेरे साथ जोड़कर, 'मत्परायण' होकर तू मुझे ही पावेगा ॥३४॥

* श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् में जिस ब्रह्मविद्या का वर्णन किया गया, उसके अन्तर्गत जो योग-शास्त्र है, उसमें जो कृष्णार्जुन-संवाद है, उस संवाद का 'राजविद्या-राजगुह्य'-नामक नवम अध्याय समाप्त हुआ।

उपसंहार

नवम अध्याय के संबंध में श्री विनोबा, श्री अरविंद तथा डॉ० राधाकृष्णन के विचार अत्यन्त मनन करने योग्य हैं। हम इनके विचारों का यहाँ संक्षिप्त परिचय देंगे।

१. श्री विनोबा के विचार

विनोबा ने लिखा है कि इस अध्याय में हरि-नाम की अपूर्व महिमा बताई गई है। यह अध्याय गीता के मध्य-भाग में खड़ा है। सारे महाभारत के मध्य गीता और गीता के मध्य यह नौवाँ अध्याय। कहते हैं कि ज्ञानदेव ने जब अंतिम समाधि ली, तो उन्होंने इस अध्याय का जप करते हुए प्राण छोड़ा था।

(क) **प्रत्यक्ष ब्रह्म**—इस अध्याय का इतना महत्व क्यों है? भगवान् कहते हैं: अर्जुन! तुझे ऐसा धर्म देता हूँ जिसका तुझे प्रत्यक्ष अनुभव हो। प्रत्यक्ष अनुभव किस बात का? हम समझते हैं, भगवान् कहीं छिप कर बैठा है, किसी पहाड़ के पीछे, कहीं स्वर्ग लोक में। ऐसी बात नहीं है। भगवान् तो हमेशा हम सब के सामने और सब जगह खड़ा है। ये सभी लोग परमात्मा की ही मूर्तियाँ हैं। भगवान् कहते हैं: 'इस मानव-रूप में प्रकट हरि-मूर्ति का अपमान मत करो भाई'—**'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्'**। ईश्वर ही सब चराचर रूप में प्रकट हो रहा है। वही यज्ञ है, वह स्वाहा, वह स्वधा, वह श्राद्ध, वह तर्पण, वह माता-धाता-पिता-पितामह, वह ओंकार, वह ऋक्-साम-यजु, वह भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृद्, उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, सब का बीज—वही सब-कुछ है। ये सब भगवान् की मूर्तियाँ नहीं तो क्या हैं? ये सब प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं, उस ब्रह्म को ढूँढने कहाँ जाना? आश्चर्य यही है कि जो इतना प्रत्यक्ष है उसी को हम नहीं देख पाते। हर जगह ईश्वर के होते हुए भी किसी को ऊँचा, किसी को नीचा समझते

प्रणाम कर; **माम्**[11]—मुझे; **एव**[12]—ही; **एष्यसि**[13]—पायेगा; **युक्त्वा**[10]—जोड़ कर, भक्ति करके; **एवम्**[7]—ऐसे; **आत्मानम्**[9]—अपने-आप को; **मत्परायणः**[8]—मेरे में ही आश्रित, संलग्न हुआ।

***इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्या-राजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः।**

हैं। गीता कहती है कि हर जगह भगवान् को देखनेवाले के लिए जाति का, लिंग का, ऊँच-नीच का भेद नहीं रहता; भगवान् के दरबार में स्त्री हो, वैश्य हो, शूद्र हो, दुराचारी हो—सब के लिए मोक्ष का द्वार खुला रहता है।

(ख) राज-योग—श्री विनोबा का कहना है कि नवम अध्याय में 'राज-विद्या' के नाम से 'राज-योग' की बात कही गई है। 'राज-योग' क्या है? राज-योग है कर्म-योग तथा भक्ति-योग का मधुर मिलाप। कर्म-योग का अर्थ है, कर्म तो करना, परन्तु फल का त्याग कर देना। कर्म ऐसी खूबी से करो कि फल की वासना चित्त को न छुए। परन्तु क्या कर्म-योग का यह अर्थ है कि कर्म करके फल को फेंक दिया जाय। कर्म किया है तो फल तो मिलेगा ही, उसे फेंका कैसे जा सकता है? भक्ति-योग का अर्थ है, अपने को प्रभु के अर्पण कर देना। कर्म-योग कहता है: कर्म करो, फल छोड़ो। भक्ति-योग कहता है: तुम्हारे पास जो-कुछ हो उसे प्रभु के अर्पण कर दो; राज-योग कहता है: कर्म-योग के फलों को छोड़ो मत, बल्कि उन्हें प्रभु के अर्पण कर दो। इस प्रकार राज-योग में कर्म-योग तथा भक्ति-योग का मधुर मिलन हो जाता है। राज-योग का कहना है कि कर्म-फल तो मिल कर रहेगा, जब कर्म-फल किसी-न-किसी को मिलेगा ही तो उसे भगवान् को ही दे डालो, उसी के अर्पण कर दो। बोया हुआ थोड़ा भी अनन्त-गुणा होकर मिलता है, फेंका हुआ यों ही नष्ट हो जाता है। जो कर्म ईश्वर को अर्पण किया गया, उसे बोया हुआ समझो।

(ग) समर्पण का अर्थ—जो-कुछ हम करें उसे ईश्वरार्पण कर देने से उस कर्म में कुछ और ही सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है। ज्वार का दाना यों कुछ पीलापन और लाली लिये होता है, पर उसी को भूनने से कितनी बढ़िया फूली बन जाती है, मगर वह फूली है उस दाने की ही, इसमें सन्देह नहीं। यह अन्तर केवल अग्नि के कारण हो गया। इसी तरह हमारी किसी छोटी-सी क्रिया पर भी हरि-स्मरणरूपी संस्कार डालने से वह अपूर्व हो जायगी। भावना से मोल बढ़ जाता है। वह गुड़ेल का मामूली-सा फूल, बेल की पत्तियाँ, तुलसी की मंजरी और दूब के तिनके—इन्हें तुच्छ मत मानो, प्रत्येक बात में भगवान् को मिला दो और फिर अनुभव करो, क्या विलक्षणता आ जाती है। 'मत्परः मां नमस्कुरु' का यही अर्थ है कि जो-कुछ कर उसमें भगवान् के नाम की पुट दे दे। इस प्रकार समर्पण की भावना से जो कर्म होगा उसमें फल का त्याग तो होगा, परन्तु वह फल प्रभु को अर्पण किया गया होगा इसलिए उस कर्म का बन्धन नहीं होगा—यही 'राज-योग' है।

समर्पण की भावना से कर्म करने का टालस्टाय ने एक सुन्दर प्रसंग लिखा है। दो मित्र तीर्थ-यात्रा के लिए निकले। रास्ते में अकाल-पीड़ित एक गाँव मिला। एक मित्र तो अकाल-पीड़ितों की सेवा में ही लग गया और पैसे खर्च हो जाने पर यात्रा को न जाकर घर लौट आया। दूसरे मित्र ने तीर्थ-स्थान पर पहुँच कर देखा कि उसका मित्र देवता के समीप ही बैठा है। दुष्काल से ग्रस्त पीड़ितों को जो

सेवा समर्पित की गई वह ईश्वर को पहुँच गई, अतएव तीर्थ-स्थान पर न पहुँच कर भी दूसरा मित्र ईश्वर के अधिक समीप पहुँच गया। हम जो काम करें ईश्वरार्पण-बुद्धि से करें तो प्रभु को अर्पण करने की भावना से वह छोटा-सा काम भी महान् हो जाना है।

२. श्री अरविंद के विचार

(क) **श्री अरविंद का वेदांत तथा सांख्य से मत-भेद**—श्री अरविंद के विचार वेदांत-दर्शन तथा सांख्य-दर्शन से भिन्न हैं। वेदांत का कहना तो यह है कि ब्रह्म सत्य है, वही ब्रह्म अज्ञान से, माया से बँधा हुआ जीव बना हुआ है, जब सत्य-ज्ञान हो जाना है तब जीव मुक्त हो जाता है। इस मुक्ति का रूप ब्रह्म पर से अज्ञान का, माया का पर्दा हट जाना है, अज्ञान के, माया के पर्दे के हटते ही ब्रह्म अपने रूप में आ जाता है, जीव-रूप रहता ही नहीं। सांख्य ब्रह्म का नाम नहीं लेता। उसका कहना है कि पुरुष तथा प्रकृति ये दो तत्व हैं। प्रकृति त्रिगुणात्मक है, पुरुष में सिर्फ़ चैतन्य गुण है, अन्य कोई गुण नहीं। प्रकृति तथा पुरुष के सान्निध्य के कारण प्रकृति के सत्त्व-रज-तम गुणों को पुरुष अपने में समझने लगता है, ठीक ऐसे जैसे मणि के सम्मुख पुष्प लाने से पुष्प मणि में भासने लगता है। सुख-दुःख, शीत-उष्ण, अच्छा-बुरा सब प्रकृति कर रही है, वही कर्ता है, वही भोक्ता है, परन्तु प्रकृति के सान्निध्य के कारण इन सब को पुरुष अपने ऊपर आरोपित करता रहता है, और कर्ता, भोक्ता न होते हुए भी अपने को कर्ता-भोक्ता मानता है। इस सब का कारण अज्ञान है। जब पुरुष अपने को प्रकृति से अलग कर लेता है, तब वह अपने शुद्ध रूप में आ जाता है, तब वह किसी अन्य सत्ता में लीन नहीं हो जाता, परन्तु अकर्ता, अभोक्ता रूप में आ विराजता है, अपने इस शुद्ध रूप में पुरुष के आ जाने को ही सांख्य मुक्ति मानता है।

श्री अरविंद इन दोनों बातों को नहीं मानते। वेदांत तथा सांख्य जिसे 'मुक्ति' (Liberation) कहते हैं, वह मुक्ति श्री अरविंद को मान्य नहीं है। वे कहते हैं कि इस प्रकार की मुक्ति का गीता में वर्णन नहीं है। वेदान्त के अनुसार मुक्ति से जीव की सत्ता ही समाप्त हो जाती है, सांख्य के अनुसार मुक्ति हो जाने पर जीव जड़ की तरह हो जाता है। ये दोनों बातें ठीक जँचनेवाली नहीं हैं। वेदांत तथा सांख्य 'मुक्ति' तक ठहर जाते हैं, श्री अरविंद मुक्ति तक ठहरते नहीं, मुक्ति के आगे चलते हैं। उनका कहना है कि गीता की यही रहस्यमय गुह्य शिक्षा है, जिसका श्रीकृष्ण ने गीता में पिछले आठ अध्यायों में जगह-जगह संकेत किया है, और यहाँ तक इतना अधिक संकेत कर दिया है कि अब नौवें अध्याय में उस रहस्य को खोलने के लिए वे उठ खड़े हुए हैं।

(ख) **मुक्ति तथा रूपान्तरण** (Liberation and Transformation) —श्री अरविंद का कहना है कि गीता ने ब्रह्म की दो प्रकृतियों की चर्चा की है—अपरा तथा परा (७–५)। इनमें 'अपरा' प्रकृति वही प्रकृति है जिसे सांख्य ने

प्रकृति कहा है, इन पाँच तत्वों तथा मन, बुद्धि, अहंकार की अष्टधा प्रकृति। 'परा' प्रकृति इनसे परे की उसकी सच्चिदानन्द रूपी प्रकृति है। 'परा' को उपनिषदों में विद्या, अक्षर कहा है, 'अपरा' को अविद्या, क्षर कहा है। श्री अरविंद का कहना है कि पाँच तत्वों तथा मन, बुद्धि, अहंकार वाली अष्टधा प्रकृति को गीता ने ब्रह्म की अपनी ही प्रकृति कहा है, अपने से भिन्न नहीं। इसलिए गीता के दृष्टिकोण से ब्रह्म की ही दो प्रकृतियाँ हैं—एक 'निम्न-प्रकृति' (Lower nature), दूसरी 'उच्च-प्रकृति' (Higher nature)। निम्न-प्रकृति सांख्य की यही त्रिगुणात्मक प्रकृति है, परन्तु यह ब्रह्म से स्वतंत्र नहीं है, यह ब्रह्म की ही प्रकृति है; यह स्वतंत्र चेष्टा नहीं करती, इसकी चेष्टा ब्रह्म के ही कारण है, अपने स्वभाव के कारण नहीं है। गीता ने कहा है: मैं अव्यक्तमूर्ति हूँ, दीखता नहीं हूँ, परन्तु मुझ अव्यक्त ने ही इस व्यक्त का विस्तार किया है। 'अव्यक्त'-शब्द सांख्य-दर्शन का है। उस दर्शन में 'अव्यक्त'-शब्द त्रिगुणात्मक प्रकृति के लिए प्रयुक्त होता है। गीता ने उसी 'अव्यक्त'-शब्द का ९वें अध्याय के ४थे श्लोक में ब्रह्म के लिए प्रयोग किया है। गीता का कहना है कि ब्रह्म 'अव्यक्त' है, और उस ही ने इस व्यक्त जगत् का विस्तार किया है। इसी अध्याय के १०वें श्लोक में कहा है: प्रकृति इस चराचर जगत् का प्रसव करती है, परन्तु स्वतंत्र नहीं करती, मैं ही इसका अध्यक्ष हूँ, क्योंकि मैं इसका अध्यक्ष होकर बैठा हूँ इसलिए यह संसार गति कर रहा है। श्री अरविंद कहते हैं कि गीता के कथनानुसार ब्रह्म की जो ये दो प्रकृतियाँ हैं—एक 'उच्च' तथा दूसरी 'निम्न', इनमें से जीव का संपर्क निम्न से हो रहा है, उच्च से नहीं हो रहा। निम्न प्रकृति में अहंकार बैठा हुआ है, उसी अहंकार के कारण ब्रह्म की निम्न-प्रकृति के सत्व, रज, तम गुण जीव में प्रतिबिंबित हो रहे हैं। अहंकार को नष्ट कर दिया जाय तभी तो निम्न-प्रकृति तथा जीव का संबंध टूट सकता है। अहंकार ही तो इन दोनों को जोड़े हुए है। अहंकार का अर्थ है—मैं-पना, ममत्व। गीता का कहना है कि इस 'मैं-पने' को, 'ममत्व' को नष्ट कर दो तो निम्न-प्रकृति का तथा जीव का संबंध टूट जायगा और जीव 'मुक्त' हो जायेगा। इस प्रकार की मुक्ति तक तो सांख्य भी गीता की ही बात कहता है, परन्तु गीता यहीं तक रुक नहीं जाती।

गीता का कहना है कि ब्रह्म के दो रूप हैं—'स्थिर' (Static) तथा 'क्रियाशील' (Dynamic), निर्गुण तथा सगुण। जब जीव अपने को निम्न-प्रकृति से अलग कर लेता है तब मुक्ति तो हो जाती है, परन्तु यह मुक्ति, अपने को प्रकृति से अलग कर लेना, ब्रह्म की 'क्रियाशीलता' (Dynamism) का ही तो परिणाम है। ब्रह्म की यह 'क्रियाशीलता' जीव तथा प्रकृति के एक-दूसरे से अलग हो जाने पर रुक नहीं जाती, यह 'क्रियाशीलता' तो ब्रह्म का स्वाभाविक गुण है। परिणाम यह होता है कि जहाँ जीव अब तक अष्टधा प्रकृति के संपर्क में था वहाँ उधर से मुँह फेर कर, उधर से मुड़कर, यह ब्रह्म की 'उच्च-प्रकृति' (Higher nature) के संपर्क में आ जाता है और इसका ऊर्ध्वमुखी विकास

होने लगता है, यह 'अतिमानस' के संपर्क में आने लगता है। अबतक जीव की 'मुक्ति' (Liberation) की प्रक्रिया चल रही थी, इस मुक्ति के बाद वेदांत तथा सांख्य तो चुप होकर बैठ गये, परन्तु गीता जीव को प्रकृति से मुक्त करके शान्त होकर नहीं बैठती, वह जीव को ब्रह्म की 'उच्च-प्रकृति' से जोड़ने लगती है, जीव का 'रूपान्तरण' (Transformation) करने लगती है।

(ग) **यह रूपान्तरण ही राज-विद्या है, रहस्य है**—जीव का 'निम्न-प्रकृति' (Lower nature) से अपने को अलग करके 'उच्च-प्रकृति' (Higher nature) के साथ अपने को जोड़ लेना—इसमें दो बातें आ जाती हैं। 'निम्न-प्रकृति' से संबंध-विच्छेद तो 'मुक्ति' (Liberation) है, परन्तु क्योंकि ब्रह्म में 'क्रियाशीलता' है इसलिए उस क्रियाशीलता को आगे चलाते जाना ब्रह्म का 'कर्म' (Action) है। 'मुक्ति' के साथ 'कर्म' शान्त नहीं हो जाता। वेदांत तथा सांख्य 'मुक्ति' के होते ही 'कर्म' को भी मुक्त हुआ, शान्त हुआ मान लेते हैं, गीता का कहना यह नहीं है। 'मुक्ति' तो सिर्फ़ निम्न-प्रकृति से छूट जाने का नाम है, यह तो सिर्फ़ 'निषेधात्मक' (Negative) क्रिया है, ब्रह्म क्योंकि क्रियाशील है, अतः अत्यावश्यक निषेधात्मक क्रिया के बाद 'विध्यात्मक' (Positive) क्रिया प्रारंभ होती है। वह क्रिया 'अतिमानस' के अवतरण की है जिसकी चर्चा हम विस्तार से ४थे अध्याय में कर आये हैं। इस विध्यात्मक-क्रिया में क्या होता है? इसमें सब जगह ब्रह्म की ही सत्ता का अनुभव होता है, यह अनुभव होता है कि जो-कुछ है ब्रह्म ही है। गीता कहती है: मैं ही यज्ञ हूँ, मैं ही पितर हूँ, मैं ही अग्नि हूँ, मैं ही आहुति हूँ, मैं ही पिता हूँ, मैं ही माता हूँ, मैं ही पितामह हूँ, मैं ही ऋक्-साम-यजु हूँ, मैं ही धाता हूँ, कर्ता हूँ, धर्ता हूँ, निवास हूँ, शरण हूँ, मुझे ही लोग नाना रूपों से भजते हैं, जिस किसी को भजते हैं भिन्न-भिन्न नामों से मुझे ही भजते हैं। हे अर्जुन! जब संसार की सत्ता मैं ही हूँ, तुझे जो यह प्रकृति दीख रही है यह भी मैं ही हूँ, मैं हाथ खींच लूं तो यह मट्टी-की-मट्टी है, मैं अध्यक्ष होकर बैठा हूँ तभी तो यह संसार गतिमान् हो रहा है, लोग कहते हैं मैं दीखता नहीं, परन्तु जब सब-कुछ मैं-ही-मैं हूँ तब समझ ले कि जो दीखता है वह मैं ही दीखता हूँ, ऐसी हालत में तू इस प्रकृति के सम्मुख हाथ जोड़ कर खड़ा होने के स्थान में, प्रकृति की पूजा करने के स्थान में मुझे नमस्कार कर, मेरी पूजा कर, मुझ में मन लगा, मेरी तरफ़ आ।

गीता ने जिस गुह्य-रहस्य का उद्घाटन किया है वह यही है। हम समझते हैं कि हमें प्रकृति का जगत् दीख रहा है, भगवान् दीख ही नहीं रहा; गीता के भगवान् कहते हैं कि तुझे जो दीख रहा है वह मैं ही दीख रहा हूँ, इस प्रकृति में से मैं अपने को खींच लूं तो प्रकृति है कहाँ? क्या इससे बड़ा कोई रहस्य हो सकता है कि जिसे हम देख रहे हों उसे कुछ-का-कुछ समझ रहे हों? गीता ने जब आँख खोल कर दिखा दिया कि सब जगह प्रभु-ही-प्रभु है तभी तो बार-बार कहा: **'मन्मना भव', 'मां नमस्कुरु', 'मामेकं शरणं व्रज'**—बाह्य संसार की तरफ़ जाने

के स्थान में मेरी तरफ़ आ, विषयों को नमस्कार करने के स्थान में मुझे नमस्कार कर, संसार के विषयों में आनन्द तथा शान्ति ढूंढने के स्थान में मेरी शरण में आ, जब मैं ही सत्य हूँ, तब तेरे दुःखों को मैं ही दूर करूँगा, यह बाह्य-संसार नहीं।

३. श्री डॉ० राधाकृष्णन के विचार

गीता में जगह-जगह श्रीकृष्ण ने अपने को भगवान् कहा है। इस अध्याय में भी श्रीकृष्ण कहते हैं कि मुझे नमस्कार कर, मेरी शरण में आ। इस संबंध में अवतारवादी तो यही मानते हैं कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् थे, भगवान् के रूप में ही उन्होंने अर्जुन को उपदेश दिया। वास्तविक तथ्य यह है कि गीता वेद-व्यास महर्षि की लिखी हुई है, और गीता में जो-कुछ कहा गया है वह महर्षि वेदव्यास ने श्रीकृष्ण के मुख से कहलवाया है। वेदव्यास ने श्रीकृष्ण को भगवान् के स्थान में बैठा दिया है—इसमें सन्देह नहीं, परन्तु स्वतंत्र विचारक इस बात को भी किस रूप में स्वीकार करते हैं—यह जानना आवश्यक है।

डॉ० राधाकृष्णन आध्यात्मिक-चिंतन करनेवालों में मुख्य स्थान रखते हैं। गीता के इस स्थल की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं: अपने मन को मुझ में स्थिर कर; मेरा भक्त बन; मेरी पूजा कर; मुझे प्रणाम कर—यह कथन व्यक्तिरूप कृष्ण का नहीं है, जिसके प्रति हमें अपने-आप को पूरी तरह समर्पित कर देना है, अपितु अजन्मा, अनादि और नित्य ब्रह्म है, जो कृष्ण के मुँह से बोल रहा है। हमारी सम्मति में डॉ० राधाकृष्णन का यह विचार अत्यन्त युक्तिसंगत है। इस विचार को सम्मुख रख कर गीता का अध्ययन करते हुए जहाँ 'भगवान् ने कहा'—ये शब्द आये हैं उनका यही अर्थ समझना चाहिए कि श्रीकृष्ण ने भगवान् के अभिप्राय को इस प्रकार प्रकट किया, ठीक इस प्रकार जैसे महर्षि वेदव्यास ने अपनी बात को अपने नाम से न कहते हुए श्रीकृष्ण के नाम से कह दिया।

दसवाँ अध्याय
विभूति-योग

पिछले अध्याय में राज-विद्या का वर्णन किया गया, उस विद्या का जो सब विद्याओं की राजा है, मूर्धन्य है। इस विद्या का रहस्य यह था कि भगवान् कहीं छिप कर नहीं बैठा, भगवान् हमारे सामने है, प्रत्यक्ष है, जो-कुछ दीखता है वह ब्रह्म का ही रूप है। हम कहते हैं—अमुक व्यक्ति सुन्दर है, अमुक वस्तु मीठी है। सौन्दर्य को, मिठास को हम अलग-से नहीं देख सकते, व्यक्ति में सौन्दर्य दीखता है, वस्तु में मिठास अनुभव होती है, इसी तरह संसार की हर महान् वस्तु में ब्रह्म के दर्शन होते हैं। सब से बड़ा रहस्य—राज-विद्या—सब से बड़ा गहन रहस्य—राज-गुह्य—यही है कि हम उसे नदी में, पहाड़ में, सूर्य में, चन्द्र में, सब जगह देखते हुए भी कहते हैं कि हम उसे नहीं देखते। गीता ने कहा कि यह भौतिक-जगत् तो उसी का अपने ऊपर ओढ़ा हुआ पर्दा है, इसी की ओट में वह बैठा है, हिमालय-गंगा-जमुना उसी के रूप हैं, सब उसी से प्रवाहित हो रहा है, वह है तभी सब-कुछ है, वह न हो, तो कुछ नहीं है, सब का उसी में वास है—**'मत्स्थानि सर्वभूतानि'**—परन्तु यह सब होते हुए भी वह इस सब से ऊपर है, परे है। यह भ्रम है कि यह संसार अपने-आप में टिक सकता है; प्रकृति में अपनी कोई शक्ति नहीं, उसी की शक्ति से यह शक्तिमान् हो रही है। जैसे हम देख रहे हैं कि वह इस जगत् के अणु-अणु में व्याप रहा है, उसका संचालन कर रहा है, संचालन करता हुआ भी वह इस जगत् में लिप्त नहीं है, ठीक इसी तरह सब कर्म करते हुए कर्मों से लिप्त न होना—यही गीता का महान् उपदेश है।

नौवें अध्याय की इसी स्थापना को—भगवान् ही सब का मूल है, उसी से सब प्रवाहित हो रहा है, वही लोकों का महेश्वर है, उसी के प्रति हमें सब-कुछ समर्पण करना है, यह जो-कुछ दीख रहा है वह सब भगवान् का ही रूप है, उसी की विभूति है—इस स्थापना को दसवें अध्याय में दोहराते हुए गीता में कहा है कि भगवान् ही अज है, अव्यय है, अनादि है, महेश्वर है, उस ही से इस सृष्टि का उद्गम है, जो-कुछ दीखता है उसका वही आदि-कारण है। दीखता तो यह भौतिक, स्थूल संसार है, प्रत्यक्ष दीखने के कारण इसी को हम विश्व का मूल कारण समझते हैं, परन्तु यही तो भगवान् की विभूति है, यही उसकी योग-माया है, जो दीखता नहीं वही कारण है, जो दीखता है वह कारण नहीं है। भगवान् नहीं दीखता—उसे देखना होगा, संसार दीखता है—उसे भूलना होगा। भगवान् की इसी विलक्षण विभूति का इस में वर्णन है।

[भगवान् की अन्तर्यामिता और लोकातीतता]

श्री भगवान् ने कहा : हे महाबाहु ! तू मेरे परम वचन को एक बार फिर सुन। मैं तेरे हित की कामना से यह सब बता रहा हूँ क्योंकि तू मेरी बातों से प्रीयमाण हो रहा है, प्रसन्न हो रहा है ॥१॥

मेरे उद्गम को न देव गण जानते हैं, न महर्षि लोग ही जानते हैं, क्योंकि मैं तो देवगणों और महर्षि लोगों का भी सब प्रकार से आदि कारण हूँ ॥२॥

देव-गण भगवान् के उद्गम को नहीं जानते—यह बात ऋग्वेद १०.१२९.६ के मन्त्र का अनुवाद है। वहाँ कहा है : '**अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेन अथ को वेद यत आ बभूव**'—अर्थात्, देवगण इसके बनने के पश्चात् बने हैं, फिर कौन जानता है यह सृष्टि किससे पैदा हुई ?

जो-कोई मुझे 'अज', 'अनादि' और लोकों का 'महेश्वर'

श्री भगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥

भूयः[2]–फिर; **एव**[3]–ही; **महाबाहो**[1]–हे महाबाहु; **शृणु**[7]–सुन; **मे**[4]–मेरे; **परमम्**[5]–उत्कृष्ट; **वचः**[6]–वचन को; **यत्**[8]–जो, कि; **ते**[10]–तुझे; **अहम्**[9]–मैं; **प्रीयमाणाय**[11]–तुझको जो मुझ में आनन्द ले रहा है; **हितकाम्यया**[12]–तेरे हित की कामना से; **वक्ष्यामि**[13]–कहूँगा।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥२॥

न[3]–नहीं; **मे**[1]–मुझे; **विदुः**[5]–जानते हैं; **सुरगणाः**[4]–देवगण; **प्रभवम्**[2]–उद्गम को; **न**[6]–नहीं; **महर्षयः**[7]–महर्षि लोग; **अहम्**[9]–मैं; **हि**[8]–क्योंकि; **आदिः**[14]–आदि कारण; **देवानाम्**[11]–देवगणों का; **महर्षीणाम्**[13]–महर्षियों का; **च**[12]–और; **सर्वशः**[10]–सब प्रकार से।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥

यः[1]–जो; **माम्**[8]–मुझको; **अजम्**[3]–न उत्पन्न होने वाला; **अनादिम्**[4]–जिसका प्रारम्भ न हो; **च**[5]–और; **वेत्ति**[7]–जानता

जानता है, मनुष्यों में वह मोह-रहित है, और सब पापों से मुक्त हो जाता है ॥३॥

दूसरे श्लोक में कहा था कि मैं सब का 'आदि' हूँ, परन्तु सब का 'आदि' होते हुए स्वयं भगवान् 'अनादि' है—इसी बात को तीसरे श्लोक में स्पष्ट किया। वह सब का 'आदि' है, परन्तु स्वयं 'अनादि' है। 'अनादि' है—अर्थात् दूसरों का तो वह आदि है, परन्तु उसका कोई 'आदि' नहीं; इसी बात को 'अज'-शब्द से स्पष्ट किया है; 'अनादि'—अर्थात्, 'अज' या 'अजन्मा'। जब वह सब का आदि है, स्वयं उसका जन्म नहीं, तब वह इन लोकों का 'महेश्वर' ही तो है! इस संसार के अणु-अणु में व्याप्त होकर, इसमें प्राण फूंक कर, इससे वह अपने को अलग करके बैठा है—इस रहस्य को जो जान जाता है वह भ्रम से छूट जाता है, 'असंमूढ' हो जाता है, भगवान् की तरह वह भी सब-कुछ करता हुआ कुछ नहीं करता, संसार में रहता हुआ भी इसमें नहीं रहता, लिप्त नहीं होता। ऐसा व्यक्ति पाप से छूट जाय तो आश्चर्य ही क्या ?

(वह 'लोकों' का 'महेश्वर' है, 'लोक' तो स्थूल भौतिक पदार्थ हैं, 'व्यक्त' हैं; इनका ही नहीं, वह सूक्ष्म, अभौतिक, भावात्मक, अव्यक्त भावों का—मानस-तत्वों का भी 'महेश्वर' है।) बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम,

---

है; **लोकमहेश्वरम्**[6]—लोकों का महेश्वर; **असंमूढः**[10]—मोह-रहित; **सः**[8]—वह; **मर्त्येषु**[9]—मरणधर्मवाले मनुष्यों में; **सर्वपापैः**[11]—सब पापों से; **प्रमुच्यते**[12]—छुटकारा पा लेता है।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाऽभयमेव च ॥४॥

बुद्धिः[1]—बुद्धि; **ज्ञानम्**[2]—सदसद्-विवेक; **असंमोहः**[3]—मोह विशेष का न होना; **क्षमा**[4]—शान्ति, तितिक्षा; **सत्यम्**[5]—अनृत रहित नित्य स्थावर सत्य कहलाता है; **दमः**[6]—इन्द्रियों का इन्द्रियों के विषयों से हटाना दम कहलाता है; **शमः**[7]—इन्द्रियों के उग्र दर्शन-स्पर्शनादि विषयों का शमन; **सुखम्**[8]—जो 'सुहितं स्वेभ्य इन्द्रियेभ्यः'—इन्द्रियों को सुखकर हो; **दुःखम्**[9]—जो इन्द्रियों को दुःखकर हो उसे दुःख कहते हैं; **भवः**[10]—'भू सत्तायाम्' किसी का अस्तित्व जो पैदा होने पर प्रकट होता है; **अभावः**[12]—किसी का न होना; **भयम्**[13]—भय; **च**[11]—और; **अभयम्**[15]—निर्भयता; **एव**[16]—ही; **च**[14]—और।

शम, सुख, दुःख, भव, अभाव, भय, अभय, अहिंसा समता, सन्तोष, तप, दान, यश, अपयश--प्राणियों की ये सब भिन्न-भिन्न दशाएँ मुझ से ही उत्पन्न होती हैं ॥४-५॥

पुराने सात महर्षि और चार मनु मेरे मानस-भाव हैं, और उन्हीं से इस लोक में ये सब प्राणी उत्पन्न हुए हैं ॥६॥

संसार में जो-कुछ है उसका उद्‌गम भगवान् से है, सब-कुछ उसी की विभूति है—इस विचार को आगे विस्तार से कहना है। उसकी भूमिका बाँधते हुए ४–५–६ श्लोकों में कहा कि बुद्धि आदि सूक्ष्म तत्व तथा महर्षि-मनु आदि स्थूल मानव सब भगवान् से उत्पन्न हुए हैं, भगवान् की ही ये विभूतियाँ हैं। ये सूक्ष्म तथा स्थूल विभूतियाँ क्या हैं ?

(क) **सूक्ष्म-विभूतियाँ**—बुद्धि, ज्ञान आदि २० सूक्ष्म-तत्व यहाँ गिनाये हैं। इन्हें गीता ने 'भाव' कहा है। 'भाव' का अर्थ है—'भवति इति भावः'—जो हो रहा है, 'भूयमान' (Becoming) प्रक्रिया में से चल रहा है। संसार में ये प्रक्रियायें हो रही हैं, चल रही हैं—इसलिए ये 'भाव' हैं। संसार में बुद्धि काम करती दीखती है, ज्ञान विकसमान दीखता है, सत्य अपने को प्रकट कर रहा है। ये जो प्रक्रियायें हो रही हैं, —'भूतानां भावाः भवन्ति'—सब प्राणियों के अन्तःकरण में भिन्न-भिन्न प्रकार की मानसिक प्रक्रियाएँ हो रही हैं, इन सबका उद्‌गम-स्थान, प्रेरणा-स्रोत वही भगवान् है, ये सब उसी की विभूतियाँ हैं—

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥

अहिंसा[1]–हिंसा न करना; **समता**[2]–समत्व की भावना; **तुष्टिः**[3]–सन्तोष; **तपः**[4]–तप; **दानम्**[4]–सर्वस्व देने की भावना; **यशः**[6]–यश; **अयशः**[7]–अपयश; **भवन्ति**[13]–होते हैं; **भावाः**[10]–भावनाएँ, दशाएँ; **भूतानाम्**[8]–प्राणियों की; **मत्तः**[11]–मेरे से; **एव**[12]–ही; **पृथग्विधाः**[9]–विभिन्न प्रकार की।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमा प्रजाः ॥६॥

महर्षयः[2]–महर्षिगण; **सप्त**[1]–सात; **पूर्वे**[4]–पुराने; **चत्वारः**[3]–चार; **मनवः**[6]–मनु; **तथा**[5]–और; **मद्भावाः**[7]–मेरे में भाव वाले; **मानसाः**[8]–मन से (संकल्प से) उत्पन्न; **जाताः**[9]–उत्पन्न हुए हैं; **येषाम्**[10]–जिनका; **लोके**[11]–लोक में; **इमाः**[12]–ये; **प्रजाः**[13]–प्राणी हैं।

इनमें उसी के प्रत्यक्ष दर्शन करो। हम कहते हैं, भगवान् दीखता नहीं, फिर उसे कैसे देखें? गीता कहती है, बुद्धि, ज्ञान, क्षमा, सत्य, दम, शम आदि—बीसों तत्त्व नहीं दीखते, परन्तु न दीखते हुए भी मूर्ख-से-मूर्ख इन्हें देखते हैं; इन्हें देखा तो समझो भगवान् को ही देखा।

इन सूक्ष्म विभूतियों का यह अर्थ नहीं है कि ये इतनी ही हैं, बीस ही हैं। ये तो कुछ गिना दी हैं, संसार में असंख्य सूक्ष्म-तत्व हैं, सभी सूक्ष्म-तत्व भगवान् की विभूतियाँ हैं। विभूति सिर्फ़ भावात्मक ही नहीं होती, अभावात्मक भी होती है। गीता ने जहाँ १६ भावात्मक सूक्ष्म विभूतियों का परिगणन किया है वहाँ ४ अभावात्मक सूक्ष्म विभूतियों का भी परिगणन किया है। अभावात्मक विभूतियाँ हैं—सुख-दुःख, भव-अभाव, भय-अभय, यश-अयश। इन्हीं के उदाहरण से बुद्धि के साथ अबुद्धि, ज्ञान के साथ अज्ञान आदि की भी कल्पना कर लेनी चाहिए। गीता का तात्पर्य यह है कि जितने भी सूक्ष्म भावात्मक तथा अभावात्मक तत्व हैं, इन सब को हम न देखते हुए भी देखते हैं, इन सबका उद्गम वही न दीखनेवाला भगवान् है, इन न दीखनेवालों को देख लिया तो उस न दीखनेवाले को भी देख लिया क्योंकि ये सब 'प्रक्रियाएँ'—'भाव'—उसी में से उठ रही हैं।

(ख) **स्थूल विभूतियाँ**—सृष्टि के आदि में सात महर्षि हुए, चार मनु हुए, ऐसा पुराणों आदि में कथानक प्रसिद्ध है। सृष्टि के आदि में कोई-न-कोई तो हुए, नहीं तो यह सारी स्थूल सृष्टि कहाँ से चल पड़ी। जो-कोई भी आदि सृष्टि में स्थूल-रूप से हुए, जिनसे आगे ये सब प्राणी उत्पन्न हुए, वे सब भगवान् के 'मानस-भाव' हैं—'**मद्भावा मानसा जाताः**'। वे सब भगवान् के 'मानस-भाव' हैं—इसका क्या अर्थ हुआ? इसका यह अर्थ हुआ कि जैसे बुद्धि, ज्ञान, क्षमा, सत्य, आदि सूक्ष्म-तत्व भगवान् के ही 'मानस-भाव' हैं, वैसे संसार के स्थूल-प्राणी भी भगवान् के ही 'मानस-भाव' हैं, उसी के संकल्पमात्र हैं, उसी के संकल्प से उत्पन्न हुए हैं।

जो-कोई मेरी इस 'विभूति' को और 'योग-शक्ति' को तत्व रूप में जान जाता है, वह अविचल योग से युक्त हो जाता है—इसमें कोई संशय नहीं है ॥७॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

एताम्[2]–इस; **विभूतिम्**[4]–विभूति को; **योगम्**[6]–योगशक्ति को; **च**[5]–और; **मम**[3]–मेरे; **यः**[1]–जो; **वेत्ति**[8]–जानता है; **तत्त्वतः**[7]–तत्त्व रूप से, यथार्थता से; **सः**[9]–वह; **अविकम्पेन**[10]–अविचल;

[भक्ति-योग तथा ज्ञान-योग]

मैं सब की उत्पत्ति का कारण हूँ और मुझ से ही सारी सृष्टि प्रवृत्त होती है—इस बात को जानकर बुद्धिमान् लोग भावपूर्वक मुझे भजते हैं ॥८॥

मुझ में चित्त लगाकर, मेरे प्रति अपने प्राणों को अर्पण करके, एक-दूसरे को उद्बुद्ध करते हुए, नित्य मेरा ही कीर्तन करते हुए वे संतोष से भरपूर तथा आनन्द में रमते रहते हैं ॥९॥

जो लोग इस प्रकार निरन्तर प्रेमपूर्वक मेरे भजन में लगे रहते हैं उन्हें मैं बुद्धि भी ऐसी प्रदान करता हूँ जिसके द्वारा वे मेरे पास ही पहुँच जाते हैं ॥१०॥

योगेन[11]–योग से; **युज्यते**[12]–युक्त हो जाता है; **न**[15]–नहीं; **अत्र**[13]–यहाँ, इसमें; **संशयः**[14]–शङ्का।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥

अहम्[1]–मैं; **सर्वस्य**[2]–सबका; **प्रभवः**[3]–उत्पत्ति-कारण; **मत्तः**[4]–मुझ से; **सर्वम्**[5]–सब सृष्टि; **प्रवर्तते**[6]–प्रवृत्त होती है; **इति**[7]–इस प्रकार; **मत्वा**[8]–मानकर; **भजन्ते**[12]–भजते हैं; **माम्**[11]–मुझको; **बुधाः**[10]–बुद्धिमान् लोग; **भावसमन्विताः**[9]–भावना से युक्त।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९॥

मच्चित्ताः[1]–मुझ में चित्त लगाने वाले; **मद्गतप्राणाः**[2]–मेरे प्रति अपने प्राणों को अर्पण करने वाले; **बोधयन्तः**[5]–उद्बुद्ध करते हुए; **परस्परम्**[4]–एक दूसरे को; **कथयन्तः**[8]–कीर्तन करते हुए; **च**[6]–और; **माम्**[7]–मुझको; **नित्यम्**[3]–नित्य; **तुष्यन्ति**[10]–सन्तोष से आप्लावित होते हैं; **च**[9]–और; **रमन्ति**[12]–रमते हैं; **च**[11]–और।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

तेषाम्[1]–उनका; **सततयुक्तानाम्**[2]–निरन्तर मुझ से योग करते

जो सदा भगवान् के भजन में लगे रहते हैं उनका 'बुद्धि-योग' भी ऐसा हो जाता है जिससे भक्ति-योग द्वारा ही वे भगवान् का ध्यान नहीं करते, ज्ञान-योग द्वारा भी वे भगवान् का ध्यान करते हैं। गीता का लक्ष्य हर क्षेत्र में समन्वय की आँख खोल देना है, इसमें एकांगी विचार नहीं है, इसलिए भक्ति-योग की बात करते-करते यहाँ ज्ञान-योग की बात कह दी।

(जो लोग निरन्तर मेरे भजन में लगे रहते हैं) उन पर अनुकम्पा करने के लिये मैं उनके आत्मा के भाव अर्थात् उनकी बुद्धि में, हृदय में स्थित हुआ-हुआ, ज्ञान रूपी प्रकाशमय दीपक से अज्ञान से उत्पन्न होनेवाले अन्धकार को नष्ट कर देता हूँ ॥११॥

[अर्जुन की भगवान् की विभूतियों को जानने की उत्कंठा]

अर्जुन ने कहा—**हे भगवन्! तू परब्रह्म है, परम पवित्र है, शाश्वत दिव्य पुरुष है, आदिदेव है, अज है, विभु है ॥१२॥**

हुए; **भजताम्**[4]–भजन करते हुओं का; **प्रीतिपूर्वकम्**[3]–प्रीति के साथ; **ददामि**[7]–देता हूँ; **बुद्धियोगम्**[6]–बुद्धि-योग, ज्ञान-योग; **तम्**[5]–उसको; **येन**[8]–जिस बुद्धियोग से; **माम्**[10]–मुझको; **उपयान्ति**[11]–समीपता से प्राप्त कर लेते हैं; **ते**[9]–वे।

तेषामेवाऽनुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

तेषाम्[1]–उनकी; **एव**[3]–ही; **अनुकम्पार्थम्**[2]–अनुकम्पा करने के लिये; **अहम्**[4]–मैं; **अज्ञानजम्**[6]–अज्ञान से उत्पन्न; **तमः**[7]–अन्धकार को; **नाशयामि**[10]–नष्ट कर देता हूँ; **आत्मभावस्थः**[5]–उनके आत्मभाव अर्थात् बुद्धि में, हृदय में स्थित हुआ-हुआ; **ज्ञानदीपेन**[9]–ज्ञान रूपी दीपक से; **भास्वता**[8]–प्रकाशमय, प्रदीप्त।

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥

परम्[1]–परम; **ब्रह्म**[2]–ब्रह्म; **परम्**[3]–परम; **धाम**[4]–धाम; **पवित्रम्**[5]–पवित्र; **परमम्**[6]–श्रेष्ठ; **भवान्**[7]–आप; **पुरुषम्**[8]–पुरुष;

समस्त ऋषियों ने, देवर्षि नारद ने, असित ने, देवल ने, व्यास ने, और स्वयं तूने भी मुझे वैसा ही बताया है ॥१३॥

हे केशव ! जो-कुछ तू मुझे कह रहा है इस सबको मैं सत्य मानता हूँ। भगवन् ! तेरे व्यक्तित्व को न देव जानते हैं, न दानव ॥१४॥

हे पुरुषोत्तम ! हे जड़-चेतन के उत्पन्न करने हारे (भूत-भावन), हे जड़-चेतन के स्वामी (भूतेश), हे देवों

शाश्वतम्[9]–हमेशा रहने वाला; **दिव्यम्**[10]–दिव्य; **आदिदेवम्**[11]–आदिदेव; **अजम्**[12]–अजन्मा; **विभुम्**[13]–सर्व-व्यापी को।

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

आहुः[8]–कहते हैं; **त्वाम्**[1]–तुझको; **ऋषयः**[2]–ऋषि लोग; **सर्वे**[3]–सब; **देवर्षिः**[4]–देवर्षि; **नारदः**[5]–नारद; **तथा**–वैसे ही; **असितः**–असित नामक ऋषि; **देवलः**–देवल नामक ऋषि; **व्यासः**[6]–व्यास नामक ऋषि; **स्वयम्**[7]–अपने आप; **च**[9]–और; **एव**[11]–ही; **ब्रवीषि**[12]–तू कहता है; **मे**[10]–मुझे, मेरा।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

सर्वम्[6]–सब को; **एतत्**[5]–इसको; **ऋतम्**[7]–सत्य; **मन्ये**[8]–मानता हूँ; **यत्**[2]–जो-कुछ; **माम्**[3]–मुझे; **वदसि**[4]–कहता है; **केशव**[1]–हे कृष्ण; **न**[13]–नहीं; **हि**[18]–ही; **ते**[10]–तेरा; **भगवन्**[9]–हे भगवन्; **व्यक्तिम्**[12]–व्यक्तित्व को, स्वरूप को; **विदुः**[15]–जानते हैं; **देवाः**[17]–देव लोग; **न**[16]–नहीं; **दानवाः**[14]–दानवगण।

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥

स्वयम्[7]–स्वयं; **एव**[8]–ही; **आत्मना**[9]–आत्मा से, अपने-आप; **आत्मानम्**[10]–आत्मा को, अपने-आप को; **वेत्थ**[11]–जानता है; **त्वम्**[6]–तू; **पुरुषोत्तम**[5]–हे पुरुषों में श्रेष्ठ; **भूतभावन**[1]–हे जड़-चेतन

के देव, हे जगत् के स्वामी, तू स्वयं ही अपने द्वारा अपने-आपको जानता है ॥१५॥

तू अपनी उन सब दिव्य विभूतियों को जिन विभूतियों द्वारा तू इन सब लोकों को व्याप्त करके ठहरा हुआ है मुझे बता ॥१६॥

हे योगिन् ! आपका सदा चिन्तन करते हुए मैं आपको कैसे पहचान सकता हूँ ? हे भगवन् ! किन-किन विविध रूपों में आपका चिन्तन करना चाहिये ॥१७॥

हे जनार्दन ! तू अपनी 'योग-शक्ति' और 'विभूति'

के उत्पन्न करने हारे; **भूतेश**[2]–हे जड़-चेतन के स्वामी; **देवदेव**[3]–हे देवों के देव; **जगत्पते**[4]–हे संसार के पति ।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमाँस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥

वक्तुम्[6]–कहने के लिये; **अर्हसि**[7]–योग्य है; **अशेषेण**[5]–सम्पूर्णतया; **दिव्याः**[3]–दिव्य; **हि**[2]–ही; **आत्मविभूतयः**[4]–अपनी विभूतियाँ; **याभिः**[8]–जिन के द्वारा; **विभूतिभिः**[9]–विभूतियों के द्वारा; **लोकान्**[11]–लोकों को; **इमान्**[10]–इनको; **त्वम्**[1]–तू; **व्याप्य**[12]–व्याप्त करके; **तिष्ठसि**[13]–ठहरता है ।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७॥

कथम्[3]–कैसे; **विद्याम्**[7]–पहचान सकूँ; **अहम्**[2]–मैं; **योगिन्**[1]–हे योगिन्; **त्वाम्**[6]–तुझको; **सदा**[4]–सर्वदा; **परिचिन्तयन्**[5]–चिन्तन करता हुआ; **केषु**[10]–किन; **केषु**[11]–किन; **च**[8]–और; **भावेषु**[12]–भावों में; **चिन्त्यः**[14]–चिन्तन करने योग्य; **असि**[15]–होता है; **भगवन्**[9]–हे भगवन्; **मया**[13]–मेरे द्वारा ।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

विस्तरेण[7]–विस्तारपूर्वक; **आत्मनः**[2]–आत्मा के, अपने; **योगम्**[3]–योग को; **विभूतिम्**[5]–विभूति को; **च**[4]–और; **जनार्दन**[1]–हे

का फिर से विस्तारपूर्वक कथन कर क्योंकि तेरे अमृत-तुल्य वचनों को सुनकर मेरी तृप्ति ही नहीं हो रही ॥१८॥

[भगवान् की विभूतियाँ]

श्री भगवान् ने कहा—**हे कुरु-कुल में श्रेष्ठ अर्जुन! बहुत अच्छा, मैं अब तुझे अपनी दिव्य विभूतियों का रूप बतलाऊँगा, परन्तु यह वर्णन केवल प्रधान विभूतियों का होगा क्योंकि मेरे विस्तार का तो कहीं अन्त नहीं है ॥१९॥**

हे अर्जुन! मैं प्राणियों के हृदय में बैठा हुआ आत्मा हूँ। मैं ही भूतमात्र का आदि, मध्य और अन्त हूँ ॥२०॥

इसी अध्याय के ३२वें श्लोक में भी यही स्थापना दोहराई गई है। वहाँ कहा है: **'सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन'**—हे अर्जुन! सृष्टि का आदि, अन्त, मध्य मैं ही हूँ। यह स्थापना इस प्रकरण की मुख्य स्थापना है। जब कोई गुरु अपना वक्तव्य प्रारंभ करता है तब वह अपने वक्तव्य के आधारभूत सिद्धान्त का,

---

जनार्दन श्रीकृष्ण; **भूयः**[6]—फिर; **कथय**[8]—कह; **तृप्तिः**[13]—संतोष; **हि**[9]—ही, क्योंकि; **शृण्वतः**[11]—सुनते हुए की; **न**[14]—नहीं; **अस्ति**[15]—है; **मे**[12]—मेरी; **अमृतम्**[10]—अमृत-तुल्य वचन को।

श्री भगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

हन्त[2]—अच्छा; **ते**[3]—तुझे; **कथयिष्यामि**[7]—कहूँगा; **दिव्याः**[4]—दिव्य; **हि**[8]—क्योंकि; **आत्मविभूतयः**[5]—अपनी विभूतियाँ; **प्राधान्यतः**[6]—प्रधान रूप से; **कुरुश्रेष्ठ**[1]—हे कुरुवंश में श्रेष्ठ; **न**[12]—नहीं; **अस्ति**[13]—है; **अन्तः**[11]—अन्त; **विस्तरस्य**[10]—विस्तार का; **मे**[9]—मेरा।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

अहम्[2]—मैं; **आत्मा**[4]—आत्मा; **गुडाकेश**[1]—हे अर्जुन; **सर्वभूताशयस्थितः**[3]—सब प्राणियों के हृदय में बैठा हुआ; **अहम्**[12]—मैं; **आदिः**[7]—आदि; **च**[5]—और; **मध्यम्**[8]—मध्य; **च**[9]—और; **भूतानाम्**[6]—प्राणियों का; **अन्तः**[10]—अन्त; **एव**[13]—ही; **च**[11]—और।

अपनी मुख्य स्थापना का सब से पहले प्रतिपादन करता है। विभूतियों का वर्णन करने से पहले गीता ने अपनी यह मुख्य स्थापना कर दी—संसार की हर वस्तु का—जड़-चेतन का—आदि, मध्य, अन्त भगवान् ही है, उसके सिवाय कुछ नहीं। जब वही सब-कुछ है तब यह सब-कुछ उसी का रूप है, उसी की विभूति है। वह अनन्त है, अरूप है, अदृश्य है, परन्तु उस अनन्त को इस सान्त विभूति से, उस अरूप को इस सरूप विभूति से, उस अदृश्य को इस दृश्य विभूति से पकड़ा जा सकता है। ४, ५, ६ श्लोकों में संक्षेप में 'विभूति' की तरफ़ संकेत किया गया था, अब विस्तार से विभूतियों का वर्णन शुरू हुआ है।

आदित्यों में विष्णु मैं हूँ, ज्योतियों में दमकता हुआ सूर्य मैं हूँ, मरुद्-गण में मरीचि मैं हूँ, नक्षत्रों में चन्द्रमा मैं हूँ ॥२१॥

वेदों में सामवेद मैं हूँ, देवों में इन्द्र मैं हूँ, इन्द्रियों में मन मैं हूँ और प्राणियों में चेतना मैं हूँ ॥२२॥

वेदों में प्रथम स्थान साम वेद को क्यों दिया गया—इस विषय में विद्वानों के भिन्न-भिन्न विचार हैं। एक विद्वान् का कहना है कि मनु (४–१२४) ने कहा है: 'सामवेद की ध्वनि अशुचि है'—इसलिए सामवेद को प्रधानता देनेवाली गीता मनु से पहले की होगी; एक दूसरे विद्वान् का कहना है कि सामवेद को मुख्य स्थान देनेवाला गीता का कर्ता सामवेदी होगा। इसमें सन्देह नहीं कि अन्य सब

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

आदित्यानाम्[2]–आदित्यों में; **अहम्**[1]–मैं; **विष्णुः**[3]–विष्णु; **ज्योतिषाम्**[4]–ज्योतियों में; **रविः**[6]–सूर्य; **अंशुमान्**[5]–किरणों वाला, दमकता हुआ; **मरीचिः**[9]–मरीचि; **मरुताम्**[8]–मरुद्-गण में; **अस्मि**[12]–हूँ; **नक्षत्राणाम्**[10]–नक्षत्रों में; **अहम्**[7]–मैं; **शशी**[11]–चन्द्रमा।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

वेदानाम्[1]–वेदों में; **सामवेदः**[2]–सामवेद; **अस्मि**[3]–हूँ; **देवानाम्**[4]–देवों में; **अस्मि**[6]–हूँ; **वासवः**[5]–इन्द्र; **इन्द्रियाणाम्**[8]–इन्द्रियों में; **मनः**[9]–मन; **च**[7]–और; **अस्मि**[10]–हूँ; **भूतानाम्**[11]–भूतों में, प्राणियों में; **अस्मि**[13]–हूँ; **चेतना**[12]–चेतना।

स्थानों पर ऋग्वेद को प्रथमता दी गई है, परन्तु गीता में सामवेद का नाम प्रथम लिया गया है। इसका क्या कारण है? लोकमान्य तिलक का कहना है कि भक्ति-मार्ग में परमेश्वर की गानयुक्त स्तुति को सदैव प्रधानता दी जाती है, अतएव भक्ति-प्रधान इस स्थल में गान-प्रधान वेद—सामवेद—को प्रधानता दे दी गई है, इसका अन्य कोई गहरा कारण नहीं है।

रुद्रों में शंकर मैं हूँ, यक्ष और राक्षसों में कुबेर मैं हूँ, वसुओं में अग्नि मैं हूँ, पर्वतों में मेरु मैं हूँ ॥२३॥

हे पार्थ ! पुरोहितों में मुख्य बृहस्पति मुझे समझ। सेना-नायकों में स्कन्द (कार्तिकेय) मैं हूँ, जलाशयों में समुद्र मैं हूँ ॥२४॥

महर्षियों में भृगु मैं हूँ, वाणी में ओंकार मैं हूँ, यज्ञों में जप-यज्ञ मैं हूँ, स्थावरों में हिमालय मैं हूँ ॥२५॥

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

रुद्राणाम्[1]—रुद्रों में; **शङ्करः**[2]—शङ्कर, महादेव; **च**[4]—और; **अस्मि**[3]—हूँ; **वित्तेशः**[6]—कुबेर; **यक्षरक्षसाम्**[5]—यक्ष और राक्षसों में; **वसूनाम्**[9]—वसुओं में; **पावकः**[10]—अग्निः; **च**[7]—और; **अस्मि**[11]—हूँ; **मेरुः**[13]—मेरु; **शिखरिणाम्**[12]—पर्वतों में; **अहम्**[8]—मैं।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥

पुरोधसाम्[1]—पुरोहितों में; **च**[6]—और; **मुख्यम्**[2]—मुख्य; **माम्**[4]—मुझको; **विद्धि**[5]—जान, समझ; **पार्थ**[7]—हे अर्जुन; **बृहस्पतिम्**[3]—बृहस्पति; **सेनानीनाम्**[9]—सेनानायकों में; **अहम्**[8]—मैं; **स्कन्दः**[10]—कार्त्तिकेय; **सरसाम्**[11]—जलाशयों में; **अस्मि**[13]—हूँ; **सागरः**[12]—सागर।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

महर्षीणाम्[2]—महर्षियों में; **भृगुः**[3]—भृगु; **अहम्**[1]—मैं; **गिराम्**[4]—वाणी में; **अस्मि**[7]—हूँ; **एकम्**[5]—एक, मुख्य; **अक्षरम्**[6]—ओंकार;

सब वृक्षों में पीपल मैं हूँ, देवर्षियों में नारद मैं हूँ, गंधर्वों में चित्ररथ मैं हूँ, सिद्धों में कपिल मुनि मैं हूँ ॥२६॥

घोड़ों में अमृत-मन्थन के समय निकला हुआ उच्चैःश्रवा मुझे समझ। मैं श्रेष्ठ हाथियों में इन्द्र का हाथी ऐरावत हूँ, मनुष्यों में मैं राजा हूँ ॥२७॥

शस्त्रों में वज्र मैं हूँ, गायों में कामधेनु मैं हूँ, प्रजनन में कामदेव मैं हूँ, सर्पों में वासुकि मैं हूँ ॥२८॥

यज्ञानां[8]–यज्ञों में; **जपयज्ञः**[9]–जपयज्ञ; **अस्मि**[12]–हूँ; **स्थावराणाम्**[10]–स्थावरों में; **हिमालयः**[11]–हिमालय।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

अश्वत्थः[2]–पीपल; **सर्ववृक्षाणाम्**[1]–सब वृक्षों में; **देवर्षीणाम्**[4]–देवर्षियों में; **च**[3]–और; **नारदः**[5]–नारद; **गन्धर्वाणाम्**[6]–गन्धर्वों में; **चित्ररथः**[7]–चित्ररथ; **सिद्धानाम्**[8]–सिद्धों में; **कपिलः**[9]–कपिल; **मुनिः**[10]–मुनि।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥

उच्चैःश्रवसम्[3]–उच्चैःश्रवा, इन्द्र का घोड़ा; **अश्वानाम्**[1]–घोड़ों में; **विद्धि**[10]–समझ; **माम्**[9]–मुझको; **अमृतोद्भवम्**[2]–अमृत से उत्पन्न (अमृत-मन्थन के समय उत्पन्न); **ऐरावतम्**[5]–ऐरावत; **गजेन्द्राणाम्**[4]–श्रेष्ठ हाथियों में; **नराणाम्**[7]–मनुष्यों में; **च**[6]–और; **नराधिपम्**[8]–राजा।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥

आयुधानाम्[2]–अस्त्रों में; **अहम्**[1]–मैं; **वज्रम्**[3]–वज्र; **धेनूनाम्**[4]–गौओं में; **अस्मि**[6]–हूँ; **कामधुक्**[5]–कामधेनु; **प्रजनः**[8]–प्रजनन का हेतु; **च**[7]–और; **अस्मि**[10]–हूँ; **कन्दर्पः**[9]–कामदेव; **सर्पाणाम्**[11]–सर्पों में; **अस्मि**[13]–हूँ; **वासुकिः**[12]–शेषनाग।

नागों में शेषनाग मैं हूँ, जलचरों में वरुण मैं हूँ, पितरों में अर्यमा मैं हूँ और नियम तथा व्यवस्था द्वारा संयमन करने वालों में यम मैं हूँ ।।२९।।

दैत्यों में प्रह्लाद मैं हूँ, गणना करनेवालों में काल मैं हूँ, पशुओं में सिंह मैं हूँ, पक्षियों में गरुड़ मैं हूँ ।।३०।।

पावन करने वालों में पवन मैं हूँ, शस्त्रधारियों में राम मैं हूँ, मच्छों में मगरमच्छ मैं हूँ, नदियों में गंगा मैं हूँ ।।३१।।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ।।२९।।

अनन्तः[3]–शेषनाग; **च**[4]–और; **अस्मि**[7]–हूँ; **नागानाम्**[2]–सर्पों में; **वरुणः**[6]–वरुण; **यादसाम्**[5]–जलचरों में; **अहम्**[1]–मैं; **पितॄणाम्**[9]–पितरों में; **अर्यमा**[10]–अर्यमा; **च**[8]–और; **अस्मि**[14]–हूँ; **यमः**[12]–यम; **संयमताम्**[11]–संयम करने वालों में; **अहम्**[13]–मैं।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ।।३०।।

प्रह्लादः[3]–प्रह्लाद; **च**[4]–और; **अस्मि**[7]–हूँ; **दैत्यानाम्**[2]–दैत्यों में; **कालः**[6]–काल; **कलयताम्**[5]–गणना करने वालों में; **अहम्**[1]–मैं; **मृगाणाम्**[9]–पशुओं में; **च**[8]–और; **मृगेन्द्रः**[10]–सिंह; **अहम्**[14]–मैं; **वैनतेयः**[13]–गरुड़; **च**[11]–और; **पक्षिणाम्**[12]–पक्षियों में।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ।।३१।।

पवनः[3]–वायु; **पवताम्**[2]–पवित्र करने वालों में; **अस्मि**[6]–हूँ; **रामः**[5]–राम; **शस्त्रभृताम्**[4]–शस्त्रधारियों में; **अहम्**[1]–मैं; **झषाणाम्**[8]–मछलियों में; **मकरः**[9]–मगरमच्छ; **च**[7]–और; **अस्मि**[10]–हूँ; **स्रोतसाम्**[11]–जलों में, प्रवाहों में; **अस्मि**[13]–हूँ; **जाह्नवी**[12]–गङ्गा।

हे अर्जुन ! सृष्टिमात्र का आदि, अन्त तथा मध्य भी मैं हूँ, विद्याओं में अध्यात्म-विद्या मैं हूँ, वाद-विवाद करने वालों का तर्क मैं हूँ ॥३२॥

अक्षरों में 'अकार' मैं हूँ, समासों में द्वन्द्व-समास मैं हूँ, अविनाशी काल मैं ही हूँ, सब दिशाओं में मुखवाला सृष्टि का विधाता मैं हूँ ॥३३॥

सब को हरने वाली मृत्यु मैं हूँ, भविष्य में होने वालों की उत्पत्ति का कारण मैं हूँ, नारियों में कीर्ति, लक्ष्मी, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति, क्षमा मैं हूँ ॥३४॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाऽहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

सर्गाणाम्[2]–सृष्टि मात्र का; **आदिः**[3]–आदि; **अन्तः**[4]–अन्त; **च**[5]–और; **मध्यम्**[6]–मध्य; **च**[7]–और; **एव**[9]–ही; **अहम्**[8]–मैं; **अर्जुन**[1]–हे अर्जुन; **अध्यात्मविद्या**[12]–अध्यात्म-विद्या; **विद्यानाम्**[11]–विद्याओं में; **वादः**[14]–तर्क; **प्रवदताम्**[13]–वाद-विवाद करते हुओं में; **अहम्**[10]–मैं ।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥३३॥

अक्षराणाम्[2]–अक्षरों में; **अकारः**[3]–अकार; **अस्मि**[7]–हूँ; **द्वन्द्वः**[6]–द्वन्द्व समास; **सामासिकस्य**[5]–समासों में; **च**[4]–और; **अहम्**[1]–मैं; **एव**[13]–ही; **अक्षयः**[8]–अविनाशी; **कालः**[9]–काल; **धाता**[11]–धारण करने वाला विधाता; **अहम्**[12]–मैं; **विश्वतोमुखः**[10]–सब दिशाओं में मुखवाला ।

मृत्युः सर्वहरश्चाऽहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥

मृत्युः[3]–मृत्यु; **सर्वहरः**[2]–सबका हरण करने वाली; **च**[4]–और; **अहम्**[1]–मैं; **उद्भवः**[6]–उत्पत्ति का कारण; **च**[7]–और; **भविष्यताम्**[5]–भविष्य में होने वाली चीजों का; **कीर्तिः**[9]–यश; **श्रीः**[10]–लक्ष्मी;

साम-गीतों में बृहत्-साम नाम का गीत मैं हूँ, छन्दों में गायत्री मैं हूँ, मासों में मार्गशीर्ष मैं हूँ, ऋतुओं में वसन्त ऋतु मैं हूँ ।।३५।।

छलियों में द्यूत मैं हूँ, तेजस्वियों का तेज मैं हूँ, जय मैं हूँ, प्रयत्न मैं हूँ, सात्त्विक भाव वालों का सत्त्व मैं हूँ ।।३६।।

वृष्णि-कुल में वासुदेव मैं हूँ, पांडवों में धनञ्जय (अर्जुन) मैं हूँ, मुनियों में व्यास मैं हूँ, कवियों में उशना (शुक्राचार्य) कवि मैं हूँ ।।३७।।

वाक्[11]–वाणी; **च**[15]–और; **नारीणाम्**[8]–नारियों में; **स्मृतिः**[12]–स्मृति; **मेधा**[13]–बुद्धि; **धृतिः**[14]–धैर्य; **क्षमा**[16]–सहन-शक्ति ।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ।।३५।।

बृहत्साम[4]–बृहत्साम-नामक सामवेद के गीत; **तथा**[1]–और; **साम्नाम्**[3]–साम-गीतों में; **गायत्री**[6]–गायत्री छन्द; **छन्दसाम्**[5]–छन्दों में; **अहम्**[2]–मैं; **मासानाम्**[7]–मासों में; **मार्गशीर्षः**[8]–मार्गशीर्ष; **अहम्**[11]–मैं; **ऋतूनाम्**[9]–ऋतुओं में; **कुसुमाकरः**[10]–वसन्त ऋतु ।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ।।३६।।

द्यूतम्[3]–द्यूत; **छलयताम्**[2]–छलियों में; **अस्मि**[6]–हूँ; **तेजः**[5]–तेज; **तेजस्विनाम्**[4]–तेजस्वियों में; **अहम्**[1]–मैं; **जयः**[8]–जय; **अस्मि**[9]–हूँ; **व्यवसायः**[10]–प्रयत्न; **अस्मि**[13]–हूँ; **सत्त्वम्**[12]–सत्त्वगुण; **सत्त्ववताम्**[11]–सात्त्विक भावना वालों में; **अहम्**[7]–मैं ।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ।।३७।।

वृष्णीनाम्[1]–वृष्णियों में; **वासुदेवः**[2]–वासुदेव, कृष्ण; **अस्मि**[12]–हूँ; **पाण्डवानाम्**[3]–पाण्डवों में; **धनञ्जयः**[4]–अर्जुन; **मुनीनाम्**[5]–मुनियों में; **अपि**[10]–भी; **अहम्**[11]–मैं; **व्यासः**[6]–व्यास; **कवीनाम्**[7]–क्रान्तदर्शियों में; **उशना**[8]–शुक्राचार्य; **कविः**[9]–कवि हूँ ।

दमन करने वाले शासकों का दंड मैं हूँ, जय चाहने वालों की नीति मैं हूँ, रहस्यपूर्ण वस्तुओं में मौन मैं हूँ, ज्ञानियों का ज्ञान मैं हूँ ॥३८॥

हे अर्जुन ! सब प्राणियों की उत्पत्ति का जो भी बीज है, कारण है, वह मैं हूँ। जो भी चर तथा अचर है, जंगम तथा स्थावर है, इनमें से ऐसा कुछ भी नहीं है जो मेरे बिना रह सके ॥३९॥

हे परन्तप ! मेरी दिव्य विभूतियों का कोई अन्त नहीं है। यह जो मैंने विभूतियों का विस्तार तुझे बतलाया है, वह केवल दिग्दर्शन कराने के उद्देश्य से बतलाया है ॥४०॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥

दण्डः[3]–दण्ड; दमयताम्[2]–दमन करने वालों में; अस्मि[4]–मैं हूँ; नीतिः[6]–नीति; अस्मि[7]–हूँ; जिगीषताम्[5]–जीतने की इच्छा रखने वालों में; मौनम्[9]–मौन; च[1]–और; एव[14]–ही; अस्मि[10]–हूँ; गुह्यानाम्[8]–गूढ रहस्यों में; ज्ञानम्[12]–ज्ञान; ज्ञानवताम्[11]–ज्ञानियों में; अहम्[13]–मैं।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥

यत्–[3]जो; च[1]–और; अपि[7]–भी; सर्वभूतानाम्[4]–सब प्राणियों का; बीजम्[5]–जगत् का उत्पत्ति कारण बीज; तद्[6]–वह; अहम्[8]–मैं; अर्जुन[2]–हे अर्जुन; न[12]–नहीं; तद्[9]–वह; अस्ति[13]–है; विना[16]–बिना; यत्[14]–जो; स्यात्[17]–हो; मया[15]–मुझ से; भूतम्[11]–प्राणी; चराचरम्[10]–चर और अचर, जड़-जंगम।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तः विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥

न[6]–नहीं; अन्तः[5]–अवसान; अस्ति[7]–है; मम[2]–मेरी; दिव्यानाम्[3]–दिव्य; विभूतीनाम्[4]–विभूतियों का; परंतप[1]–हे अर्जुन;

(इस जगत् में) जो-जो वस्तु विभूतिवाली है, श्री वाली है, ऊर्जा वाली अर्थात् शक्तिवाली है, उस-उस को मेरे तेज के अंश से ही उत्पन्न हुआ समझ ।।४१।।

अथवा, हे अर्जुन ! तुझे इस बहुत बड़े विस्तार को जानकर क्या करना है ? (एक वाक्य में यह समझ ले) कि अपने एक अंश मात्र से इस समूचे जगत् को थामे मैं ठहरा हुआ हूँ ।।४२।।

४१वें श्लोक में कहा कि जहाँ-जहाँ विभूति है, श्री है, शक्ति है, वहाँ-वहाँ मेरे तेज का 'अंश' चमक रहा है; ४२वें श्लोक में कहा कि भगवान् अपने तेज के 'अंश' से जगत् को धारण किये हुए है। यही बात ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त (१०.९०.३) में कही गई है। वहाँ कहा है : **'पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि'**— उसका एक पाद, एक अंश इस संसार को धारण किये हुए हैं, त्रिपाद् तो द्युलोक

एषः[8]—यह; **तु**[9]—तो; **उद्देशतः**[13]—निर्देश पूर्वक; **प्रोक्तः**[14]—कहा है; **विभूतेः**[11]—विभूति का; **विस्तरः**[12]—विस्तार; **मया**[10]—मैंने ।

यद्यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ।।४१।।

यत्[1]—जो; **यत्**[2]—जो; **विभूतिमत्**[4]—विभूति वाली; **सत्त्वम्**[8]—वस्तु; **श्रीमत्**[5]—श्री वाली, शोभावाली, शोभनीय; **ऊर्जितम्**[7]—ऊर्जा (शक्ति) वाली; **एव**[3]—ही; **वा**[6]—अथवा; **तत् तत्**[9]—उस-उस को; **एव**[10]—ही; **अवगच्छ**[14]—जान, समझ; **त्वम्**[11]—तू; **मम**[12]—मेरे; **तेजोंऽशसंभवम्**[13]—तेज के अंश से उत्पन्न हुआ-हुआ ।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवाऽर्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।।४२।।

अथवा[1]—अथवा; **बहुना**[4]—बहुत बड़े विस्तार से; **एतेन**[3]—इस; **किम्**[7]—क्या; **ज्ञातेन**[5]—जानने से; **तव**[6]—तेरा; **अर्जुन**[2]—हे अर्जुन; **विष्टभ्य**[13]—थाम कर; **अहम्**[8]—मैं; **इदम्**[9]—इस; **कृत्स्नम्**[10]—सारे; **एकांशेन**[12]—एक अंश (हिस्से) से; **स्थितः**[14]—ठहरा हुआ हूँ; **जगत्**[11]—संसार को ।

में है, इस सृष्टि के बाहर है । इसी बात को दूसरे रूप में वेद में कहा है : **'एतावानस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पुरुषः'** (यजु०, ३१-३)—सृष्टि में जो-कुछ दीखता है, उसी की महिमा है, उसी की विभूति है, परन्तु वह तो इससे बहुत बड़ा है । यह सृष्टि 'सान्त' (Finite) है, वह तो 'अनन्त' (Infiinite) है, उस अनन्त का बहुत थोड़ा-सा अंश इस सान्त सृष्टि में दीख रहा है, इन विभूतियों द्वारा उस अनन्त की सान्त में झलक दिखाई दे रही है ।

श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् में जो ब्रह्मविद्या का वर्णन किया गया है, उसके अन्तर्गत जो योगशास्त्र है, उसमें जो कृष्णार्जुन-संवाद है, उस संवाद का 'विभूति-योग' नामक दशम अध्याय समाप्त हुआ ।*

उपसंहार

इस अध्याय के संबंध में श्री सातवलेकर, श्री विनोबा भावे, श्री डॉ० राधाकृष्णन तथा श्री अरविंद के विचार जान लेने से गीता का यह स्थल अधिक स्पष्ट हो जाता है । इनके विचारों को संक्षेप में यहाँ दिया जा रहा है :

१. श्री सातवलेकर के विभूति-संबंधी विचार

(क) **'विभूति-दर्शन' तथा 'प्रत्यक्ष-दर्शन'**—श्री सातवलेकर का कहना है कि साधक जब परमेश्वर का ध्यान करना चाहता है तब कैसे ध्यान करे ? परमेश्वर सर्वव्यापक है—इतना कह देने मात्र से तो उसका प्रत्यक्ष नहीं होता । इसके लिए 'दिव्य-दृष्टि' चाहिए । यह 'दिव्य-दृष्टि' श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दी, इसका वर्णन गीता के ११वें अध्याय में होगा । परन्तु जब तक 'दिव्य-दृष्टि' न मिले तब तक साधक क्या करे ? इसका उत्तर 'विभूति-योग' ने दिया है । 'दिव्य-दृष्टि' प्राप्त होने तक, और विश्व के रूप में ईश्वर का साक्षात्कार होने तक, इस जगत् में परमेश्वर की 'विभूति' को देखना—यह साधना की प्रथम अवस्था है । दसवें अध्याय में परमेश्वर का साक्षात्कार 'विभूति-दर्शन' द्वारा और ग्यारहवें अध्याय में 'प्रत्यक्ष-दर्शन' द्वारा कराया गया है ।

(ख) **विभूति का अर्थ**—संस्कृत में दो शब्द हैं—'भूति' तथा 'विभूति' । 'भूति' का अर्थ है—होना, सुख, विजय, धन, ऐश्वर्य, महत्त्व, शक्ति; 'विभूति' का अर्थ है—विशेष तौर से होना, विशेष सुख, विशिष्ट धन, बड़ा विजय, विशेष ऐश्वर्य, विशेष महत्त्व, विलक्षण शक्ति । ईश्वर की 'भूति', अर्थात् सत्ता तो अणु-अणु में है, परन्तु उसका विशेष प्रभाव थोड़े पदार्थों में ही मनुष्य अनुभव करता है, उन्हीं को 'विभूति' कहा जाता है । ईश्वर की विभूतियों का अन्त नहीं, इसलिए प्रधान-प्रधान विभूतियों का—**'प्राधान्यतः'**—गीता में वर्णन किया गया है ।

*** इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूति-योगो नाम दशमोऽध्यायः ।**

अनेक वीर, अनेक तत्व-ज्ञानी, अनेक संत-महंत विभूतियाँ हो चुके हैं जिनकी पूजा भिन्न-भिन्न धर्मों में, देशों में होती है। 'वीर-पूजा' (Hero worship) भी विभूति में परमेश्वर के दर्शन करना है। हिन्दुओं में भवानी, शंकर, गणेश, विष्णु—ये सब वीर-विभूतियाँ हैं। श्री सातवलेकर का कहना है कि गौ की पूजा, पीपल की पूजा, वज्र की पूजा, गंगा की पूजा, समुद्र की पूजा, हिमालय की पूजा—यह सब पूजा इसलिए चल पड़ी क्योंकि इन सब को परमात्मा की विभूतियों में मान लिया गया।

(ग) **विभूतियों का वर्गीकरण**—दशम अध्याय में परमेश्वर की जिन विभूतियों का वर्णन किया गया है उनका श्री सातवलेकर जी ने वर्गीकरण किया है जो निम्न प्रकार है :

(i) **क्षत्रिय विभूतियाँ**—राम, वासुदेव, धनंजय, नराधिप, वासुकि, अनंत, प्रह्लाद।

(ii) **स्त्री विभूतियाँ**—कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति, क्षमा।

(iii) **ब्राह्मण विभूतियाँ**—बृहस्पति, नारद, उशना, भृगु, कपिल, व्यास।

(iv) **देव विभूतियाँ**—इन्द्र, धाता, विष्णु, सूर्य, शंकर, पवन, मरीचि, वरुण, स्कंद, अग्नि, चन्द्र, कामदेव।

(v) **पितरों में विभूति**—अर्यमा।

(vi) **यक्ष-राक्षसों में विभूति**—कुवेर।

(vii) **गन्धर्वों में विभूति**—चित्ररथ।

(viii) **गुणियों के गुणों में विभूति**—ज्ञान, तर्क, मौन, दण्ड, तेज, सत्वगुण, नीति, जय, निश्चय।

(ix) **विद्या में विभूति**—अध्यात्म-विद्या, अकार, ओंकार, सामवेद, बृहत्साम, गायत्री, द्वन्द्व, जप-यज्ञ।

(x) **पशु-पक्षियों में विभूति**—कामधेनु गाय, उच्चैःश्रवा घोड़ा, ऐरावत हाथी, सिंह, गरुड़, मगरमच्छ।

(xi) **स्थावरों में विभूति**—मेरु पर्वत, हिमालय, पीपल का वृक्ष।

(xii) **जल-स्थानों में विभूति**—समुद्र, गंगा।

(xiii) **इन्द्रियों में विभूति**—मन।

(xiv) **शस्त्रों में विभूति**—वज्र।

(xv) **जन्म-मृत्यु की विभूति**—उत्पत्ति, मृत्यु, यम।

(xvi) **काल की विभूति**—अक्षय काल, मार्गशीर्ष, वसन्त।

(xvii) **अन्य विभूतियाँ**—इसी अध्याय में ४–५ श्लोकों में जिन विभूतियों को गिनाया है वे हैं : बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, भव, अभाव, भय, अभय, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश, अयश।

२. श्री विनोबा भावे के विभूति-संबंधी विचार

(क) **परमेश्वर-दर्शन की सुबोध रीति**—विनोबा का कहना है कि छोटे बच्चों को पढ़ाने के लिए जो उपाय हम करते हैं, वही उपाय परमात्मा का सर्वत्र दर्शन करने के लिए इस अध्याय में बताया गया है। बच्चों को वर्णमाला दो तरह से सिखाई जाती है। एक तरकीब है—पहले बड़े-बड़े अक्षर लिख कर बताने की। फिर इन्हीं अक्षरों को छोटा लिख कर बताया जाता है। वही 'क' और वही 'ग', परन्तु पहले ये बड़े थे, अब छोटे हो गये। ठीक इसी तरह परमेश्वर को देखना चाहिए। पहले स्थूल, स्पष्ट परमेश्वर को देखें। समुद्र, पर्वत आदि महान् विभूतियों में अप्रकटित परमेश्वर तुरंत आँखों में समा जाता है। यह स्थूल परमात्मा समझ में आ जाय, तो एक जल-बिंदु में, मिट्टी के एक कण में वही परमात्मा भरा हुआ है, यह भी आगे समझ में आ जायगा। बड़े 'क' और छोटे 'क' में कोई अन्तर नहीं, जो स्थूल में वही सूक्ष्म में।

यह पढ़ाने की एक विधि है, दूसरी विधि है सरल से जटिल को सिखाने की। पहले सरल अक्षर सिखाये जाते हैं, फिर संयुक्ताक्षर सिखाये जाते हैं। परमेश्वर को जानने की यह दूसरी विधि भी काम आती है। राम सरल अक्षर है। राम परमेश्वर की एक विभूति है—यह आसानी से समझ में आ जाता है। परन्तु रावण? यह संयुक्ताक्षर है। इसमें कुछ-न-कुछ मिश्रण है। रावण की तपस्या, कर्म-शक्ति महान् है, परन्तु उसमें क्रूरता मिली हुई है। पहले राम-रूपी सरल अक्षर को सीख लो। जिसमें दया है, वत्सलता है, प्रेम-भाव है, ऐसा राम सरल परमेश्वर है, वह तुरंत पकड़ में आ जायगा। रावण में रहनेवाले परमेश्वर को समझने में ज़रा देर लगेगी। पहले सरल, फिर संयुक्ताक्षर। पहले सज्जनों में परमात्मा को देखकर अंत में दुर्जनों में भी उसे देखने का अभ्यास करना चाहिए। समुद्र-स्थित विशाल परमेश्वर ही पानी की बूंद में है—जो स्थूल में है, वह सूक्ष्म में भी है। रामचंद्र के अन्दर का परमेश्वर ही रावण में है—जो सरल में है, वह जटिल में है। इन दो विधियों से हमें विश्व में परमेश्वर के दर्शन करने हैं।

(ख) **दुर्जन में भी परमेश्वर का दर्शन**—स्थूल से सूक्ष्म को पढ़ने में कठिनाई नहीं होती, सरल से जटिल को पढ़ने में कठिनाई होती है, परन्तु विनोबा कहते हैं कि यह कठिनाई नहीं होनी चाहिए। सन्तों में परमेश्वर के दर्शन सरल हैं, कुटिलों में भी परमेश्वर के दर्शन करो; गाय में देवत्व देखते हो तो व्याघ्र में भी देवत्व को पहचानो; सुमन में देव-दर्शन करते हो तो तेजस्वी सर्प में भी प्रभु का वास समझो। यही कारण है कि गीता ने जहाँ-जहाँ विशिष्ट गुण है—अच्छा है, बुरा है—सब को परमेश्वर की विभूति कहा है। तक्षक, सर्प, नाग, द्यूत—ये सब विभूतियाँ हैं, ये परमेश्वर की विभूतियाँ इसलिए हैं क्योंकि इनमें वैभव है, महानता है, प्रताप है, फिर भला वह प्रताप किसी तरह का ही क्यों न हो।

३. श्री डॉ० राधाकृष्णन के विभूति-संबंधी विचार

डॉ० राधाकृष्णन का कहना है कि भगवान् सब वस्तुओं में है, परन्तु कुछ वस्तुओं में वह अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। संसार में एक आरोही-क्रम है। परमात्मा भौतिक-तत्व की अपेक्षा जीवन में, जीवन की अपेक्षा चेतना में अधिक व्यक्त होता है, और सन्तों और ऋषियों में सब से अधिक व्यक्त होता है। इसी व्यवस्था के अनुसार वह विशेष महत्वपूर्ण व्यक्तियों में सब से अधिक प्रकट होता है।

४. श्री अरविंद के विभूति-संबंधी विचार

गीता के नवम अध्याय में जो परम रहस्य की बात कही गई है, जिसे गीता ने 'राज-विद्या' का, 'राज-गुह्य' का नाम दिया है, वह यही है कि ब्रह्म प्रकृति में रहता भी प्रकृति से परे है। श्री अरविंद का कहना है कि गीता की भगवान् के विषय में यही 'परम वाणी' है। इसी परम वाणी को दोहराते हुए श्रीकृष्ण गीता के १०वें अध्याय में अर्जुन को कहते हैं—'**शृणु मे परमं वचः**'—मेरी परम वाणी को '**भूय एव शृणु**'—फिर दोबारा सुन। वह परम वाणी क्या है?

(क) **गीता की परम वाणी**—गीता का कहना है कि मानवीय आत्मा जीवन-काल में 'अहंकार' (Ego) के साथ, जो प्रकृति का गुण है, एक हो रहा है। हमारा लक्ष्य मानवीय आत्मा को अहंकार से जुदा कर लेना, प्रकृति से अपने को अलग कर लेना है। इस प्रकार प्रकृति से अपने को अलग करके मानवीय आत्मा अपना संबंध अज, अनादि, सर्वव्यापी सत्ता के साथ जोड़ता है। इस अज, अनादि सत्ता को जान लेना—'**यो मामजमनादिं च वेत्ति**'—वह सत्ता जो दीखती नहीं, परन्तु जो दीखनेवाले संसार को जन्म देती है, उस सत्ता को जान लेना ही गीता के महान् रहस्य को जान लेना है। गीता के योग का लक्ष्य इसी दिव्य, सनातन सत्ता के साथ मानवीय आत्मा का जोड़ बैठा देना है। यही गीता की परम वाणी है। मानवीय आत्मा, जिसके पास उस 'अनन्त' सत्ता के पास पहुँचने का साधन 'सान्त' मन के सिवाय कुछ नहीं, यह लक्ष्य कैसे पूरा करेगा? इसका साधन तो यही हो सकता है कि वह 'सान्त' मन और 'अनन्त' ब्रह्म के बीच, इन दोनों को मिलानेवाले किसी द्वार को ढूंढे जिसके खुलने से वह 'सान्त' के द्वार से निकल कर 'अनन्त' ब्रह्म से जा मिले। वह द्वार क्या है? अनन्त को सीधा पकड़ लेना तो सान्त मन के बस की बात नहीं है, परन्तु विश्व में ऐसी सत्ताएँ हैं, शक्तियाँ हैं, जो सान्त होती हुई भी अनन्त के साथ 'बँधी' हुई हैं, जिन्हें सान्त होने के कारण मन पकड़ सकता है, परन्तु क्योंकि वे अनन्त के साथ संलग्न हैं इसलिए जिनके द्वार से मानवीय आत्मा अनन्त को पा लेता है। वे सत्ताएँ, वे शक्तियाँ क्या हैं?

(ख) **भगवान् की विभूतियाँ**—श्री अरविंद कहते हैं कि गीता के अनुसार यह जगत् ब्रह्म की 'विभूति' है। 'विभूति' का क्या अर्थ है? संस्कृत में 'भू' धातु का अर्थ है—'सत्ता' (Existence, Being)। 'सत्ता' जब अपने शुद्ध,

अचल रूप में होती है, तब इसे 'अस्ति' (Being) कहा जा सकता है; जब यह 'सत्ता' से 'बनने' के रूप में आने लगती है, तब इसे 'भवति' (Becoming) कहा जा सकता है। मट्टी को हम 'अस्ति' या 'सत्ता' (Being) कह सकते हैं, मट्टी से जब घड़ा बनने लगता है, तब इसे हम 'भवति' (Becoming) कह सकते हैं। तो फिर 'विभूति' क्या है? 'विभूति' ब्रह्म-रूपी 'अस्ति' (Being) का 'भवति' (Becoming) रूप है। यह आदित्य, यह चन्द्रमा, यह हिमालय, संसार की महान् वस्तुएँ, महान् शक्तियाँ—ये सब ब्रह्म के 'भवति' (Becoming) रूप हैं; ब्रह्म जब अपने अज, अनादि, सर्वव्यापी, सनातन 'अस्ति' रूप से 'भवति' रूप में आता है, तब आदित्य, चन्द्रमा, हिमालय, संसार की महान् नदियाँ, महान् शक्तियाँ प्रकट होती हैं। ये सब क्या हैं अगर उस ब्रह्म के ही व्यक्तावस्था में आ रहे रूप नहीं हैं? ये विभूतियाँ अनन्त का रूप तो नहीं हैं, परन्तु इनमें अनन्त सत्ता की झलक मिल जाती है। अनन्त को यह सान्त मन नहीं पकड़ सकता, परन्तु इन सान्त विभूतियों को, जो अनन्त की झाँकी देने के लिए पर्याप्त हैं, यह आसानी से पकड़ लेता है। ये विभूतियाँ वे द्वार हैं जो 'सान्त' तथा 'अनन्त' के बीच का रास्ता खोल देती हैं, ये सान्त होती हुई भी अनन्त के साथ बँधी हुई हैं, इनके सहारे मानवीय आत्मा सान्त को पकड़ कर अनन्त को पा लेता है।

(ग) **'विभूति' का सिद्धान्त**—श्री अरविंद का कहना है कि गीता के १०वें अध्याय का 'विभूति का सिद्धान्त' वैसा साधारण नहीं है जैसा यह प्रतीत होता है। गीता का सन्देश जहाँ मानवीय आत्मा का परमात्मा को लक्ष्य में रखते हुए ऊर्ध्वमुखी विकास है, वहाँ गीता का सन्देश परमात्मा का अपने को मानवीय आत्मा में प्रकट करना भी है। गीता का योग दोतरफ़ा गति है: आत्मा नीचे से परमात्मा की तरफ़ उठती है, परमात्मा ऊपर से आत्मा की तरफ़ नीचे को झुकता है ताकि वह आत्मा को अपने तक उठा सके। इसका परिणाम यह होता है कि मानवीय आत्मा इस भौतिक-जीवन में, त्रिगुणात्मक प्रकृति के बन्धन में फँसा न रहकर, अहंकार की रस्सियों से मुक्त होकर, आध्यात्मिक-जीवन में वास करने लगता है, अपने संपूर्ण अस्तित्व को भगवान् के अस्तित्व में खो देता है, सान्त में से निकलकर अनन्त में उठ जाता है। जब यह अवस्था आ जाती है तब मनुष्य अपने अहंकार के लिए जीने के स्थान पर भगवान् के लिए जीता है, उसका हर कार्य अपना न होकर भगवान् का होता है क्योंकि उसने अपना संबन्ध प्रकृति से हटा कर भगवान् के साथ जोड़ लिया होता है। श्री अरविंद का कहना है कि श्रीकृष्ण अर्जुन को इसी स्थिति में ला रहे हैं, वे उसे समझा रहे हैं कि उसे जो-कुछ करने के लिए कहा जा रहा है वह अर्जुन का अपना कर्म नहीं, भगवान् का कर्म है। जब तक मैंने अपने को प्रकृति के साथ एक बना रखा था तब तक प्रकृति का जो कर्म था वह मेरा था, अब जब अपने को प्रकृति से अलग कर लिया, परमात्म-सत्ता में जीवन को खपा दिया, तब मेरा कर्म परमात्मा का कर्म हो गया।

इस प्रकार जब आत्मा अपने को प्रकृति से जुदा कर परमात्मा में ऊपर उठा ले जाता है, तब उसकी दृष्टि अब की दृष्टि से भिन्न हो जाती है। उस समय उसे सब-कुछ और सब-जगह परमात्म-सत्ता दीखने लगती है। जैसे प्रकृति से बँधे होने के कारण हमें सब-कुछ और सब-जगह भौतिक-सत्ता दीखती है, वैसे प्रकृति के बंधनों से छूट कर आत्मा को सब-कुछ और सब-जगह परमात्म-सत्ता दीखने लगती है। उसकी दृष्टि में जो-कुछ है परमात्मा का ही प्रकट रूप है, कल्पना या विचार में नहीं, यथार्थ में, असलीयत में। जिस परमात्म-सत्ता के अबतक हम दर्शन नहीं कर सके थे, प्रकृति से अपने को जुदा कर लेने की स्थिति में आकर सब जगह वही परमात्म-सत्ता दीखने लगती है। जिस गहराई से हमारे स्थूल शरीर की चेतना भौतिक पदार्थों को देखती है, उससे भी अधिक गहराई से प्रकृति से अपने को अलग कर लेने वाली हमारी दिव्य चेतना परमात्मा को देखने लगती है। इस चेतना के लिए आध्यात्मिक-जगत् सत्य हो जाता है, भौतिक-जगत् मिथ्या हो जाता है। उस समय '**नास्ति अन्तो विस्तरस्य मे**' (१०–१९, ४०)—'मेरे विस्तार का कोई अन्त ही नहीं'—गीता का यह कथन सत्य हो उठता है, संसार का जो विस्तार है वह उसी परमात्म-सत्ता का विस्तार है; उस समय गीता का यह कथन कि जो-कुछ है वह '**मम तेजोंशसंभवम्**'—मेरे तेज के अंश से निकला है—यह भी यथार्थ और प्रत्यक्ष रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार आत्मा सब जगह परमात्मा को देखता है, काल्पनिक दृष्टि से नहीं, प्रत्यक्ष-दृष्टि से, आत्मा की दृष्टि से। श्री अरविंद के अनुसार सृष्टि की हर रचना को परमात्मा का प्रत्यक्ष तथा प्रकट रूप समझ कर देखना ही गीता का 'विभूति का सिद्धान्त' है। प्रत्यक्ष-जगत् में जो-कुछ है उसी के तेज का अंश है, कविता की भाषा में नहीं, यथार्थ में यह उसी का अंश है, इसी को 'विभूति' कहते हैं—यह श्री अरविंद का कहना है।

५. 'विभूति' का तात्विक-अर्थ

इस अध्याय में कहा है: शस्त्रधारियों में मैं राम हूँ, नदियों में मैं गंगा हूँ। कई लोग कहने लगते हैं कि इस कथन से राम की, गंगा की पूजा का प्रतिपादन होता है किन्तु इस प्रकार का अर्थ करना खींचातानी है। इसका अभिप्राय सिर्फ़ इतना ही है कि शस्त्रधारियों में महाप्रतापी श्रीराम हुए, नदियों में सर्व-प्रसिद्ध नदी गंगा हुई, ये विभूतियाँ हैं, और विभूति परमात्मा के ही महान् गुणों का प्रत्यक्षीकरण है। संसार में ऊँचाई है हिमालय की, गहराई है समुद्र की, विस्तार है आकाश का, प्रकाश है सूर्य का––ये सब क्या हैं? जहाँ ऊँचाई का अन्त हो वहाँ विभूति है, जहाँ गहराई का अन्त हो वहाँ विभूति है, जहाँ विस्तार का अन्त हो वहाँ विभूति है, जहाँ प्रकाश का अन्त हो वहाँ विभूति है। भौतिक गुणों की तरह मानसिक तथा आध्यात्मिक गुणों में भी कहीं पराकाष्ठा होती है। इन गुणों की जहाँ पराकाष्ठा है वहाँ विभूति है। ये भौतिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विभूतियाँ क्या हैं अगर परमात्मा के ही गुणों के प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हैं? विभूति का यही तात्विक-अर्थ है।

ग्यारहवाँ अध्याय
विश्व-रूप-दर्शन-योग

पिछले अध्याय में भगवान् की विभूतियों का वर्णन किया गयो। भगवान् तो सृष्टि के कण-कण में है, परन्तु संसार की कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिनमें उसका रूप स्पष्ट होकर चमक उठता है। ऊँचाई तो जहाँ है भगवान् की है, परन्तु जब हम मेरु पर्वत के विशाल शिखरों को देखते हैं तब कह उठते हैं—'यह तेरा ही दिव्य दर्शन है'; गहराई तो जहाँ है भगवान् की है, परन्तु जब हम अथाह समुद्र को देखते हैं तब कह उठते हैं—'यह तेरा ही दिव्य दर्शन है'। इन सब विभूतियों में अर्जुन ने भगवान् के दर्शन किये, इससे उसकी उत्कंठा उग्र हो उठी। अर्जुन ने कहा : 'मैंने तेरे नाना रूपों को देखा। नदी में, पहाड़ में, सूर्य में, चन्द्र में, राम में, वासुदेव में, सर्प में, व्याघ्र में—सब जगह मैंने तुझे देखा, परन्तु ये तो तेरे नाना रूप हैं, विभूतियाँ हैं, इनमें तेरे रूप की झाँकी तो मिलती है, परन्तु तेरा समग्र रूप, ऐसा रूप जिसे तेरा एक-रूप कहा जा सके, तुझ 'अनेक' का नहीं, तुझ 'एक' का रूप कहा जा सके—उसकी प्रतीति इन विभूतियों को देखकर नहीं होती। मनुष्य को देखने के लिए कोई हाथ दिखा दे, पाँव दिखा दे, सिर दिखा दे—इससे समग्र मनुष्य तो नहीं दीखता। अर्जुन की उत्कंठा—'**द्रष्टुमिच्छामि ते रूपम्**'—मैं तो तेरा यह छितरा-बितरा रूप नहीं, समग्र रूप देखना चाहता हूँ—यह हो गई है; अब अर्जुन का समाधान विभूतियों के दर्शन से नहीं होगा, भगवान् के साक्षात् दर्शन से होगा।

इस अध्याय में भगवान् का विश्व-रूप आँखों के सामने खड़ा कर दिया गया है, यह उसका विराट्-रूप है, विराट्-पुरुष का रूप। गीता का यह अध्याय भक्तों को अत्यन्त प्रिय है। इसमें ऊहापोह नहीं, युक्ति-प्रतियुक्ति नहीं, तर्क-विवाद नहीं, इसमें तो सीधा भगवान् का रूप दिखला दिया है। इसके पाठ में साधक का जी करता है कि पढ़ता ही चला जाय, भगवान् का दर्शन करता ही चला जाय। जिस समय गीता कही गई, उस समय इस कवितामय वर्णन में अर्जुन को जो रस मिला था वैसा ही रस आज के अर्जुन को भी इसमें मिलता है।

भगवान् का प्रत्यक्ष रूप—यह एक पहेली है। भगवान् का कोई शरीर तो है नहीं, जो उसका प्रत्यक्ष रूप होता, परन्तु फिर भी गीता ने भगवान् के अप्रत्यक्ष तथा अदृश्य रूप को प्रत्यक्ष तथा दृश्य बनाने का प्रयत्न किया है। 'विचार' कितना अप्रत्यक्ष होता है, परन्तु उसी विचार को समझानेवाला गुरु उसे ऐसा रूप देता है कि वह हमारे लिये प्रत्यक्ष हो जाता है। भगवान् के विषय में श्रीकृष्ण ने गीता के इस प्रकरण में ऐसा ही किया है।

[अध्यात्म-ज्ञान से मोह का नाश]

अर्जुन ने कहा : **मुझ पर अनुग्रह करने के लिये जो परम गोपनीय 'अध्यात्म'-नाम का उपदेश तूने मुझे सुनाया, उसके कारण मेरा मोह (जिससे मैं युद्ध से पीठ फेर रहा था) दूर हो गया है ॥१॥**

मैं समझे हुए था कि यह संसार अपने ही सहारे टिका हुआ है, अब गोपनीय अध्यात्म-रहस्य को सुन कर आँखें खुल जाने से मैंने देख लिया कि यह अपने सहारे नहीं, भगवान् के सहारे टिका है, वही सब-कुछ कर रहा है। जब मैं कुछ कर ही नहीं रहा तब किसी वस्तु के प्रति मेरा मोह ही कैसा ?

हे कमलनेत्र कृष्ण ! मैंने तुझसे जड़-चेतन (भूतों) की उत्पत्ति तथा विनाश के संबंध में और साथ ही तेरे अनश्वर गौरव के संबंध में सब कुछ सुना ॥२॥

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥

मदनुग्रहाय[1]–मेरे पर अनुग्रह करने के लिये; **परमम्**[2]–परम; **गुह्यम्**[3]–गोपनीय; **अध्यात्मसंज्ञितम्**[4]–अध्यात्म नाम वाला; **यत्**[7]–जो; **त्वया**[6]–तूने; **उक्तम्**[8]–कहा है; **वचः**[5]–वचन; **तेन**[9]–उससे; **मोहः**[12]–मोह; **अयम्**[11]–यह; **विगतः**[13]–दूर हो गया है; **मम**[10]–मेरा।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥

भवाप्ययौ[5]–उत्पत्ति तथा विनाश; **भूतानाम्**[4]–जड़-चेतन प्राणियों की; **हि**[1]–क्योंकि; **श्रुतौ**[8]–सुने हैं; **विस्तरशः**[7]–विस्तार से; **मया**[3]–मैंने; **त्वत्तः**[6]–तुझसे; **कमलपत्राक्ष**[2]–हे कमलपत्र के समान आँखों वाले; **माहात्म्यम्**[11]–महत्त्व; **अपि**[12]–भी; **च**[0]–और; **अव्ययम्**[10]–अविनाशी।

हे परमेश्वर ! जैसा तूने अपने विषय में कहा है अगर यह बात ऐसी ही है, तो हे पुरुषोत्तम ! मैं तेरे 'ईश्वरीय-रूप' को देखना चाहता हूँ (अभी तक मैंने तेरी विभूतियों से तेरी झाँकी ही ली है, तेरा साक्षात्-दर्शन नहीं किया, मैं तो ईश्वर के रूप का प्रत्यक्ष-दर्शन करना चाहता हूँ) ।।३।।

हे प्रभो ! यदि तू समझता है कि मेरे लिये तेरा वह रूप दर्शन कर सकना संभव है, तो हे योगेश्वर ! तू वह अपना अव्यय (अनश्वर) रूप मुझे दिखा ।।४।।

[भगवान् के अनेक रूप तथा दिव्य-दृष्टि]

श्री भगवान् ने कहा : **हे पार्थ ! तू मेरे सैकड़ों और**

एवमेतद्यथाऽऽत्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ।।३।।

एवम्[7]–ऐसा, इस प्रकार का; **एतत्**[6]–यह; **यथा**[4]–जैसा; **आत्थ**[5]–तूने कहा है; **त्वम्**[2]–तू; **आत्मानम्**[3]–आत्मा को, अपने-आप को; **परमेश्वर**[1]–हे परमेश्वर; **द्रष्टुम्**[12]–देखने के लिये; **इच्छामि**[13]–इच्छा करता हूँ; **ते**[9]–तेरे; **रूपम्**[11]–रूप को; **ऐश्वरम्**[10]–ईश्वरीय; **पुरुषोत्तम**[8]–हे पुरुषों में श्रेष्ठ श्रीकृष्ण ।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ।।४।।

मन्यसे[8]–तू मानता है; **यदि**[7]–यदि; **तत्**[3]–वह; **शक्यम्**[5]–सम्भव; **मया**[2]–मुझसे; **द्रष्टुम्**[4]–दर्शन करने के लिये; **इति**[6]–इस प्रकार; **प्रभो**[1]–हे प्रभु; **योगेश्वर**[10]–हे योगेश्वर; **ततः**[9]–फिर; **मे**[14]–मेरा, मुझे; **त्वम्**[11]–तू; **दर्शय**[15]–दिखा; **आत्मानम्**[13]–अपने-आपको; **अव्ययम्**[12]–अविनाशी को ।

श्री भगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ।।५।।

पश्य[11]–देख; **मे**[2]–मेरा; **पार्थ**[1]–हे अर्जुन; **रूपाणि**[10]–रूपों

हज़ारों रूपों को देख। वे नाना प्रकार के हैं, दिव्य हैं, नाना वर्णों के हैं, नाना आकृतियों के हैं ॥५॥

हे भारत ! आदित्यों, वसुओं, रुद्रों, दोनों अश्वि-कुमारों और मरुतों को देख। और भी अदृष्टपूर्व आश्चर्यों को देख, ऐसे आश्चर्य जो पहले कभी देखे ही नहीं गये ॥६॥

हे गुडाकेश अर्जुन ! तू आज यहाँ मेरे देह में सारे जगत् को चर और अचर सहित एक जगह सिमटा हुआ देख, अन्य कुछ भी अगर तू देखना चाहता है उसे भी (आज मेरे देह में सिमटा हुआ) देख ॥७॥

को; **शतशः**[3]–सैकड़ों; **अथ**[4]–और; **सहस्रशः**[5]–हजारों; **नानाविधानि**[6]–बहुत प्रकार के; **दिव्यानि**[9]–दिव्य; **नानावर्णाकृतीनि**[8]–नाना प्रकार के वर्ण एवं आकृति वाले; **च**[7]–और।

पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥६॥

पश्य[7]–देख; **आदित्यान्**[2]–आदित्यों को; **वसून्**[3]–वसुओं को; **रुद्रान्**[4]–रुद्रों को; **अश्विनौ**[5]–अश्वि-कुमारों को; **मरुतः**[6]–मरुतों को; **तथा**[8]–और; **बहूनि**[9]–बहुत; **अदृष्टपूर्वाणि**[10]–अदृष्टपूर्व, जिन्हें पहले नहीं देखा है; **पश्य**[12]–देख; **आश्चर्याणि**[11]–आश्चर्यों को; **भारत**[1]–हे भरत-कुल में उत्पन्न।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥

इह[3]–यहाँ; **एकस्थम्**[6]–एक ही जगह स्थित हुए; **जगत्**[9]–संसार को; **कृत्स्नम्**[8]–सारे; **पश्य**[10]–देख; **अद्य**[2]–आज; **सचराचरम्**[7]–जड़ और चेतन सृष्टि के सहित; **मम**[4]–मेरे; **देहे**[5]–शरीर में; **गुडाकेश**[1]–हे अर्जुन; **यत्**[13]–जो; **च**[12]–और; **अन्यद्**[11]–दूसरे को; **द्रष्टुम्**[14]–देखना; **इच्छसि**[15]–चाहता है।

परन्तु तू मुझे इन अपनी (मानवीय) आँखों से नहीं देख सकेगा, मैं तुझे 'दिव्य-चक्षु'—दिव्य-दृष्टि देता हूँ इस 'दिव्य-दृष्टि' से मेरी ईश्वरीय-शक्ति को देख ॥८॥

यह दिव्य-दृष्टि, जिससे अर्जुन संपूर्ण विश्व को श्रीकृष्ण के देह में सिमटा हुआ देख सकेगा, क्या है ? भिन्न-भिन्न विद्वानों के इसमें भिन्न-भिन्न मत हैं। कई लोग कहते हैं कि श्रीकृष्ण ने चमत्कार से अर्जुन को एक ऐसा नेत्र दे दिया जिससे श्रीकृष्ण के देह में उसे संपूर्ण विश्व दीखने लगा। ऐसी कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं। 'दिव्य-दृष्टि' का अर्थ सिर्फ़ इतना है कि संपूर्ण विश्व को एक जगह सिमटा हुआ हम अपने चर्म-चक्षुओं से नहीं देख सकते—तभी ८वें श्लोक में कहा है—तू अपनी मानवीय आँखों से यह सब-कुछ नहीं देख सकेगा, इससे अधिक इसका दूसरा अर्थ नहीं है। तो फिर 'दिव्य-दृष्टि' क्या है ? क्या यह किंवदन्ती है, पौराणिक कथा है, सिर्फ़ कल्पना है, या इसमें कोई तथ्य है, यथार्थता है ?

(१) **डॉ० राधाकृष्णन का मत**—डॉ० राधाकृष्णन का कथन है कि 'दिव्य-दृष्टि' सिर्फ़ कल्पना नहीं, एक आध्यात्मिक अनुभव है। उनका कहना है कि धार्मिक अनुभवों के इतिहास में इस प्रकार के अनेक दिव्य दर्शनों का उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ, **सेंट हिल्डेगार्ड** ने एक दिव्य-दर्शन का उल्लेख किया है जिसमें उसने एक सुन्दर मानवीय रूप के पुरुष को देखा था। उस रूप ने अपना परिचय जिन शब्दों में दिया उनसे गीता के वर्णन का स्मरण हो उठता है। उसने अपना वर्णन निम्न शब्दों में किया : "मैं ही वह सर्वोच्च अग्निमय शक्ति हूँ, जो जीवन की सब चिनगारियों को जन्म देती है। मुझ में मृत्यु का कोई अंश नहीं है, फिर भी मैं उसका नियमन करता हूँ क्योंकि मैं ज्ञान द्वारा उसी प्रकार ढका हुआ हूँ जैसे पक्षी पंखों से ढका होता है। मैं दिव्य-तत्व का वह सप्राण और अग्निमय सार हूँ जो खेतों के सौन्दर्य में चमकता है। मैं पानी में चमकता हूँ, मैं सूर्य और चन्द्रमा और तारों में जल रहा हूँ। अदृश्य वायु में जो रहस्यमय शक्ति है वह मेरी ही है। मैं सब प्राणियों के श्वास को संभाले रखता हूँ। हरियाली और फूलों

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥

न[7]—नहीं; **तु**[1]—तो; **माम्**[2]—मुझको; **शक्यसे**[8]—समर्थ होगा; **द्रष्टुम्**[5]—देखने के लिये; **अनेन**[3]—इस; **एव**[6]—ही; **स्वचक्षुषा**[4]—अपनी आँख से; **दिव्यम्**[10]—दिव्य; **ददामि**[12]—प्रदान करता हूँ; **ते**[9]—तुझको; **चक्षुः**[11]—आँख; **पश्य**[16]—देख; **मे**[13]—मेरे; **योगम्**[15]—योग को; **ऐश्वरम्**[14]—ईश्वरीय ।

में मैं ही साँस लेता हूँ और जब जलधाराएँ जीवित वस्तुओं की भांति बहती हैं, तब वह मैं ही होता हूँ।"*

(२) **स्वामी चिन्मयानन्द का मत**—गीता का अंग्रेज़ी में भाष्य स्वामी चिन्मयानन्द ने किया है। 'दिव्य-दृष्टि' के संबंध में उनका मत यह है कि 'दिव्य-दृष्टि' का अर्थ बौद्धिक-ज्ञान है। उदाहरणार्थ, रसायन-शास्त्र में कभी कहा जाता था कि संसार के अनन्त पदार्थ प्रयोगशाला में जाकर सिर्फ़ ९२ तत्व रह जाते हैं। किसी समय वैज्ञानिक लोग इन ९२ तत्वों में ही संसार के अनन्त तत्वों के दर्शन कर लेते थे। आज के अणु-युग में कहा जाता है कि इलेक्ट्रोन, प्रोटोन तथा न्यूट्रोन—इन तीन 'ट्रोनों' में विश्व के दर्शन हो जाते हैं। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को एक ब्रह्म-तत्व में विश्व का दर्शन करा दिया। सातवें श्लोक में कहा: "**इहैकस्थं जगत् कृत्स्नम्**'—इस एक में सारा जगत् मौजूद है; तेरहवें में फिर कहा: '**तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नम्**'—उस एक में सारा जगत् मौजूद है। इसी बात को सातवें अध्याय १२ श्लोक में कहा: "**मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि**'—मुझ में ही वे सब हैं, मुझ से ही उन सब की उत्पत्ति है; इसी बात को नवम अध्याय के ४र्थ श्लोक में कहा: '**मत्स्थानि सर्वभूतानि न त्वहं तेष्ववस्थितः**'—मुझ में ही सब प्राणी टिके हुए हैं, मैं उनमें टिका हुआ नहीं हूँ। ये सब वर्णन अनेकता में एकता की ओर ले जानेवाले हैं, विभूतियों से विश्व-रूप की तरफ़ ले जानेवाले हैं। दसवें अध्याय में तो श्रीकृष्ण ने विभूतियों का दर्शन कराया था, अनेकता का, एक का अनेक में दर्शन कराया था; ग्यारहवें अध्याय में श्रीकृष्ण एकता का, अनेक का एक में दर्शन करा रहे हैं, 'विभूति' अर्थात् भिन्नता के स्थान में 'विश्वरूप' अर्थात् एकता का दर्शन करा रहे हैं, उस एकता का जिसका हमने अभी ऊपर के श्लोकों में उल्लेख किया। यह दर्शन चर्म-चक्षुओं द्वारा दर्शन नहीं, बुद्धि द्वारा दर्शन है।

यह तो रहा स्वामी चिन्मयानन्द का 'दिव्य-दर्शन' को बौद्धिक दृष्टिकोण से समझाने का प्रयत्न। उन्होंने इसे आध्यात्मिक-दृष्टि से भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि विश्वरूप-दर्शन में सारा जगत् सिमिट कर एक-रूप हो गया—यही तो विश्वरूप का अर्थ है। प्रश्न यह है कि संसार हमें एक-रूप दीखता क्यों नहीं, क्यों यह शतशः, सहस्रशः विभक्त है, क्यों यह नाना-रूप है, नाना-वर्ण है, नाना-आकृति है, क्यों इसमें आदित्य, वसु, रुद्र, मरुत् अलग-अलग दीखते हैं, क्यों यह विश्व हमें एक-रूप ही नहीं दीखता? इसका कारण यह है कि हर वस्तु दूसरी वस्तु से 'देश' (Space) तथा 'काल' (Time) से जुदा है। एक वस्तु यहाँ है, दूसरी वहाँ है—यह 'देश' के कारण वस्तुओं की भिन्नता है; एक घटना आज हुई, दूसरी घटना पहले या पीछे हुई—यह 'काल' के कारण भिन्नता है। इन्हीं दो कारणों से संसार का नानात्व है, इन दोनों कारणों

* राजपाल एण्ड सन्स द्वारा प्रकाशित डॉ० राधाकृष्णन के गीता-भाष्य का हिन्दी भाषान्तर।

को हटा दिया जाय तो नानात्व समाप्त हो जाता है, सब संसार एक-जगह सिमिट आता है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन के मन में से 'देश' तथा 'काल' की भावना को निकाल दिया। जब 'देश' तथा 'काल' को निकाल दिया तब उसे पास का और दूर का, भूत का और भविष्यत् का सब एक ही स्थान में और एक ही काल में दर्शन होने लगा; जो दूर-से-दूर हो रहा था वह सामने दीखने लगा, जो सृष्टि में अब तक हो चुका था और जो आगे होनेवाला था वह उसी समय दीखने लगा। स्वामी चिन्मयानन्द का यह दिव्य-दृष्टि का आध्यात्मिक स्पष्टीकरण है।*

(३) **श्री सातवलेकर का मत**—श्री सातवलेकर का कहना है कि अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा था—**'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपम् ऐश्वरं पुरुषोत्तम'**—हे पुरुषोत्तम ! मैं तेरा ईश्वरीय रूप देखना चाहता हूँ। अर्जुन भगवान् का एक रूप देखना चाहता था, नाना रूप नहीं देखना चाहता था। नाना रूप तो वह विभूतियों में देख ही चुका था। उसी को देख कर ही तो उसे एक रूप देखने की उत्कंठा हुई थी। वह जानना चाहता था कि क्या अग्नि और जल, दिन और रात, जन्म और मरण, शत्रु और मित्र—ये परस्पर-विरोधी भाव भी एक ही परमेश्वर के रूप हैं ? वह विभूतियों को देख कर सन्देह में पड़ गया था, नाना रूपों के स्थान में एक रूप—'विश्व-रूप'—देखना चाहता था। श्रीकृष्ण ने कहा—यह ठीक है, भगवान् के नाना रूप हैं, सैंकड़ों, हजारों रूप हैं, नाना वर्ण, नाना आकृतियाँ हैं, परन्तु—देख, भगवान् की एक आकृति, एक रूप, वह रूप जिसमें चर-अचर सहित सारा जगत् आ सिमटा है, वह देख; परन्तु भगवान् के नाना रूपों को देखता हुआ वह उस एक रूप को देखे कैसे ? इसके लिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन को 'दिव्य-दृष्टि' दी जिससे वह उस 'एक' में 'सब' को देख सके।

श्री सातवलेकर का कहना है कि गीता में सिर्फ़ इतना लिखा है कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन को 'दिव्य-दृष्टि' दी, परन्तु वह कैसे दी, किस चीज़ से दी, वह क्या चीज़ थी, उसका क्या रूप था—इसका वर्णन नहीं है। तो क्या 'दिव्य-दृष्टि' के यथार्थ रूप को गुप्त रखा गया है ? नहीं, ऐसी बात नहीं है। गीताकार ने 'दिव्य-दृष्टि' की बात पहले कह दी थी इसलिए इसे दोबारा यहाँ नहीं कहा। पहले कहाँ कही थी, और क्या कही थी ?

सातवें अध्याय के ४—५—६ श्लोकों में कहा है : पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार तथा जीव—ये ब्रह्म का शरीर है, इन से ही सब भूत उत्पन्न हुए हैं। इसी अध्याय के १९वें श्लोक में कहा है : **'वासुदेवः सर्वम्'**—वासुदेव ही सब है। इसका अर्थ यह हुआ कि जितना हमें नानात्व दिखाई देता है, भिन्नता दिखाई देती है, अलग-अलगपना दिखाई देता है, वह सब नाना नहीं है, भिन्न नहीं है, अलग-अलग नहीं है, वह सब उसी का शरीर है। अनेकता तो

---

*Swami Chinmayanand's The BHAGAWAD GEETA, vol. 3, p. 86, 95, 102.

चर्म-चक्षुओं से दीखती ही है, यह अनेकता उसी का शरीर है—यह 'विभूति-योग' में देखा; इस अनेकता में एकता देखना, अनेकता मिलकर एक परमेश्वर का शरीर बनता है—यह देख लेना 'दिव्य-दृष्टि' है। 'दिव्य-दृष्टि' क्या है? भेद में अभेद देखना, अनेकता में एकता देखना, नाना विभूतियों में एक विभूतिमान् को देखना, '**वासुदेवः सर्वम्**' का ज्ञान हो जाना, पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश को उसी एक परब्रह्म का शरीर समझ लेना ही 'दिव्य-चक्षु' है, 'दिव्य-दृष्टि' है।

तो क्या यह संभव है कि भेद में अभेद, अनेकता में एकता, खंड में अखंड देखा जा सके? एक भगवान् में सारा विश्व तभी तो देखा जा सकता है जब इस नाना वर्ण, नाना आकृति के जगत् को '**एकस्थं जगत्कृत्स्नम्**' के रूप में, एक ही जगह पर सिमटा देखा जा सके। श्री सातवलेकर कहते हैं कि ऐसा संभव ही नहीं, यही यथार्थ दृष्टि है। वह कैसे?

श्री सातवलेकर कहते हैं कि इन्द्रियों का अनुभव कहने को तो खंड का, अनेकता का अनुभव कहा जाता है, परन्तु वास्तव में यह खंडों का, अनेकता का अनुभव नहीं है, अखंड, एकरस सद्वस्तु का अनुभव है। उदाहरण के लिए नेत्र का अनुभव लीजिये। विश्व भर में आप अपनी आँखें घुमाइये—सर्वत्र अखंड, एकरस, अटूट रूप का अनुभव होगा। मनुष्य भ्रम से बीच-बीच में खंडों की कल्पना करता है, यह सत्य है, परन्तु वह उसकी कल्पना है, यथार्थ अनुभव नहीं है। आप अपनी आँखों को घुमायें और देखें कि क्या दो वस्तुओं के बीच में 'रूप का अभाव' कहीं अनुभव होता है? यदि दो वस्तुओं के बीच में 'रूप का अभाव' नहीं है, तो वस्तुएँ भिन्न होती हुई भी 'रूप' अखंड ही अनुभव में आता है। एक वस्तु का रूप जहाँ समाप्त हुआ, वहाँ से ही दूसरी वस्तु का रूप दीखना शुरू हो जाता है, उस दूसरी का रूप समाप्त होते ही तीसरी वस्तु का रूप दीखता है। ऐसा ही सर्वत्र है। इस तरह थोड़ा-सा विचार करने पर पता लग जाता है कि इस विश्व का रूप खंडित नहीं है, अनेक नहीं है, टुकड़ों वाला नहीं है, अखंड, एकरस रूप इस विश्व में है। जैसी रूप की अखंडता है वैसी ही गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द आदि की अखंडता है। टुकड़ों, खंडों, विभागों, अनेकता का जो अनुभव है वह जागतिक अनुभव है, व्यावहारिक दशा का अनुभव है, सत्य अनुभव नहीं है।

जैसे इन्द्रियों के अनुभव में अनेकता, खंडता नहीं, एकता, समरसता है, वैसे शरीर में भी देखने को अनेकता है, परन्तु यथार्थ में एकता है। हम अपने शरीर में आँख, कान, नाक, हाथ, पाँव, पेट अवयव पृथक् भाव से देखते हैं, परन्तु इस भिन्नता के पीछे मैं-पन की एकरूपता मौजूद है जो अनुभवों के नानात्व को मिटा देता है। हमारा यथार्थ-ज्ञान खंड का, टुकड़े का नहीं, अखंड का, समूचे का ज्ञान होता है।

इन्द्रियों में, शरीर में जो भेद में अभेद दीख पड़ता है, वही समाज में है। हम अपने देश में हिन्दू, ईसाई, मुसलमान आदि भेद देखते हैं, परन्तु भारतीयता के नाते ये सब भेद मिट जाते हैं, भेदों में अभेद का तत्व निखर आता है।

भेद में अभेद, अनेकता में एकता, खंडों में अखंड को देख लेना ही 'दिव्य-चक्षु' है जो श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दे दी। इस दिव्य-चक्षु से वह जब देखता था तब उसे सब जगह भगवान्-ही-भगवान् दीखता था। यह पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, तारे, जगत् के जीव-जन्तु सब उसी का शरीर उसे दीखने लगा, उसकी आँखों के सामने एक विराट् पुरुष का रूप उठ खड़ा हुआ, और हर-एक वस्तु उसी शरीर का अंग दीखने लगी। इस दिव्य-दृष्टि से उसे यह नाना-रूप जगत् एक ही पुरुष का जीवित शरीर अनुभव हुआ—यही 'विराट्-पुरुष' के दर्शन का अर्थ है।

[संजय द्वारा भगवान् के विश्व-रूप का दर्शन]

संजय ने कहा: **हे राजन्! इस प्रकार कह कर महान् योगेश्वर हरि (कृष्ण) ने पार्थ (अर्जुन) को अपना परम ईश्वरीय-रूप दिखलाया ॥९॥**

वह रूप अनेक मुखों वाला था, अनेक नेत्रों वाला था, उसमें अनेक अद्भुत दृश्य थे, उसने अनेक दिव्य अलंकार धारण किये हुए थे, उसने अनेक दिव्य शस्त्र उठा रखे थे ॥१०॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥९॥

एवम्[4]—इस प्रकार; **उक्त्वा**[5]—कह कर; **ततः**[6]—तब; **राजन्**[1]—हे राजन्; **महायोगेश्वरः**[2]—महान् योगेश्वर; **हरिः**[3]—श्री कृष्ण ने; **दर्शयामास**[11]—दिखाया; **पार्थाय**[7]—पृथा (कुन्ती) के पुत्र अर्जुन को; **परमम्**[8]—श्रेष्ठ; **रूपम्**[10]—रूप को; **ऐश्वरम्**[9]—ईश्वरीय।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥

अनेकवक्त्रनयनम्[1]—जिसके अनेक मुख, नयन हों; **अनेकाद्भुतदर्शनम्**[2]—जिसके दर्शन अनेक व अत्यधिक आश्चर्यंकर हों; **अनेकदिव्याभरणम्**[3]—अनेक दिव्य अलङ्कारों से युक्त; **दिव्यानेकोद्यतायुधम्**[4]—जिसने अपने अनेक दिव्य शस्त्रों को उठा रखा है।

उसने अनेक दिव्य मालाएँ और वस्त्र धारण किये हुए थे, उसके दिव्य सुगन्धित लेप लगे हुए थे, वह देव सब तरह से आश्चर्यमय था, अनन्त था, उसके मुख चारों तरफ़ थे ॥११॥

यदि आकाश में एक हज़ार सूर्यों की आभा एक-साथ दमक उठे, तो वह आभा उस महात्मा की आभा जैसी कदाचित् हो सके ॥१२॥

वहाँ पांडव (अर्जुन) ने उस देवाधिदेव के शरीर में अनेक रूपों में बँटे हुए जगत् को एक ही जगह स्थित देखा, अर्थात् अनेक प्रकार से विभक्त हुआ समूचा जगत् एक रूप में विद्यमान देखा ॥१३॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

दिव्यमाल्याम्बरधरम्[1]–दिव्य माला तथा वस्त्रादि को धारण करते हुए को; **दिव्यगन्धानुलेपनम्**[2]–दिव्य सुगन्ध वाले अनुलेपनों से युक्त को; **सर्वाश्चर्यमयम्**[3]–सर्व आश्चर्यों से युक्त; **देवम्**[6]–देव को; **अनन्तम्**[4]–अन्त रहित; **विश्वतोमुखम्**[5]–चारों ओर मुखों वाले।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥

दिवि[1]–आकाश में; **सूर्यसहस्रस्य**[2]–एक सहस्र सूर्यों की; **भवेद्**[6]–होवे; **युगपद्**[3]–एक साथ; **उत्थिता**[4]–उठी हुई, उदित; **यदि**[12]–यदि; **भाः**[5]–प्रकाश, रोशनी, चमक; **सदृशी**[11]–समान; **सा**[7]–वह; **स्याद्**[13]–होवे; **भासः**[10]–प्रकाश या चमक के; **तस्य**[8]–उस; **महात्मनः**[9]–महात्मा की।

तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद् देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥

तत्र[7]–वहां, उसमें; **एकस्थम्**[10]–एक ही जगह स्थित; **जगत्**[6]–संसार को; **कृत्स्नम्**[5]–सारे; **प्रविभक्तम्**[4]–बँटे हुए; **अनेकधा**[3]–

तब धनंजय (अर्जुन) आश्चर्यचकित और रोमांचित होकर, सिर झुकाकर, हाथ जोड़कर बोला ॥१४॥

[दिव्य-दृष्टि मिलने पर विश्व-रूप का दर्शन]

अर्जुन ने कहा : **हे देव ! मैं आपकी देह में सब देवताओं को, नाना प्रकार के सब प्राणियों के समुदायों को देख रहा हूँ। मैं ब्रह्मा को, ईश अर्थात् शिव को तथा कमल के आसन पर विराजमान अर्थात् विष्णु को और इनके अतिरिक्त सब ऋषियों को और दिव्य सर्पों को भी देख रहा हूँ ॥१५॥**

उक्त पद में ब्रह्माणम्—ब्रह्मा को; ईशम्—शिव को; कमलासनस्थम् विष्णु को, यह अर्थ हमने किया है। ब्रह्मा संसार का 'कर्ता' (Creator)

अनेक प्रकार से; **अपश्यत्**[11]–देखा; **देवदेवस्य**[8]–देवाधिदेव के; **शरीरे**[9]–शरीर में; **पाण्डवः**[1]–पाण्डु के पुत्र अर्जुन ने; **तदा**[2]–तब।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

ततः[1]–तब; सः[2]–वह; **विस्मयाविष्टः**[3]–आश्चर्ययुक्त; **हृष्टरोमा**[4]–पुलकित हो गये हैं रोम जिस के; **धनञ्जयः**[5]–अर्जुन; **प्रणम्य**[8]–प्रणाम करके; **शिरसा**[7]–सिर से, मस्तक-नमन पूर्वक; **देवम्**[6]–देव को; **कृताञ्जलिः**[9]–अञ्जलि बाँध कर, हाथ जोड़ कर; **अभाषत**[10]–कहने लगा।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

पश्यामि[17]–देखता हूँ; **देवान्**[5]–देवों को; **तव**[2]–तेरे; **देव**[1]–हे देव; **देहे**[3]–शरीर में; **सर्वान्**[4]–सबको; **तथा**[6]–और; **भूतविशेष-संघान्**[7]–प्राणियों के समूहों को; **ब्रह्माणम्**[8]–ब्रह्मा को; **ईशम्**[9]–शिव को; **कमलासनस्थम्**[10]–कमल के आसन पर स्थित विष्णु को;

है, शिव 'संहर्ता' (Annihilator) है, विष्णु 'धर्ता' (Sustainer) है। अर्जुन कहता है कि भगवान् के इन तीनों रूपों को मैं आप में देख रहा हूँ। अन्य टीकाकार इस पद का यह अर्थ करते हैं कि मैं कमल के आसन पर विराजमान, सब देवताओं के स्वामी, ब्रह्मदेव को देख रहा हूँ—इस अर्थ में एक ही देवता को ब्रह्मा, ईश तथा कमलासनस्थ कह दिया है।

अनेक बाहु, अनेक उदर, अनेक मुख और अनेक नेत्र-युक्त आपको मैं देख रहा हूँ, अनन्त रूप वाले आपको मैं चारों तरफ़ देख रहा हूँ। हे विश्वेश्वर! विश्वरूप! आप का न तो अन्त, न मध्य और न फिर आदि ही मुझे कहीं दीख रहा है ॥१६॥

मैं आपको मुकुट, गदा और चक्र धारण किये हुए, चारों तरफ से तेज की राशि से दीप्त होते हुए, दमकते हुए अग्नि और सूर्य की द्युति के समान देदीप्यमान, अज्ञेय

ऋषीन्[13]–ऋषियों को; **च**[11]–और; **सर्वान्**[12]–सारे; **उरगान्**[16]–सर्पों को; **च**[14]–और; **दिव्यान्**[15]–दिव्यों को।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम्[2]–जिसके अनेक भुजाएँ, उदर (पेट), मुख, नयन (नेत्र) हैं; **पश्यामि**[6]–देखता हूँ; **त्वाम्**[5]–तुझ को; **सर्वतः**[3]–सब ओर से; **अनन्तरूपम्**[4]–न अन्त होने वाले रूप वाले को; **न**[9]–नहीं; **अन्तम्**[10]–अन्त को; **न**[11]–नहीं; **मध्यम्**[12]–मध्य को; **न**[14]–नहीं; **पुनः**[13]–फिर; **तव**[8]–तेरा; **आदिम्**[15]–आदि को; **पश्यामि**[16]–देखता हूँ; **विश्वेश्वर**[1]–हे विश्व (संसार) के ईश्वर; **विश्वरूप**[7]–हे विश्व रूप वाले।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥

किरीटिनम्[2]–मुकुटधारी को; **गदिनम्**[3]–गदाधारी को; **चक्रिणम्**[5]–चक्रधारी को; **च**[4]–और; **तेजोराशिम्**[8]–तेज के समूह

रूप से युक्त को, जिसे देख पाना भी कठिन है, ऐसे आप को देख रहा हूँ ॥१७॥

आप ही परम ज्ञेय, अविनाशी ब्रह्म हो, आप ही इस जगत् के अन्तिम आधार हो, आप ही शाश्वत-धर्म के अविनाशी रक्षक हो, आप ही सनातन-पुरुष जान पड़ते हो ॥१८॥

जिसका न आदि है, न मध्य है, न अन्त है, जिसकी शक्ति अनन्त है, जिसकी भुजाएँ अनन्त हैं, सूर्य-चन्द्र जिसके नेत्र हैं, जिसका मुख धधकती हुई आग के समान है, जो अपने तेज से सारे विश्व को तपा रहा है—मैं ऐसे आपको देख रहा हूँ ॥१९॥

वाले को; **सर्वतः**[6]—सब ओर से; **दीप्तिमन्तम्**[7]—प्रकाशमान; **पश्यामि**[13]—देखता हूँ; **त्वाम्**[1]—तुझे; **दुर्निरीक्ष्यम्**[10]—जिसको देख पाना कठिन है; **समन्तात्**[12]—चारों ओर से; **दीप्तानलार्कद्युतिम्**[9]—प्रज्वलित अग्नि और सूर्य के समान कान्ति वाले को; **अप्रमेयम्**[11]—अज्ञेय को।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

त्वम्[1]—तू; **अक्षरम्**[4]—अविनाशी; **परमम्**[3]—परम; **वेदितव्यम्**[2]—जानने योग्य; **त्वम्**[5]—तू; **अस्य**[6]—इसका; **विश्वस्य**[7]—सब विश्व का; **परम्**[8]—परम; **निधानम्**[9]—आधार, आश्रय; **त्वम्**[10]—तू; **अव्ययः**[11]—अविनाशी; **शाश्वतधर्मगोप्ता**[12]—सदा धर्म की रक्षा करने हारा; **सनातनः**[14]—सनातन; **त्वम्**[13]—तू; **पुरुषः**[15]—पुरुष; **मतः**[17]—जान पड़ते हो; **मे**[16]—मुझे।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

अनादिमध्यान्तम्[1]—जिसका न तो आदि ही है और न ही मध्य है और न अन्त है; **अनन्तवीर्यम्**[2]—जिसकी शक्ति अनन्त है; **अनन्त-**

आकाश और पृथ्वी के बीच के इस अन्तराल में और सब दिशाओं में आप ही अकेले व्याप्त हो रहे हैं। हे महात्मन् ! आपके इस उग्र, अद्भुत रूप को देखकर तीनों लोक (डर से) काँप उठे हैं ॥२०॥

यह देखो, ये देवताओं के समूह आप में प्रवेश कर रहे हैं; कितने ही भयभीत हुए हाथ जोड़ कर आपका गुण-गान कर रहे हैं; महर्षि और सिद्धों के समूह 'स्वस्ति'-'स्वस्ति'—'कल्याण हो'-'कल्याण हो'—कह कर अनेक प्रकार के स्तोत्रों से आपकी स्तुति कर रहे हैं ॥२१॥

बाहुम्[3]—जिसकी अनन्त भुजायें हैं; **शशिसूर्यनेत्रम्**[4]—जिसके चन्द्र और सूर्य नेत्र हैं; **पश्यामि**[11]—देखता हूँ; **त्वाम्**[10]—आपको; **दीप्तहुताशवक्त्रम्**[5]—दीप्त अग्नि के समान मुख वाले को; **स्वतेजसा**[6]—अपने तेज से; **विश्वम्**[8]—सारे संसार को; **इदम्**[7]—इसको; **तपन्तम्**[9]—तपाते हुए को ।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाऽद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

द्यावापृथिव्योः[3]—आकाश और पृथिवी के; **इदम्**[2]—इस; **अन्तरम्**[4]—अन्तराल (बीच) को; **हि**[10]—ही; **व्याप्तम्**[11]—व्याप्त किया है; **त्वया**[9]—तुझ; **एकेन**[8]—अकेले ने; **दिशः**[7]—दिशाएँ; **च**[5]—और; **सर्वाः**[6]—सब; **दृष्ट्वा**[17]—देखकर; **अद्भुतम्**[14]—आश्चर्ययुक्त; **रूपम्**[16]—रूप को; **उग्रम्**[15]—उग्र; **तव**[12]—तेरा; **इदम्**[13]—यह; **लोकत्रयम्**[18]—तीनों ही लोक; **प्रव्यथितम्**[19]—काँप उठे हैं; **महात्मन्**[1]—हे महात्मन् ।

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति,
केचिद् भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्ध-सङ्घाः,
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

अमी[1]—ये; **हि**[4]—ही; **त्वाम्**[3]—तुझको; **सुरसङ्घाः**[2]—देवों के समुदाय; **विशन्ति**[5]—प्रवेश करते हैं; **केचिद्**[6]—कुछ, कई; **भीताः**[7]—

रुद्र और आदित्य, वसु और साध्यगण, विश्वेदेव, दोनों अश्विनी कुमार, मरुद्गण और ऊष्मपा (श्री तिलक ने लिखा है कि पितरों को जो अन्न अर्पण किया जाता है उसे वे तभी तक ग्रहण करते हैं जबतक वह गरमागरम रहे—इसलिये पितरों को ऊष्मपा कहा गया है), गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धों के झुण्ड-के-झुण्ड—ये सभी विस्मित होकर आपको निरख रहे हैं ॥२२॥

हे महाबाहु ! आपके इस महान् अनेक मुखों और नेत्रों वाले, अनेक भुजाओं, जाँघों और पैरों वाले, अनेक उदरों वाले, अनेक दाढ़ों के कारण विकराल दीख पड़ने वाले

डरे हुए; **प्राञ्जलयः**[8]—हाथ जोड़े हुए; **गृणन्ति**[9]—गुणगान करते हैं; **स्वस्ति**[11]—कल्याण हो; **इति**[12]—ऐसा; **उक्त्वा**[13]—कहकर; **महर्षि-सिद्धसङ्घाः**[10]—महर्षि और सिद्धों के समूह; **स्तुवन्ति**[17]—स्तुति करते हैं; **त्वाम्**[16]—तुझ को; **स्तुतिभिः**[15]—स्तुतियों से; **पुष्कलाभिः**[14]—बहुत अधिक, अनेक ।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षाऽसुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

रुद्रादित्याः[2]—रुद्र और आदित्य; **वसवः**[4]—वसु; **ये**[1]—जो; **च**[3]—और; **साध्याः**[5]—साध्यगण; **विश्वे**[6]—विश्वदेव; **अश्विनौ**[7]—अश्विनी-कुमार; **मरुतः**[9]—मरुद्गण; **च**[8]—और; **ऊष्मपाः**[11]—पितर लोग; **च**[10]—और; **गन्धर्वयक्षाऽसुरसिद्धसङ्घाः**[13]—गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सिद्ध लोगों के समुदाय; **वीक्षन्ते**[18]—देखते हैं; **त्वाम्**[17]—तुझे; **विस्मिताः**[16]—आश्चर्य से युक्त; **च**[12]—और; **एव**[15]—ही; **सर्वे**[14]—सारे ।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम् ॥२३॥

रूपम्[8]—रूप; **महत्**[7]—महान्; **ते**[2]—तेरा; **बहुवक्त्रनेत्रम्**[3]—बहुत से मुख और नयनोंवाला; **महाबाहो**[1]—हे महाबाहु; **बहुबाहूरु-**

रूप को देखकर सारे लोक काँप उठे हैं, मैं भी उसी प्रकार भयभीत हो रहा हूँ ॥२३॥

आकाश तक को छूने वाले, जगमगाते, रंग-बिरंगे, खुले मुख वाले, देदीप्यमान विशाल नेत्रों वाले आपके रूप को देखकर मेरा अन्तरात्मा (भय से) व्याकुल हो उठा है, हे विष्णु ! (यह सब देख कर) मुझे न धीरज मिल रहा है, न शान्ति मिल रही है ॥२४॥

जब मैं प्रलय काल की अग्नि की लपटों के समान विकराल दाढ़ों वाले आपके मुखों को देखता हूँ, तब मुझे

पादम्[4]—बहुत बाहु, जंघा और,पाँव वाला; बहूदरम्[5]—बहुत हैं उदर जिसके; बहुदंष्ट्राकरालम्[6]—बहुत हैं भयङ्कर दाढ़ें जिसकी; दृष्ट्वा[9]—देखकर; लोकाः[10]--संसार; प्रव्यथिताः[11]—काँप रहे हैं; तथा[12]—और; अहम्[13]—मैं ।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं ,
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा ,
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

नभःस्पृशम्[3]—आकाश को छूने वाले; दीप्तम्[4]—जगमगाते हुए; अनेकवर्णम्[5]—अनेकानेक रङ्ग वाले; व्यात्ताननम्[6]—खुले मुख वाले; दीप्तविशालनेत्रम्[7]—चमकते हुए विशाल नेत्रों वाले; दृष्ट्वा[9]—देखकर; हि[1]—ही; त्वाम्[8]—तुझ को; प्रव्यथितान्तरात्मा[10]—व्यथित हो गया है आत्मा जिसका ऐसा मैं; धृतिम्[11]—धैर्य को; न[14]—नहीं; विन्दामि[15]—प्राप्त करता हूँ; शमम्[13]—शान्ति को; च[12]—और; विष्णो[2]—हे कृष्ण ।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

दंष्ट्राकरालानि[2]—विकराल जबड़ों वाले; च[3]—और; ते[1]—तेरे; मुखानि[5]—मुखों को; दृष्ट्वा[6]—देखकर; एव[12]—ही; कालानल-

न दिशाएँ सूध पड़ती हैं, न किसी प्रकार की चैन पड़ती है। हे देवेश! हे जगन्निवास, आप प्रसन्न हूजिये ॥२५॥

यह देखो, राजाओं के सब संघों के सहित धृतराष्ट्र के ये पुत्र, भीष्म, द्रोण और वह सूतपुत्र कर्ण, हमारी ओर के भी मुख्य-मुख्य योद्धाओं के साथ ॥२६॥

आप की भयानक विकराल दाढ़ों वाले भयंकर मुखों में धड़ाधड़ घुसे जा रहे हैं, कुछ उन दाँतों के बीच में फँसे दीख रहे हैं, उनकी खोपड़ियाँ पिस कर चूर-चूर हो गई हैं ॥२७॥

सन्निभानि[4]–प्रलय काल की अग्नि के समान; **दिशः**[7]–दिशाओं को; **न**[8]–नहीं; **जाने**[9]–जानता हूँ; **न**[13]–नहीं; **लभे**[14]–प्राप्त करता हूँ; **च**[10]–और; **शर्म**[11]–सुख को; **प्रसीद**[17]–प्रसन्न हो; **देवेश**[15]–हे देवों के स्वामिन्; **जगन्निवास**[16]–हे जगत् के निवास-स्थान हुए-हुए।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवाऽवनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥

अमी[1]–ये; **च**[9]–और; **त्वाम्**[8]–तुझको; **धृतराष्ट्रस्य**[4]–धृतराष्ट्र के; **पुत्राः**[5]–पुत्र; **सर्वे**[2]–सब; **सह**[7]–साथ; **एव**[3]–ही; **अवनिपाल-संघैः**[6]–राजाओं के गण; **भीष्मः**[10]–भीष्म; **द्रोणः**[11]–द्रोणाचार्य; **सूतपुत्रः**[14]–कर्ण; **तथा**[12]–और; **असौ**[13]–यह; **सह**[18]–साथ; **अस्मदीयैः**[15]–हमारे; **अपि**[16]–भी; **योधमुख्यैः**[17]–प्रधान युद्ध-सैनिक, सेनानायक।

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद् विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

वक्त्राणि[5]–मुखों को; **ते**[2]–तेरे; **त्वरमाणाः**[1]–जल्दी करते हुए, धड़ाधड़; **विशन्ति**[6]–घुसे जा रहे हैं; **दंष्ट्राकरालानि**[3]–विकराल दाढ़ों वाले; **भयानकानि**[4]–भयावह; **केचिद्**[7]–कुछ; **विलग्नाः**[11]–लगे हुए; **दशनान्तरेषु**[10]–दाँतों के बीच में; **संदृश्यन्ते**[12]–दीखते हैं; **चूर्णितैः**[8]–चूर-चूर हुई; **उत्तमाङ्गैः**[9]–खोपड़ियों से।

जिस प्रकार नदियों के अनेक वेगवान् प्रवाह समुद्र की ओर दौड़ते जाते हैं, उसी प्रकार नर-लोक के ये वीर-योद्धा आपके लपटें उगलते हुए मुखों में प्रविष्ट हुए जा रहे हैं ॥२८॥

जिस प्रकार पतंगे बड़े वेग से अपने विनाश के लिये प्रदीप्त अग्नि पर झपटते हुए आते हैं, उसी प्रकार अपने विनाश के लिये ये लोग बड़े वेग से आपके मुखों में घुसे जा रहे हैं ॥२९॥

आप अपने धधकते हुए मुखों से, सब दिशाओं से, सब लोकों को निगलते हुए जीभ चाट रहे हैं। हे विष्णो !

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥

यथा[1]–जैसे; **नदीनाम्**[2]–नदियों के; **बहवः**[3]–बहुत; **अम्बुवेगाः**[4]–जल-प्रवाह; **समुद्रम्**[5]–समुद्र को; **एव**[6]–ही; **अभिमुखाः**[7]–ओर; **द्रवन्ति**[8]–दौड़ते हैं; **तथा**[9]–उसी प्रकार; **तव**[12]–तेरे; **अमी**[10]–ये; **नरलोकवीराः**[11]–नर-लोक के वीर; **विशन्ति**[15]–प्रवेश करते हैं; **वक्त्राणि**[14]–मुखों को; **अभिविज्वलन्ति**[13]–प्रज्वलित हुए-हुए ।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥

यथा[1]–जैसे; **प्रदीप्तम्**[4]–दीप्त; **ज्वलनम्**[5]–आग में; **पतङ्गाः**[2]–पतङ्गे; **विशन्ति**[7]–घुसते हैं; **नाशाय**[3]–अपने विनाश के लिये; **समृद्धवेगाः**[6]–बड़े वेगवाले; **तथा**[8]–वैसे; **एव**[9]–ही; **नाशाय**[12]–अपने नाश के लिए; **विशन्ति**[16]–प्रवेश करते हैं; **लोकाः**[10] –लोग, जन-समुदाय; **तव**[13]–तेरे; **अपि**[11]–भी; **वक्त्राणि**[14]–मुखों को; **समृद्धवेगाः**[15]–बढ़े हुए वेग वाले ।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

लेलिह्यसे[7]–जीभ से चाट रहे हैं; **ग्रसमानः**[5]–ग्रसते हुए; **समन्तात्**[6]–चारों ओर से; **लोकान्**[2]–लोकों को; **समग्रान्**[1]–सारे;

आपका उग्र प्रकाश समग्र जगत् को तेज से भरपूर कर रहा है और उसे झुलसा रहा है ।।३०।।

आप मुझे बतलाइये कि इतने उग्र रूप वाले आप कौन हैं ? हे देवताओं में श्रेष्ठ ! आपको नमस्कार करता हूँ, प्रसन्न हूजिये । मैं जानना चाहता हूँ कि आप जो आदि-पुरुष हैं वे कौन हैं ? मैं आपकी 'प्रवृत्ति' को, आप विश्व को किधर ले जा रहे हैं—इसको नहीं जानता ।।३१।।

[काल-रूप भगवान्]

श्री भगवान् ने कहा : **मैं लोकों को क्षय कर देने वाला 'काल' हूँ; मैं विशाल रूप धारण कर गया हूँ; लोकों का**

वदनैः[4]—मुखों से; **ज्वलद्भिः**[3]—जलते हुए; **तेजोभिः**[14]—तेजों से; **आपूर्य**[15]—भरकर; **जगत्**[3]—संसार को; **समग्रम्**[12]—सारे; **भासः**[11]—आभा, प्रकाश; **तव**[9]—तेरी; **उग्राः**[10]—उग्र; **प्रतपन्ति**[16]—तपाती हैं; **विष्णो**[8]—हे कृष्ण ।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ।।३१।।

आख्याहि[2]—कह, बता; **मे**[1]—मुझ को; **कः**[5]—कौन; **भवान्**[3]—आप; **उग्ररूपः**[4]—उग्र रूप वाले; **नमः**[8]—नमस्ते; **अस्तु**[9]—हो; **ते**[7]—तुझे; **देववर**[6]—देवों में श्रेष्ठ; **प्रसीद**[10]—प्रसन्न हो; **विज्ञातुम्**[13]—जानने की; **इच्छामि**[14]—इच्छा करता हूँ; **भवन्तम्**[12]—आपको; **आद्यम्**[11]—पहला; **न**[18]—नहीं; **हि**[15]—ही, क्योंकि; **प्रजानामि**[19]—जानता हूँ; **तव**[16]—तेरी; **प्रवृत्तिम्**[17]—प्रवृत्ति को ।

श्री भगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ।।३२।।

कालः[3]—काल; **अस्मि**[4]—हूँ; **लोकक्षयकृत्**[1]—लोकों के क्षय करने वाला; **प्रवृद्धः**[2]—बढ़ा हुआ; **लोकान्**[6]—लोकों को; **समाहर्तुम्**[7]—

संहार करने में 'प्रवृत्त' हूँ, लगा हुआ हूँ। (अर्जुन ने पूछा था – आपकी 'प्रवृत्ति' क्या है, आप किस बात में 'प्रवृत्त' हैं। उसका उत्तर दिया – मैं लोकों का संहार करने में 'प्रवृत्त' हूँ)। तू हो, न हो, तो भी सेनाओं में जो योद्धागण खड़े हैं–ये सब बच रह जाने वाले नहीं हैं ॥३२॥

भारतीय-संस्कृति में 'सत्य' के एक पक्ष को न देखकर व्यापी पक्ष को देखा गया है। संसार में सत्य क्या है? क्या सत्ता ही सत्य है? भगवान् ने सृष्टि को रचा—सत्ता ने व्यक्त रूप धारण किया। परन्तु रचना के साथ क्या संहार सटा हुआ नहीं है? जहाँ-जहाँ रचना है, उत्पत्ति है, वहाँ-वहाँ पुरानी रचना को नष्ट करना, उसका विनाश करना जुड़ा हुआ है। भगवान् को सिर्फ़ रचना तथा जन्म में देखना 'सत्य' का एक पक्ष है, भगवान् विनाश तथा मृत्यु के रूप में भी सदा क्रियाशील रहता है—यह 'सत्य' का दूसरा पक्ष है। भारतीय-संस्कृति 'ब्रह्मा' को सृष्टि का उत्पन्न करनेवाला मानती है, तो उसी के 'शिव' रूप को सृष्टि का भस्म करनेवाला भी मानती है। 'सत्य' का संपूर्ण, समग्र, व्यापी रूप यही है कि अगर वह रचता है तो वही नष्ट भी करता है; अगर वह सुख देता है तो दु:ख भी वही देता है; अगर वह उठाता है तो गिराता भी वही है। जो लोग भगवान् को सृष्टि का रचयिता, सुख देनेवाला, उठानेवाला मानते हैं, और शैतान को सृष्टि का नाश करनेवाला, दु:ख देनेवाला, गिरानेवाला मानते हैं, वे भगवान् के एक पक्ष को देखते हैं, उसके समग्र रूप को नहीं देखते। हाँ, यह पूछा जा सकता है कि वह भगवान् जो सृष्टि को रचता है, वह उसका विनाश क्यों कर देता है, वह जो हमें उठाता है, वह हमें पटक क्यों देता है? इसका उत्तर यही है कि जो उत्पन्न कर सकता है, नष्ट भी वही कर सकता है, जो सुख दे सकता है, दु:ख भी वही दे सकता है, जो उठा सकता है, गिरा भी वही सकता है। दूसरा क्यों ऐसा करेगा? जिसने सुख दिया उसने किसी कारण से सुख दिया; जिसने उठाया उसने किसी कारण से उठाया। वह कारण जाता रहेगा तो सुख देने वाला ही तो दु:ख देने लगेगा। भगवान् का सृष्टि का विधान है, कारण-कार्य का नियम काम कर रहा है। जब दु:ख के कारण जमा हो जाते हैं, जब सृष्टि के विनाश के सामान इकट्ठे होकर उनका ढेर लग जाता है, तब वही सुख देनेवाला परब्रह्म परमात्मा काल का रूप, प्रचण्ड ज्वाला का रूप धारण कर लेता है, तब वही हमारे अंगों पर कोमल हाथ

संहार करने के लिये; **इह**[5]–यहाँ; **प्रवृत्तः**[8]–प्रवृत्त हो रहा हूँ; **ऋते**[15]–बिना; **अपि**[16]–भी; **त्वाम्**[14]– तुझ को; **न**[17]–नहीं; **भविष्यन्ति**[18]–होंगे; **सर्वे**[13]–सब; **ये**[9]–जो; **अवस्थिताः**[11]–ठहरे हुए हैं; **प्रत्यनीकेषु**[10]–शत्रु की सेनाओं में; **योधाः**[12]–रणवीर।

फेरने वाला हमारी खोपड़ियों को अपनी निष्ठुर दाढ़ों से चबाने लगता है। हम जहाँ तक देख पाते हैं, भगवान् उससे आगे देखते हैं। यही कारण है कि भगवान् के विश्वरूप में भीष्म, द्रोण और सब सेनाएँ पतंगों की तरह युद्ध की लपटों में झुलसती नज़र आ रही हैं, कर्मों का विपाक ऐसा हो गया है कि अर्जुन शस्त्र उठाये, या न उठाये, ये बच कर रहनेवाली नहीं हैं। हम समझते हैं कि हम जो चाहें कर सकते हैं, परन्तु भगवान् के नियन्त्रण में मनुष्य की स्वतंत्रता के सब दावे निरर्थक हैं। यही कारण है कि जब कोई व्यक्ति, देश, राष्ट्र कुराह में चलता-चलता अन्त कर देता है, तब भगवान् के अटल नियम, उसकी दाढ़ें, उसकी प्रचंड ज्वालाएँ चारों तरफ़ दीखने लगती हैं। इनका उग्र रूप धारण कर लेना आवश्यक है, इसलिए आवश्यक है क्योंकि जबतक विनाश नहीं होता, तब तक उत्पत्ति नहीं होती, जब तक पुराना ढाया नहीं जाता तबतक नवीन का निर्माण नहीं होता। रचना के लिए विध्वंस का होना आवश्यक है। विध्वंस अकारण नहीं होता, विध्वंस का कारण होता है, वह कारण खड़ा हो और विध्वंस न हो—यह संसार का नियम ही नहीं है। गीता में भगवान् के काल-रूप में प्रकट होने का यही अर्थ है। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि संसार के विनाश की सामग्री जुट चुकी है।

इसलिये तू उठ खड़ा हो, यश का लाभ ले ले, शत्रुओं को जीतकर समृद्धिपूर्ण राज्य का उपभोग कर। ये सब तो मेरे द्वारा ही मारे जा चुके हैं, हे सव्यसाची अर्जुन ! तू तो केवल निमित्त-रूप बन जा ॥३३॥

'निमित्त रूप बन जा' का क्या अर्थ है ? जीवन का अनुभव हमें बताता है कि हम समझते हैं, हमारे हाथ में बहुत-कुछ है, कई लोग समझते हैं, उनके हाथ में सब-कुछ है, परन्तु ऐसे क्षण आते हैं जब हमें तत्व रूप में यह भान हो जाता है कि हमारे हाथ में कुछ नहीं, उसी के हाथ में सब-कुछ है; जिस बात के विषय में हम समझते थे कि यह हमारे हाथ में था, वह भी उसी के हाथ में था, हम केवल उसके निमित्त बन कर वह काम कर रहे थे, उसके निमित्त करते हुए समझ यह रहे थे कि अपने निमित्त, अपने-आप यह कर रहे हैं। गीता का दृष्टिकोण यह है कि विश्व का

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

तस्मात्[1]—उस कारण से; **त्वम्**[2]—तू; **उत्तिष्ठ**[3]—उठ; **यशः**[4]—यश को; **लभस्व**[5]—प्राप्त कर; **जित्वा**[7]—जीत कर; **शत्रून्**[6]—शत्रुओं

नियमन, इसका संचालन एक महान् शक्ति द्वारा हो रहा है, विश्व की गति, इसकी दिशा का निर्धारण उसी शक्ति के हाथ में है, जिस दिशा, जिस लक्ष्य की तरफ़ यह विश्व गतिमान् हो रहा है, उस दिशा को, उस लक्ष्य को भी वही जानता है, इसलिए हमारा काम सिर्फ़ अपने को उसके प्रति समर्पित कर देना है, अपनी इच्छा को नहीं, उसकी इच्छा को पूर्ण करना है, उसके हाथों में अपने को सौंप देना है, उसका निमित्त बन जाना है। गीता का सिद्धान्त 'दैवीय पूर्वनिर्णय' (Divine Pre-determination) का सिद्धान्त है। विश्व की घटनाओं का निर्णय उसने करना है, उसके निर्णय में मुझे अपने निर्णय को बीच में डाल कर गड़बड़ाने का अधिकार नहीं, जो हो रहा है, वही भवितव्यता है, परन्तु इस भवितव्यता का रुख विकास की ओर है, ऊपर की ओर है, प्रकाश की ओर है; अगर आज विकास के स्थान में ह्रास दीखता है, ऊपर जाने के स्थान में नीचे को गति दीखती है, प्रकाश के स्थान में अन्धकार दीखता है, तो यह विनाश आगामी निर्माण के लिए है, यह अधोगति आगामी ऊर्ध्वगति की तैयारी के लिए है, यह अन्धकार आगामी प्रकट होने वाले अधिक प्रकाश के लिए है। इसी सिद्धान्त को हृदयंगम करके हमें उसकी इच्छा के सामने अपनी इच्छा को मिटा देना होगा, अपने कर्म को उसी को सौंप देना होगा, उसका निमित्तमात्र बन कर हाथ-पाँव को हिलाना होगा।

द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा ऐसे ही अन्यान्य वीर योद्धा जो मेरे द्वारा पहले ही मार डाले गये हैं—उन मरों हुओं को तू मार डाल, घबड़ा मत, युद्ध कर, तू युद्ध में शत्रुओं को जीतेगा ॥३४॥

को; **भुङ्क्ष्व**[10]—भोग कर; **राज्यम्**[9]—राज्य को; **समृद्धम्**[8]—धन-धान्य से सम्पन्न; **मया**[14]—मेरे द्वारा; **एव**[13]—ही; **एते**[11]—ये; **निहताः**[15]—मारे हुए हैं; **पूर्वम्**[12]—पहले; **एव**[18]—ही; **निमित्तमात्रम्**[17]—केवल निमित्त ही; **भव**[19]—बन जा; **सव्यसाचिन्**[16]—हे अर्जुन।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

द्रोणम्[1]—द्रोण को; **च**[2]—और; **भीष्मम्**[3]—भीष्म को; **च**[4]—और; **जयद्रथम्**[5]—जयद्रथ को; **च**[6]—और; **कर्णम्**[7]—कर्ण को; **तथा**[8]—और; **अन्यान्**[9]—दूसरों को; **अपि**[10]—भी; **योधवीरान्**[13]—सैनिकों को; **मया**[11]—मेरे द्वारा; **हतान्**[12]—मारे गये हुओं को; **त्वम्**[14]—तू; **जहि**[15]—मार; **मा**[16]—मत; **व्यथिष्ठाः**[17]—घबड़ा, दुःख मान; **युध्यस्व**[21]—

[पिता-रूप भगवान्]

'विश्वरूप-दर्शन' का उल्लेख करते हुए गीता में भगवान् के दो पहलुओं के दर्शन कराये गये हैं। एक पहलू तो है—'काल रूप'। जब-जब सृष्टि में अधर्म का बोझ बढ़ जाता है, अव्यवस्था फैल जाती है, पुराना प्राणहीन और निर्जीव हो जाता है, तब भगवान् काल-रूप होकर, निर्दयता से सब-कुछ मलियामेट कर देते हैं। इसी काल-रूप के अर्जुन ने दर्शन किये। परन्तु भगवान् के इस विकराल रूप के पीछे उसका सौम्य रूप छिपा है। भगवान् विनाश विनाश के लिए नहीं करता, निर्माण के लिए करता है। संसार में उपद्रव होते हैं, विद्रोह होते हैं, युद्ध होते हैं, रक्तपात होता है, परन्तु जो शक्तियाँ इन विध्वंसक प्रवृत्तियों में जुटी होती हैं, उनका लक्ष्य एक नवीन व्यवस्था का, एक नवीन समाज का निर्माण करना होता है। भगवान् के विध्वंसक रूप के पीछे उसका सर्जनात्मक रूप अखंड बना रहता है। गीता में अबतक विध्वंसक रूप को दिखलाया, अब भगवान् के दूसरे रूप को, उसके सर्जनात्मक रूप को दिखा रहे हैं। श्री अरविंद ने इसी दृष्टिकोण से ११वें अध्याय को दो भागों में बाँट दिया है। १म से ३४ श्लोकों को उन्होंने अलग भाग में दिया है, ३५ से ५५ श्लोकों को उन्होंने अलग भाग में दिया है। पहले भाग में परमात्मा के 'काल-रूप' का चित्र आँखों के सम्मुख खड़ा किया गया है, दूसरे भाग में उसके 'पिता-रूप' का चित्र आँखों के सामने खड़ा किया गया है। उसी की भूमिका बाँधते हुए संजय धृतराष्ट्र को कहते हैं :

संजय ने कहा : **केशव के ये वचन सुनकर काँपते हुए, भय से भीत हुए मुकुटधारी अर्जुन ने हाथ जोड़ कर कृष्ण को नमस्कार किया और रुँधे हुए कण्ठ से कृष्ण को इस प्रकार कहा ॥३५॥**

लड़; **जेतासि**[20]—विजयी होगा, जीतेगा; **रणे**[18]—युद्ध में; **सपत्नान्**[19]—वैरियों को।

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

एतत्[2]—यह; **श्रुत्वा**[4]—सुनकर; **वचनम्**[3]—वचन को; **केशवस्य**[1]—श्रीकृष्ण के; **कृताञ्जलिः**[6]—हाथ जोड़ कर; **वेपमानः**[7]—काँपते हुए; **किरीटी**[5]—अर्जुन; **नमस्कृत्वा**[8]—नमस्कार करके; **भूयः**[9]—फिर; **एव**[10]—ही; **आह**[15]—कहता है; **कृष्णम्**[13]—कृष्ण को; **सगद्गदम्**[14]—रुँधे हुए कण्ठ से; **भीतभीतः**[11]—भयभीत; **प्रणम्य**[12]—प्रणाम करके।

अर्जुन ने कहा : हे हृषीकेश ! आपका कीर्तन करके जगत् को जो हर्ष होता है और आपके लिये जो अनुराग उत्पन्न होता है वह यथास्थान है, ठीक ही है। (आपके इस विश्व-रूप में एक तरफ़ तो) राक्षस भयभीत हो कर सब दिशाओं में (जान बचाकर) भाग रहे हैं और (दूसरी तरफ़) सिद्धों का समूचा समुदाय आपको नमस्कार कर रहा है ॥३६॥

राक्षसों का विश्व की नियामक शक्ति से भयभीत होकर भाग खड़े होना, और साधकों का उसके सामने अपने को समर्पण कर नत-मस्तक होना—ये दोनों बातें उस शक्ति की महिमा का बखान करती हैं।

हे महात्मन् ! वे आप के सामने क्यों न नमें ? आप तो आदिस्रष्टा ब्रह्मा से भी महान् हैं। हे अनन्त ! हे देवताओं के भी स्वामी ! हे जगत् के आश्रय ! आप अविनश्वर हैं, आप सत् भी हैं, असत् भी हैं, सत्-असत् से जो परे है वह भी आप ही हैं ॥३७॥

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥३६॥

स्थाने[2]–यथा स्थान, ठीक ही है; **हृषीकेश**[1]–हे अन्तर्यामिन् कृष्ण; **तव**[3]–तेरे; **प्रकीर्त्या**[4]–कीर्तन से; **जगत्**[5]–संसार; **प्रहृष्यति**[6]–हर्ष को पाता है; **अनुरज्यते**[8]–अनुराग करता है; **च**[7]–और; **रक्षांसि**[10]–राक्षस-गण; **भीतानि**[9]–भयभीत हुए; **दिशः**[11]–दिशाओं में; **द्रवन्ति**[12]–भाग जाते हैं; **सर्वे**[14]–सब; **नमस्यन्ति**[16]–नमस्कार करते हैं; **च**[13]–और; **सिद्धसंघाः**[15]–सिद्ध गण।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥

कस्मात्[8]–क्यों; **च**[5]–और; **ते**[7]–वे; **न**[9]–नहीं; **नमेरन्**[10]–नमें, झुकें; **महात्मन्**[1]–हे महात्मन्; **गरीयसे**[6]–महान्; **ब्रह्मणः**[2]–ब्रह्मा के;

'सत्' का अर्थ है—'व्यक्त' (Manifest); 'असत्' का अर्थ है—'अव्यक्त' (Unmanifest)। 'व्यक्त'-प्रकृति वह है जो कार्य रूप में जगत् हमें दीख रहा है; 'अव्यक्त'-प्रकृति वह है जो कारण रूप में होने से हमें नहीं दीख रहा। 'व्यक्त'-'अव्यक्त' तथा इन दोनों से 'परे' जो-कुछ है—वह, ये तीनों अक्षर ब्रह्म है।

आप देवताओं में आदि-देव हैं, आप पुरातन-पुरुष हैं, आप इस विश्व के परम आधार हैं, आप ही ज्ञाता हैं, आप ही ज्ञेय हैं, आप ही परम धाम हैं, हे अनन्त रूपों वाले! आपने ही इस विश्व का विस्तार फैलाया हुआ है ॥३८॥

आप वायु हैं, यम हैं, अग्नि हैं, वरुण हैं, चन्द्र हैं, प्रजापति हैं, प्रपितामह हैं। आपको हजार बार नमस्कार है, फिर बारम्बार नमस्कार है ॥३९॥

अपि[3]–भी; **आदिकर्त्रे**[4]–आदि कर्त्ता के लिए; **अनन्त**[11]–हे अन्तरहित; **देवेश**[12]–हे देवेश; **जगन्निवास**[13]–संसार के निवास (आश्रय); **त्वम्**[19]–तू; **अक्षरम्**[18]–अविनाशी; **सद्**[15]–सत्; **असद्**[16]–असत्; **तत्परम्**[17]–सत् और असत् से परे; **यत्**[14]–जो।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

त्वम्[1]–आप; **आदिदेवः**[2]–आदि देव; **पुरुषः**[4]–पुरुष; **पुराणः**[3]–पुरातन; **त्वम्**[5]–आप; **अस्य**[6]–इस; **विश्वस्य**[7]–संसार के; **परम्**[8]–परम; **निधानम्**[9]–आधार; **वेत्ता**[11]–ज्ञाता; **असि**[16]–हो; **वेद्यम्**[12]–जानने योग्य; **च**[10]–और; **परम्**[14]–परम; **च**[13]–और; **धाम**[15]–धाम, लोक; **त्वया**[18]–आप से; **ततम्**[20]–विस्तृत हुआ; **विश्वम्**[19]–यह संसार; **अनन्तरूप**[17]–हे अनन्त रूपों वाले।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

वायुः[2]–वायु; **यमः**[3]–नियन्ता यम; **अग्निः**[4]–अग्नि; **वरुणः**[5]–वरुण; **शशाङ्कः**[6]–चन्द्रमा; **प्रजापतिः**[7]–प्रजापति; **त्वम्**[1]–आप; **प्रपितामहः**[9]–परदादा; **च**[8]–और; **नमः**[12]–नमस्कार; **नमः**[13]–

हे सर्व ! आपको सामने से नमस्कार है, पीछे से नमस्कार है, सब तरफ़ से आपको नमस्कार है। आपकी शक्ति अनन्त है, आपका बल अपार है, आप सब जगह पहुँचे हुए हो, सब में व्याप्त हो इसलिये आप सर्व हो, सब-कुछ हो ॥४०॥

उपनिषदों में भी ब्रह्म का ऐसा ही वर्णन है। मुण्डक में लिखा है : '**ब्रह्मैवेदं अमृतं पुरस्तात् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।**' गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में जो पुष्पिका दी गई है उसमें 'भगवद्गीतासु उपनिषत्सु'—यह पाठ आता है। इसका अभिप्राय यही है कि गीता भी एक प्रकार की उपनिषद् ही है। गीता के अनेक स्थल उपनिषदों के ही स्थल हैं।

आपकी इस महिमा को न जानकर, आपको अपना सखा मानकर, 'हे कृष्ण', 'हे यादव', 'हे सखा'–इस प्रकार जो मैंने भूल से, या प्रेम से सम्बोधन किया है ॥४१॥

नमस्कार; **ते**[10]–तुझे; **अस्तु**[14]–हो; **सहस्रकृत्वः**[11]–सहस्र बार; **पुनः च**[18]–और फिर; **भूयः**[16]–फिर, बहुत; **अपि**[17]–भी; **नमः**[19]–नमस्कार; **नमः**[20]–नमस्कार; **ते**[15]–तुझे।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

नमः[6]–नमस्कार; **पुरस्तात्**[3]–आगे से; **अथ**[4]–इस प्रकार और; **पृष्ठतः**[5]–पीछे से; **ते**[2]–आपको; **नमः**[11]–नमस्कार; **अस्तु**[12]–हो; **ते**[8]–आपको; **सर्वतः**[9]–सब ओर से; **एव**[10]–ही; **सर्व**[7]–हे सर्वात्मन्; **अनन्तवीर्य**[1]–हे अनन्त वीर्य वाले; **अमितविक्रमः**[13]–अतुल विक्रम वाले; **त्वम्**[14]–आप; **सर्वम्**[15]–सब कुछ; **समाप्नोषि**[16]–व्याप्त किये हुए हो; **ततः**[17]–उस कारण से; **असि**[19]–हो; **सर्वः**[18]–सर्व रूप।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वाऽपि ॥४१॥

सखा[1]–मित्र; **इति**[2]–ऐसा; **मत्वा**[3]–मानकर; **प्रसभम्**[18]–बलात्; **यद्**[16]–जो; **उक्तम्**[20]–संबोधन किया है; **हे कृष्ण**[12]–हे कृष्ण;

और कभी खेल में, शय्या पर लेटे हुए, बैठे हुए या कभी भोजन करते समय, अकेले में या सबके बीच में, हँसी-मजाक में मैंने जो आपके प्रति असत्कार किया हो, उसके लिये, हे अच्युत ! मैं अप्रमेय, अनन्तरूप आप से क्षमा माँगता हूँ ।।४२।।

आप इस चर तथा अचर जगत् के पिता हैं, आप इस संसार के पूज्य और गुरु के भी गुरु हैं। जब आपके समान कोई नहीं है, तब आपसे अधिक तो कोई हो ही कैसे सकता है ? तीनों लोकों में आपके सामर्थ्य का जोड़ नहीं है ।।४३।।

हे यादव[13]–हे यदु-वंशी; हे सखे[14]–हे मित्र; इति[15]–ऐसा; अजानता[6]–न जानते हुए; महिमानम्[5]–महिमा को; तव[4]–आपकी; इदम्[17]–इसको; मया[7]–मैंने; प्रमादात्[16]–प्रमाद से; प्रणयेन[8]–प्रीति से; वा[9]–अथवा; अपि[11]–भी।

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ।।४२।।

यत्[3]–जो कुछ; च[1]–और; अवहासार्थम्[4]–हँसी के लिये; असत्कृतः[10]–असत्कार किया, तिरस्कृत किया; असि[11]–है; विहार-शय्यासनभोजनेषु[5]–विहार (सैर-सपाटा), सोने, बैठने और खान-पान में; एकः[6]–इकला; अथवा[7]–या; अपि[9]–भी; अच्युत[2]–हे अच्युत कृष्ण; तत्समक्षम्[8]–उनके समक्ष; तत्[12]–उसको; क्षामये[16]–मैं क्षमा माँगता हूँ; त्वाम्[14]–तुझको; अहम्[15]–मैं; अप्रमेयम्[13]–अप्रमेय, अचिन्त्य।

पिताऽसि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ।।४३।।

पिता[5]–पिता; असि[10]–हो; लोकस्य[4]–जगत् के; चराचरस्य[3]–चर और अचर; त्वम्[1]–आप; अस्य[2]–इसके; पूज्यः[9]–पूजनीय; च[6]–और; गुरुः[8]–गुरु; गरीयान्[7]–गुरुतम; न[16]–नहीं; त्वत्समः[13]–आपके समान; अस्ति[17]–है; अभ्यधिकः[18]–आपसे अधिक; कुतः[19]–

इसलिये प्रणाम करके, और अपनी काया को आपके सम्मुख साष्टांग झुका कर, मैं आप आराधनीय प्रभु से प्रसन्न होने की प्रार्थना करता हूँ। हे देव! जिस प्रकार पिता अपने पुत्र के, मित्र अपने मित्र के व्यवहार को सहन करता है, वैसे आप मेरे प्रिय होने के कारण मेरे कल्याण के लिये (मेरे अबतक के व्यवहार को) सहन करेंगे ॥४४॥

श्री तिलक कहते हैं कि कई लोग 'प्रिय: प्रियायार्हसि' का अर्थ 'प्रिय पुरुष जैसे अपनी प्रिया स्त्री का'—ऐसा अर्थ करते हैं। यह अशुद्ध है क्योंकि 'प्रियाया: अर्हसि' का व्याकरण की दृष्टि से 'प्रियायार्हसि' नहीं बनता। इसलिए 'प्रिय:'—'तू प्रिय', 'प्रियाय'—'मेरे प्रिय के लिए'—'मेरे कल्याण के लिए'—यही अर्थ ठीक जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त अध्यात्म-शास्त्र के इस ग्रन्थ में 'प्रिय: प्रियाया:'—'प्रेमी अपनी प्यारी स्त्री के'—यह शृंगारिक अर्थ प्रासंगिक भी नहीं जान पड़ता।

पहले न देखा हुआ—'अदृष्ट-पूर्व'—आपका रूप देखकर मैं हर्ष से विभोर हूँ, साथ ही मेरा मन भय से व्याकुल भी

कैसे; **अन्य:**[15]—दूसरा; **लोकत्रये**[12]—तीनों लोकों में; **अपि**[14]—भी; **अप्रतिमप्रभाव**[11]—हे अप्रतिम (अतुल) प्रभाववाले!

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

तस्मात्[1]—इसलिये; **प्रणम्य**[5]—प्रणाम करके; **प्रणिधाय**[4]—साष्टाङ्ग झुकाकर; **कायम्**[3]—शरीर को; **प्रसादये**[9]—प्रसन्न कराता हूँ; **त्वाम्**[7]—आपको; **अहम्**[2]—मैं; **ईशम्**[8]—ईश्वर को; **ईड्यम्**[6]—स्तुति करने योग्य को; **पिता**[11]—पिता; **इव**[12]—समान; **पुत्रस्य**[13]—पुत्र का; **सखा**[14]—मित्र; **इव**[15]—समान; **सख्युः**[16]—मित्र का; **प्रियः**[17]—प्रिय; **प्रियाय**[18]—अपने प्रिय के लिये, **अर्हसि**[20]—योग्य हो; **देव**[10]—हे देव; **सोढुम्**[19]—सहन करने के लिए।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

अदृष्टपूर्वम्[1]—पहले न देखा हुआ; **हृषित:**[3]—हर्ष से विभोर, रोमांचित; **अस्मि**[4]—हूँ; **दृष्ट्वा**[2]—देखकर; **भयेन**[7]—भय से; **च**[9]—

हो गया है। इसलिये हे देव ! मुझे वही—अपना पहले वाला–रूप दिखलाइये। हे देवताओं के देवता, हे जगत् के निवास, आप मुझ पर प्रसन्न हूजिये ॥४५॥

साधकों का यह अनुभव है कि जब वे सान्त से अनन्त में, स्वल्प से महान् में, ससीम से असीम में प्रवेश करते हैं, तब प्रथम प्रतीति में अपार हर्ष होता है, परन्तु क्योंकि अभी तक वह सान्त में रहा है इसलिए कुछ देर बाद इस अनन्त से घबराहट छूटने लगती है, भय जाग उठता है, और साधक फिर सान्त में लौटने को व्याकुल हो उठता है। जब अनन्त का अनुभव बार-बार होने लगता है, तब अनन्त का भय जाता रहता है। यही अनुभव अर्जुन को यहाँ हो रहा है। वह कहता है :

मैं तुझे फिर पहले की भाँति मुकुटधारी, गदाधारी, चक्रधारी देखना चाहता हूँ, हे सहस्रबाहु, हे विश्वमूर्ति ! उसी अपने पहले चतुर्भुजवाले रूप से दर्शन दें ॥४६॥

३६ से ४६ तक के गीता के ११ श्लोक उच्च-कोटि की प्रार्थना के प्रतीक हैं। इन श्लोकों में भगवान् की जो स्तुति की गई है उसे सार्वभौम प्रार्थना कहा जा सकता है।

और; **प्रव्यथितम्**[8]—व्याकुल; **मनः**[6]—मन; **मे**[5]—मेरा; **तद्**[11]—उसको; **एव**[13]—ही; **मे**[14]—मुझे; **दर्शय**[15]—दिखा; **देव**[10]—हे भगवन्; **रूपम्**[12]—रूप को; **प्रसीद**[18]—प्रसन्न हो; **देवेश**[16]—हे देवाधि-देव; **जगन्निवास**[17]—सारे संसार के निवासस्थान हुए-हुए।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

किरीटिनम्[5]—मुकुटधारी; **गदिनम्**[6]—गदाधारी; **चक्रहस्तम्**[7]—हाथ में चक्र धारण किये हुए; **इच्छामि**[9]—चाहता हूँ; **त्वाम्**[4]—आपको; **द्रष्टुम्**[8]—देखने के लिये; **अहम्**[1]—मैं; **तथा**[2]—वैसे; **एव**[3]—ही; **तेन**[12]—उसी; **एव**[13]—ही; **रूपेण**[15]—रूप से; **चतुर्भुजेन**[14]—चार भुजाओं वाले; **सहस्रबाहो**[11]—हे हजारों भुजाओं वाले; **भव**[16]—हो; **विश्वमूर्ते**[10]—हे विश्व-रूप।

श्री भगवान् ने कहा : **हे अर्जुन मैंने प्रसन्न होकर अपने योग-सामर्थ्य से अपना यह तेजोमय, विश्वव्यापी, अनन्त, परम, आदि रूप दिखाया है। मेरा रूप तेरे सिवाय पहले किसी ने नहीं देखा, यह 'न दृष्टपूर्व' है, 'अदृष्टपूर्व' है ।।४७।।**

हे कुरुवीर श्रेष्ठ ! इस मानुष लोक में तेरे सिवाय अन्य किसी भी व्यक्ति से मैं इस रूप में नहीं देखा जा सका—न वेदों के अभ्यास द्वारा, न यज्ञों द्वारा, न शास्त्रों के अध्ययन द्वारा, न दान के द्वारा, न कर्मकांड की क्रियाओं द्वारा, न उग्र तपों द्वारा ।।४८।।

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ।।४७।।

मया[3]–मैंने; **प्रसन्नेन**[2]–प्रसन्न हुए; **तव**[13]–तुझे; **अर्जुन**[1]–हे अर्जुन; **इदम्**[5]–यह; **रूपम्**[12]–रूप; **परम्**[7]–उत्कृष्ट; **दर्शितम्**[14]–दिखाया है; **आत्मयोगात्**[4]–आत्म-सामर्थ्य के कारण; **तेजोमयम्**[8]–तेज से युक्त; **विश्वम्**[11]–विश्व, सकल; **अनन्तम्**[10]–न अन्तवाला; **आद्यम्**[9]–आदि में होने वाला; **यत्**[15]–जो; **मे**[6]–मेरा; **त्वद्**[16]–तुझ से; **अन्येन**[17]–दूसरे ने; **न**[18]–नहीं; **दृष्टपूर्वम्**[19]–पहले देखा गया।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ।।४८।।

न[5]–नहीं; **वेदयज्ञाध्ययनैः**[6]–वेदाभ्यास, यज्ञों के अनुष्ठान और शास्त्रों के अध्ययन से; **न**[7]–नहीं; **दानैः**[8]–दान करने से; **न**[9]–नहीं; **च**[11]–और; **क्रियाभिः**[10]–कर्मकाण्ड की क्रियाओं द्वारा; **न**[12]–नहीं; **तपोभिः**[14]–तपों से; **उग्रैः**[13]–उग्र, कठिन; **एवंरूपः**[3]–इस प्रकार के रूप वाला; **शक्यः**[18]–संभव है; **अहम्**[4]–मैं; **नृलोके**[2]–मनुष्य-लोक में; **द्रष्टुम्**[17]–देखने के लिये; **त्वत्**[15]–तुझ से; **अन्येन**[16]–अतिरिक्त, दूसरे से; **कुरुप्रवीर**[1]–हे कुरुओं में श्रेष्ठ वीर।

मेरे इस विकराल रूप को देखकर तू घबरा मत और किंकर्तव्य-विमूढ़ भी मत हो। भय को त्याग कर, प्रेम से मन को भरपूर करके तू फिर मेरे उसी रूप को देख ॥४९॥

संजय ने कहा—**वासुदेव ने अर्जुन से यह कहकर उसे फिर अपना रूप दिखाया। उस महात्मा ने फिर अपना सौम्य रूप धारण करके भयभीत अर्जुन को आश्वासन दिया ॥५०॥**

अर्जुन ने कहा—**हे जनार्दन ! आपके इस सौम्य मानवीय रूप को देखकर अब मेरे होश-हवास ठिकाने आ**

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ् ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

मा[9]–मत; **ते**[7]–तुझको; **व्यथा**[8]–दुःख हो; **मा**[12]–मत हो; **च**[10]–और; **विमूढभावः**[11]–किंकर्त्तव्यमूढता, **दृष्ट्वा**[6]–देखकर; **रूपम्**[5]–रूप को; **घोरम्**[4]–भयावह; **ईदृक्**[1]–ऐसा; **मम**[2]–मेरा; **इदम्**[3]–यह; **व्यपेतभीः**[13]–भय रहित; **प्रीतमनाः**[14]–प्रसन्न मन वाला; **पुनः**[21]–फिर; **त्वम्**[15]–तू; **तद्**[16]–वह; **एव**[17]–ही; **मे**[18]–मेरे; **रूपम्**[20]–रूप को; **इदम्**[19]–इस; **प्रपश्य**[22]–अच्छी प्रकार से देख।

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

इति[3]–इस प्रकार; **अर्जुनम्**[2]–अर्जुन को; **वासुदेवः**[1]–श्रीकृष्ण; **तथा**[6]–वैसे; **उक्त्वा**[4]–कह कर; **स्वकम्**[7]–अपने; **रूपम्**[8]–रूप को; **दर्शयामास**[9]–दिखाया; **भूयः**[5]–फिर; **आश्वासयामास**[17]–आश्वासन भी दिया; **च**[10]–और; **भीतम्**[16]–डरे हुए को; **एनम्**[15]–इसे; **भूत्वा**[14]–होकर; **पुनः**[11]–फिर; **सौम्यवपुः**[13]–सौम्य शरीर वाला; **महात्मा**[12]–महात्मा।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

दृष्ट्वा[7]–देखकर; **इदम्**[3]–इस; **मानुषम्**[5]–मानवीय; **रूपम्**[6]–रूप को; **तव**[2]–तेरा; **सौम्यम्**[4]–शान्त; **जनार्दन**[1]–हे कृष्ण;

गये हैं और मैं अपनी स्वाभाविक मनोदशा में आ गया हूँ ॥५१॥

श्री भगवान् ने कहा––तूने मेरे जिस रूप को देखा है उसके दर्शन कर पाना बहुत कठिन है। देवता भी इस रूप के दर्शन के लिये सदा तरसते रहते हैं ॥५२॥

तूने मुझे जिस रूप में देखा है, उसे न वेदों से, न तप से, न दान से, न यज्ञ से देखा जा सकता है ॥५३॥

परन्तु हे अर्जुन! हे परंतप (शत्रुओं को तपानेवाले)! केवल अनन्य-भक्ति से मेरे संबंध में ऐसा ज्ञान, मेरे ऐसे

इदानीम्[8]–अब; अस्मि[13]–हूँ; संवृत्तः[10]–हो गया; सचेताः[9]–होश-हवास वाला; प्रकृतिम्[11]–स्वाभाविक मनोदशा को; गतः[12]–प्राप्त हो गया हूँ।

श्री भगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥५२॥

सुदुर्दर्शम्[4]–कठिनता से देखने योग्य; **इदम्**[2]–इस; **रूपम्**[3]–रूप को; **दृष्टवान्**[6]–देखा; **असि**[7]–है; **यत्**[5]–जिस; **मम**[1]–मेरा; **देवाः**[8]–देव; **अपि**[9]–भी; **अस्य**[11]–इस; **रूपस्य**[12]–रूप का; **नित्यम्**[10]–नित्य ही; **दर्शनकांक्षिणः**[13]–दर्शन करने की इच्छा वाले हैं।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥

न[1]–नहीं; **अहम्**[11]–मैं; **वेदैः**[2]–वेदों के अध्ययन से, ज्ञान से; **न**[3]–नहीं; **तपसा**[4]–तप से; **न**[5]–नहीं; **दानेन**[6]–दान से; **न**[8]–नहीं; **च**[7]–और; **इज्यया**[9]–यज्ञ से; **शक्यः**[13]–संभव; **एवंविधः**[10]–इस प्रकार का; **द्रष्टुम्**[12]–देखने के लिये; **दृष्टवान्**[16]–देख लिया; **असि**[17]–है; **माम्**[15]–मुझको; **यथा**[14]–जैसे।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥

भक्त्या[4]–भक्ति से; **तु**[5]–तो; **अनन्यया**[3]–अन्य में न होनेवाली, एकनिष्ठ; **शक्यः**[14]–संभव; **अहम्**[7]–मैं; **एवंविधः**[6]–इस प्रकार

दर्शन संभव हैं, इस अनन्य-भक्ति से ही मुझ में प्रवेश पाना संभव है ।।५४।।

इस श्लोक में परमेश्वर तक पहुँचने के तीन क्रम बतलाये हैं—ज्ञान, दर्शन, प्रवेश। जब साधक भगवान् को लक्ष्य रखकर उस यात्रा के लिए निकल पड़ता है, तब इस यात्रा का पहला पड़ाव होता है—'ज्ञान' (To know)। जब तक इस बात का ही ज्ञान नहीं कि वह किधर जा रहा है तब तक उस मार्ग पर उसका पग उठेगा कैसे ? लक्ष्य को जान लेने के बाद साधक उसे स्पष्ट देखने लगता है, लक्ष्य को देखने लगना ही इस यात्रा का दूसरा पड़ाव है। इस पड़ाव का नाम है—'दर्शन' (To see)। लक्ष्य को देख-लेने के बाद साधक सत्य को, यथार्थ को अपनाता जाता है, असत्य को, अयथार्थ को छोड़ता जाता है; यथार्थ सत्ता में प्रविष्ट होता जाता है, अयथार्थ सत्ता से, मिथ्या से, अज्ञान से निकलता आता है। साधक की यात्रा का यह तीसरा पड़ाव है—'प्रवेश' (To enter)। साधक की यात्रा के इन तीनों क्रमों को गीता में 'ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुम् च' कहा है। भगवान् को पाने के ही ये तीन क्रम नहीं हैं, जीवन में किसी वस्तु को भी पाने के ये ही तीन क्रम हैं।

हे पांडव ! जो व्यक्ति सब 'कर्म' मेरे लिये करता है, जो 'मत्परायण' है—मुझे अपना लक्ष्य मानता है, मेरा 'भक्त' है, जो 'आसक्ति से रहित' है, आसक्ति का त्याग कर देता है, 'निर्वैर' है—सब प्राणियों के प्रति शत्रुता को तिलांजलि दे देता है, वह मुझ तक पहुँच जाता है ।।५५।।

का; **अर्जुन**[2]–हे अर्जुन; **ज्ञातुम्**[10]–जानने के लिये; **द्रष्टुम्**[8]–देखने के लिये; **च**[11]–और; **तत्त्वेन**[9]–तत्त्व से, ठीक-ठीक; **प्रवेष्टुम्**[12]–प्रवेश करने के लिये; **च**[13]–और; **परंतप**[1]–हे शत्रुओं को तपाने वाले अर्जुन।

मत्कर्मकृत् मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ।।५५।।

मत्कर्मकृत्[3]–जो मेरे लिये सब कर्म करता है; **मत्परमः**[4]–मेरे में परायण; **मद्भक्तः**[5]–मेरा भक्त; **सङ्गवर्जितः**[6]–आसक्ति रहित; **निर्वैरः**[8]–शत्रुता-विहीन; **सर्वभूतेषु**[7]–सब प्राणियों में; **यः**[2]–जो; **सः**[9]–वह; **माम्**[10]–मुझे; **एति**[11]–प्राप्त कर लेता है; **पाण्डव**[1]–हे पाण्डु के पुत्र अर्जुन।

११वें अध्याय के अन्तिम श्लोक को शंकराचार्य ने गीता का 'सर्वार्थ-सार' कहा है। इस श्लोक में भगवान् तक पहुँचने के पाँच साधन कहे हैं। वे हैं—**मत्कर्मकृत्, मत्परमः, मद्भक्तः, संगवर्जितः, सर्वभूतेषु निर्वैरः**। इनका क्या अर्थ है, और इनका आपस में क्या संबंध है ?

(१) '**मत्कर्मकृत्**'—इसका अर्थ है—मेरे कर्म करने वाला या मेरे लिए कर्म करने वाला। मेरे कर्म क्या हैं ? मेरे, अर्थात् भगवान् के कर्म ! गीता में श्रीकृष्ण ने भगवान् के कर्मों का उल्लेख करते हुए कहा है : '**परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे**'—भगवान् के तीन कर्म हैं—(क) सज्जनों की रक्षा, (ख) दुर्जनों का नाश, (ग) धर्म की, सत्य की स्थापना। जो लोग सचाई के लिए, सदाचार की स्थापना के लिए प्रयत्न करते हैं, दुराचारियों और अत्याचारियों के साथ लोहा लेते हैं, सदाचारियों का पक्ष लेकर उनकी तरफ़ से लड़ते हैं, वे भगवान् का काम करते हैं। यही तीन तो भगवान् के काम हैं, इन तीनों को जो करता है वह '**मत्कर्मकृत्**' है, मेरा ही काम करता है। '**मत्कर्मकृत्**' का यह भी अर्थ है कि जो मेरे लिए काम करता है, जो काम करता है अपने लिए नहीं करता, भगवान् के लिए करता है। भगवान् के लिए करने का क्या अर्थ है ? भगवान् अपने लिए कुछ नहीं करता, भूतमात्र के लिए सब-कुछ करता है। 'मत्कर्मकृत्' व्यक्ति भी अपने लिए, स्वार्थ-बुद्धि से कुछ नहीं करता, जो-कुछ करता है, दूसरों के लिए, परार्थ-बुद्धि से करता है। ऐसा व्यक्ति—'**माम् एति**'—मुझे पा जाता है, भगवान् के पास पहुँच जाता है।

(२) '**मत्परमः**'—इसका अर्थ है—परमेश्वर को जो परम मानता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन का कुछ परम लक्ष्य मान कर चलता है। हम सब का लक्ष्य भौतिक-जीवन के सुख-भोग एकत्रित करना है। जो साधक भगवान् को परम लक्ष्य मान कर चलता है वह—'**माम् एति**'—मुझे पा जाता है, भगवान् के पास पहुँच जाता है।

(३) '**मद्भक्तः**'—इसका अर्थ है—मेरी सेवा करने वाला। सेवा सदा निष्काम-भाव से होती है। जो फल की भावना से काम करता है वह भक्ति की भावना से काम नहीं करता, लालच की भावना से काम करता है। लालच वाले को जिस बात का लालच होता है वह मिल जाता है, जिसने सिर्फ़ सेवा की, और-कुछ याचना न की उसे भगवान् के सिवाय क्या मिलेगा। ऐसा व्यक्ति—'**माम् एति**'—मुझे पा जाता है।

(४) '**संगवर्जितः**'—इसका अर्थ है—कर्म तो वह करता है, परन्तु कर्म के फल का संग नहीं रखता। गीता का मुख्य उपदेश ही निस्संगता है, कर्म करके फल को ईश्वरार्पण कर देना है। '**मत्कर्मकृत्**' और '**संगवर्जितः**'—इन दोनों का अर्थ है कि कर्म तो वह करता है, परन्तु कर्म के फल में आसक्त नहीं होता। इसी पर **श्री तिलक** लिखते हैं कि गीता का भक्तिमार्ग यह नहीं कहता कि आराम से

'राम-राम' जपो और कर्म न करो। गीता का कहना यह है कि उत्कट भक्ति के साथ-ही-साथ उत्साह से सब काम निष्काम भाव से करते रहो। जो व्यक्ति इस प्रकार संग को त्याग देता है वह —**'माम् एति'**—मुझे पा जाता है।

(५) **'सर्वभूतेषु निर्वैरः'**—इसका अर्थ है—जिस व्यक्ति ने संग त्याग दिया, स्वार्थ के बीज का नाश कर दिया, वह वैर तो स्वयं त्याग देगा। जितना वैर-भाव है उसका उदय स्वार्थ से होता है। मेरा-तेरा का भाव हट गया तो वैर तो रह ही नहीं सकता। ऐसी स्थिति में पहुँचने पर साधक—**'माम् एति'**—मुझे पा जाता है।

गीता ने जो ये पाँच मार्ग बतलाये हैं इनका आपस में घनिष्ठ संबंध है। वह संबंध क्या है? आध्यात्मिक-मार्ग का यात्री जो कर्म करता है उसका प्रेरणा-स्रोत भगवान् होता है—यह अवस्था **'मत्कर्मकृत्'** की है। जब वह भगवान् की प्रेरणा से कर्म करता है, भगवान् के, या भगवान् के लिए कर्म करता है, तब उसके प्रत्येक कर्म का परम लक्ष्य अपने-आप भगवान् हो जाता है—यह अवस्था **'मत्परमः'** की है। जिसके जीवन का परम लक्ष्य भगवान् हो गया वह **'मद्भक्त'** तो हो ही गया। यह तीसरी अवस्था है जिसे गीता ने **'मद्भक्तः'** कहा है। जो व्यक्ति परमात्मा की भक्ति से सब कर्म करेगा, सब कर्मों को उसी के अर्पण कर देगा, उसका किसी से संग नहीं होगा—वह **'संगवर्जितः'** और **'निर्वैरः'** हो जायगा। ऐसा व्यक्ति भगवान् के साथ एकरूप हो जायगा—ऐसा गीता का मत है।

श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् में जिस ब्रह्मविद्या का वर्णन किया गया, उसके अन्तर्गत जो योगशास्त्र है, उसमें जो कृष्णार्जुन संवाद है, उस संवाद का 'विश्वरूप-दर्शन'-नामक एकादश अध्याय समाप्त हुआ।*

उपसंहार

इस अध्याय में मुख्य तौर पर चार बातों की चर्चा है—दिव्य-चक्षु, विश्व-रूप, निमित्त-मात्र तथा भगवान् के विकराल एवं सौम्य रूप। इन चारों के संबंध में हम यहाँ प्रकाश डालने का यत्न करेंगे।

१. दिव्य-चक्षु

दिव्य-चक्षु के संबंध में जहाँ इसका प्रकरण आया है वहाँ हम श्री सातवलेकर तथा स्वामी चिन्मयानन्द का स्पष्टीकरण लिख आये हैं। श्री सातवलेकर का कहना है कि दो प्रकार के चक्षु होते हैं—'चर्म-चक्षु' तथा 'दिव्य-चक्षु'। चर्म-चक्षुओं से तो हम इस नानाविध, नाना-वर्ण संसार को देखते हैं, इस संसार में हमें एकत्व

*** इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे विश्वरूपदर्शन-योगो नामैकादशोऽध्यायः।**

का सूत्र नहीं दीखता, नाना-रूप प्रकृति के ही सर्वत्र दर्शन होते हैं, प्रकृति से परे कुछ नहीं दीखता। दिव्य-चक्षु से हम इस नानाविध, नाना-वर्ण विश्व में एकता के सूत्र को देखने लगते हैं, प्रकृति से परे इसे अनुप्राणित करने वाला पर-ब्रह्म परमात्मा दीखने लगता है, इस भेदमय संसार में हम अभेदक तत्व का दर्शन करते हैं। यही दिव्य-दृष्टि है। श्री चिन्मयानन्द का कहना है कि 'देश' (Space) तथा 'काल' (Time) के कारण ही हमें संसार में भिन्नता दीखती है और आगे-पीछे का ज्ञान न होकर वर्तमान का ही ज्ञान होता है। एक वस्तु यहाँ है, दूसरी वस्तु वहाँ है; एक घटना भूत में हुई, दूसरी घटना भविष्य में होगी—इसी कारण यह संसार देश में तथा काल में फैला पड़ा है। अगर देश तथा काल को मिटा दिया जाय, तो दूर-दूर का, पहले-पीछे का, आज और कल का सारा संसार एक जगह सिमिट आ सकता है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन के देश-काल के भेदक-ज्ञान को मिटा दिया, इसलिए उसे सारा विश्व, दूर-दूर की वस्तुएँ, पहले हो चुकी तथा भविष्य में होने वाली घटनाएँ एक ही जगह और एक ही समय में दीखने लगीं। यही दिव्य-चक्षु है।

उक्त दोनों स्पष्टीकरणों के अलावा दिव्य-चक्षु का एक तीसरा स्पष्टीकरण भी है। जिन वस्तुओं को और जिन घटनाओं को हम अपने चर्म-चक्षुओं से नहीं देख सकते उन्हें देख लेना ही तो दिव्य-चक्षु है। संसार में ऐसे मनुष्य हैं जो दीवार के आर-पार देख लेते हैं, जिन्हें भविष्य में होने वाली घटनाएँ बहुत पहले दीख जाती हैं। दूर-दूर की वस्तुओं को घर बैठे देख सकने की शक्ति को अंग्रेजी में 'टैलीवीयन' (Television) कहते हैं। अगर यह मान लिया जाय कि संसार में जो हो रहा है, वह होना ही है, निश्चित है, उस में हम हेर-फेर नहीं कर सकते, और गीता का तो यह मत है ही कि जो-कुछ हो रहा है वह प्रकृति के गुणों द्वारा हो रहा है, वह होना ही है, तब कार्य-कारण के नियमों से बँधी अवश्यंभावी घटनाओं को देखने की शक्ति का होना भी कोई अनहोनी बात नहीं है। देश-कृत भेद का मिट जाना 'टैलीवीयन' है, इसी शक्ति द्वारा काल-कृत भेद का भी मिट जाना 'दिव्य-चक्षु' है। हो सकता है कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन को 'टैलीवीयन'-जैसी किसी शक्ति द्वारा सारे विश्व के दूर-दूर के तथा भूत-भविष्य के दर्शन करा दिये हों।

२. विश्व-रूप

(क) विश्व-रूप का अर्थ—अर्जुन को जब दिव्य-दृष्टि मिल गई तब उसने भगवान् का विश्व-रूप देखा। यह विश्व-रूप क्या है? यह जो विश्व का, संसार का, चर्म-चक्षुओं से दीखनेवाला रूप है, वह संसार का रूप नहीं है, यह परमेश्वर का ही रूप है, वह किसी दूसरे का रूप न होकर, अनन्त, विभिन्न, नाना पदार्थों का रूप न होकर, अखंड, नित्य, सद्वस्तु परमात्मा का ही रूप है—यह अर्थ है 'विश्व-रूप' का—विश्व के, संसार के रूप में ही परमात्मा के दर्शन का। हम इस

संसार को परमात्मा से अलग समझे बैठे हैं, इस संसार से अलग, किसी दूसरी जगह परमात्मा की खोज कर रहे हैं, हमें इस संसार में परमात्मा कहीं नहीं दीखता, परन्तु श्रीकृष्ण ने अर्जुन को वह दृष्टि दे दी जिससे उसे यह सारा विश्व परमात्मा के रूप में दीखने लगा। हम बुद्धि से इस संसार में परमात्मा के न दीखने पर भी उसका अनुमान करते हैं, यह कहते हैं कि पृथ्वी अपने-आप में नहीं टिकी हुई, इसे कोई टिका रहा है; सूर्य अपने-आप तेज नहीं बखेर रहा, इसे कोई शक्ति अनुप्राणित कर रही है; संसार के पदार्थ स्वयं अपने आधार पर नहीं खड़े, कोई चेतन-सत्ता इन के आधार में है। अर्जुन को ऐसा बौद्धिक-दर्शन नहीं हुआ। अर्जुन तो दिव्य-चक्षु पाकर इस सारे विश्व को भगवान् के शरीर के रूप में देखने लगा। सूर्य, चन्द्र, तारा उसे भगवान् के अनेक नेत्र दीखे, सृष्टि के सब हाथ-पैर-उदर-जंघा भगवान् के ही सहस्र अंग दीखे। उपनिषदों का वर्णन ब्रह्मांड तथा पिंड में समस्वरता उत्पन्न करता है। जो ब्रह्मांड में है वह पिंड में है। अर्जुन को भी जो-कुछ ब्रह्मांड में था, पास था, दूर था, पहले हो चुका था, आगे होने वाला था, श्रीकृष्ण के पिंड में दीख गया। आज विज्ञान भी यही कहता है कि एक-एक अणु सौर-मंडल है, जो सौर-मंडल में है वही अणु में है। स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे कि अणु में उन्होंने विश्व के दर्शन किये। गीता के विश्व-रूप-दर्शन का यही अर्थ है।

(ख) **भगवान् के विश्व-रूप का दर्शन वैदिक विचार है**—विश्वरूप-दर्शन का विचार गीता का ही विचार नहीं है, यह वैदिक-काल से चला आ रहा विचार है। ऋग्वेद में पुरुष सूक्त (१९, ९०) में भगवान् के इसी विश्व-रूप का वर्णन किया गया है। वहाँ लिखा है :

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशांगुलम्।

वह सहस्रों सिर वाला है, सहस्रों आँखों वाला है, सहस्रों पैरों वाला है। वह भूमि को चारों तरफ़ से लपेट कर दशांगुल—दसों अंगुल, अर्थात् सारा-का-सारा बाहर भी ठहरा हुआ है। ऋग्वेद (१०.८१.३) में लिखा है :

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ॥

इस मंत्र में भी भगवान् को सब ओर आँखोंवाला, सब ओर मुखवाला, सब ओर बाहुओं और पाँवों वाला कहा है। गीता की परिभाषा में 'विश्व-रूप'-शब्द में जो 'विश्व'-शब्द आया है, वह भी इस वैदिक वर्णन में मौजूद है।

ऋग्वेद के कुछ दूसरे स्थलों में तो 'विश्वरूप' शब्द जैसे-का-तैसा पाया जाता है। वहाँ लिखा है : **'विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ'** (३.३८.४), **'देवस्त्वष्टा विश्वरूपः पुपोष'** (३.५५.१९)। गीता के विश्वरूप की विस्तृत व्याख्या को देख कर वेदों में, उपनिषदों में, पुराणों में, जहाँ-जहाँ विश्वरूप का वर्णन आया है वह स्पष्ट हो जाता है।

(ग) विश्व-रूप के संबंध में पं० चमूपति के विचार—गीता के ११वें अध्याय में श्रीकृष्ण ने जो विश्वरूप दिखलाया है उसका आर्यसमाज के दिवंगत विद्वान् पं० चमूपति ने निम्न व्याख्या की है :

यह विश्वरूप क्या था ? महाभारत के शब्दों में 'दिव्य-चक्षु' का चमत्कार था। कृष्ण ने अर्जुन पर मोहिनी-सी डाल दी। दिव्य-चक्षु या मोहिनी मनोवैज्ञानिक वस्तु है। इसकी व्याख्या भी मनोवैज्ञानिक होनी चाहिए। अर्जुन अत्यन्त विषाद की अवस्था में था। उसे भीष्म, द्रोण आदि गुरुओं, दुर्योधन आदि बान्धवों, लक्ष्मण, अभिमन्यु आदि पुत्रों की मृत्यु होनी प्रत्यक्ष दीख रही थी। श्रीकृष्ण ने सबसे पहले प्रयत्न यह किया कि उसके हृदय में विषाद का विपरीत भाव—योग की परिभाषा में 'प्रतिपक्षभावना'—उद्बुद्ध हो जाय। उन्होंने पहले अपना सारा युक्तिबल लगा दिया। समझाया, बुझाया, युद्ध करने के लिए युक्तियाँ दीं, परन्तु उसका यथेष्ट प्रभाव नहीं पड़ा। अब उन्होंने समझ लिया कि अर्जुन का भूत ज़्यादा गहरा है, ऊपर-ऊपर की तर्कणा से उतरेगा नहीं। उन्होंने तर्कणा की थाह से गहरी चोट करनी चाही। मोहिनी डालनेवाले की तरह अर्जुन को अपने प्रभाव में लाने के लिए उन्होंने कहना शुरू किया : "संसार का आधार मैं हूँ। मेरी ही एक उँगली पर सारा चराचर नाचता है। सारा लोक मेरे वश में है। मेरे कहे के बाहर तू कैसे होगा ?" अर्जुन की समझ में यह बात भी नहीं आयी। हमारे जैसे हाथ-पैर, पाँच फीट का पुतला यह कृष्ण सारे जगत् का स्वामी कैसे हो सकता है ? श्रीकृष्ण ने अपनी मोहिनी-शक्ति को और गहरा किया। अर्जुन की आँख से आँख मिलाई। महापुरुषों की आँख की मोहिनी प्रसिद्ध है। नैपोलियन की आँख का तेज उसके बड़े-बड़े सेनापतियों के लिए असह्य हो जाता था। अर्जुन की आत्मा विषाद से पहले ही निर्बल हो चुकी थी। जब श्रीकृष्ण अपनी अलौकिक शक्तियों का वर्णन लगातार करते चले गये तब उसकी बुद्धि स्तब्ध-सी हो गई। उसने सोचना छोड़ दिया। कृष्ण ने अपने कराल संकल्प को अपनी दृष्टि में केन्द्रित कर दिया। अर्जुन ने रणांगन में आते ही एक महान् श्मशान का चित्र तो अपनी आँखों के सामने फिरता देख ही लिया था। कृष्ण ने अपने अदम्य संकल्प से उसी बीभत्स नाट्य का सूत्रधार बन कर अर्जुन के सम्मुख यम का रूप खड़ा कर दिया, ऐसा यम जिसकी दाढ़ में भीष्म, द्रोण तथा अन्य सब योद्धा पिसते चले जा रहे थे।

अर्जुन ने ही श्रीकृष्ण में विश्वरूप के दर्शन किये हों ऐसी बात नहीं है, संसार के रंग-मंच पर जितनी भी महत्वपूर्ण लीलाएँ हुई हैं उनके सूत्रधार अनेक-मुख, अनेक-बाहु, अनेकोरु, अनेक-नेत्र रहे ही हैं। जबतक वे उस लीला में लगे रहते हैं, तब तक सारे संसार की जिह्वाएँ उन्हीं का कहा दोहराती हैं। मानो ये जिह्वायें उन्हीं की हो गई हैं। जन-साधारण की एक बहुत बड़ी संख्या अपना बाहु-बल उनके अर्पण कर देती है। अगर उन्होंने युद्ध का संकल्प कर लिया तब किस की शक्ति है कि उससे बचे। जाति पर जाति, राष्ट्र पर राष्ट्र देखते-

भालते, इच्छा न होते हुए भी, मृत्यु के मुख में सहसा प्रविष्ट हुए जाते हैं। वे कर्णधार उस समय सचमुच कराल-काल बन जाते हैं। कृष्ण का दृढ़-विश्वासी संकल्प, जिसने परिस्थिति को भाँप कर यह समझ लिया था कि अब कोई बचने वाला नहीं, अर्जुन के सामने मानो कृष्ण की विकराल मूर्ति बन कर साक्षात् खड़ा हो गया।

अपने समय की परिस्थिति को देख कर कृष्ण यह समझ गये थे कि यह महा-संहार होकर रहेगा। जब श्रीकृष्ण पांडवों के दूत बन कर दुर्योधन को समझाने गये कि वह उनसे सुलह-सफ़ाई कर ले तब उसने कहा: **'सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव'**—बिना युद्ध के सूई की नोक बराबर भी ज़मीन नहीं दूंगा। जब युधिष्ठिर राजपाट छोड़ कर जंगल जाने की तैयारी करने लगे तब द्रौपदी ने द्यूत का अमंगल समाचार सुना कर श्रीकृष्ण को रो-रोकर अपने व्यथित हृदय की पीड़ा उँडेलनी शुरू की। तब उन्होंने सान्त्वना देते हुए कहा: 'भद्रे! आज तू रोती है। कल कौरवों की स्त्रियाँ अर्जुन के तीरों से चलनी हुए पतियों को रोयेंगी।' परिस्थितियों को देखते हुए श्रीकृष्ण का यह दृढ़ निश्चय था कि युद्ध टाले नहीं टलेगा। श्रीकृष्ण के जीवन का लक्ष्य था संपूर्ण भारत को एक बलात्काराश्रित नहीं, प्रीत्याश्रित साम्राज्य की छत्र-छाया में एकीभूत कर देना। वे इस लक्ष्य से रत्ती-भर भी इधर-उधर न हो सकते थे। अर्जुन आदि इस लक्ष्य की प्राप्ति के साधन-मात्र थे। दुर्योधन अपने मन्त्री-मंडल सहित इस साम्राज्य के रास्ते में कंटक था। उसे और उस-जैसे सबको वे अपने संकल्प में अपने रास्ते से हटा चुके थे। गीता का विश्व-रूप इसी विशाल संकल्प का दिग्दर्शन था। घटना-चक्र की यह पेचीदगी जब अर्जुन की समझ में आ गई, जब उसने जान लिया कि अब लड़ने के सिवाय रास्ता ही नहीं, तब उसने गांडीव उठा लिया।

(घ) **विश्वरूप-दर्शन के संबंध में श्री विनोबा के विचार**—श्री विनोबा ने विश्वरूप-दर्शन के उस स्थल पर बल दिया है जिसमें अर्जुन श्रीकृष्ण के विराट् रूप को देख कर भयभीत हो जाता है, थरथर काँपने लगता है, कहता है: "भगवन्! अपने पहले वाला मनोहर रूप दिखाओ, मुझे तुम्हारा यह विकराल रूप देख कर घबराहट होने लगी है।" बात भी ठीक है। आकाश का वह तारा जो फूल-सा मनोहर दीखता है अगर सिमिट कर आग का गोला बन कर मेरे सामने आ खड़ा हो, तो मेरी क्या दशा होगी? ईश्वर के ये अनन्त ब्रह्मांड जहाँ हैं उन्हें वहाँ वैसे ही रहने दीजिये। उन सब को एक ही कमरे में इकट्ठा कर देने में क्या आनन्द है? अर्जुन ने प्रेमवश होकर हठ पकड़ लिया था, प्रार्थना की थी—'प्रभो! मैं आपका वह संपूर्ण रूप देखना चाहता हूँ जिसमें आपका सारा महान् प्रभाव प्रकट हुआ हो, वह रूप मुझे आँखों से देखने को मिले।' भगवान् ने उसे वह विराट् रूप दिखलाया, परन्तु उस विराट् रूप में और भगवान् के छोटे-से रूप में क्या भेद है? परमेश्वर टुकड़ों में विभाजित नहीं है, जो परमेश्वर इस विराट् विश्व में व्याप्त है, वही संपूर्ण रूप में जैसा-का-तैसा मट्टी के एक कण में भी व्याप्त है,

विश्व की विशाल-काया में रम रहे भगवान् को श्रीकृष्ण की छोटी-सी काया में देख लेने का यही अर्थ है; अमृत के सिंधु में जो मिठास है वही उसके एक बिंदु में भी है। छोटे फोटो और बड़े फोटो में क्या अन्तर है? जो बातें बड़े फोटो में होती हैं, वही सब जैसी-की-तैसी छोटे फ़ोटो में भी होती हैं। छोटा फोटो बड़े फोटो का टुकड़ा नहीं होता, बड़े फ़ोटो का ही छोटा नमूना होता है। छोटे टाइप के अक्षर हों तो भी वही अर्थ होगा और बड़े टाइप के अक्षर हों तो भी वही अर्थ होगा। बड़े टाइप में बड़ा अर्थ और छोटे टाइप में छोटा अर्थ होता हो, सो बात नहीं है। श्री विनोबा के अनुसार विश्व-रूप दर्शन का अर्थ है—यह अनुभव करना कि मामूली रजकण में भी सारा विश्व समाया हुआ है। यही विराट् दर्शन है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को भगवान् के दोनों रूप दिखा दिये—विश्व में भी भगवान् का रूप दिखा दिया, ब्रह्मांड में, और छोटे में भी भगवान् का रूप दिखा दिया, पिंड में, अपने शरीर में, क्योंकि भगवान् तो सब जगह एक-सा है, वही समुद्र में, वही समुद्र की एक बूंद में, वही पृथ्वी की विशाल-काया में, वही धूल के एक कण में, वही सूर्य के धधकते रूप में, वही अग्नि की एक चिनगारी में। अर्जुन ने जो विश्व-रूप देखा उसमें से 'देश' तथा 'काल' को निकाल लिया गया था, वह अत्यन्त भयानक था; अर्जुन ने श्रीकृष्ण को कहा कि जो जैसा है उसे वैसा ही मुझे देखने दो, आपके विराट् रूप को पचाने की मेरी सामर्थ्य नहीं, मैं तो अपने ही कर्मों की छोटी-सी गठड़ी लेकर जीवन के राह पर चलता रहूँ—यही बस है, मुझे भगवान् के दर्शन के लिए 'ब्रह्मांड' के देखने के स्थान पर 'पिंड' को देख लेना ही पर्याप्त है।

३. निमित्तमात्र पर विनोबा के विचार

इस अध्याय में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जीवन का एक गुर बतलाया है। वे कहते हैं: "हे अर्जुन! संसार में सब-कुछ करने-धरने वाला तो मैं हूँ, तू तो निमित्त-मात्र होकर काम करता जा।" इस कथन की व्याख्या करते हुए श्री विनोबा कहते हैं: विश्व की अनेक परिस्थितियाँ हैं, असंख्य प्रवाह हैं, अपार शक्तियाँ और अनन्त गतियाँ हैं। इनके बीच में हम भी पड़े हैं। जगत् के भिन्न-भिन्न इच्छाओं, प्रयत्नों, शक्तियों के घात-प्रतिघात से कोई परिणाम निष्पन्न होता है। जो हमारे मन में आता है वही थोड़े ही हो जाता है। हम अपनी ओर से प्रयत्न करते रहें, परन्तु करने-कराने वाला अन्त में तो वही विश्वम्भर है। उसे जिस रूप की आवश्यकता होगी अन्त में वही होगा। हम केवल निमित्तमात्र होकर, प्रभु के हाथ का साधन होकर रहें, उसी का कार्य होना है, उसी की चलने वाली है, मेरी नहीं चलने वाली, यह सोच कर उसी के हथियार बन कर कार्य करें—यही जीवन में कर्म का गुर है।

परन्तु जब यह विचार मन में आता है कि हमें ईश्वर के हाथ का हथियार बनना है तब यह भी प्रश्न उठता है कि ईश्वर के हाथ का औज़ार बनें कैसे?

कृष्ण के हाथ की मुरली कैसे बनूँ ? वह अपने होंठ से मुझे लगा लें और मधुर स्वर निकालें, मुझे बजाने लगें, यह होगा कैसे ? मुरली बनना यानी पोला बनना। पर मुझ में तो विकार और वासनाएँ ठसाठस भरी हुई हैं, ऐसी दशा में मुझ में से मधुर स्वर कैसे निकलेगा ? मेरा स्वर तो मोटा है। मैं घन वस्तु हूँ। मुझ में अहंकार भरा हुआ है। मुझे निरहंकार होना होगा। जब मैं पूर्ण रूप से मुक्त, पोला हो जाऊँगा, अपनापन छोड़ दूंगा तभी परमेश्वर मुझे बजावेगा। यदि कोई महत्पुरुष हम से चाकू माँग बैठता है तो हम देखते हैं कि उसमें ठीक धार है या नहीं। कारकून को तहसीलदार के हाथों खुंडा चाकू देने में शर्म आती है। इसी तरह यदि प्रभु ने हमारे जीवन की माँग की, तो उसे तभी समर्पित कर सकेंगे जब कि वह निर्मल होगा। एक पर्शियन कवि ने कहा है—मृत्तिके ! क्या तू मेरे अधरों को चूमना चाहती है ? तो पहले मट्टी में भुंज कर प्याले का आकार ग्रहण कर। फिर वह प्याला मेरे होठों को छू सकेगा। हे काठ के टुकड़े ! क्या तू मेरे केश-कलाप का स्पर्श करना चाहता है ? तो पहले चिर कर, कट कर, कंगूरे ग्रहण कर, कंघी बन, तभी मेरे केशों पर फिरना, केशों के साथ खेलना संभव हो सकेगा।

४. भगवान् के विकराल तथा सौम्य रूप पर श्री अरविन्द के विचार

ग्यारहवें अध्याय को श्री अरविंद ने दो भागों में बाँट दिया है। उनका कहना है कि १ से ३४ श्लोक तक भगवान् के 'विकराल' रूप का तथा ३५ से ५५ श्लोक तक उसके 'सौम्य' रूप का वर्णन है। संसार के अन्य धर्मों में भगवान् के सौम्य रूप को ही प्रधान माना गया है, उन धर्मों के अनुसार संसार में जो भी हमें अशुभ या भीषण प्रतीत होता है उस सब की ज़िम्मेदारी एक अर्ध-सर्वशक्तिमान् शैतान के कंधों पर डाल दी जाती है। कई लोग इस अशुभ या भीषण की ज़िम्मेदारी प्रकृति पर डाल देते हैं मानो प्रकृति ईश्वर से स्वतंत्र होकर जो चाहे कर सकती है। दूसरे लोग इस सब की ज़िम्मेदारी मनुष्य तथा उसके पापों पर लाद देते हैं मानो जगत् की रचना में मनुष्य की आवाज़ का बड़ा भारी महत्व हो या वह ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध कोई एक भी चीज़ रच सकता हो। श्री अरविंद इन सब विचारों को भारत की धार्मिक विचारधारा के प्रतिकूल मानते हैं। वे क्या कहते हैं ?

(क) भगवान् का विकराल रूप—श्री अरविंद का कहना है कि गीता ने एक समस्या उठायी है, यह समस्या कि संसार में विनाश, संहार, भीषणता कहाँ से आयी ? इस समस्या का समाधान देने के लिए ही विश्व-रूप के दर्शन हुए। विश्वरूप के दर्शन में अर्जुन ने क्या देखा ? उसने देखा कि देवों के देव भगवान् सदैव संहार कर रहे हैं ताकि वे नई सृष्टि रच सकें, वे काल तथा मृत्यु हैं, रौद्र नृत्य करने वाले रुद्र हैं, संग्राम में नग्न नृत्य करती हुई, रौंदती चले जानेवाली, असुरों के रक्त से सनी हुई मुण्डमालाधारिणी काली हैं, आँधी-बवंडर, भूचाल, व्यथा, दुर्भिक्ष, विप्लव, विनाश तथा प्रलयंकर समुद्र हैं। दुर्बल मानव-हृदय

केवल सुन्दर तथा सुखद सत्यों को ही चाहता है, वह सत्य को उसकी समग्रता में नहीं देखना चाहता क्योंकि सत्य में ऐसा बहुत-कुछ है जो मनोहर तथा सुखद नहीं है। गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि हमें देखना होगा कि अपनी संतानों को निगलने वाली प्रकृति, प्राणियों के जीवनों को हड़प जाने वाला काल, अटल तथा सार्वभौम मृत्यु, मनुष्य तथा प्रकृति में निहित हिंसक रुद्र शक्तियाँ भी अपने एक अन्यतम विश्व-रूप में परमोच्च ईश्वर ही हैं। हमें देखना होगा कि उदार तथा सर्वसहायक दयालु ईश्वर ही भक्षक और संहारक ईश्वर भी है। दुःख-ताप और अशिव की शय्या पर शिकंजों से कसे हुए हम जो यंत्रणा भोग रहे हैं वह भी उतना ही उस भगवान् का स्पर्श है जितना कि सुख-आनन्द और माधुर्य उस भगवान् का स्पर्श है। संसार में विनाश, संहार, भीषणता प्रकृति से नहीं आयी, पुरुष से नहीं आयी, वह उसी परमेश्वर के समग्र रूप का एक पक्ष है। श्री अरविंद का कहना है कि गीता के अनुसार संहार प्रगति की पहली शर्त है। आन्तरिक दृष्टि से, जो व्यक्ति अपनी निम्नतर स्व-रचनाओं को नहीं मिटाता वह महत्तर जीवन की ओर नहीं उठ सकता। बाहरी दृष्टि से, जो राष्ट्र, समाज या जाति अपने जीवन के अतीत रूपों को नष्ट करने से चिरकाल तक कतराती रहती है वह स्वयं नष्ट हो जाती है, गल-सड़कर ध्वस्त हो जाती है, और उसके ध्वंसावशेष में से अन्य राष्ट्र, समाज और जातियाँ निर्मित होती हैं।

(ख) **भगवान् का सौम्य रूप**—भगवान् के विकराल रूप के दर्शन करने के बाद अर्जुन कहता है: मैंने आपका वह रूप देखा है जो पहले किसी ने नहीं देखा, परन्तु इसे देख कर तो मैं भयभीत हो गया हूँ, मेरा शरीर काँपने लगा है, आप अपना वही पहले वाला सौम्य रूप दिखलाइये, वह रूप जो पिता पुत्र को, मित्र मित्र को दिखलाता है। गीता के इस कथन से स्पष्ट है कि इन भयावह रूपों के पीछे का गुप्त सत्य एक पुनः आश्वासन देने वाला, प्रोत्साहन और आनन्द देने वाला सत्य है। इस विकरालता के पीछे कोई ऐसी चीज़ है जिसके कारण जगत् का हृदय भगवान् के नाम तथा सामीप्य में हर्ष तथा आह्लाद अनुभव करता है। उस वस्तु की गंभीर अनुभूति ही हमें काली की घोर आकृति में माँ की मुख-छवि के दर्शन कराती है और यहाँ तक कि संहार के बीच में भी सर्वभूतसुहृद् की रक्षक बाहुओं, अनिष्ट के बीच भी एक शुद्ध, निर्विकार दयालुता की उपस्थिनि तथा मृत्यु के मध्य भी अमरत्व के स्वामी का अनुभव कराती है।

श्री अरविंद का कहना है कि इस प्रकार गीता ने भगवान् के दोनों रूपों को विश्व रूप में दिखा दिया है, इन दोनों रूपों का दर्शन ही भगवान का समग्र दर्शन है।

बारहवाँ अध्याय

भक्ति-योग

हम पहले लिख आये हैं कि गीता के १८ अध्यायों को तीन भागों में बाँटा जाता है। पहले छः अध्यायों में 'कर्म' का, अगले छः अध्यायों में 'भक्ति' का, अन्तिम छः अध्यायों में 'ज्ञान' का वर्णन है। गीता समन्वयात्मक ग्रन्थ है, इसमें कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग—तीनों का समावेश है। १२वाँ अध्याय भक्तियोग के षट्क का अन्तिम अध्याय है।

अब तक गीता में हम जो-कुछ पढ़ आये हैं उसमें दो विचार प्रबल रूप से उभरे हैं। एक तो ब्रह्म का अव्यक्त, निर्गुण, निराकार, अजन्मा रूप है; दूसरा ब्रह्म का १०वें–११वें अध्याय में व्यक्त, सगुण, साकार, विश्व-रूप है। गीता के प्रारंभ के अध्यायों में अव्यक्त, निर्गुण, निराकार रूप ब्रह्म का वर्णन किया गया है, पिछले १०–११ अध्यायों में व्यक्त, सगुण, साकार, विश्व-रूप का वर्णन किया गया है। इन दोनों परस्पर विरोधी बातों को सुन कर अर्जुन के हृदय में शंका उठ खड़ी हुई कि इन दोनों में से परमात्मा को पाने का सही मार्ग कौन-सा है? जैसा हम कह चुके हैं, गीता समन्वयात्मक ग्रन्थ है, इसमें एक मार्ग को नहीं, सब मार्गों को सही बताया गया है, अव्यक्त-व्यक्त, निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार में भी गीता ने समन्वय बैठाने का प्रयत्न किया है।

पाँचवें अध्याय में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा था: **'संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि। यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्'**—हे कृष्ण कभी आप 'कर्म-संन्यास' की बात करते हो, कभी 'कर्म-योग' की बात करते हो। इन दोनों विरोधी बातों में कोई एक बात कहो। उस समय श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया था: **'संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ। तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते'**—'कर्म-संन्यास' और 'कर्म-योग' दोनों श्रेष्ठ हैं, परन्तु इन दोनों में कर्मयोग विशेष महत्व का है। 'कर्मयोग' और 'ज्ञानयोग' के विषय में जैसा प्रश्न अर्जुन ने पाँचवें अध्याय में उठाया था, ठीक वैसा ही प्रश्न यहाँ १२वें अध्याय में उसने 'भक्तियोग' और 'ज्ञानयोग' के विषय में उठाया है। वह श्रीकृष्ण से पूछता है कि आपने तो परमात्मा के अव्यक्त तथा व्यक्त दोनों रूपों का वर्णन किया है, ऐसी अवस्था में हम भक्ति परमात्मा के अव्यक्त रूप की करें, या व्यक्त रूप की, निर्गुण रूप की करें या सगुण रूप की? गीता क्योंकि हर बात में समन्वय की दृष्टि से विचार करती है इसलिए श्रीकृष्ण ने उत्तर भी समन्वयात्मक ही दिया है। गीता कहती है:

[अव्यक्त की भक्ति करें या व्यक्त की ?]

अर्जुन ने कहा--(हे भगवन् !) **इस प्रकार जो भक्त आपके (व्यक्त, विश्वरूप का) निरन्तर ध्यान करते हुए आपकी उपासना करते हैं, और दूसरी ओर जो भक्त आपके अविनाशी, अव्यक्त रूप का ध्यान करते हैं--इन दोनों में से कौन योगी श्रेष्ठतर माना जाय ॥१॥**

श्री भगवान् ने कहा--**जो भक्त लोग अपने मन को मेरे (व्यक्त, विश्वरूप) में स्थिर करके सदा निष्ठापूर्वक, परम श्रद्धा के साथ मेरी उपासना करते हैं उन्हें मैं श्रेष्ठ योगी मानता हूँ ॥२॥**

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

एवम्[3]–इस प्रकार; **सततयुक्ताः**[4]–निरन्तर ध्यान में लगे हुए; **ये**[1]–जो; **भक्ताः**[2]–भक्त जन; **त्वाम्**[5]–तुझको; **पर्युपासते**[6]–उपासना करते हैं; **ये**[8]–जो; **च**[7]–और; **अपि**[11]–भी; **अक्षरम्**[9]–अविनाशी; **अव्यक्तम्**[10]–अव्यक्त रूप वाले; **तेषाम्**[12]–उनमें; **के**[14]–कौन; **योगवित्तमाः**[13]–श्रेष्ठ योगी ।

श्री भगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

मयि[1]–मुझमें; **आवेश्य**[3]–स्थिर प्रवेश करके, लगाकर; **मनः**[2]–मन को; **ये**[5]–जो; **माम्**[9]–मुझे; **नित्ययुक्ताः**[4]–निरन्तर ध्यान करने वाले; **उपासते**[10]–उपासना करते हैं; **श्रद्धया**[7]–श्रद्धा से; **परया**[6]–श्रेष्ठ; **उपेताः**[8]-युक्त; **ते**[11]–वे; **मे**[12]–मेरे; **युक्ततमाः**[13]–श्रेष्ठ योगी; **मताः**[14]–माने जाते हैं ।

किन्तु जो भक्त अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वगत, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल, ध्रुव की उपासना करते हैं ॥३॥

वे सब इन्द्रियों को वश में करनेवाले, सर्वत्र समबुद्धि रखनेवाले, सब प्राणियों के कल्याण में आनन्द अनुभव करने वाले मुझे ही पाते हैं ॥४॥

जिनका चित्त 'अव्यक्त' में आसक्त है, उसमें लगा हुआ है, उनकी कठिनाई ('व्यक्त' की उपासना करनेवालों की अपेक्षा) कहीं अधिक है क्योंकि देहधारी व्यक्त मनुष्यों को अव्यक्त की (उपासना का) मार्ग कठिन प्रतीत होता है ॥५॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥

ये[2]–जो; **तु**[1]–और; **अक्षरम्**[11]–अविनाशी; **अनिर्देश्यम्**[5]–अवर्णनीय; **अव्यक्तम्**[10]–अव्यक्त को; **पर्युपासते**–उपासना करते हैं; **सर्वत्रगम्**[4]–सर्वगामी; **अचिन्त्यम्**[3]–अचिन्त्य; **च**[6]–और; **कूटस्थम्**[7]–कूटस्थ, स्थिर; **अचलम्**[9]–अचल; **ध्रुवम्**[8]–ध्रुव ।

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

संनियम्य[3]–वश में करके; **इन्द्रियग्रामम्**[2]–इन्द्रिय समूह को; **सर्वत्र**[7]–सब जगह; **समबुद्धयः**[6]–समान बुद्धिवाले; **ते**[1]–वे; **प्राप्नुवन्ति**[10]–प्राप्त करते हैं; **माम्**[9]–मुझे; **एव**[8]–ही; **सर्वभूतहिते**[4]–सब प्राणियों की हित-चिन्तना में; **रताः**[5]–परायण, लगे हुए ।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

क्लेशः[3]–कष्ट; **अधिकतरः**[4]–अत्यधिक; **तेषाम्**[1]–उनका; **अव्यक्तासक्तचेतसाम्**[2]–जो अव्यक्त में आसक्त (लगाये हुए) चित्त वाले हैं; **अव्यक्ता**[7]–अव्यक्त की उपासना; **हि**[5]–क्योंकि; **गतिः**[8]–गति; **दुःखम्**[9]–दुःख से, कठिनता से; **देहवद्भिः**[6]–देहधारियों द्वारा; **अवाप्यते**[10]–प्राप्त की जाती है ।

इस प्रकरण में 'सगुण' तथा 'निर्गुण' उपासना के प्रश्न को उठाया गया है। यहाँ कहा गया है कि सगुण उपासना आसान है, निर्गुण उपासना कठिन है—यद्यपि दोनों भगवान् के पास ले जाती हैं। सगुण उपासना के लिए तीन बातें आवश्यक हैं : (क) **मयि मनः आवेश्य**—मुझ में मन प्रविष्ट कर के, (ख) **नित्ययुक्तः**—सदा निष्ठापूर्वक लगा रह कर, (ग) **परया श्रद्धया उपेतः**—परम श्रद्धा के साथ लगकर। निर्गुण उपासना के लिए भी तीन बातें आवश्यक हैं : (क) **संनियम्येन्द्रियग्रामम्**—इन्द्रियों का संयम कर के, (ख) **सर्वत्र समबुद्धयः**—सर्वत्र सम-बुद्धि रख कर तथा '**सर्वभूतहिते रताः**—सब प्राणियों के कल्याण में आनन्द अनुभव करके। यहाँ सगुण तथा निर्गुण के विषय को कुछ स्पष्ट कर देना आवश्यक है।

[सगुण उपासना—भक्ति-योग]

सगुण उपासना का अर्थ मूर्ति-पूजा नहीं है। हम देख आये हैं कि परमेश्वर का व्यक्त या सगुण रूप उसकी 'विभूतियाँ' हैं, या 'विश्वरूप' है। 'विभूतियों' का वर्णन १०वें अध्याय में हुआ है, 'विश्व-रूप' का वर्णन ११वें अध्याय में हुआ है। परमेश्वर की विभूतियाँ क्या हैं? संसार की प्रत्येक उत्कट कोटि की वस्तु 'विभूति' है। सूर्य, चन्द्र, तारे, पृथिवी, समुद्र, हिमालय—ये सब विभूतियाँ हैं। भगवान् के इन व्यक्त, सगुण रूपों, 'विभूतियों' की उपासना सगुण उपासना है। भगवान् के 'विश्व-रूप' की उपासना भी सगुण उपासना है। सगुण उपासना में 'विभूतियों' की और 'विश्व-रूप' की उपासना—ये दो बातें आ जाती हैं।

सगुण भक्ति के संबंध में श्री **सातवलेकर** लिखते हैं: "सगुण भक्ति में प्राचीन-काल की विभूतियों की भक्ति ही आती है—ऐसा विचार बहुत लोगों में प्रबल हुआ है, इस कारण उनकी मूर्तियाँ बनाकर बहुत बड़ा भक्तिमार्ग चलाया जा रहा है। परिणाम यह है कि जो इस समय प्रत्यक्ष रूप में परमेश्वर अनेक रूपों द्वारा अपने संमुख उपस्थित हुआ है उसकी यथायोग्य कोई भक्ति नहीं करता, परन्तु ५ हज़ार वर्ष पूर्व हुए उसी ईश्वर की विभूति के पीछे लोग पड़े हुए हैं। शंकर, विष्णु, नारायण आदि प्राचीन विभूतियों को, राम-कृष्ण को परम उपास्य मानना, परन्तु हमारे सामने मौजूद विभूतियों को, माता-पिता को जीवित रहते विभूति के रूप में न पूज कर सिर्फ़ मर जाने पर ही पितर समझ कर पूजना—यह कहाँ की सगुण भक्ति है? सगुण भक्ति का गीता की परिभाषा में अर्थ है—सम्पूर्ण विश्व-रूप व्यक्त सगुण परमात्मा की उपासना। अगर यह ठीक है, तो अवनत और क्लेशयुक्त स्थिति में रहने वाली जनता भी उस विश्व-रूप में आती है। परमात्मा का सगुण रूप यह सब विश्व रूप ही है। इस विश्वरूप में सब मानव जाति, सब पशु-पक्षी, सब कीट-पतंग, सब वनस्पति सम्मिलित हैं। इन सब की सेवा—मानव-मात्र की, प्राणिमात्र की सेवा—परमेश्वर की सगुण उपासना है।"

इस सगुण उपासना के लिए तीन बातें आवश्यक हैं :

(क) **मयि मनः आवेश्य**—भक्त को अपने मन को अपने ध्यान के लक्ष्य में भीतर डाल देना चाहिए—यह अर्थ है 'आवेश' का। मन जब तक लक्ष्य के इधर-उधर चक्कर काटता है तब तक तो लक्ष्य के साथ सिर्फ़ स्पर्श ही होता है। लक्ष्य के साथ मन का स्पर्श होना पर्याप्त नहीं है, मन को लक्ष्य के भीतर घुस जाना होगा, उसके भीतर प्रविष्ट हो जाना होगा, तभी उपासना अपना रंग ला सकेगी। जब भक्त का मन अपने लक्ष्य के भीतर जा घुसता है तब उपास्य-उपासक का बीच का भेद मिट जाता है।

(ख) **नित्ययुक्तः**—भक्त के आत्म-विकास की दूसरी शर्त है—'नित्ययुक्त' होना। उपासक अपने उपास्य के साथ युक्त हो गया, उसमें प्रविष्ट हो गया, परन्तु यह अनुभूति क्षणिक न हो, कुछ समय तक ही ठहरनेवाली न हो, नित्य यही अनुभूति बनी रहे तब उपासना फलवती होती है।

(ग) **परया श्रद्धया उपेतः**—सगुण उपासना की तीसरी शर्त है—परम श्रद्धा। श्रद्धा का अर्थ अन्ध-श्रद्धा से नहीं है। श्रद्धा बना है—'श्रत्' और 'धा' से। श्रत् का अर्थ है—'सत्य'। 'सत्य' पर जो आधारित हो वह 'श्रद्धा' कहलाती है। सगुण विभूति में या विश्व-रूप में तन्मयता से जब प्रवेश किया जाय, और वह प्रवेश जब सदा बना रहे, और श्रद्धापूर्वक बना रहे, ध्येय को सत्य मान कर उसमें अटल श्रद्धा से भक्ति बनी रहे, तब की उपासना उपासना कहलाती है।

[निर्गुण उपासना—ज्ञान-योग]

सगुण उपासना का लक्ष्य निर्गुण उपासना की तरफ़ जाना है। सगुण तो रूप है किसी अरूप का, निर्गुण का। यह व्यक्त सृष्टि अव्यक्त परमेश्वर का चोला है, उसका बाह्य रूप है। इस बाह्य के भीतर तो वह अव्यक्त बैठा है। उस निर्गुण की, अव्यक्त की उपासना कठिन है, परन्तु उसकी उपासना से भी मिलता वही भगवान् है।

सगुण की तरह निर्गुण उपासना के लिए भी तीन बातें आवश्यक हैं :

(क) **संनियम्येन्द्रियग्रामम्**—निर्गुण उपासना का सीधा अर्थ है, सगुण संसार से चित्त हटा लेना। संसार में हम ज्ञानेन्द्रियों तथा मन द्वारा विहार करते हैं। जब तक हम बाहर विचरते रहेंगे तब तक भीतर दृष्टि नहीं हो सकती, इसलिए निर्गुण उपासना की पहली शर्त है—दो पर संयम करना—इन्द्रियों पर तथा मन पर, इन दोनों को अपने वश में कर लेना।

(ख) **सर्वत्र समबुद्धयः**—निर्गुण उपासना की दूसरी शर्त यह है कि साधक को सर्वत्र समबुद्धि से देखना होगा। निर्गुण ब्रह्म ही सम-भाव से संपूर्ण विश्व में रम रहा है, उसकी उपासना करनी हो तो सम-भाव को धारण करना आवश्यक होगा। संसार के विषयों में विषम-भाव है, नाना विषय हैं, इनमें पड़े रहने से सम-भाव नहीं उत्पन्न हो सकता। जब इन्द्रियों को तथा मन को विषयों में से हटा

लिया तब परमात्मा के दर्शन तो एकदम नहीं हो सकते, परन्तु परमात्मा को पाने की दूसरी सीढ़ी पर कदम रखा जा सकता है, तब सम-बुद्धि की भावना को जन्म दिया जा सकता है। सम-बुद्धि ब्रह्म-बुद्धि उत्पन्न होने से पूर्व की अवस्था है। क्योंकि ब्रह्म-सत्ता सर्वत्र एक-सी है, प्रत्येक वस्तु में परमेश्वर है, इसलिए उस सम-रस को पाने से पहले सम-रसता को पा लेना उसे ही पा लेने का साधन है। गीता में कहा है: **'शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः'** (५–१८); **'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः'** (५–१९); **'साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते'** (६–९)। मनुष्य के लिए समरसता की अवस्था संभव है—इसमें संदेह नहीं। हमारा बालक प्रातःकाल रोता-चिल्लाता है, पाठशाला जाने के समय हठ करता है, दूसरे बच्चों के साथ झगड़ता है, किसी से मैत्री, किसी से द्वेष करता है, परन्तु हमारी दृष्टि उस पर सदा पिता-भाव की बनी रहती है, भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में हम एकरसता बनाये रखते हैं। यही समरसता की अवस्था ज्ञानयोगी संसार की हर वस्तु तथा हर व्यक्ति के साथ बना लेता है।

(घ) सर्वभूतहिते रताः—निर्गुण उपासना की तीसरी शर्त है, प्राणिमात्र के साथ आत्मौपम्यभाव (६–३२), अपनी तरह से बरतना, दूसरों के स्वार्थ में अपना स्वार्थ देखना, अपने हित में, अपने कल्याण में लगे रहने के स्थान में सब के कल्याण में अपने को खपा देना। जिसको भगवान्-ही-भगवान् सब जगह देखना है, पाना है, वह जब सब जगह सम-बुद्धि से देखेगा तब उसे सब जगह एक ही तत्व दिखलाई देगा, दूसरा तत्व दीखेगा ही नहीं। वह जहाँ दुःख देखेगा, रोग देखेगा, अकल्याण देखेगा, उसी को दूर करने में वह जुट जायगा क्योंकि मानव-मात्र का दुःख उसका दुःख है, मानव-मात्र का रोग उसका रोग है, मानव-मात्र का अकल्याण उसका अपना अकल्याण है।

पाँचवें अध्याय में 'कर्मयोग' और 'ज्ञानयोग' की तुलना की गई थी, बारहवें अध्याय में 'भक्तियोग' और 'ज्ञानयोग' की तुलना की गई है। पहले 'ज्ञानयोग' की अपेक्षा 'कर्मयोग' को विशिष्ट माना था, अब 'ज्ञानयोग' की अपेक्षा 'भक्तियोग' को विशिष्ट माना है, तभी गीता में 'ज्ञानयोग' का वर्णन अन्तिम छः अध्यायों में किया है, परन्तु 'ज्ञानयोग' को हेय नहीं माना, क्लिष्ट माना है।

[भक्ति के भिन्न-भिन्न मार्ग]

गीता का दृष्टिकोण तो समन्वयात्मक है। सब यात्री उसी मार्ग के पथिक हैं, भिन्न-भिन्न मार्गों से चलते हुए पहुँचते सब वहीं हैं—**'मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः'** (४–११)। जिस मार्ग का भी निर्देश किया जाय उसमें दूसरा मार्ग मिल ही जाता है। आधार में सब मार्ग भी एक ही हैं। जब एक मार्ग का वर्णन किया जाय तब दूसरे मार्ग की बात उसमें आ ही जाती है। 'कर्मयोग' की चर्चा करें, तो कर्म के फल को छोड़ने की बात गीता कहती है, कर्म के फल को छोड़ना 'ज्ञानयोग' है; 'ज्ञानयोग' की चर्चा करें, तो कर्म तो करना ही होगा, कर्म किये

बिना तो एक क्षण भी नहीं बीत सकता, हाँ, कर्म में आसक्ति छोड़ी जा सकती है—यह बात गीता कहती है, यह बात 'कर्मयोग' है; 'भक्तियोग' की चर्चा करें तो सब-कुछ मेरे अर्पण कर दो, जो कर्म करो मेरे लिए करो—कर्म करो परन्तु अपने लिए न करो—यह बात गीता कहती है, यह बात 'कर्मयोग' तथा 'ज्ञान-योग'—इन दोनों की है। जिस योग की भी चर्चा करें उसमें दूसरे सब योग आ मिलते हैं। गीता का दृष्टिकोण ही यही है इसलिए अब आगे जिस-जिस योग की भी चर्चा होगी उसमें अन्य दूसरे योग भी शामिल होते जायें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। गीता ने २ से ५ श्लोकों में 'भक्तियोग' तथा 'ज्ञानयोग' की चर्चा की, अब भक्ति के अन्य भिन्न-भिन्न योगों, मार्गों की चर्चा चलती है :

जो लोग अपने सब कर्मों को मुझ में समर्पण करके, मत्परायण होकर—मुझ पर ही अपने को छोड़कर—अनन्य भक्ति से मेरा ध्यान करते हैं ॥६॥

(चाहे वे भक्तियोगी हों, चाहे ज्ञानयोगी हों, चाहे ध्यानयोगी हों अगर वे) मुझ में अपने चित्त को डाल देते हैं, उसमें प्रविष्ट कर देते हैं, तो हे अर्जुन ! मैं इस मृत्युमय संसार-सागर से बिना बिलम्ब के उनका उद्धार करनेवाला बन जाता हूँ, उनको पार लगा देता हूँ ॥७॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥

ये[2]—जो; **तु**[1]—और; **सर्वाणि**[4]—सब; **कर्माणि**[5]—कर्मों को; **मयि**[6]—मुझ में; **संन्यस्य**[7]—समर्पण करके; **मत्पराः**[3]—मुझ में परायण हैं; **अनन्येन**[10]—अनन्य, एकनिष्ठ; **एव**[9]—ही; **योगेन**[11]—योग से; **माम्**[8]—मुझको; **ध्यायन्तः**[12]—ध्यान करते हुए; **उपासते**[13]—उपासना करते हैं।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

तेषाम्[2]—उनका; **अहम्**[5]—मैं; **समुद्धर्ता**[8]—उद्धार करनेवाला; **मृत्युसंसारसागरात्**[7]—मृत्यु और संसार-रूप सागर से; **भवामि**[9]—होता हूँ; **नचिरात्**[6]—शीघ्र ही; **पार्थ**[1]—हे अर्जुन; **मयि**[3]—मुझमें; **आवेशित-चेतसाम्**[4]—डाले हुए चित्तवालों का।

तू अपना मन मुझ में रख दे, अपनी बुद्धि को मुझ में प्रविष्ट कर दे, इसके बाद तू मुझ में ही निवास करेगा—इसमें सन्देह नहीं है ॥८॥

और हे धनंजय ! अगर तू अपने चित्त को मुझ में स्थिर तौर पर रख देने में अपने को असमर्थ पाता है, तो तू अभ्यासयोग द्वारा मुझ तक पहुँचने का यत्न कर ॥९॥

अगर चित्त में स्थिर-वृत्ति अपने-आप नहीं आ जाती, तो स्थिर-वृत्ति का अभ्यास कर—'अभ्यासेन तु कौन्तेय' (६–३५) में श्रीकृष्ण पहले भी कह चुके हैं कि यह दुर्निग्रह-मन अभ्यास से वश में आ जाता है, स्थिर हो जाता है।

अगर तू अभ्यास द्वारा भी चित्त को मुझ में स्थिर तौर पर केन्द्रित करने में अपने को असमर्थ पाता है, तब तू कर्ममात्र को मुझे अर्पण कर दे (जो कर्म कर, मेरे लिये

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

मयि[1]–मुझ में; एव[5]–ही; मनः[2]–मन को; आधत्स्व[3]–आधारित कर; मयि[4]–मुझ में; बुद्धिम्[6]–बुद्धि को; निवेशय[7]–निवेशित कर, लगा; निवसिष्यसि[12]–रहेगा; मयि[10]–मुझ में; एव[11]–ही; अतः[8]–इस से; ऊर्ध्वम्[9]–बाद; न[14]–नहीं; संशयः[13]–सन्देह।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥९॥

अथ[1]–और; चित्तम्[2]–चित्त को; समाधातुम्[5]–एकाग्र रखने के लिये; न[6]–नहीं; शक्नोषि[7]–समर्थ है; मयि[3]–मुझ में; स्थिरम्[4]–स्थिरता से; अभ्यासयोगेन[10]–अभ्यास-योग द्वारा; ततः[8]–फिर; माम्[11]–मुझ को; इच्छ[13]–चाह; आप्तुम्[12]–प्राप्त करने के लिये; धनञ्जय[9]–हे अर्जुन।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

अभ्यासे[1]–अभ्यास में; अपि[2]–भी; असमर्थः[3]–असमर्थ; असि[4]–है; मत्कर्मपरमः[5]–मेरे ही कर्म में परायण (लगा हुआ,

कर, मेरी सेवा को अपना परम-लक्ष्य बना ले); मेरे लिये कर्म करता हुआ भी तू सिद्धि को प्राप्त होगा ।।१०।।

अगर तू यह भी करने में अपने-आपको असमर्थ पाता है, तो मेरे साथ जुटकर--मेरा नाम लेकर--यत्नपूर्वक आत्मा में बल धारण करके सब कर्मों के फल को त्याग दे ।।११।।

श्री तिलक ने गीता को 'कर्मयोग' पर घटाया है। उनका कहना है कि 'कर्मयोग' की दृष्टि से ये श्लोक अत्यन्त महत्व के हैं। इन श्लोकों में ज्ञानयोग से भक्तियोग को सहल, सरल कहा गया है, और यह कहा गया है कि अगर भक्तियोग में भी मन नहीं टिकता, मनुष्य अभ्यास से भी भगवान् में मन को स्थिर तौर पर नहीं बैठा सकता, तो कर्म का फल त्याग कर—'**सर्वकर्मफल-त्यागं कुरु**'—कर्म करे, और दूसरा कोई रास्ता ही क्या रह जाता है। श्री तिलक की बात ठीक है, परन्तु यहाँ इतनी बात और समझ लेनी उचित है कि गीता किसी एक मार्ग की पोषक नहीं है, गीता में सब मार्गों का निर्देश है, जो जिस योग्य होगा वह उसी मार्ग को अपनायेगा। कई लोग कर्म के स्थान में भक्ति की ही प्रवृत्ति के होते हैं, कई भक्ति के स्थान में कर्म की ही प्रवृत्ति के होते हैं, कई इन दोनों के लिए अपने को असमर्थ पाते हैं, वे ज्ञान के मार्ग से ही आगे बढ़ सकते हैं। गीता प्रवृत्ति-भेद से साधन-भेद का मार्ग दिखलाती है, सब को एक ही साधन, एक ही मार्ग नहीं दिखलाती। इतना ठीक है कि कर्म, भक्ति, ज्ञान--इन सब का लक्ष्य भले ही कुछ हो, साधन ये तीनों ही क्यों न जुदा-जुदा हैं, इन तीनों का अन्तिम परिणाम 'कर्मफल-त्याग'—कर्म के फल को छोड़ देना—है। कर्मयोगी कर्म के फल में आसक्ति छोड़

तत्पर); **भव**[6]–हो; **मदर्थम्**[7]–मेरे लिये; **अपि**[10]–भी; **कर्माणि**[8]–कर्मों को; **कुर्वन्**[9]–करता हुआ; **सिद्धिम्**[11]–सिद्धि को; **अवाप्स्यसि**[12]–प्राप्त करेगा।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ।।११।।

अथ[1]–और, यदि; **एतद्**[2]–इसको; **अपि**[3]–भी; **असमर्थः**[5]–असमर्थ; **असि**[6]–है; **कर्तुम्**[4]–करने के लिये; **मद्योगम्**[9]–मेरे साथ योग (जुड़ना) को; **आश्रितः**[10]–आश्रय किए हुए; **सर्वकर्मफल-त्यागम्**[11]–सर्व कर्मों के फलों का त्याग; **ततः**[7]–फिर; **कुरु**[12]–कर दे; **यतात्मवान्**[8]–स्वयं को वश में करने वाला, जितेन्द्रिय।

देता है, भक्ति योगी कर्म को भगवान् के अर्पण कर देता है, ज्ञानयोगी कर्म को ही छोड़ने का प्रयत्न करता है, कर्म को तो छोड़ नहीं सकता, इसलिए उसे भी कर्म का फल ही छोड़ना पड़ता है, इसलिए गीता के अगले श्लोक में कहा है :

अभ्यास मार्ग से ज्ञानमार्ग श्रेष्ठ है, ज्ञानमार्ग से ध्यान-मार्ग विशेष है, ध्यानमार्ग से कर्मफल के त्याग का मार्ग विशेष है क्योंकि त्याग से तुरन्त शान्ति मिलती है ॥१२॥

श्री तिलक का कहना है कि इस श्लोक में स्पष्ट तौर पर कर्म-फल-त्याग के मार्ग को, 'कर्मयोग' को सब से उत्तम कहा है। सूर्य गीता (११४, ७७) में भी कहा है : **'ज्ञानादुपास्तिरुत्कृष्टा कर्मोत्कृष्टमुपासनात् । इति यो वेद वेदान्तैः स एव पुरुषोत्तमः'**—अर्थात् जो इस वेदान्त-तत्व को जानता है कि ज्ञानयोग की अपेक्षा भक्तियोग श्रेष्ठ है, और भक्तियोग की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है, वही पुरुषोत्तम है। इस दृष्टि से कर्मयोग सब मार्गों में श्रेष्ठ है। जैसा हमने कहा, श्री तिलक की यह स्थापना ठीक है, तभी गीता में पहले कर्मयोग, फिर भक्तियोग और अन्त में ज्ञानयोग का प्रतिपादन किया गया है। कर्मयोग सब से आसान है, भक्तियोग उससे कठिन है, ज्ञानयोग सब से कठिन है, परन्तु यह सब-कुछ होते हुए भी प्रवृत्ति-भेद तथा अधिकारी-भेद से भिन्न-भिन्न मार्ग हैं और यह संभव है कि जो मार्ग एक के लिए सरल हो, वह दूसरे के लिए कठिन हो, इसलिए सभी मार्ग ठीक हैं, गीता में सभी मार्गों का उपदेश दिया गया है। उपदेश ही नहीं दिया गया, हर मार्ग की चर्चा करते हुए उसमें अन्य मार्ग को इस प्रकार मिला-जुला दिया गया है कि कभी-कभी भ्रम हो जाता है कि गीता कर्म की चर्चा कर रही है, या कर्म-संन्यास की। तभी अर्जुन को भी समय-समय पर सन्देह पैदा हो जाता रहा। इसी कारण तीसरे अध्याय (३—२) में अर्जुन कहता है : **'व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे। तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्'**—आप मिली-जुली-सी बात करते हैं, एक बात कहिये ताकि मैं ठीक-ठीक समझूँ; पाँचवें अध्याय (५—१) में अर्जुन कहता है : **'संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि। यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्'**—हे कृष्ण ! कभी तुम कर्म-संन्यास की बात कहते हो,

---

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

श्रेयः[4]—श्रेष्ठ है; **हि**[1]—क्योंकि; **ज्ञानम्**[3]—ज्ञानमार्ग; **अभ्यासात्**[2]—अभ्यास-मार्ग से; **ज्ञानात्**[5]—ज्ञान से; **ध्यानम्**[6]—ध्यान-मार्ग; **विशिष्यते**[7]—विशेष है, उत्कृष्ट है; **ध्यानात्**[8]—ध्यान से; **कर्मफलत्यागः**[9]—कर्म के फलों का त्याग (श्रेष्ठ है); **त्यागात्**[10]—कर्मफल-त्याग से; **शान्तिः**[12]—शान्ति; **अनन्तरम्**[11]—तुरन्त ही, बाद में ।

कभी कर्मयोग की बात कहते हो, एक बात कहो न। इससे स्पष्ट है कि गीता में किसी एक ही मार्ग पर बल नहीं दिया गया, सब मार्गों पर बल दिया गया है, सब मार्गों का अन्तिम परिणाम कर्मफल-त्याग कहा गया है, इसलिए सब मार्ग एक-से जान पड़ते हैं, गीता में सब मार्गों का समन्वय है। तभी गीता (९-२९) में कहा है : **'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्'**—मैं तो सब में सम हूँ, न मुझे कोई बुरा है, न प्रिय है, जो मेरा भजन करते हैं, किसी तरह से भी करें, कर्म से, ध्यान से, ज्ञान से, मैं उन में हूँ, वे मुझ में हैं।

[भगवान् के प्रिय भक्त का वर्णन]

जिसने कर्म से, ध्यान से, भक्ति से, ज्ञान से अपने को भगवान् की सनातन उपासना के मार्ग पर डाल दिया है, उसकी दिव्य-प्रकृति, उसकी चेतना की स्थिति क्या होगी ? जैसे गीता के द्वितीय अध्याय (२, ५५-७२) में 'स्थि-प्रज्ञ' का, 'मुनि' का वर्णन किया गया है, वैसे ही यहाँ परमेश्वर के 'प्रिय-भक्त' का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार आगे १३ अध्याय के ७ से ११ श्लोकों में 'ज्ञानयोगी' का वर्णन है। गीता में जो योग बतलाये हैं, उनका अपने-अपने स्थल में उस-उस प्रकार के योगी का सुन्दर वर्णन दिया गया है।

जो व्यक्ति किसी प्राणी से द्वेष नहीं करता, जो सबका मित्र है, सबके प्रति दया का व्यवहार करता है, जो ममता और अहंकार से रहित है, सुख-दुःख में समान है, क्षमावान् है; जो सदा सन्तोषी है, योगयुक्त है, अपने आप को वश में रखता है, जिसका निश्चय दृढ़ है, जिसने अपने मन और बुद्धि को मुझ में अर्पण कर दिया है—ऐसा मेरा भक्त मुझे प्यारा है ॥१३-१४॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

अद्वेष्टा[3]—द्वेष न करनेवाला; **सर्वभूतानाम्**[2]—सब भूतों का; **मैत्रः**[4]—मित्रता रखने वाला; **करुणः**[6]—दयावान्; **एव**[7]—ही; **च**[5]—और; **निर्ममः**[8]—ममत्व-रहित; **निरहङ्कारः**[9]—अहम्भाव से रहित; **समदुःखसुखः**[10]—दुःख और सुख में एक-सा व्यवहार वाला; **क्षमी**[11]—

जिससे लोग उद्विग्न नहीं होते, जो लोगों से उद्वेग नहीं पाता, जो हर्ष, ईर्ष्या, भय इन उद्वेगों से मुक्त है वह मुझे प्यारा है ॥१५॥

इस प्रकरण में 'उद्वेग' का अर्थ कई टीकाकारों ने 'चिंता', कई ने 'विषाद' किया है। परन्तु श्लोक में 'न उद्विजते'—यह आया है, उद्विग्न नहीं होता, अर्थात् जिसमें 'भावात्मक विक्षोभ' (Emotional disturbance) नहीं होता, यह अर्थ है 'न उद्विजते' का। 'उद्विजते' तथा 'उद्वेग' एक ही भाव को व्यक्त करते हैं। हर्ष, ईर्ष्या, भय—ये 'उद्वेग' (Emotions) हैं, इन से परमेश्वर का भक्त मुक्त हो जाता है।

जो किसी से कोई आशा नहीं रखता, जो पवित्र है, कुशल है, तटस्थ है, व्यथारहित है, जिसने कर्म के फल के संबंध में सब आरंभ अर्थात् उद्योग परे फेंक दिये हैं, ऐसा जो मेरा भक्त है वह मुझे प्यारा है ॥१६॥

क्षमावान्; **सन्तुष्टः**[13]–सन्तोषी; **सततम्**[12]–निरन्तर; **योगी**[14]–योगी; **यतात्मा**[15]–अपने को वश मे रखने वाला, संयमी; **दृढनिश्चयः**[16]–दृढ़ निश्चय वाला; **मयि**[17]–मुझ में; **अर्पितमनोबुद्धिः**[18]–मन और बुद्धि को समर्पण करने वाला; **यः**[1]–जो; **मद्भक्तः**[20]–मेरा भजन करने वाला; **सः**[19]–वह; **मे**[21]–मेरा; **प्रियः**[22]–प्रिय है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

यस्मात्[1]–जिससे; **न**[3]–नहीं; **उद्विजते**[4]–उद्विग्न होता है; **लोकः**[2]–लोग; **लोकात्**[7]–लोगों से; **न**[8]–नहीं; **उद्विजते**[9]–उद्वेग पाता है; **च**[5]–और; **यः**[6]–जो; **हर्षामर्षभयोद्वेगैः**[12]–हर्ष, क्रोध, भय नामक उद्वेगों से; **मुक्तः**[13]–मुक्त; **यः**[11]–जो; **सः**[14]–वह; **च**[10]–और; **मे**[15]–मेरा; **प्रियः**[16]–प्रिय है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

अनपेक्षः[2]–किसी से अपेक्षा (आशा) न करने वाला; **शुचिः**[3]–पवित्र; **दक्षः**[4]–कार्यकुशल; **उदासीनः**[5]–तटस्थ; **गतव्यथः**[6]–व्यथाहीन; **सर्वारम्भपरित्यागी**[8]–सब प्रकार के कर्मफल के प्रति उद्योगों

'**सर्वारंभपरित्यागी**' का अर्थ कई लोग यह करते हैं कि जो किसी नवीन कार्य का आरंभ नहीं करता, पुरानी प्रथाओं-परंपराओं का ही जो अनुयायी है—वह मेरा प्रिय है। ऐसा अर्थ करने वाले पुरातन का दास बने रहना उचित समझते हैं, कहते हैं कि गीता ने सब नवीन आरंभों, नवीन विचारों—New Movements—का खण्डन किया है। '**सर्वारंभपरित्यागी**' का यह अर्थ नहीं है। इसका यह अर्थ है कि जो सब आरंभों को, कार्यों को अपना किया न समझ कर भगवान् का किया समझता है, अपने को '**निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्**'—निमित्तमात्र समझता है, अपने अहंत्व को, अहंकार को हटाकर, उसी को, भगवान् को ही सब 'आरंभों' का मूल कारण समझता है, वह मेरा प्रिय है। गीता के हर स्थल को गीता के मूल विचार की पृष्ठ-भूमि में ही समझना चाहिये। गीता की पृष्ठ-भूमि है—अहंकार का त्याग, अपने को फल से अलग करना, निष्कामता—इसी पृष्ठ-भूमि में '**सर्वारंभपरित्यागी**' कहा है।

जो न हर्ष करता है, न द्वेष करता है, न दुःख मानता है, न आशाएँ बाँधता है, जिसने भले-बुरे दोनों का परित्याग कर दिया है—ऐसा भक्तिमान् व्यक्ति मुझे प्यारा है ॥१७॥

जो शत्रु और मित्र के प्रति सम-दृष्टि से देखता है, मान-अपमान, शीत-उष्ण, सुख-दुःख में सम रहता है, आसक्ति से जो रहित है ॥१८॥

को छोड़ने वाला; **यः**[1]—जो; **मद्भक्तः**[9]—मेरा भक्त है; **सः**[7]—वह; **मे**[10]—मेरा; **प्रियः**[11]—प्रिय है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

यः[1]—जो; **न**[2]—नहीं; **हृष्यति**[3]—हर्षित होता है; **न**[4]—नहीं; **द्वेष्टि**[5]—द्वेष करता है; **न**[6]—नहीं; **शोचति**[7]—शोक करता है; **न**[8]—नहीं; **कांक्षति**[9]—कोई आशा ही करता है; **शुभाशुभपरित्यागी**[11]—कर्मों के शुभ और अशुभ फलों को जिसने त्याग दिया है; **भक्तिमान्**[13]—भक्तिमान्; **यः**[10]—जो; **सः**[12]—वह; **मे**[14]—मेरा; **प्रियः**[15]—प्रिय है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥

समः[5]—समदर्शी; **शत्रौ**[1]—शत्रुओं में; **च**[3]—और; **मित्रे**[2]—मित्र में; **च**[9]—और; **तथा**[6]—और; **मानापमानयोः**[4]—मान और अपमान

जो निन्दा और स्तुति को एक समान समझता है, जो मितभाषी है, जो-कुछ मिल जाय उसी से जो सन्तुष्ट रहता है, जिसका कोई नियत निवास-स्थान नहीं, जिसकी बुद्धि स्थिर है, जो भक्तिमान् है—ऐसा भक्त मुझे प्यारा है ॥१९॥

जो ऊपर बतलाये इस अमृत-तुल्य धर्म का श्रद्धापूर्वक मुझ में परायण रहकर आचरण करते हैं वे मुझे अत्यन्त प्यारे हैं ॥२०॥

श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् में जो ब्रह्मविद्या का वर्णन किया गया है, उसके अन्तर्गत जो योगशास्त्र है, उसमें जो कृष्णार्जुन-संवाद है, उस संवाद का 'भक्ति-योग' नामक द्वादश अध्याय समाप्त हुआ।*

दोनों ही में; **शीतोष्णसुखदुःखेषु**[7]–शीत, गर्मी, सुख और दुःख में; **समः**[8]–बराबर, एक-रस; **सङ्गविवर्जितः**[10]–आसक्ति से रहित ।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

तुल्यनिन्दास्तुतिः[1]–निन्दा और स्तुति दोनों ही में जो एक भाव से रहता है; **मौनी**[2]–प्रकृति से मितभाषी; **सन्तुष्टः**[5]–सन्तोषी; **येन**[3]–जिस; **केनचित्**[4]–किसी भी वस्तु से; **अनिकेतः**[6]–किसी भी एक घर के प्रति मोह भाव न रखने वाला; **स्थिरमतिः**[7]–दृढ़ संकल्प वाला; **भक्तिमान्**[8]–भक्ति से ओत-प्रोत; **मे**[10]–मेरा; **प्रियः**[11]–प्रिय है; **नरः**[9]–मनुष्य ।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

ये[2]–जो; **तु**[1]–और; **धर्म्यामृतम्**[8]–धर्मानुकूल और अमृततुल्य; **इदम्**[5]–यह; **यथा**[6]–जैसे; **उक्तम्**[7]–कहा है; **पर्युपासते**[9]–उपासना करते हैं; **श्रद्दधानाः**[4]–हृदय में श्रद्धा से आप्लावित; **मत्परमाः**[3]–मुझमें परायण; **भक्ताः**[11]–भक्त जन; **ते**[10]–वे; **अतीव**[13]–अत्यधिक; **मे**[12]–मेरे; **प्रियाः**[14]–प्यारे हैं ।

*** इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्ति-योगो नाम द्वादशोऽध्यायः ।**

उपसंहार

गीता को तीन पट्कों में बाँटा जाता है। बारहवाँ अध्याय द्वितीय षट्क का आखीरी अध्याय है। बारहवाँ तथा पन्द्रहवाँ—ये दो गीता के सब से छोटे अध्याय हैं और इनमें केवल २० श्लोक हैं। हम यहाँ सगुण-निर्गुण के विवेचन के अतिरिक्त श्री तिलक के भक्तियोग-ज्ञानयोग-कर्मयोग की तुलना पर तथा इस अध्याय-सम्बन्धी श्री अरविंद के विचारों पर संक्षेप से कुछ लिखेंगे।

१. सगुण-निर्गुण के विषय में विनोबा के विचार

(क) **सगुण-निर्गुण में भेद**—गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि सगुण की उपासना तथा निर्गुण की उपासना में कोई विशेष भेद नहीं है, इतना भेद है कि सगुण की उपासना सरल है, सुलभ है, निर्गुण की उपासना कठिन है, दुर्लभ है, उद्देश्य दोनों का परमेश्वर तक पहुँचना है। सगुणोपासना में भक्ति का मार्ग पकड़ा जाता है, निर्गुणोपासना में ज्ञान का मार्ग पकड़ा जाता है, जाते दोनों एक ही जगह हैं। भक्ति का मार्ग सरल है, ज्ञान का मार्ग कठिन—यह कैसे? मान लो कि किसी की माँ मृत्यु-शय्या पर पड़ी हुई है और वह उससे मिलना चाहता है। दोनों के बीच पन्द्रह मील का रास्ता है। इस रास्ते पर मोटर नहीं जा सकती, टूटी-फूटी पगडंडी है। ऐसे समय पर दो दृष्टियों से रास्ता काटा जा सकता है। एक दृष्टि तो यह है कि हम रास्ते पर भागते भी जायें और रास्ते को कोसते भी जायें। "कैसा मनहूस रास्ता है, हर जगह काँटे और झाड़ियाँ हैं"—यह बड़बड़ाते जायें। दूसरी दृष्टि यह है कि हम रास्ते पर भागते भी जायें और भगवान् का धन्यवाद करते जायें। "इस जंगल में से होकर पगडंडी तो बनी हुई है, ग़नीमत है, किसी तरह माँ तक पहुँच जाऊँगा, यह रास्ता न होता तो कैसे माँ तक पहुँचता।" इनमें से पहला मार्ग ज्ञान का मार्ग है, उसमें हम भागे तो जाते हैं, भागे बिना कुछ उपाय नहीं, परन्तु संसार को कोसते जाते हैं; दूसरा मार्ग भक्ति का मार्ग है, इसमें भी हम भागे जाते हैं, परन्तु भागते हुए रास्ते की थकावट नहीं होती। भक्ति का मार्ग सगुण-उपासना का मार्ग है, ज्ञान का मार्ग निर्गुण-उपासना का मार्ग है, भक्ति के मार्ग में थकावट नहीं, ज्ञान के मार्ग में थकावट है, जाते दोनों एक ही जगह हैं, परन्तु इनमें से भक्ति का मार्ग सरल है, सुलभ है, ज्ञान का मार्ग कठिन है, दुर्लभ है।

श्री विनोबा का कहना है कि सरलता के अलावा इन दोनों में एक और भेद भी है। सगुण-उपासना प्रेममय है, भावनामय है, उसमें आर्द्रता है; निर्गुण-उपासना ज्ञानमय है, उसमें शुष्कता है। सगुण-उपासना में मैं अपने पर अवलंब न रख कर अपने से किसी महान् सत्ता पर अवलंब रखता हूँ; निर्गुण-उपासना में मुझे अपने पर अवलंबित रहना होता है। अपने पर अवलंबित रहने में ख़तरा है, अपने से महान् पर अवलंबित रहने में ख़तरा नहीं है क्योंकि मैं स्वयं को न संभाल सकूँ तो वह तो मुझे संभाल ही लेगा। ज्ञान से मन का स्थूल मैल जलकर भस्म हो

सकता है, परन्तु मन के सूक्ष्म मैल को मिटाने की उसमें सामर्थ्य नहीं, भक्ति का आश्रय लिये बिना मन के सूक्ष्म मैल मिटते नहीं।

(ख) **सगुण का अन्त निर्गुण में होना चाहिए**—पहले तो हम सगुण उपासना ही करते हैं, परन्तु सगुण का उद्देश्य हमें निर्गुण तक पहुँचा देना है। उदाहरणार्थ, हम भिन्न-भिन्न कामों के लिए किसी व्यक्ति को आधार बना लेते हैं, किसी महात्मा के आस-पास इकट्ठे होते हैं। बुद्ध सरीखी कोई महान् विभूति उपस्थित हुई कि उस विभूति की ओर हमारा रुझान हो उठता है। लोकमान्य तिलक थे, उनके आस-पास लाखों लोग इकट्ठे हो गये। महात्मा गांधी आये, उनके भी चारों ओर लाखों एकत्रित हुए। इस प्रकार हम आँखों के सामने सगुण सत्ता को रखकर ही चलते हैं, परन्तु यह देह तो जानेवाली है। सारी मूर्तियाँ, सारे रूप नष्ट हो जानेवाले हैं, मट्टी में मिल जानेवाले हैं। व्यक्ति मिट गया तो क्या रोने बैठोगे? बुद्धदेव के ध्यान में यह बात आ गई थी, इसलिए उन्होंने तीन प्रकार की निष्ठाएँ बताई हैं। पहले व्यक्ति-निष्ठा हो, तो भी उसमें से संघ-निष्ठा उत्पन्न होनी चाहिए। एक व्यक्ति के प्रति जो आदर था, वह दस-पन्द्रह के लिए होना चाहिए। व्यक्तिशरणता मिटकर संघशरणता उत्पन्न होनी चाहिए और फिर सिद्धान्तशरणता आनी चाहिए। इसीलिए बौद्ध-धर्म में तीन प्रकार की शरणागति बताई गई हैं : **बुद्धं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि**—यह सगुण से निर्गुण के प्रति जाना है। जब तक सगुण पूजा निर्गुण की सीमा में रहती है तब तक यह निर्दोष रहती है। इस मर्यादा के छूटते ही सगुण पूजा सदोष हो जाती है। निर्गुण रूपी मर्यादा के अभाव में सारे धर्मों के सगुण अवनति को प्राप्त हो गये हैं। किसी समय यज्ञ-यागादि में पशु-हत्या होने लगी थी। आज भी शाक्त लोग देवी को बलि चढ़ाते हैं। यह सब इसीलिए है क्योंकि सगुण ने निर्गुण का दामन छोड़ दिया है। इसे विनोबा ने मूर्ति-पूजा का अत्याचार कहा है। सगुण पूजा निर्गुण पूजा में परिणत नहीं होती तो सगुण पूजा निरर्थक है।

२. ज्ञानयोग-भक्तियोग-कर्मयोग पर तिलक के विचार

गीता के जितने टीकाकार हुए हैं उन्होंने अपने-अपने दृष्टिकोण से गीता का अर्थ किया है। अधिक संख्या में टीकाकारों ने गीता का संन्यास-परक अर्थ किया है। शंकराचार्य का तो भाष्य प्रसिद्ध ही है। वर्तमान काल के टीकाकारों में श्री तिलक का मुख्य स्थान है। उन्होंने गीता को कर्मयोगपरक माना है। इस अध्याय में जो बारहवाँ श्लोक है उस पर श्री तिलक ने विशेष बल दिया है और कहा है कि भक्तियोग के प्रकरण में भी श्रीकृष्ण ने कह दिया है : '**श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात् ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते। ध्यानात्कर्मफलत्यागः त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**'—अर्थात् अभ्यासयोग से ज्ञानयोग, ज्ञानयोग से ध्यानयोग और ध्यानयोग से कर्मफल त्याग देनेवाला कर्मयोग श्रेष्ठतर है। पाँचवें अध्याय (५–२) में भी लिखा है : '**संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ। तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते**'—अर्थात् ज्ञानयोग और कर्मयोग इन दोनों की तुलना में कर्मयोग ही

विशिष्ट है। श्री तिलक गीता में जहाँ-जहाँ योग शब्द आया है वहाँ-वहाँ प्रधानतया उसका अर्थ 'कर्मयोग' ही करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि गीता जिस भूमिका में कही गई, उसमें इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय कर्मयोग ही संगत प्रतीत होता है। आजकल की आवश्यकता को देख कर भी गीता का कर्मयोगपरक अर्थ ही उपयोगी प्रतीत होता है। गीता में कर्मयोग को प्रथम स्थान दिया गया है—इससे भी गीता का मुख्य विषय कर्मयोग ही सिद्ध होता है। परन्तु यह सब-कुछ होते हुए भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि गीता में कर्मयोग के अलावा भक्तियोग तथा ज्ञानयोग का भी प्रतिपादन है। गीता के पढ़ने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसमें इन तीनों का समन्वय किया गया है। अधिकारी-भेद से जो जिसके योग्य हो, उसके लिए उसी योग को श्रेष्ठ कहा गया है। इन योगों में सर्व-साधारण की दृष्टि से तारतम्य तो हो सकता है, परन्तु सब का लक्ष्य एक ही माना गया है। सब से अधिक लोगों के लिए कर्मयोग सरल है, उससे कम लोगों के लिए भक्तियोग सरल है, और सबसे कम लोगों के लिए ज्ञानयोग सरल है—ऐसा गीता का अभिप्राय प्रतीत होता है।

३. ज्ञानयोग-भक्तियोग-कर्मयोग पर श्री अरविंद के विचार

बारहवें अध्याय में श्रीकृष्ण से अबतक सुने उपदेश से एक शंका उठ खड़ी हुई है, उस शंका का श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया है। श्री अरविंद का कहना है कि इस अध्याय के मर्म को जानने के लिए यह जानना आवश्यक है कि वह शंका क्या है, और इस शंका का उत्तर क्या है?

(क) व्यक्त तथा अव्यक्त की उपासना में से किस की उपासना श्रेष्ठ है?—गीता के पिछले ११ अध्यायों में दो परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली बातें कही गई हैं। एक बात तो यह कही है कि भगवान् अव्यक्त हैं, अनादि हैं, अनिर्वचनीय हैं, अरूप हैं, अनिर्देश्य हैं; दूसरी बात १०वें और ११वें अध्याय में यह कही है कि यह जो-कुछ दीखता है, 'विभूति-रूप' तथा 'विश्व-रूप' जगत्—यही भगवान् है, कृष्ण, पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् हैं। अनिर्वचनीय परमेश्वर और कृष्ण पुरुषोत्तम —इन दोनों में गीता में भेद किया गया है। **'आत्मनि, अथो मयि'**—इसका अर्थ है, आत्मा में, और मुझ में। **'आत्मनि'** का अर्थ है—अव्यक्त, अनादि, अनिर्वचनीय, अरूप परमेश्वर; **'मयि'** का अर्थ है—व्यक्त, सामने दिख रहा, परमेश्वर की विभूति या विश्वरूप पुरुषोत्तम कृष्ण। गीता ने इन दोनों रूपों में स्वयं भेद दिखा दिया है। अर्जुन को परमेश्वर का स्वरूप अव्यक्त का बतलाया गया था, फिर परमेश्वर के व्यक्त रूप का दर्शन करा दिया गया, परन्तु यह बात तो उसके मस्तिष्क में गड़ चुकी थी कि यह व्यक्त रूप भी उसके अव्यक्त रूप की ही झलक है, उसका वास्तविक रूप अव्यक्त है, क्योंकि वह वास्तविक है इसलिए वही महान् है, श्रेष्ठ है, यह व्यक्त रूप उस अव्यक्त की तुलना में हीन ही है, उससे श्रेष्ठतर नहीं हो सकता। अर्जुन पूछता है कि यह व्यक्त, सगुण रूप जो उस अव्यक्त, निर्गुण का ही प्रतिबिम्ब है, अव्यक्त की, निर्गुण की अपेक्षा श्रेष्ठतर

क्योंकर हो सकता है? श्रेष्ठतर तो उसे ही मानना चाहिए जो यथार्थ सत् है, और यथार्थ सत् जैसा हे कृष्ण ! तुम बार-बार कह चुके हो, परमेश्वर का अव्यक्त, निर्गुण रूप है।

(ख) **वेदान्त तथा गीता के दृष्टिकोण में भेद**—श्री अरविंद का कहना है कि अव्यक्त, निर्गुण रूप ब्रह्म वेदांत का दृष्टिकोण है, गीता का दृष्टि-कोण वेदांत के दृष्टिकोण से भिन्न है। वेदांत के अनुसार आत्मा परमात्मा में जाकर मिट जाता है, गीता के अनुसार आत्मा परमात्मा में एकीभूत हो जाता है। इन दोनों दृष्टि-कोणों में भेद है। गीता कहती है—'**माम् एति**'—आत्मा मेरे पास आता है; गीता कहती है—'**ज्ञातुम् द्रष्टुम् तत्त्वेन प्रवेष्टुम्**'—आत्मा पहले उस ब्रह्म-तत्व को जानता है, जानने के बाद उसे आमने-सामने देखने लगता है। जब उसे आमने-सामने ठीक-से देख लेता है तब वह उस तत्व—ब्रह्म—में प्रविष्ट हो जाता है। गीता में जगह-जगह '**विशति**'—प्रविष्ट हो जाता है—का प्रयोग हुआ है। आत्मा का परमात्मा में प्रविष्ट हो जाना, तथा उसका मिट जाना—दो अलग-अलग बातें हैं। योगदर्शन की दृष्टि से मुक्ति के सायुज्य, सालोक्य, सामीप्य तथा सादृश्य—ये चार रूप कहे गये हैं। 'सायुज्य' में तो आत्मा परमात्मा में खप जाता है—यह वेदान्त की मुक्ति है। 'सालोक्य' का अर्थ है—उसी लोक में निवास करना। गीता में कहा है—'**निवसिष्यसि मयि एव**'—मुझ में ही निवास करेगा। इस दृष्टि से गीता की मुक्ति का रूप 'सायुज्य' न होकर 'सालोक्य-मुक्ति' का है। श्री अरविन्द का कहना है कि क्योंकि गीता के अनुसार आत्मा ऊर्ध्वमुखी विकास में परमात्मा में प्रविष्ट हो जाता है, उसी में निवास करने लगता है, इसलिए परमात्मा के कार्य ही आत्मा के कार्य हो जाते हैं, इसीलिए आत्मा परमात्मा का साधन, उसका निमित्त बन जाता है, इसी को गीता में '**निमित्त-मात्रं भव सव्यसाचिन्**' कहा है। जब आत्मा परमात्मा में प्रविष्ट हो गया, उसने अपना अहंकार त्याग दिया, परब्रह्म की ज्योति से ही वह जगमगाने लगा, तब आत्मा के कर्म का संचालन वही भगवान् करने लगता है। इसके विपरीत वेदांत के दृष्टिकोण से, जो परमात्मा पर अवलंब न लेकर अपने ज्ञान का अवलंब लेता है, लक्ष्य तो वही अव्यक्त, अनिर्देश्य, अरूप, निर्गुण ब्रह्म ही रहता है, परन्तु उसे यह सारी चढ़ाई अपने-आप चढ़नी पड़ती है, उसे हाथ लगाने वाला, सहारा देने वाला, कोई नहीं। इसीलिए गीता के मार्ग से वेदांत का मार्ग कठिन है। कठिन के साथ वह इसलिए निस्सार है क्योंकि वेदांत के अनुसार तो उस ऊँचाई पर अकेले चढ़कर वह परमात्मा के साथ एकात्म होने के स्थान में स्वयं मिट जाता है, समाप्त ही हो जाता है, उसकी सत्ता ही नष्ट हो जाती है।

(ग) **तीनों मार्गों का समन्वय**—श्री अरविंद का योग 'समन्वय-योग' (Integral Yoga) कहलाता है। श्री अरविंद का कहना है कि ज्ञानयोग, भक्तियोग तथा कर्मयोग के श्रद्धालु भक्त व्यर्थ एक-दूसरे से लड़ा करते हैं। ज्ञानयोग की ध्वजा फहरानेवाले वेदांती भक्तियोगियों को हीन दृष्टि से देखते

हैं। वे कहते हैं कि भक्तिमार्गी बुद्धिहीन होते हैं, अन्धों की तरह परमेश्वर को पाने के मार्ग पर दौड़ते हैं। यही कारण है कि परमात्मा का नाम लेने वाले अन्ध भक्तों ने साम्प्रदायिकता के अन्धेपन तथा धर्म के नाम पर संसार में अन्य मतावलंबियों पर अत्याचार किये हैं। बुद्धि का सहारा न लेकर भक्ति के मार्ग पर चलनेवाले ये धर्मध्वजी सिर्फ़ परमात्मा के नाम की तोतों की तरह रट लगाते हैं, ये सत्य को पा नहीं सकते। ज्ञानमार्गियों के भक्ति-मार्ग पर ये आक्षेप कुछ अंश तक ठीक हैं, परन्तु श्री अरविंद का कहना है कि जिन भक्तिमार्गियों पर ज्ञानमार्गी आक्षेप करते हैं वे पूर्ण तथा शुद्ध अर्थों में भक्तिमार्गी नहीं हैं। वे भक्तिमार्ग की गलियों में चक्कर काट रहे हैं, भक्तिमार्ग के राजपथ पर नहीं पहुँचे। भक्ति-मार्गी ज्ञानमार्गियों को हीन-दृष्टि से देखते हैं। वे कहते हैं कि ज्ञानमार्गी शुष्क तर्क और वितंडावाद में उलझा रहता है और जहाँ सत्य सामने खड़ा दीखता है, वहाँ भी संदेह में फँसा रहता है। भक्तिमार्गियों का कहना है कि भक्ति का अर्थ 'अन्ध-भक्ति' नहीं है। गीता ने भक्त के तीन भेद किये हैं—आर्त, अर्थार्थी तथा जिज्ञासु। जो किसी दुःख से पीड़ित होकर भगवान् की शरण में जाता है वह 'आर्त', जो किसी अर्थ से, प्रयोजन से भगवान् का ध्यान करता है वह 'अर्थार्थी', जो भगवान् के प्रेम में लीन रहते हुए उसे जानना भी चाहता है वह 'जिज्ञासु'। 'जिज्ञासु-भक्त' वह है जिसमें भक्ति-मार्ग के साथ ज्ञान-मार्ग मिल गया है।

जैसा हमने कहा, श्री अरविंद के योग में कर्म, ज्ञान तथा भक्ति का समन्वय है, इनका विरोध नहीं। उनका योग 'समन्वय' का योग है। उनका कहना है कि गीता में भी इन तीनों मार्गों का मेल बैठाया गया है, इन तीनों में विरोध को नहीं माना गया। वह कसे?

मनोवैज्ञानिक मनुष्य में तीन मानसिक शक्तियाँ मानते हैं—'कृति' (Will), 'ज्ञान' (Knowledge) तथा 'इच्छा' (Feeling)। ये तीनों मनुष्य में अलग-अलग नहीं रहतीं, एक-साथ रहती हैं। हमें रास्ते चलते काँटा लग गया। काँटे से पीड़ा हो रही है—यह 'इच्छा-शक्ति' है; 'काँटा लगा'—यह ज्ञान 'ज्ञान-शक्ति' है; 'काँटे को मैं निकालूँ'—यह 'कृति-शक्ति' है। ये तीनों एक-साथ काम करेंगी तभी काँटा निकलेगा, किसी एक बात को पकड़े बैठे रहेंगे तब काँटा नहीं निकलेगा। 'कृति-शक्ति' से कर्मयोग, 'ज्ञान-शक्ति' से ज्ञान-योग तथा 'इच्छा-शक्ति' से भक्ति-योग का विकास हुआ है। जब मन की ये तीनों शक्तियाँ एक-साथ मिलकर ही चलती हैं, अलग-अलग नहीं चलतीं, तब परमेश्वर को पाने के इन तीनों मार्गों को एक-साथ मिलकर ही चलना होगा, अलग-अलग नहीं।

गीता ने कहा है—**'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते'**—सारा कर्म जाकर ज्ञान में समाप्त हो जाता है। कर्म ज्ञान के बिना पंगु है। कर्म ही कर्म करते जायें, बिना जाने सब-कुछ किये जायें—यह कैसे हो सकता है? कर्म-योग को ज्ञान-योग से अलग नहीं किया जा सकता। श्री अरविंद का कहना है कि 'कर्म'

और 'ज्ञान' को हम अपनी 'इच्छा' से चलायें या इन्हें भगवान् की इच्छा में लीन कर दें—गीता ने इस प्रश्न को उठा कर इसका उत्तर दिया है। हमारा कर्म, हमारा ज्ञान कितना छोटा, कितना संकुचित है। मशीन का छोटा-सा पुर्ज़ा मेरे छोटे-से हाथ से घूमेगा तो कितना घूम लेगा, कितने चक्कर काट लेगा। वही पुर्ज़ा जब बड़ी मशीन के पट्टे के साथ जुड़ जाता है तब एक सेकेंड में उतने चक्कर काट जाता है जितना मेरे हाथ से घुमाने पर दो घंटों में भी नहीं काट सकता। अपने 'कर्म' और 'ज्ञान' को मैं अपने छोटे-से हाथ से चलाऊँ—इसकी जगह जब मैं इस पुर्ज़े को मशीन के बड़े पट्टे के साथ जोड़ देता हूँ, अपने 'कर्म' और 'ज्ञान' के पुर्ज़े को भगवान् के पट्टे के साथ जोड़ देता हूँ, तब मैं भक्तिमार्ग के मार्ग पर चल पड़ता हूँ, तब 'कर्म'-'ज्ञान'-'भक्ति'—इन तीनों का समन्वय हो जाता है। गीता का कहना है कि 'कर्म' और 'ज्ञान' को अलग नहीं किया जा सकता; 'कर्म' के बिना 'ज्ञान' अधूरा है, 'ज्ञान' के बिना 'कर्म' अधूरा है; परन्तु 'कर्म' और 'ज्ञान' अपने आधार पर नहीं टिक सकते। 'कर्म' और 'ज्ञान' का रुख भगवान् की तरफ़ करना होगा, अपने 'कर्म' और 'ज्ञान' को ईश्वराभिमुख करना होगा, अपने को इस भव-चक्र से परे हटाकर, इस चक्र को चलानेवाले भगवान् के 'कर्म' और 'ज्ञान' के साथ अपने को एक कर देना होगा। इसी का नाम 'भक्ति' है, इसी को गीता (१५–१९) में **'सर्वभावेन'**—सब तरह से—कर्म, ज्ञान, भक्ति से—अपने को परमात्मा के अर्पण कर देना कहा गया है।

तेरहवाँ अध्याय

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभाग-योग

पिछले अध्याय में हम देख आये हैं कि हमारी मानसिक-रचना के तीन पहलू हैं—'ज्ञान' (Knowing), 'इच्छा' (Feeling) तथा 'कृति' (Willing)। इन्हीं को आधार बना कर ज्ञान-योग, भक्ति-योग तथा कर्म-योग के विचार ने जन्म लिया। गीता के पहले छः अध्यायों में कर्म-योग, अगले छः अध्यायों में भक्ति-योग तथा अन्त के छः अध्यायों में ज्ञान-योग की चर्चा है। ये तीनों एक-दूसरे से अलग, एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं, एक-दूसरे के पूरक हैं। कर्म-योग में ज्ञान-योग तथा भक्ति-योग आ जाते हैं, भक्ति-योग में कर्म-योग तथा ज्ञान-योग आ जाते हैं, ज्ञान-योग में भक्ति-योग तथा कर्म-योग आ जाते हैं। कर्म-योग को कर्म-योग उस दृष्टि की प्रधानता के कारण कहा जाता है, अन्य योगों के विरोध के कारण नहीं। यही बात अन्य योगों के सम्बन्ध में है। गीता की यही समन्वयात्मक-दृष्टि है इसीलिए कर्म-योग के प्रकरण में ज्ञान-योग तथा भक्ति-योग का, भक्ति-योग के प्रकरण में कर्म-योग तथा ज्ञान-योग का, ज्ञान-योग के प्रकरण में कर्म-योग तथा भक्ति-योग का वर्णन आ जाता है।

भगवान् की प्राप्ति के दो मार्गों की चर्चा १२वें अध्याय तक हुई, अब १३वें अध्याय से ज्ञानयोग की चर्चा प्रारंभ होती है। ज्ञानयोग में ज्ञान पर बल दिया गया है। 'ज्ञान' किस बात का ? संसार में तीन ही तो तत्व हैं जो जानने के योग्य हैं—आत्मा, प्रकृति तथा परमात्मा। इन तीनों के विषय में ही तो सब लोग चर्चा करते हैं। कोई कहता है आत्मा है, कोई कहता है नहीं है, कोई कहता है आत्मा परमात्मा का ही अंश है, कोई कहता है आत्मा परमात्मा ही है। आत्मा के विषय में गीता का भी अपना दृष्टि-कोण है। आत्मा के विषय की चर्चा को गीता ने **'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभाग-योग'**—यह नाम दिया है। आत्मा की चर्चा इस १३वें अध्याय में की गई है। प्रकृति के विषय में भी सब के अपने-अपने मत हैं। कोई कहता है प्रकृति ही है, परमेश्वर नहीं है; कोई कहता है प्रकृति मिथ्या है, ब्रह्म ही सत्य है। प्रकृति के विषय में भी गीता का अपना स्वतंत्र दृष्टि-कोण है। प्रकृति के विषय की चर्चा को गीता ने **'गुण-त्रय-विभाग-योग'**—यह नाम दिया है। प्रकृति की चर्चा १४वें अध्याय में की गई है। परमेश्वर के विषय में भी लोग ज्ञान-चर्चा करते हैं। परमेश्वर के स्वरूप का वर्णन तो सब का भिन्न-भिन्न है। परमेश्वर के विषय में गीता ने १५वें अध्याय में चर्चा की है और इसका नाम **'पुरुषोत्तम-योग'** दिया है।

इस प्रकार १३, १४, १५ अध्याय आत्मा, प्रकृति, परमात्मा की चर्चा के अध्याय हैं, इन गहन विषयों की चर्चा के कारण ही इन्हें ज्ञान-योग कहा गया है।

हमने कहा कि इन अध्यायों में आत्मा, प्रकृति, परमेश्वर के विषय में गीता ने अपना दृष्टिकोण दिया है। दृष्टिकोण का यह अर्थ नहीं है कि इनमें से एक-एक विषय को लेकर यह सिद्ध किया गया है कि आत्मा है या नहीं, प्रकृति का, परमेश्वर का क्या स्वरूप है, क्या स्वरूप नहीं है। मानव-जीवन में इनके सम्बन्ध में हमारा क्या दृष्टिकोण रहे—इस विषय में गीता का कुछ कहना है, गीता का वही कथन इन अध्यायों में पाया जाता है। गीता तर्क-वितर्क में नहीं पड़ती, गीता का लक्ष्य हमारे जीवन को एक दिशा दे देना है, हमें एक राजमार्ग पर डाल देना है। आत्मा, प्रकृति, परमेश्वर के संबंध में कुछ ऐसा रहस्यमय ज्ञान है जो हमें इस राज-मार्ग पर पहुँचने में सहायक है। इन तीनों के संबंध में जितने-भर ज्ञान की जीवन के लक्ष्य को पाने में सहायक के तौर पर हमें आवश्यकता है उतने-भर ज्ञान की १३, १४, १५ अध्यायों में चर्चा की गई है।

अर्जुन ने कहा : हे केशव ! मैं यह जानना चाहता हूँ कि 'प्रकृति' क्या है, 'पुरुष' क्या है, 'क्षेत्र' क्या है, 'क्षेत्रज्ञ' क्या है, 'ज्ञान' क्या है, 'ज्ञेय' क्या है ?

गीता के अनेक संस्करणों में यह श्लोक नहीं पाया जाता। **शंकराचार्य** ने अपने गीता-भाष्य में इस श्लोक की व्याख्या नहीं की। इसका यही अभिप्राय हो सकता है कि गीता की जो प्रति उनके पास थी उसमें यह श्लोक नहीं था। वैसे गीता में ७०० श्लोक हैं, परन्तु इस श्लोक को सम्मिलित कर लिया जाय तो गीता के श्लोकों की संख्या ७०१ हो जाती है। परंपरागत रूप में गीता की श्लोक-संख्या ७०० कही जाती है इसलिए यह प्रक्षिप्त है। भले ही गीता की मूल प्रति में यह श्लोक न रहा हो, तो भी इस एक श्लोक में इस अध्याय में उठाये गये सब प्रश्न एक जगह कह दिये गये हैं। गीता की उन प्रतियों में जिनमें यह श्लोक दिया गया है इसे देकर गिनती में नहीं लिया गया, इसलिए हमने भी इस श्लोक को कोई संख्या नहीं दी और न ही श्लोक देने की आवश्यकता समझी है।

[यह शरीर 'क्षेत्र' है, आत्मा 'क्षेत्रज्ञ' है]

श्री भगवान् ने कहा : हे कौन्तेय ! यह शरीर 'क्षेत्र' कहलाता है, और जो व्यक्ति इस क्षेत्र को जानता है उसे तत्वज्ञानी लोग 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं ।।१।।

श्री भगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।।१।।

इदम्[2]–यह; **शरीरम्**[3]–शरीर; **कौन्तेय**[1]–हे अर्जुन; **क्षेत्रम्**[4]–

[यह संसार 'क्षेत्र' है, परमात्मा 'क्षेत्रज्ञ' है]

हे भारत! (संसार के) सब 'क्षेत्रों' में तू मुझे 'क्षेत्रज्ञ' जान। मेरा मत है कि 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के भेद का जो ज्ञान है वही (वास्तविक) ज्ञान है ॥२॥

वह 'क्षेत्र' जो-कुछ है, जैसा-कुछ है, जैसे उसके विकार होते हैं, परिवर्तन होते हैं, जहाँ से वह आया है, वह जो है और जो उसका प्रभाव है, उसकी शक्ति है--यह मुझ से संक्षेप से सुन ॥३॥

इन श्लोकों में शरीर को 'क्षेत्र' कहा तो आत्मा को 'क्षेत्रज्ञ' कहा—यह 'व्यष्टि' का वर्णन है, 'पिंड' का वर्णन है; इन्हीं श्लोकों में विश्व को 'क्षेत्र' कहा

क्षेत्र; **इति**[5]–इस प्रकार; **अभिधीयते**[6]–कहा जाता है; **एतत्**[7]–इसको; **यः**[8]–जो; **वेत्ति**[9]–जानता है; **तम्**[10]–उसको; **प्राहुः**[14]–कहते हैं; **क्षेत्रज्ञः**[11]–क्षेत्रज्ञ; **इति**[12]–इस प्रकार से; **तद्विदः**[13]–उसके जानने वाले, तत्व-ज्ञानी।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥

क्षेत्रज्ञम्[4]–क्षेत्रज्ञ; **च**[1]–और; **अपि**[5]–भी; **माम्**[6]–मुझे; **विद्धि**[7]–जान; **सर्वक्षेत्रेषु**[3]–सब क्षेत्रों में; **भारत**[2]–हे भरत-कुल में उत्पन्न अर्जुन; **क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः**[8]–क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का; **ज्ञानम्**[10]–ज्ञान; **यत्**[9]–जो; **तत्**[11]–वह; **ज्ञानम्**[12]–ज्ञान; **मतम्**[14]–मानता हूँ; **मम**[13]–मेरा, मुझे।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३॥

तत्[1]–वह; **क्षेत्रम्**[2]–क्षेत्र; **यत्**[3]–जो है; **च**[4]–और; **यादृक्**[5]–जैसा है; **च**[6]–और; **यद्विकारि**[7]–जैसे विकार वाला या जिसका विकार (परिवर्तित रूप) है; **यतः**[9]–जहाँ से (वह आया है); **च**[8]–और; **यत्**[10]–जो; **सः**[12]–वह; **च**[11]–और; **यः**[14]–जो; **यत्प्रभावः**[15]–जैसा उसका प्रभाव है; **च**[13]–और; **तत्**[16]–उसको; **समासेन**[17]–संक्षेप से; **मे**[18]–मुझ से; **शृणु**[19]–सुन।

तो भगवान् को 'क्षेत्रज्ञ' कहा—यह 'समष्टि' का वर्णन है, 'ब्रह्मांड' का वर्णन है। भारतीय विचार-धारा में इस बात को मान लिया गया है कि जो 'पिंड' में है वही 'ब्रह्मांड' में है, जो 'व्यष्टि' में है वही 'समष्टि' में है। इसी आधारभूत विचार को लेकर गीता ने कहा कि जैसे शरीर क्षेत्र है, आत्मा क्षेत्रज्ञ है, वैसे ही यह ब्रह्मांड क्षेत्र है, ब्रह्म इस क्षेत्र का क्षेत्रज्ञ है। भौतिकवाद का कहना है कि देह है, देही नहीं है, क्षेत्र है, क्षेत्रज्ञ नहीं है; ठीक इसी तरह प्रकृति है, परमात्मा नहीं है, प्रकृति जिसे 'क्षेत्र' कह सकते हैं वह तो है, परन्तु परमात्मा जिसे 'क्षेत्रज्ञ' कह सकते हैं उसकी कोई सत्ता नहीं है। गीता ने भौतिकवाद की इस स्थापना को ठुकरा दिया है। गीता का कहना है कि यथार्थ ज्ञान यही है, ज्ञान-योग यही है कि पिंड में हम देह तथा देही को, शरीर तथा आत्मा को, और ब्रह्मांड में प्रकृति तथा परमात्मा को, क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ को अलग-अलग मानें। पिंड में शरीर के अतिरिक्त आत्मा है, ब्रह्मांड में प्रकृति के अतिरिक्त परमात्मा है। इस प्रकार जो क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का भेद जानता है वह ज्ञानयोगी है।

गीता ने शरीर तथा संसार को 'क्षेत्र' कहा है। 'क्षेत्र' को अंग्रेज़ी में 'फ़ील्ड' (Field) कहते हैं। आज के यांत्रिक-युग में 'क्षेत्र' (Field)-शब्द बहुत उपयुक्त जँचता है। शरीर आत्मा का अपने को व्यक्त करने का क्षेत्र है, इसी प्रकार यह संसार परमात्मा का अपने को व्यक्त करने का क्षेत्र है, ठीक ऐसे जैसे बिजली बल्ब में, भाप एंजिन में, अपने को व्यक्त करते हैं। 'क्षेत्र' को खेत भी कहते हैं। शरीर मानो खेत है। जैसे किसान अपने खेत में हल जोतता है, बीज बोता है, वैसे शरीर-रूपी खेत में हम अपने कर्मों की खेती करते हैं, भगवान् भी इस संसार में अपनी रचना की खेती खड़ी कर देता है। क्षेत्र और क्षेत्र को जाननेवाला, क्षेत्र का मालिक, क्षेत्रज्ञ, खेत और खेतवाला—ये दो अलग-अलग हैं, एक नहीं हैं—यह गीता ने पहले, दूसरे तथा तीसरे श्लोक में कहा है। गीता का कहना है कि शरीर और शरीर से अतिरिक्त आत्मा, इसी प्रकार संसार और संसार से अतिरिक्त परमात्मा—यही असली ज्ञान है। 'क्षेत्र'-'क्षेत्रज्ञ'-'ज्ञान'—इन तीन की यही व्याख्या है।

[क्षेत्र की व्याख्या]

('क्षेत्र'-'क्षेत्रज्ञ'—इन दोनों में से 'क्षेत्र' क्या है? क्षेत्र का) ऋषियों द्वारा, विविध मन्त्रों से, अनेक प्रकार गान किया गया है। यह ('क्षेत्रज्ञ' से) पृथक् है (क्षेत्र

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥४॥

ऋषिभिः[1]–ऋषियों द्वारा; **बहुधा**[2]–बहुत प्रकार से; **गीतम्**[3]–गान किया, वर्णन किया गया है; **छन्दोभिः**[5]–वैदिक मन्त्रों से;

तथा क्षेत्रज्ञ——ये दोनों अलग-अलग हैं, एक ही नहीं हैं)। (क्षेत्र का) वर्णन निश्चययुक्त 'ब्रह्मसूत्रों' और 'तर्क' द्वारा किया गया है। ॥४॥

किसी भी सत्य को जानने के दो ही उपाय हैं। या तो ऋषि-मुनियों द्वारा, महान् चिंतकों द्वारा प्रतिपादित सत्य को हम मान लें, या तर्क द्वारा उसका स्वयं पता लगायें। आप्त पुरुषों द्वारा प्राप्त सत्य को गीता में 'ब्रह्मपदैः' कहा है, स्वयं तर्क द्वारा प्राप्त सत्य को 'हेतुमद्भिः' कहा गया है। अंग्रेज़ी में 'ब्रह्मपदैः' को Intuitional तथा 'हेतुमद्भिः' को Argumentative कहा जा सकता है। गीता का कहना है कि 'क्षेत्र' का ज्ञान या तो वैज्ञानिक लोगों से सुनकर हम प्राप्त कर सकते हैं, या स्वयं ऊहापोह करके, युक्ति-प्रतियुक्ति द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। शास्त्रों में इस क्षेत्र का जो वर्णन किया गया है उसमें अव्यक्त प्रकृति, महत् तत्व, अहंकार, बुद्धि आदि का परिगणन है जिनके संबंध में गीता, सांख्य तथा आधुनिक विचारकों की व्याख्या के संबंध में हमने इस अध्याय के अन्त में विवेचन किया है। 'क्षेत्र' में क्या-क्या आ जाता है—इसका परिगणन करते हुए गीता में कहा है :

(तो फिर 'क्षेत्र' की व्याख्या-क्या है? 'क्षेत्र' में क्या-क्या आ जाता है?) पाँच महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश), अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त मूल प्रकृति, दस इन्द्रियाँ (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ——आँख, नाक, कान, जीभ और त्वचा; पाँच कर्मेन्द्रियाँ——हाथ, पैर, मुँह, और दो गुह्येन्द्रियाँ), एक (मन), इन्द्रियों के पाँच विषय (देखना, सूँघना, सुनना, चखना और छूना) ॥५॥

विविधैः[4]–अनेक प्रकार के; **पृथक्**[6]–(यह क्षेत्रज्ञ) पृथक् है; **ब्रह्मसूत्र-पदैः**[10]–बादरायण के वेदान्तदर्शन में प्रतिपादित सूत्रों से; **च**[7]–और; **एव**[11]–ही; **हेतुमद्भिः**[9]–तर्क-युक्तियों से; **विनिश्चितैः**[8]–निर्णय से युक्त।

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५॥

महाभूतानि[1]–पाँच महाभूत; **अहङ्कारः**[2]–अहङ्कार; **बुद्धिः**[3]–बुद्धि; **अव्यक्तम्**[5]–अव्यक्त, मूल प्रकृति; **एव**[6]–ही; **च**[4]–और; **इन्द्रियाणि**[9]–पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ; **दश**[8]–ये दस

इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, शरीर का यह संघात—पिंड, चेतना-शक्ति, धृति-शक्ति—यह संक्षेप में अपने विकारों सहित 'क्षेत्र' का वर्णन है ॥६॥

'क्षेत्र' में आत्मा तथा परमात्मा के अतिरिक्त सारा संसार आ जाता है। संसार में 'ब्रह्मांड' की अव्यक्त प्रकृति तथा व्यक्त पाँच महाभूत आ जाते हैं, और हमारा यह 'पिंड' भी आ जाता है जिसमें अहंकार, बुद्धि, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ही इन्द्रियों के विषय आ जाते हैं। इस प्रकार ५ महाभूत + १ अहंकार + १ बुद्धि + १ प्रकृति + १० इन्द्रियाँ + १ मन + ५ इन्द्रियों के विषय —यह २४ तत्वों का ब्रह्मांड तथा पिंड का 'क्षेत्र' है। सांख्य-दर्शन में भी सृष्टि के आधारभूत ये २४ तत्व ही गिनाये गये हैं। गीता क्योंकि श्लोकों में लिखी गई है इसलिए इन तत्वों की गणना करते हुए क्रम आगे-पीछे हो गया है। सांख्य-दर्शन की तरह गीता सृष्टि के आधारभूत इन २४ तत्वों की गणना करके नहीं रुक जाती, गीता ने 'क्षेत्र' के साथ क्षेत्र के 'विकारों' की भी चर्चा की है। क्षेत्र के 'विकार' क्या हैं? ये 'ब्रह्मांड' के नहीं 'पिंड' के हैं। वे हैं: शरीर तथा चेतना (इन्हें श्लोक में '**संघातश्चेतना**' कहा गया है) और इन दोनों के संयोग से होनेवाले मानसिक विकार—इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, धृति आदि। इतना बड़ा 'क्षेत्र' (Objective world) है। इसे जो जानता है, इसका जो उपभोग करता है, जिसका यह सब-कुछ साधन है, जो इस सबसे भिन्न है, वह 'क्षेत्रज्ञ' है।

['ज्ञान' तथा 'अज्ञान' की व्याख्या तथा 'ज्ञानयोगी' का वर्णन]

इस अध्याय के प्रथम श्लोक द्वारा अर्जुन ने पूछा था—'क्षेत्र' क्या है, 'क्षेत्रज्ञ' क्या है, 'ज्ञान' क्या है, 'ज्ञेय' क्या है। क्षेत्र को जान लिया तो क्षेत्रज्ञ को तो स्वयं जान लिया क्योंकि 'क्षेत्र' से जो भिन्न है वह 'क्षेत्रज्ञ' है। अब ७ से ११ श्लोकों में 'ज्ञान' तथा १२वें श्लोक में 'ज्ञेय' का वर्णन किया जा रहा है।

हैं; **एकम्**[10]–एक मन; **च**[7]–और **पञ्च**[12]–पाँच; **च**[11]–और; **इन्द्रियगोचराः**[13]–इन्द्रियों के विषय हैं।

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥

इच्छा[1]–इच्छा; **द्वेषः**[2]–द्वेष; **सुखम्**[3]–सुख; **दुःखम्**[4]–दुःख; **संघातः**[5]–शरीर का संघात–पिण्ड; **चेतना**[6]–चेतना; **धृतिः**[7]–धैर्य; **एतत्**[8]–यह; **क्षेत्रम्**[9]–क्षेत्र; **समासेन**[11]–संक्षेप से; **सविकारम्**[10]–विकारों सहित; **उदाहृतम्**[12]–वर्णित किया है।

गीता को हमने तीन षट्कों में बाँटा है। पहला षट्क 'कर्म-योग' का है, उसमें 'स्थितप्रज्ञ कर्मकांडी' (२, ५५–७२) का वर्णन है; दूसरा षट्क 'भक्ति-योग' का है, उसमें परमात्मा के 'प्रियभक्त' (१२, १३–२०) का वर्णन है; तीसरा षट्क 'ज्ञान-योग' का है, उसमें 'ज्ञान-योगी' (१३, ७–११) तथा 'त्रिगुणातीत ज्ञान-योगी' (१४, २२–२६) का वर्णन है।

अभिमान न होना, दंभ-छल-कपट न होना, अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्य की सेवा, शरीर तथा मन की शुद्धता, स्थिरता, आत्म-संयम ॥७॥

इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य, अहंकार-शून्यता, संसार में जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था, रोग और दुःख—इन दोषों को देखना ॥८॥

अनासक्ति, पुत्र-स्त्री-गृह आदि के साथ मोह का न होना, अभीष्ट और अनभीष्ट, प्रिय तथा अप्रिय में सदा समचित्तता, निरन्तर सम-भाव रखना ॥९॥

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥

अमानित्वम्[1]—अभिमान न होना; **अदम्भित्वम्**[2]—दम्भ न होना; **अहिंसा**[3]—हिंसा न करना; **क्षान्तिः**[4]—क्षमा करना; **आर्जवम्**[5]—सरलता; **आचार्योपासनम्**[6]—आचार्य की सेवा में बैठना, आचार्य से शिक्षण पाना; **शौचम्**[7]—पवित्रता; **स्थैर्यम्**[8]—स्थिरता; **आत्म-विनिग्रहः**[9]—आत्मा का (अपना) संयम करना।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥

इन्द्रियार्थेषु[1]—इन्द्रियों के विषयों में; **वैराग्यम्**[2]—वैराग्य; **अनहङ्कारः**[4]—अहङ्कार-शून्यता; **एव**[5]—ही; **च**[3]—और; **जन्ममृत्यु-जराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्**[6]—संसार में जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, रोग, दुःख—इन दोषों का देखना।

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥

असक्तिः[2]—अनासक्ति; **अनभिष्वङ्गः**[3]—मोह-ममता का न होना; **पुत्रदारगृहादिषु**[1]—पुत्र, पत्नी और गृह आदियों में; **नित्यम्**[6]—नित्य;

अनन्य-भाव से मुझ में एकनिष्ठ भक्ति, एकान्त स्थान का सेवन, जन-समुदाय में सम्मिलित होने से अरुचि ॥१०॥

निरन्तर आत्मा के ज्ञान में मग्न रहना, तत्वज्ञान ही जीवन का अर्थ है, प्रयोजन है—यह भान हो जाना, यही 'ज्ञान' कहलाता है; इससे जो भिन्न है वह 'अज्ञान' है ॥११॥

क्षेत्र अलग है, क्षेत्रज्ञ अलग है, ये दोनों एक नहीं हैं, भिन्न-भिन्न हैं—जब यह ज्ञान हो जाता है, तब आत्मा विषयों में जाने, उनमें आसक्त होने के स्थान में पीछे को लौट पड़ता है, परमात्मा की तरफ़ चल देता है, स्त्री-पुत्र-गृह में रमे रहने के स्थान में परमात्मा के ध्यान में मग्न रहने लगता है। 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के विवेक से मनुष्य में 'ज्ञान' की जिस अवस्था का उदय हो जाता है, उसका ७ से ११ श्लोकों में वर्णन किया गया है। इन श्लोकों में 'ज्ञान' तथा 'अज्ञान'—इन दोनों अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। 'ज्ञान' की अवस्था है—विनम्रता, ईमानदारी, अहिंसा, क्षमा, सरलता, बड़ों की सेवा, स्थिर बुद्धि, आत्म-संयम,

---

च[4]-और; **समचित्तत्वम्**[7]–चित्त में सम-भाव रखना; **इष्टानिष्टोपपत्तिषु**[5]–अभीष्ट और अनभीष्ट की प्राप्ति होने पर।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

मयि[1]–मुझ में; **च**[5]–और; **अनन्ययोगेन**[2]–एकतान ध्यानयोग से; **भक्तिः**[4]–भक्ति; **अव्यभिचारिणी**[3]–विचलित न होनेवाली, स्थिर; **विविक्तदेशसेवित्वम्**[6]–एकान्त स्थान का सेवन; **अरतिः**[8]–अरुचि; **जनसंसदि**[7]–जन-समुदाय में।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्[1]–निरन्तर आत्मा के ज्ञान में लीन रहना; **तत्वज्ञानार्थदर्शनम्**[2]–तत्वज्ञान ही जीवन का प्रयोजन है ऐसा भान करना; **एतत्**[3]–यह; **ज्ञानम्**[4]–ज्ञान; **इति**[9]–इस प्रकार से; **प्रोक्तम्**[10]–कहा गया है; **अज्ञानम्**[8]–अज्ञान; **यत्**[5]–जो; **अतः**[6]–इससे; **अन्यथा**[7]–भिन्न, उल्टा।

वैराग्य, अनासक्ति, मोह-ममता में न फँसना, समचित्तता, एकान्तवास, ईश्वर में मग्न रहना। 'अज्ञान' की अवस्था है—घमंड, छल-कपट, हिंसा, ईर्ष्या-द्वेष, असहिष्णुता, चंचल-बुद्धि, इन्द्रियों के भोग, लम्पटता, आसक्ति, माया-मोह, व्याकुलता, जमघट के विना दिल न लगना, संसार में फँसे रहना।

['ज्ञेय' या ब्रह्माण्ड के 'क्षेत्रज्ञ' की व्याख्या]

'क्षेत्र' बतलाया, 'क्षेत्रज्ञ' बतलाया, 'ज्ञान' बतलाया। अव अगला प्रश्न है—'ज्ञेय' क्या है ? 'ज्ञेय' की चर्चा करते हुए गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं :

अब मैं तुझे यह बतालाऊँगा कि 'ज्ञेय' क्या है, जानने योग्य क्या है जिसे जान लेने पर अमृत की प्राप्ति हो जाती है। (वह 'ज्ञेय' है:) अनादि परब्रह्म, जिसके विषय में न यह कह सकते हैं कि वह 'सत्' है, न यह कह सकते हैं कि वह 'असत्' है ॥१२॥

जैसे आत्मा 'पिंड'-रूपी क्षेत्र के लिए क्षेत्रज्ञ है, वैसे परब्रह्म 'ब्रह्मांड'-रूपी क्षेत्र के लिए क्षेत्रज्ञ है। क्षेत्रज्ञ को ही गीता में 'ज्ञेय' कहा है। आत्मा क्षेत्रज्ञ है, पिंड में यही 'ज्ञेय' है; परब्रह्म भी क्षेत्रज्ञ है, ब्रह्मांड में यही 'ज्ञेय' है। इस श्लोक में ब्रह्मांड के इसी क्षेत्रज्ञ, ज्ञेय, परब्रह्म का वर्णन किया गया है। गीता का कहना है कि इसे पाने पर अमृत मिल जाता है। 'परब्रह्म' के विषय में गीता में तीन बातें कही हैं। परब्रह्म 'आदिमत्' नहीं है, 'सत्' नहीं है, 'असत्' भी नहीं है। इन तीनों विशेषणों का अर्थ यह है कि उसका वर्णन—'वह ऐसा है'—इस प्रकार नहीं हो सकता, उसका वर्णन—'वह ऐसा नहीं है'—'नेति-नेति'—इस प्रकार हो सकता है। फिर भी ब्रह्मांड-रूपी क्षेत्र के परब्रह्म-रूपी क्षेत्रज्ञ का, इस ज्ञेय का कुछ वर्णन तो हो ही सकता है। वही वर्णन आगे किया है :

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥

ज्ञेयम्[2]—जानने योग्य, 'ज्ञेय'; **यत्**[1]—जो है; **तत्**[7]—उसको; **प्रवक्ष्यामि**[8]—बतलाऊँगा; **यत्**[3]—जिसको; **ज्ञात्वा**[4]—जानकर; **अमृतम्**[5]—अमरता, अमरपद; **अश्नुते**[6]—प्राप्त होता है; **अनादिमत्**[10]—जो आदिवाला नहीं; **परम्**[11]—परम; **ब्रह्म**[12]—ब्रह्म; **न**[13]—नहीं; **सत्**[14]—सत् है; **तत्**[9]—वह; **न**[15]—नहीं; **असत्**[16]—असत्; **उच्यते**[17]—कहलाता है।

जहाँ देखो उसके हाथ-पैर हैं, जहाँ देखो उसकी आँखें, उसके सिर और मुख हैं, जहाँ देखो उसके कान हैं, वह सबको लपेटकर इस लोक में ठहरा हुआ है ।।१३।।

गीता का यह वर्णन ११वें अध्याय के 'विश्वरूप-दर्शन से मेल खाता है। वहाँ कहा है कि यह सृष्टि भगवान् का प्रत्यक्ष रूप है। उसी विचार-शृंखला को आधार बनाकर यहाँ कहा है: ये सब चारों ओर जो हाथ, पाँव दिखलाई देते हैं, आँख, कान, सिर और मुख दिखलाई देते हैं, ये उसी पर-ब्रह्म के हैं, क्षेत्रज्ञ के हैं, काल्पनिक अर्थों में नहीं, यथार्थ में, सत्य अर्थों में। प्राणियों के जो अंग-अवयव दीखते हैं, वे सब उसी विश्वात्मा के हैं, इनमें भगवान् के, क्षेत्रज्ञ के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। गीता की यह बात वेद से ली गई है। ऋग्वेद (१०.८१.३) में कहा है: **'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्। सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः'**—उस एक देव के जो द्युलोक और पृथ्वीलोक का जनक है, चारों तरफ़ चक्षु हैं, चारों तरफ़ मुख हैं, चारों तरफ़ बाहु और पाद हैं। इसका यह मतलब नहीं कि वह स्थूल है। वह सूक्ष्म है, इन्द्रियों का विषय नहीं है, परन्तु फिर भी इन्द्रियों से उसका आभास होना है। तेज का क्या रूप है? तेज का रूप न होते हुए भी वह दीप-शिखा में दीखता है, मिठास का रूप न होते हुए भी शक्कर में उसका आभास होता है, रस को हम नहीं पकड़ सकते परन्तु जल में उसकी झलक दीख जाती है, आकाश का कोई आकार नहीं परन्तु घट में वह घटाकार हो जाता है, ठीक इसी तरह इस विश्व-रूपी क्षेत्र के क्षेत्रज्ञ परब्रह्म का अपना आकार प्राणियों के हाथ-पैर, आँख-कान-नाक के रूप में दीख जाता है। १४वें, १५वें श्लोक में इसी आशय से कहा है:

उसकी अपनी कोई इन्द्रिय नहीं है फिर भी सब इन्द्रियों का आभास उसमें विद्यमान है, वह अनासक्त है

सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।।१३।।

सर्वतःपाणिपादम्[2]—सब ओर हाथ-पैर वाला; **तत्**[1]—वह; **सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्**[3]—सब ओर आँख, सिर और मुख वाला; **सर्वतःश्रुतिमत्**[4]—सब ओर कान वाला; **लोके**[5]—संसार में; **सर्वम्**[6]—सब को; **आवृत्य**[7]—लपेट कर, घेर कर; **तिष्ठति**[8]—ठहरता है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ।।१४।।

सर्वेन्द्रियगुणाभासम्[1]—उसमें सर्व इन्द्रियों के गुणों का आभास विद्यमान है; **सर्वेन्द्रियविवर्जितम्**[2]—सब इन्द्रियों से रहित;

फिर भी सबको (आसक्त की तरह) संभाले हुए है, वह स्वयं प्रकृति के (सत्व, रज, तम) गुणों से रहित है फिर भी (प्रकृति के) गुणों का भोगनेवाला है ॥१४॥

वह भूतों के बाहर है और अन्दर भी है; वह चल है और अचल भी है; वह दूर है और पास भी है; वह सूक्ष्म है इसलिये अविज्ञेय है, जाना नहीं जा सकता ॥१५॥

इस श्लोक का यह अर्थ भी किया जाता है कि वह बाहर है परन्तु फिर भी अन्दर है, वह गतिमान् है फिर भी गतिहीन है, वह दूर है फिर भी निकट है, क्योंकि वह सूक्ष्म है इसलिए अविज्ञेय है। इसमें सूक्ष्म तथा स्थूल के भेद को आधार में रखकर परब्रह्म में वर्तमान विरोधाभासों को कवितामय ढंग से कहा गया है। सूक्ष्म स्थूल के अन्दर रह सकता है, स्थूल सूक्ष्म में नहीं रह सकता। परब्रह्म क्योंकि सर्वव्यापक है इसलिए हमारे बाहर तो वह है ही, परन्तु क्योंकि वह सूक्ष्म है, इसलिए हम से सूक्ष्म होने के कारण वह हमारे अन्दर है। अन्दर है तो दीखता क्यों नहीं ? ठीक ऐसे जैसे शब्द की लहरें सब जगह हैं परन्तु जहाँ रेडियो का उपकरण होगा वहीं वे शब्दाकार होंगी, भगवान् भी शब्द की सूक्ष्म लहरों के समान सब जगह है परन्तु रेडियो के-से मन के न होने से उनकी अभिव्यक्ति नहीं होती। इस श्लोक का दूसरा विरोधाभास यह है कि वह गतिमान् न होते हुए भी गतिमान् है। जो सूक्ष्म होने से सब जगह है वह गतिमान् तो हो नहीं सकता। गति तो वहाँ होती है जहाँ दूरी हो, जहाँ एक जगह को छोड़ कर दूसरी जगह जाना हो। वह सब जगह है, उसे कहीं जाना नहीं, फिर उसमें गति कैसे होगी। फिर वह गतिमान्

असक्तम्[4]–अनासक्त; **सर्वभृत्**[7]–सबका भरण करने वाला; **च**[3]–और; **एव**[6]–ही; **निर्गुणम्**[5]–प्रकृति के सत्व, रज, तम गुणों से रहित; **गुणभोक्तृ**[9]–गुणों का भोगने वाला; **च**[8]–और।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

बहिः[2]–बाहर; **अन्तः**[3]–अन्दर; **च**[4]–और; **भूतानाम्**[1]–भूतों के; **अचरम्**[6]–अचल, स्थिर; **चरम्**[5]–चल, अस्थिर; **एव**[7]–ही; **च**[8]–और; **सूक्ष्मत्वात्**[10]–सूक्ष्म होने के कारण; **तत्**[9]–वह; **अविज्ञेयम्**[11]–जाना नहीं जा सकता; **दूरस्थम्**[15]–दूर ठहरा हुआ; **च**[12]–और; **अन्तिके**[13]–पास में; **च**[14]–और; **तत्**[16]–वह।

न होते हुए भी गतिमान् कैसे है? ठीक ऐसे जैसे रेलगाड़ी में बैठा हुआ मैं सारी दुनिया का चक्कर काट आता हूँ। गति तो गाड़ी में है परन्तु गाड़ी में बैठा-बैठा मैं दुनिया भर में हो आता हूँ। वह परब्रह्म हर गतिमान् में विराजमान है इसलिए गति न करता हुआ भी वह गति कर लेता है। इस श्लोक का तीसरा विरोधाभास यह है कि वह दूर है फिर भी निकट है। स्थूल वस्तुओं के विषय में कहा जा सकता है कि वे किसी स्थान-विशेष से बँधी हुई हैं। एक वस्तु यहाँ है, दूसरी वस्तु वहाँ है, यह इसीलिए संभव हो सकता है अगर वे स्थूल हों, एक स्थान-विशेष में हों, दूसरी जगह न हों। परब्रह्म तो स्थूल नहीं, सूक्ष्म है, सूक्ष्म होने के कारण सब जगह है। जो यहाँ-वहाँ से बँधा हुआ नहीं है उसके लिये यह कहना ही ठीक जँचता है कि वह दूर है फिर भी पास है। परब्रह्म के सूक्ष्म होने के कारण उसमें ये तीन विरोधाभास दीखते हैं, सूक्ष्म होने के कारण ही गीता ने उसे अविज्ञेय कहा है। जो वस्तु जितनी सूक्ष्म होती जाती है वह उतनी ही अविज्ञेयता की कोटि में चलती जाती है। पृथ्वी सब से ज्यादा स्थूल है, इसे छूआ जा सकता है, सूंघा जा सकता है, चखा जा सकता है, देखा जा सकता है, सुना जा सकता है। जल पृथ्वी से सूक्ष्म है, इसे सूंघा नहीं जा सकता। अग्नि जल से सूक्ष्म है, इसे चखा नहीं जा सकता। वायु अग्नि से भी सूक्ष्म है, इसे देखा नहीं जा सकता। आकाश सब से सूक्ष्म है, इसके विषय में तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता। परब्रह्म जो आकाश से भी सूक्ष्म है उसे कैसे जाना जा सकता है?

वह स्वयं अखंडित है परन्तु सब भूतों में मानों खंडित हो कर बैठा है। यह समझना चाहिये कि वह सब प्राणियों का भरण-पोषण करनेवाला है, उन्हें ग्रस जानेवाला है, और फिर नये सिरे से उन्हें उत्पन्न करनेवाला है ॥१६॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

अविभक्तम्[2]–अखण्डित; **च**[1]–और; **भूतेषु**[4]–भूतों में; **विभक्तम्**[5]–खण्डित; **इव**[6]–तरह; **च**[3]–और; **स्थितम्**[7]–विद्यमान है; **भूतभर्तृ**[10]–भूतों का भरण करने वाला; **च**[11]–और; **तत्**[8]–वह; **ज्ञेयम्**[9]–ज्ञेय है, जानने योग्य है; **ग्रसिष्णु**[12]–ग्रसन (संहार) करने वाला है; **प्रभविष्णु**[14]–फिर से उत्पन्न करने वाला (रचयिता) है; **च**[13]–और।

वह ज्योतियों की भी ज्योति है, उसे अन्धकार से परे कहा जाता है, वही ज्ञान है, वही ज्ञेय है, वही ज्ञानगम्य है, वह सबके हृदय में स्थित है ।।१७।।

ज्योति का काम प्रकाशित करना है, दिखाना है। बिना ज्योति के, बिना प्रकाश के सब अन्धकार में रहता है। हमें किसी वस्तु का ज्ञान, उसकी प्रतीति नहीं हो सकती जबतक 'चेतना' न हो, इसलिए शास्त्रों में 'चेतना' को ज्योति का, प्रकाश का नाम दिया है। भगवान् महाचैतन्य है, इसलिए उसे गीता में ज्योतियों-की-ज्योति कहा है। सूर्य-चन्द्र-तारों की ज्योति जड़-जगत् की ज्योति है, चैतन्य-ज्योति के सम्मुख इस जड़ जगत् की ज्योतियाँ फीकी पड़ जाती हैं, इसलिए फीकी पड़ जाती हैं क्योंकि सूर्य-चन्द्र आदि दूसरे को प्रकाशित करते हैं, इनमें अपने को जानने की अनुभूति नहीं होती, चैतन्य की ज्योति से जहाँ जगत् दीखने लगता है, वहाँ अपने-आप को भी हम आत्म-सत्ता के रूप में अनुभव करने लगते हैं, देखने लगते हैं। इसीलिए आत्मा की चेतना को ज्योति ही नहीं ज्योतियों-की-ज्योति कहा है। यह आध्यात्मिक-ज्योति सूर्य-चन्द्रादि की भौतिक-ज्योति से भिन्न है। भौतिक-जगत् में जब हम 'प्रकाश' कहते हैं तब 'अन्धकार' का विचार अपने-आप आ जाता है। 'प्रकाश' होगा तो 'अन्धकार' होगा ही, दोनों सापेक्षिक शब्द जो ठहरे। आध्यात्मिक-ज्योति में तो प्रकाश-ही-प्रकाश है, वहाँ अन्धकार का विचार ही नहीं आता, इसीलिए गीता ने कहा—वह आध्यात्मिक-ज्योति अन्धकार से परे है। ऐसी आध्यात्मिक-ज्योति जो हमारे हृदय में परमात्मा के रूप में बैठी हुई है वही ज्ञान है, वही ज्ञेय है, वही ज्ञानगम्य है।

इस प्रकार 'क्षेत्र', 'ज्ञान', 'ज्ञेय' (क्षेत्रज्ञ) के विषय में संक्षेप से बतला दिया। इसे जानकर मेरा भक्त मेरी

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं च हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।।१७।।

ज्योतिषाम्[2]–ज्योतियों की; **अपि**[3]–भी; **तत्**[1]–वह; **ज्योतिः**[4]–ज्योति (प्रकाशक) है; **तमसः**[5]–अन्धकार से; **परम्**[6]–परे; **उच्यते**[7]–कहा जाता है; **ज्ञानम्**[8]–ज्ञान; **ज्ञेयम्**[9]–ज्ञेय; **ज्ञानगम्यम्**[10]–ज्ञान से प्राप्य; **च**–और; **हृदि**[12]–हृदयों में; **सर्वस्य**[11]–सब के; **विष्ठितम्**[13]–विशेष रूपसे स्थित है ।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ।।१८।।

इति[1]–इस प्रकार; **क्षेत्रम्**[2]–क्षेत्र; **तथा**[3]–और; **ज्ञानम्**[4]–ज्ञान; **ज्ञेयम्**[6]–ज्ञेय; **च**[5]–और; **उक्तम्**[8]–कहा है; **समासतः**[7]–संक्षेप

भावना को पाने के योग्य बनता है (मैं क्या चाहता हूँ—यह जानने लगता है) ॥१८॥

इस श्लोक में कहा गया है कि मेरा भक्त **'मद्भाव'** को पा जाता है। 'मद्भाव' के दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो वह जो हमने किया है—'मेरा भाव', 'मैं इस जीव से क्या चाहता हूँ'—यह। 'मद्भाव' का अर्थ यह भी है कि जो क्षेत्र, ज्ञान, ज्ञेय को जान जाता है वह मेरा रूप हो जाता है। इसी आशय को १२-८ में कहा है: **'मय्येव मन आधत्स्व'**—मुझ में ही मन डाल दे, १२-२० में कहा है: **'मत्परमा भक्ताः'**—मुझ में परायण भक्त; ११-५५ में कहा है: **'मत्परमो भक्तः'**—मुझ में परायण मेरा भक्त। गीता आत्मा को प्रकृति से हटाकर परमात्मा के साथ जोड़ने की बात बार-बार कहती है।

[प्रकृति, पुरुष, परमात्मा का विवेचन]

अभी तक 'क्षेत्र'-'क्षेत्रज्ञ' की परिभाषा में विवेचन किया। पिंड की दृष्टि से यह देह 'क्षेत्र' है, ब्रह्मांड की दृष्टि से यह सृष्टि 'क्षेत्र' है; पिंड की दृष्टि से आत्मा 'क्षेत्रज्ञ' है, ब्रह्मांड की दृष्टि से परब्रह्म 'क्षेत्रज्ञ' है। अब उसी बात को प्रकृति, पुरुष, परमात्मा—इन शब्दों के द्वारा कहा जा रहा है। शब्द अलग-अलग हैं, बात वही है। यह वर्णन सांख्य तथा वेदान्त की परिभाषाओं को अपना कर किया गया है।

तू इस बात को समझ ले कि प्रकृति तथा पुरुष—ये दोनों भी अनादि हैं। (प्रकृति के जो) विकार (महत्, अहंकार, पंचतन्मात्रा आदि जिनका उल्लेख इसी अध्याय के ५-६ श्लोकों में किया गया है) और (सत्त्व, रज, तम—ये) गुण प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं। (मूल-प्रकृति 'प्रकृति' है और ये विकार तथा गुण 'विकृति' हैं) ॥१९॥

से; **मद्भक्तः**[11]—मेरा भक्त; **एतत्**[9]—इसको; **विज्ञाय**[10]—जानकर; **मद्भावाय**[12]—मेरी भावना को पाने के लिये, मेरे स्वरूप को पाने के लिये; **उपपद्यते**[13]—योग्य हो जाता है।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥१९॥

प्रकृतिम्[1]—प्रकृति को; **पुरुषम्**[3]—पुरुष को; **च**[2]—और; **एव**[5]—ही; **विद्धि**[7]—तू जान ले; **अनादी**[6]—आदि रहित; **उभौ**[4]—दोनों को; **अपि**[12]—भी; **विकारान्**[9]—विकारों को; **च**[8]—और; **गुणान्**[11]—सत्त्व

'कार्य' अर्थात् देह तथा 'करण' अर्थात् देह के उपकरण इन्द्रियाँ—इनका कर्तृत्व अर्थात् इनकी रचना करनेवाली प्रकृति (क्षेत्र) कही जाती है; सुख-दुःखों का भोक्ता पुरुष (क्षेत्रज्ञ) कहा जाता है ।।२०।।

इस श्लोक में **'कार्यकरणकर्तृत्वे'** पाठ है, कहीं-कहीं **'कार्यकारणकर्तृत्वे'**—यह पाठ भी मिलता है। श्री **शंकराचार्य** ने **'कार्यकरणकर्तृत्वे'**—यह पाठ दिया है, श्री **सातवलेकर** तथा श्री **स्वामी चिन्मयानन्द** ने **'कार्यकारण'**—यह पाठ दिया है। दोनों पाठ संगत प्रतीत होते हैं। **'कार्यकारण'**—यह पाठ माना जाय तो इस श्लोक का अर्थ होगा : "सृष्टि में 'कार्यकारण का नियम' (Law of Causation) प्रकृति का है, सुख-दुःखों के भोग के कारण 'भोक्तृत्व का नियम' (Law of Free Will) पुरुष का है।" प्रकृति जड़ है, उसमें अन्धा कार्य-कारण का नियम चल रहा है, कारण का कार्य होगा, वह टल नहीं सकता। यह 'अवश्यंभाविता' (Determinism) जड़-प्रकृति की है; परन्तु इस अवश्यंभाविता के साथ संसार में जो 'भोक्तृता' (Free Will) भी दिखाई देती है, प्रकृति हमें जिधर धकेल रही हो उसे धक्का देकर हम अपने स्वतंत्र मार्ग पर भी चल सकते हैं, भले ही उसमें हमें सुख हो, दुःख हो, यह 'भोक्तृता' चेतन-पुरुष की है। सांख्य के 'प्रकृति' तथा 'पुरुष'—इन शब्दों का प्रयोग करके यहां वही बात कही गई है जो पहले के श्लोकों में 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ'—इन शब्दों द्वारा कही गई है।

पुरुष प्रकृति में स्थित होकर प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले गुणों का भोग करता है। इन गुणों के साथ संग हो जाना

आदि गुणों को; **च**[10]–और; **एव**[14]–ही; **विद्धि**[15]–जान ले; **प्रकृतिसम्भवान्**[13]–प्रकृति से उत्पन्न हुए।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ।।२०।।

कार्यकरणकर्तृत्वे[1]–कार्य अर्थात् देह, करण अर्थात् देह के उपकरणों (इन्द्रिय आदि) की रचना करने में; **हेतुः**[2]–हेतु है; **प्रकृतिः**[3]–प्रकृति; **उच्यते**[4]–कही जाती है; **पुरुषः**[5]–पुरुष; **सुखदुःखानाम्**[6]–सुख और दुःखों के; **भोक्तृत्वे**[7]–भोग करने में; **हेतुः**[8]–हेतु; **उच्यते**[9]–कहलाता है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।।२१।।

पुरुषः[3]–पुरुष; **प्रकृतिस्थः**[1]–प्रकृति में ठहरा हुआ; **हि**[2]–ही, क्योंकि; **भुंक्ते**[6]–भोगता है; **प्रकृतिजान्**[4]–प्रकृति से उत्पन्न;

ही इस पुरुष के अच्छी या बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण है ॥२१॥

इस देह में (जैसे पुरुष है, आत्मा है वैसे एक) परम पुरुष है जिसे परमात्मा कहते हैं, द्रष्टा कहते हैं, अनुमन्ता कहते हैं, भर्ता कहते हैं, भोक्ता कहते हैं, महेश्वर कहते हैं ॥२२॥

हम अभी कह आये हैं कि इस अध्याय में एक ही विचार को 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार' तथा 'प्रकृति-पुरुष-विचार' की शब्दावली में कहा गया है। 'क्षेत्र' का अर्थ देह तथा सृष्टि है, 'प्रकृति' का अर्थ भी देह तथा सृष्टि है; 'क्षेत्रज्ञ' का अर्थ आत्मा तथा परमात्मा है, 'पुरुष' का अर्थ भी आत्मा तथा परमात्मा है। जैसे क्षेत्रज्ञ क्षेत्र का भोक्ता है, वैसे पुरुष प्रकृति का भोक्ता है। गीता इस बात को स्पष्ट करना चाहती है कि हमें क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ, प्रकृति तथा पुरुष के भेद को समझ लेना चाहिए। सब अनर्थों की जड़ जो बात है वह यह है कि या तो हम प्रकृति तथा पुरुष के भेद को नहीं समझते, दोनों को एक समझ लेते हैं, या दोनों में से किसी एक को ही सत्य समझते हैं, दूसरे को असत्य समझते हैं। गीता का कहना है कि प्रकृति तथा पुरुष के भेद को समझ लेना आवश्यक है।

बाईसवें श्लोक में परमात्मा को उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता—यह कहा गया है। ये चारों शब्द बहुत महत्वपूर्ण हैं। **श्री विनोबा** का कहना है कि इन शब्दों से यह बतलाया गया है कि जब हम देह तथा आत्मा का अलग-अलग भान करने लगते हैं तब परमात्म-शक्ति का उत्तरोत्तर अनुभव बढ़ता जाता है।

गुणान्[5]—गुणों को; **कारणम्**[10]—कारण; **गुणसङ्गः**[7]—गुणों के साथ संग हो जाना; **अस्य**[8]—इसका; **सद्-असद्-योनि-जन्मसु**[9]—अच्छी और बुरी योनियों में जन्म लेने में।

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाऽप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥२२॥

उपद्रष्टा[6]—समीपता से देखने वाला; **अनुमन्ता**[8]—अनुमन्ता, अनुमति देने वाला; **च**[7]—और; **भर्ता**[9]—भरण करने वाला; **भोक्ता**[10]—भोग करने वाला; **महेश्वरः**[11]—महेश्वर; **परमात्मा**[13]—परमात्मा; **इति**—[14]—इस प्रकार से; **च**[12]—और; **अपि**[4]—भी; **उक्तः**[15]—कहा जाता है; **देहे**[3]—देह में; **अस्मिन्**[2]—इसमें; **पुरुषः**[1]—पुरुष; **परः**[5]—परम।

जिस प्रकार यह अनुभव बढ़ता जाता है उसी को इन चार शब्दों में सूचित किया गया है। परमात्म-शक्ति के अनुभव का उत्तरोत्तर विकास कैसे होता है?

(क) **उपद्रष्टा**—हमारी पहली अवस्था तो वह है जिसमें देह-स्थित आत्मा का विचार नहीं आता, मनुष्य शारीरिक क्रियाओं में ही लीन रहता है। वह खाता है, पीता है, सोता है, इन्हीं बातों के लिए लड़ता-मरता है। यह अवस्था वह है जिसमें आत्मा सिर्फ़ देखता है, मनुष्य के विकास का प्रारंभ इसके बाद होता है। माँ जिस तरह कुएँ की ओर रेंगते जानेवाले बच्चे के पीछे सतत सतर्क खड़ी रहती है, उसी प्रकार आत्मा हम पर निगाह रखे खड़ा रहता है। शान्ति के साथ सब क्रियाओं को देखता है। इस स्थिति को गीता ने 'उपद्रष्टा' कहा है—साक्षी-रूप से सब देखनेवाला।

(ख) **अनुमन्ता**—यह जीव जो अपने को देह समझकर सब व्यवहार करता है वह आगे चलकर जागता है। उसे भान होने लगता है कि अरे, मैं पशु की तरह जीवन बिता रहा हूँ। जीव जब इस तरह का विचार करने लगता है तब उसकी स्वच्छंदता पर संयम आता है। अबतक परमात्मा साक्षी-रूप था, देखता-भर था, सम्मति नहीं दे रहा था, परन्तु जब जीव इस नैतिक भूमिका में आता है, तब परमात्मा केवल चुप बैठकर नहीं देखता, वह भीतर से अनुमोदन करता है—'शाबाश'—'ख़ूब'—ऐसी आवाज़ अन्दर से आती है। अब परमात्मा '**उपद्रष्टा**' न रहकर '**अनुमन्ता**' बन जाता है।

(ग) **भर्ता**—नैतिक जीवन, जिसमें उसे भगवान् का अनुमोदन मिल जाता है, बड़ा कठिन है। मनुष्य इस जीवन में थक जाता है। प्रयत्न करते-करते जब वह थककर कह उठता है: 'हे भगवन्! मेरे उद्योगों की, मेरी शक्ति की परा-काष्ठा हो गई। मुझे शक्ति दो, बल दो।' तब वह आर्त-भाव से द्रौपदी की तरह परमात्मा को पुकारता है, और तब परमात्मा, जो अबतक केवल शाबाशी दे रहा था, सहायता के लिए दौड़ पड़ता है। सच्चे साधकों का ही नहीं, जीवन के साधारण व्यवहार में परमात्मा पर आस्था रखकर चलनेवालों का यह अनुभव है कि जब हम नैतिक मार्ग पर चलते-चलते थक जाते हैं, जब हम यह अनुभव करने लगते हैं कि अब नय्या को पार लगाना हमारे हाथ में नहीं रहा, तब कोई महान् शक्ति अपना हाथ बढ़ाकर हमें सब संकटों से ऊपर उठा ले जाती है। यह अवस्था '**भर्ता**' की अवस्था है, इस अवस्था में परमात्मा हमारे बोझ को अपने ऊपर ले लेता है।

(घ) **भोक्ता**—आत्मिक-विकास में चौथी सीढ़ी है, परमेश्वर के कृपा-प्रसाद से कर्म का जो फल मिले उसे स्वयं न लेकर उसी को अर्पण कर देना। इस भूमिका में जीव परमेश्वर से कहता है: 'अपना फल तू ही भोग'! धर्मराज युधि-ष्ठिर स्वर्ग में चरण रखने ही वाले थे कि उनके साथ के कुत्ते को आगे नहीं जाने दिया गया। तब उन्होंने अपने सारे जीवन का पुण्य-फल—स्वर्ग—एक क्षण में छोड़ दिया। इसी तरह भक्त भी सारा फल-लाभ ईश्वरार्पण कर देता है। '**उपद्रष्टा**',

'अनुमन्ता', 'भर्ता'—इन स्वरूपों में प्रतीत होनेवाला परमात्मा अब 'भोक्ता' हो जाता है। श्री विनोबा का कहना है कि अब जीव उस भूमिका में आ जाता है, जब परमात्मा ही इस शरीर में भोगों को भोगता है।

जो कोई पुरुष को और गुणों के साथ प्रकृति को इस प्रकार समझ लेता है, वह कैसा ही बर्ताव क्यों न किया करे, उसका पुनर्जन्म नहीं होता ॥२३॥

[क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, अनात्म-आत्म या प्रकृति-पुरुष के भेद का ज्ञान]

कुछ लोग 'ध्यानयोग' द्वारा, दूसरे लोग 'ज्ञानयोग' द्वारा और कुछ लोग 'कर्मयोग' द्वारा, अपने-आप सेअर्थात् अपने 'देह' से अपने आपको अर्थात् 'आत्मा' को (अलग) देख लेते हैं ॥२४॥

परन्तु कुछ अन्य लोग (योग के इन मार्गों को) न जानते हुए दूसरे लोगों से (प्रकृति तथा पुरुष के भेद को)

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

यः[7]–जो; **एवम्**[1]–इस प्रकार से; **वेत्ति**[8]–जानता है; **पुरुषम्**[2]–पुरुष को; **प्रकृतिम्**[6]–प्रकृति को; **च**[3]–और; **गुणैः**[4]–सत्व आदि गुणों के; **सह**[5]–साथ; **सर्वथा**[10]–सब प्रकार से; **वर्तमानः**[11]–व्यवहार करने वाला; **अपि**[12]–भी; **न**[14]–नहीं; **सः**[9]–वह; **भूयः**[13]–फिर; **अभिजायते**[15]–उत्पन्न होता है।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

ध्यानेन[4]–ध्यान-योग द्वारा; **आत्मनि**[5]–आत्मा में; **पश्यन्ति**[6]–देखते हैं; **केचित्**[1]–कोई तो; **आत्मानम्**[2]–आत्मा को; **आत्मना**[3]–आत्मा से अर्थात् ध्यान-योग से; **अन्ये**[7]–और दूसरे; **सांख्येन**[8]–सांख्य (ज्ञान) से; **योगेन**[9]–मार्ग से (ज्ञान-योग से); **कर्मयोगेन**[12]–कर्ममार्ग के अनुसरण से (कर्म-योग से); **च**[10]–और; **अपरे**[11]–दूसरे।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

अन्ये[2]–दूसरे लोग; **तु**[1]–और, किन्तु; **एवम्**[3]–इस प्रकार; **अजानन्तः**[4]–न जानते हुए; **श्रुत्वा**[6]–सुनकर; **अन्येभ्यः**[5]–दूसरों से;

सुनकर वैसा ध्यान धरते हैं। वे भी जो-कुछ उन्होंने सुना है उस पर तत्पर रहते हुए मृत्यु को तर जाते हैं ॥२५॥

हे भरत-कुल में श्रेष्ठ अर्जुन ! यह समझ ले कि स्थावर तथा जंगम जो-कोई भी वस्तु उत्पन्न होती है वह 'क्षेत्र' तथा 'क्षेत्रज्ञ' के संयोग से ही उत्पन्न होती है ॥२६॥

और इन नाशवान् वस्तुओं में जो अविनाशी तत्व परमेश्वर को देखता है, जो संपूर्ण जड़-चेतन में सम-भाव से विराजमान है, वही यथार्थ में देखता है ॥२७॥

परमेश्वर को सर्वत्र सम-भाव से विराजमान देखने के कारण वह अपने हाथों अपना हनन नहीं करता और इसी से वह परम गति पा लेता है ॥२८॥

उपासते[7]–उपासना करते हैं; **ते**[9]–वे; **अपि**[11]–भी; **च**[8]–और; **अतितरन्ति**[13]–पार कर लेते हैं; **एव**[14]–ही; **मृत्युम्**[12]–मृत्यु को; **श्रुतिपरायणाः**[10]–जैसा उन्होंने सुना है उस पर निष्ठा रखनेवाले।

यावत् संजायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् तद् विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

यावत्[2]–जितना, जो—कुछ भी; **संजायते**[6]–उत्पन्न होता है; **किञ्चित्**[3]–कुछ भी; **सत्त्वम्**[5]–वस्तु; **स्थावरजङ्गमम्**[4]–स्थावर तथा जङ्गम; **क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्**[8]–क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से; **तत्**[7]–उसको; **विद्धि**[9]–जान ले; **भरतर्षभ**[1]–हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

समम्[7]–सम-भाव वाले; **सर्वेषु**[3]–सब; **भूतेषु**[4]–भूतों में; **तिष्ठन्तम्**[8]–ठहरे हुए; **परमेश्वरम्**[6]–परमेश्वर को; **विनश्यत्सु**[2]–विनाशियों में; **अविनश्यन्तम्**[5]–अविनाशी तत्त्व को; **यः**[1]–जो; **पश्यति**[9]–देखता है; **सः**[10]–वह; **पश्यति**[11]–यथार्थ में देखता है।

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

समम्[5]–सम-भाव से; **पश्यन्**[6]–देखता हुआ; **हि**[1]–ही, क्योंकि; **सर्वत्र**[2]–सब जगह; **समवस्थितम्**[3]–विराजमान; **ईश्वरम्**[4]–ईश्वर

गीता का कहना है कि संसार के रोगों की जड़ यही है कि हम क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ को अलग-अलग नहीं समझते, क्षेत्रज्ञ के—आत्मा तथा परमात्मा के—अस्तित्व को ही भुला देते हैं, क्षेत्र को, प्रकृति को ही सब-कुछ समझ बैठते हैं। इस दृश्य नाशवान् जगत् में अदृश्य आत्मा-परमात्मा को देखना ही वास्तविक देखना है। जो इस प्रकार विनाशी जगत् में अविनाशी आत्मा-परमात्मा को नहीं देखते वे अपने हाथों अपना हनन कर बैठते हैं। परमात्मा को सर्वत्र सम-भाव से देखनेवाला अपने अस्तित्व को पा लेता है, वह परम गति को प्राप्त करता है।

हम क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ को, प्रकृति तथा आत्मा को इसलिए अलग-अलग नहीं देख पाते क्योंकि जीवन में ये इतने रले-मिले हैं कि इन्हें अलग-अलग देख पाना कठिन है। परन्तु गीता का कहना है कि :

जो व्यक्ति इस बात को देख लेता है कि सब कर्म सब प्रकार से केवल प्रकृति द्वारा किये जा रहे हैं, आत्मा तो अकर्ता है, वह कर्म करनेवाला नहीं है, वही यथार्थ में देखता है ॥२९॥

जब यह देख लेता है कि पंचभूतों का प्रकृति का जगत् पृथक् है, अलग है, और एकस्थ आत्मा-परमात्मा का जगत्

को; **न**[9]—नहीं; **हिनस्ति**[10]—मारता है; **आत्मना**[7]—अपने से; **आत्मानम्**[8]—अपने-आप को; **ततः**[11]—उसके बाद; **याति**[14]—पहुँचता है; **पराम्**[12]—उत्कृष्ट; **गतिम्**[13]—गति को।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

प्रकृत्या[5]—प्रकृति के द्वारा; **एव**[6]—ही; **च**[1]—और; **कर्माणि**[3]—कर्मों को; **क्रियमाणानि**[7]—किये जाते हुए; **सर्वशः**[4]—सब प्रकार से; **यः**[2]—जो; **पश्यति**[11]—देख लेता है; **तथा**[8]—और; **आत्मानम्**[9]—आत्मा को; **अकर्त्तारम्**[10]—कर्म न करता हुआ; **सः**[12]—वह; **पश्यति**[13]—यथार्थ में देखता है।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥

यदा[1]—जब; **भूतपृथग्भावम्**[2]—पाँच भूतों की पृथक्-पृथक् सत्ता को; **एकस्थम्**[3]—एक जगह स्थित; **अनुपश्यति**[4]—देख लेता है; **ततः**[6]—

पृथक् है, इन पृथक्-पृथक् सत्ताओं से ही यह सारा विस्तार हो रहा है, तब ब्रह्म प्राप्त होता है ॥३०॥

हे कौन्तेय! क्योंकि वह अव्यय, अविनाशी परमात्मा अनादि है, निर्गुण है, इसलिये शरीर में रहता हुआ भी न कुछ कर्म करता है, न किसी कर्म से लिप्त होता है ॥३१॥

जिस प्रकार सर्वव्यापी आकाश सूक्ष्मता के कारण किसी वस्तु से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सब देहों में स्थित आत्मा भी किसी प्रकार (शरीर के कर्म से) लिप्त नहीं होता ॥३२॥

जिस प्रकार एक ही सूर्य इस समूचे जगत् को प्रकाशित

उससे; **एव**[7]–ही; **च**[5]–और; **विस्तारम्**[8]–भूतों के विस्तार को; **ब्रह्म**[10]–ब्रह्म; **संपद्यते**[11]–प्राप्त होता है; **तदा**[9]–तब।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्माऽयमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥

अनादित्वात्[2]–अनादि होने के कारण; **निर्गुणत्वात्**[3]–निर्गुण होने के कारण; **परमात्मा**[6]–परमात्मा; **अयम्**[4]–यह; **अव्ययः**[5]–अविनाशी है; **शरीरस्थः**[7]–शरीर में ठहरा हुआ; **अपि**[8]–भी; **कौन्तेय**[1]–हे अर्जुन; **न**[9]–नहीं; **करोति**[10]–करता है (कर्म को); **न**[11]–नहीं; **लिप्यते**[12]–किसी कर्म में लिप्त होता है।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

यथा[1]–जिस प्रकार; **सर्वगतम्**[2]–सर्वव्यापी; **सौक्ष्म्यात्**[4]–सूक्ष्म होने के कारण; **आकाशम्**[3]–आकाश; **न**[5]–नहीं; **उपलिप्यते**[6]–किसी भी वस्तु से लिप्त होता है; **सर्वत्र**[8]–सब जगह; **अवस्थितः**[10]–ठहरा हुआ; **देहे**[9]–देह में; **तथा**[7]–उसी प्रकार; **आत्मा**[11]–आत्मा; **न**[12]–नहीं; **उपलिप्यते**[13]–शरीर के कर्मों से लिप्त होता है।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

यथा[2]–जैसे; **प्रकाशयति**[8]–प्रकाशित करता है; **एकः**[3]–एक ही; **कृत्स्नम्**[6]–सारे; **लोकम्**[7]–जगत् को; **इमम्**[5]–इस; **रविः**[4]–सूर्य;

करता है, उसी प्रकार हे भारत! क्षेत्र का स्वामी—'क्षेत्री'—समूचे 'क्षेत्र' को प्रकाशित करता है ॥३३॥

जो लोग अपने ज्ञान-चक्षुओं द्वारा इस प्रकार 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के अन्तर को, भेद को जान लेते हैं, और जो पंचभूतात्मक प्रकृति से (आत्मा के) मोक्ष को—प्रकृति से आत्मा की अलहदगी को—जान लेते हैं, वे परम पद को प्राप्त कर लेते हैं ॥३४॥

श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् में जिस ब्रह्मविद्या का वर्णन किया गया, उसके अन्तर्गत जो योग-शास्त्र है, उसमें जो कृष्णार्जुन-संवाद है, उस संवाद का 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभाग-योग'-नामक त्रयोदश अध्याय समाप्त हुआ।*

उपसंहार

इस अध्याय पर श्री तिलक, श्री विनोबा तथा श्री अरविंद के विचार मनन करने योग्य हैं। इसके अतिरिक्त सृष्टि-उत्पत्ति के सम्बन्ध में गीता, सांख्य तथा आधुनिक विचारकों की जो लगभग एक-सी स्थापना है वह भी ध्यान देने योग्य है। हम इन चारों पर थोड़ा-थोड़ा प्रकाश डालेंगे :

१. त्रयोदश अध्याय पर श्री तिलक के विचार

इस अध्याय में परब्रह्म का, क्षेत्रज्ञ का वर्णन करते हुए कुछ विरोधी बातें कही गई हैं। कहा गया है : वह न सत् है, न असत् है; निर्गुण है और गुणों का

क्षेत्रम्[12]–क्षेत्र को; **क्षेत्री**[10]–सारे क्षेत्र का स्वामी; **तथा**[9]–उसी प्रकार; **कृत्स्नम्**[11]–सारे; **प्रकाशयति**[13]–प्रकाशित करता है; **भारत**[1]–हे अर्जुन।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः[2]–क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के; **एवम्**[1]–इस प्रकार; **अन्तरम्**[3]–अन्तर को, भेद को; **ज्ञानचक्षुषा**[7]–ज्ञान की चक्षुओं से; **भूतप्रकृतिमोक्षम्**[5]–पञ्चभूतात्मक प्रकृति से आत्मा के मोक्ष को; **च**[4]–और; **ये**[6]–जो; **विदुः**[8]–जान लेते हैं; **यान्ति**[11]–प्राप्त कर लेते हैं; **ते**[9]–वे; **परम्**[10]–परम-पद को।

*** इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभाग-योगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः।**

भोक्ता है; अन्दर है फिर भी बाहर है; अचर है फिर भी चर है; दूर है फिर भी निकट है; विभक्त विश्व में वह अविभक्त है। श्री तिलक का कहना है कि इन सब बातों में निर्गुण तथा सगुण की समस्या को उठाकर उसका समाधान दिया गया है। प्रश्न है कि निर्गुण-सगुण की क्या समस्या है, और उसका क्या समाधान है?

(क) **निर्गुण-सगुण की समस्या**—गीता परमात्मा को निर्गुण मानती है। १३–३१ में कहा है : **'अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्माऽयमव्ययः'**—अनादि और निर्गुण होने के कारण परमात्मा अव्यय है। गीता के सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म अव्यक्त है, निर्गुण है। प्रश्न यह है कि फिर निर्गुण से सगुण सृष्टि हुई कैसे? असत् से सत्, अचर से चर, दूर से निकट, निर्गुण से सगुण—यह क्या कविता है, या यथार्थ है?

अगर यह मान लें कि निर्गुण ही सत् है, सगुण सृष्टि है ही नहीं, मिथ्या है, तब सत्-असत् का, निर्गुण-सगुण का विरोध नहीं रहता। परन्तु सगुण सृष्टि को मिथ्या कैसे मान लें? यह तो प्रत्यक्ष है, दृष्टिगोचर है। सगुण-निर्गुण के विरोध का दूसरा समाधान यह हो सकता है कि सगुण सृष्टि को मिथ्या मानने की जगह निर्गुण ब्रह्म की तरह सत् ही मान लें। यह भी नहीं हो सकता क्योंकि यह सगुण सृष्टि तो घड़ी-घड़ी बदलती रहती है, आज जैसी है कल वैसी नहीं, अब जैसी है, कुछ देर बाद वैसी नहीं। तो फिर अव्यक्त से व्यक्त, असत् से सत्, निर्गुण से सगुण केवल कविता की बात है या इन दोनों का दार्शनिक-दृष्टि से समन्वय हो सकता है? श्री तिलक का कहना है कि गीता ने परब्रह्म का यह विरोधाभास में वर्णन कविता की दृष्टि से ही नहीं, यथार्थ-दृष्टि से किया है। वह कैसे?

(ख) **निर्गुण-सगुण की समस्या का समाधान**—श्री तिलक का कहना है कि सृष्टि का ज्ञान केवल इन्द्रियों से प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला जड़ पदार्थों का ज्ञान ही नहीं है। हमारा ज्ञान क्या है? इन्द्रियों द्वारा मन पर अनेक संस्कार पड़ते हैं, इन संस्कारों का **'एकीकरण'** आत्मा क्षेत्रज्ञ के तौर पर किया करता है। उदाहरणार्थ, हम देखते हैं कि 'गीली-मट्टी' से घड़ा बनता है, परन्तु यह नहीं जानते कि जिसे हम 'गीली-मट्टी' कहते हैं, उस पदार्थ का यथार्थ तात्विक रूप क्या है। चिकनाई, गीलापन, मैला रंग या गोल आकार इत्यादि गुण जब इन्द्रियों के द्वारा मन को पृथक्-पृथक् मालूम हो जाते हैं, तब उन संस्कारों का **'एकीकरण'** करके आत्मा कहता है कि यह 'गीली-मट्टी' है। इसके बाद जब यह 'गीली-मट्टी', गोल-गोल, पोला-पोला रूप धारण कर लेती है, सूख जाती है, टकोरने से ठन-ठन आवाज़ करती है, तब इन गुणों के 'एकीकरण' से हम उसे 'घड़ा' कह देते हैं। सारांश क्या हुआ? घड़े में एक तात्विक-वस्तु है, वह भिन्न-भिन्न आकार या रूप धारण करती रहती है, तात्विक-वस्तु नहीं बदलती, वह दीखती भी नहीं, आकार या रूप बदलता रहता है। इसका सबसे सरल उदाहरण समुद्र और तरंग का या सोने और अलंकार का है। वेदान्त में ये उदाहरण प्रायः दिये जाते हैं। तरंगें बदलती रहती हैं, समुद्र बना रहता है; अलंकार भिन्न-भिन्न बनते रहते हैं—

कड़ा, अंगूठी, कंगन—परन्तु सोना सब में समान बना रहता है। आकृतियों के इस परिवर्तन को उपनिषदों में **'नामरूप'** कहा है। इन नामरूपों में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है, परन्तु इनके मूल में आधारभूत कोई तत्व है, जो इन्द्रियों की पकड़ में तो नहीं आता, परन्तु जो इन नामरूपों से भिन्न है, कभी बदलता नहीं, जिस प्रकार समुद्र पर तरंगें होती हैं, उसी प्रकार ये नामरूप किसी एक ही मूल-द्रव्य पर तरंगों के समान रहते हैं। इन्द्रियाँ नामरूप को ही पहचान सकती हैं, इसलिए उस मूलद्रव्य का इन्द्रियों को ज्ञान होना संभव नहीं है, परन्तु यह तो मानना ही पड़ता है, कि इस नामरूप से वस्तु-तत्व भिन्न है। अगर इन्द्रियगोचर नामरूपों के अतिरिक्त मूलतत्व की सत्ता को माने ही नहीं, तो फिर 'कड़ा'-'कंगन' आदि भिन्न-भिन्न, स्वतंत्र पदार्थ हो जायेंगे, एवं इस समय हमें जो यह ज्ञान हुआ करता है कि 'कड़ा'-'कंगन'-'अंगूठी' ये सब एक ही धातु के—सोने के—बने हैं, इस ज्ञान के लिए कोई आधार नहीं रहेगा। ऐसी अवस्था में केवल इतना ही कहते बनेगा कि यह 'कड़ा' है, यह 'कंगन' है, यह 'अंगूठी' है, हम यह कदापि न कह सकेंगे कि कड़ा 'सोने' का है, कंगन 'सोने' का है, अंगूठी 'सोने' की है। वेदान्त-शास्त्र के इस सिद्धान्त को **'सत्तासामान्यत्व'** कहा जाता है; इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए गीता ने कहा है—**'अविभक्तं विभक्तेषु'** (१३–१६)—'कड़ा'-'कंगन'-'अंगूठी' आदि विभक्त, खंडित पदार्थों में जैसे सोना अविभक्त है, अखंडित है, सोने के रूप में, एक तत्व के रूप में विद्यमान है, इसी प्रकार संसार के नाना-पदार्थों में परब्रह्म अविभक्त है। इसी दृष्टि से गीता ने परब्रह्म को निर्गुण कहते हुए भी उसे सगुण का आधार माना है। पश्चिम के **कांट** आदि तत्वज्ञानियों ने भी इसी दिशा में विचार किया है। नामरूपात्मक जगत् की जड़ में, नामरूपों से भिन्न, जो अदृश्य नित्य तत्व है, उसे **कांट** ने अपने ग्रन्थ में 'वस्तु-तत्व' (Thing-in-itself) का नाम दिया है; नेत्र आदि इन्द्रियों के गोचर होनेवाले नामरूप को 'बाहरी-दृश्य' (Appearance) का नाम दिया है। गीता के ब्रह्म को निर्गुण कहते हुए भी उसके सगुण रूप के वर्णन करने का यही दार्शनिक आधार है।

२. त्रयोदश अध्याय पर श्री विनोबा के विचार

श्री विनोबा का कहना है कि गीता में दो पृथक्करणों (अलग करना) का प्रतिपादन किया गया है। एक पृथक्करण है 'कर्म' तथा 'कर्मफल' का; दूसरा पृथक्करण है 'देह' तथा 'आत्मा' का। इन दोनों पृथक्करणों पर विनोबा को क्या कहना है?

(क) **कर्म तथा कर्मफल का पृथक्करण**—गीता में यह प्रधान बात सर्वत्र कही गई है कि कर्म तो करो परन्तु उसका फल छोड़ दो। गीता का 'कर्म' से अभिप्राय कोरा कर्म नहीं, स्वधर्माचरण-रूपी कर्म है। कर्म करना, फल छोड़ देना —यह बात कहने में बड़ी सरल मालूम होती है, परन्तु पालने में कठिन है क्योंकि किसी कर्म की प्रेरक-शक्ति फल-वासना मानी गई है। फल-वासना को छोड़ कर कर्म करना उल्टा पन्थ है, यह बिल्कुल असाधारण बात है, परन्तु गीता का सार

कर्म तथा कर्मफल का पृथक्करण ही है। संसार के सारे दुःख कर्मफल की वासना से होते हैं इसलिए गीता का यह कहना कि कर्म करो परन्तु कर्मफल की वासना को छोड़ दो, अत्यन्त युक्तियुक्त कथन है, परन्तु यह हो कैसे?

(ख) देह तथा आत्मा का, क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का, प्रकृति तथा पुरुष का पृथक्करण—'कर्म करें और उसके फल की आसक्ति छोड़ दें'—इस पृथक्करण का सहायक महान् पृथक्करण है 'देह तथा आत्मा को पृथक्-पृथक् समझने' का। इसी पृथक्करण को तेरहवें अध्याय में स्पष्ट किया गया है। आँखों से हम जिस रूप को देखते हैं, उसे हम मूर्ति, आकार, देह कहते हैं। इस देह के भीतर, इससे पृथक् एक तत्व है जिसे आत्मा कहते हैं। देह तो फल का ऊपरी छिलका है, इसके भीतर जो इस फल का गूदा है, उसी को हमने चखना है। नारियल फोड़ कर भीतर जो है—उसे पाना है। कटहल पर बाहर काँटे भरे रहते हैं, तो भी भीतर बढ़िया और रसीला गूदा रहता है। भीतर और बाहर का यह पृथक्करण आवश्यक है। बाह्य देह और भीतरी आत्मा—इस तरह प्रत्येक वस्तु का दोहरा रूप है। कर्म में भी यही बात है। बाहरी 'फल' कर्म का शरीर है, और कर्म की बदौलत जो 'चित्त-शुद्धि' होती है वह कर्म का आत्मा है। गीता क्या कहती है? गीता का कहना है कि कर्म के फल का संग छोड़ दो, यह तो कर्म-रूपी नारियल का बाहरी छिलका है, कर्म से चित्त-शुद्धि होती है उसे पकड़ो, यह कर्म-रूपी नारियल का भीतरी गूदा है। यह भावना तब जाग जाती है जब हम शरीर तथा आत्मा को अलग-अलग देखने लगते हैं, आत्मा-अनात्मा में भेद करने लगते हैं। जब तक शरीर तथा आत्मा को हम अलग-अलग नहीं देखते तब तक शरीर को सुख देने वाले फल में आसक्ति बनी रहती है, फिर उस आसक्ति से भले ही दुःख क्यों न मिल जाय। श्री विनोबा का कहना है कि फलासक्ति को हम तभी छोड़ सकते हैं जब देहासक्ति को छोड़ें, इसलिए श्रीकृष्ण ने इस अध्याय में 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभाग-योग' का प्रतिपादन किया है।

देह तथा आत्मा के पृथक्करण का, इन दोनों की पृथक्-पृथक् अनुभूति का क्रियात्मक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है। इस संबंध में विनोबा का कहना है:

(क) शिक्षा पर प्रभाव—इस समय हमारी शिक्षा यह सिखलाती है कि मैं केवल देहरूप हूँ, मैं आत्मा भी हूँ—यह नहीं सिखलाती। यही कारण है कि शिक्षक मार-पीट से काम लेता है। लड़के को सवाल नहीं आया तो चाँटा, वह स्कूल में देर से आया तो चाँटा। चाँटे से सवाल कैसे हल हो जायगा, इससे यह कैसे पता लगेगा कि घड़ी में कितने बजे हैं? मार-पीट से बालक की यह भावना दृढ़ बनने लगती है कि मैं देह ही हूँ, इसलिए वह सवाल हल करने या स्कूल में ठीक समय पर आने के स्थान में मार से बचने के साधन ढूंढने लगता है। सवाल हल करने के स्थान में नकल करने लगेगा, स्कूल से ग़ैर-हाज़िर होगा; ठीक समय पर आने के स्थान में बीमारी का बहाना करेगा। शिक्षा का मूल-तत्व यह होना चाहिए कि बालक को आत्मा का ज्ञान हो, वह समझे कि गुरु उसके आत्मा का विकास चाहता

है, ऐसी भावना उत्पन्न हो जाने पर बालक शिक्षा के सही रास्ते पर चल पड़ता है।

(ख) **जीवन का दृष्टिकोण बदल जाना**—अगर हम यह समझ लें कि देह साधन है, साध्य नहीं, आत्मा साध्य है, साधन नहीं, तो जीवन का सारा दृष्टिकोण बदल जाता है। बालक नंगे-पाँव फिर रहे हैं—कई लोग इसे फूहड़पन कहते हैं, एक दूसरा दृष्टिकोण भी है जिसके अनुसार इसे तपस्या कहते हैं। हर समय कपड़े बदलते रहना, शृंगार में गड़े रहना—यह देह को सब-कुछ मानने का परिणाम है; मन को सजाना, बुद्धि का विकास करना, आत्मिक गुणों का संग्रह करना—यह आत्मा को मुख्य मानने का परिणाम है। जो लोग किसी उच्च आदर्श के लिए मिट गये उन्होंने भौतिक-जीवन तथा आध्यात्मिक-जीवन के भेद को समझ लिया तभी तो ऐसा किया। इंग्लैंड के हुतात्मा **क्रैन्मर** ने कहा था : 'मुझे जलाते हो, अच्छा, जला डालो। लो, पहले यह दाहिना हाथ जलाओ'। इसी तरह **रिड्ले** और **लैटीमर** ने कहा था : 'तुम जलाना चाहते हो ? हमें कौन जला सकता है ? हम तो धर्म की ऐसी ज्योति जला रहे हैं कि कोई उसे बुझा नहीं सकता। शरीररूपी इस मोमबत्ती को जलाकर सत्य की ज्योति जगमगाना तो हमारा काम ही है।' **सुकरात** को जब विष दिया गया तब उसने कहा : 'जो मरनेवाला था उसे मारकर आप कौन-सी बहादुरी कर रहे हो ?'

३. त्रयोदश अध्याय पर श्री अरविंद के विचार

श्री अरविंद का कहना है कि गीता का मुख्य लक्ष्य आत्मा को निम्नतर प्रकृति में से निकाल कर उच्चतर प्रकृति में आरोहण के लिए क्रियाशील बना देना है। निम्नतर प्रकृति क्या है, और उच्चतर प्रकृति क्या है ? इसका विवेचन हम सातवें अध्याय में कर आये हैं। सातवाँ अध्याय 'ज्ञान-विज्ञान-योग' है, और वही ज्ञान-विज्ञान—'ज्ञान-योग'—१३ से १८वें अध्याय में कहा गया है। सातवें अध्याय में 'अपरा' और 'परा' प्रकृति का वर्णन किया गया है। श्री अरविंद का कहना है कि गीता के (७–४, ५) के अनुसार ब्रह्म की दो प्रकृतियाँ हैं—अपरा तथा परा। **श्री अरविंद** पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश आदि पंच महाभूतों की सृष्टि को **सांख्यवादियों** की तरह निरा जड़ जगत् नहीं मानते, वे इसे ब्रह्म की ही प्रकृति मानते हैं, उनका कहना है कि गीता का यही कहना है। गीता ने कहा है : **'इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा अपरा'**—पाँच महाभूत, मन, बुद्धि, अहंकार—ये आठ—**'मे अपरा प्रकृतिः'**—मेरी अपरा प्रकृति हैं। आगे कहा है : **'इतस्त्वन्या प्रकृतिः जीवभूता'**—इससे अन्य (अतिरिक्त) मेरी 'परा प्रकृति' है। ब्रह्म की 'परा-प्रकृति' क्या है ? ब्रह्म की 'परा-प्रकृति' उसका चैतन्यमय, अखंड, अनादि, अनन्त रूप है। तो फिर ब्रह्म की अपरा-प्रकृति और परा-प्रकृति के बीच जीव का क्या स्थान है ? श्री अरविंद कहते हैं कि गीता 'जीव' को ब्रह्म का अंश मानती है। गीता में कहा है : **'ममैवांशः सनातनः'** (१५–७)—यह जीव मेरा ही अंश है, अंश है तभी तो गीता बार-बार

कहती है—'**मद्‌गतेनान्तरात्मना**' (६–४७)—मुझ में जो आ गया; '**मामुपेत्य**' (८–१५, १६)—मुझ में आकर; '**मन्मना भव**'—मेरे मनवाला हो। इस समय जीव ने अपने को ब्रह्म की 'अपरा-प्रकृति' (Lower nature) के साथ एक किया हुआ है, गीता का उद्देश्य जीव को ब्रह्म की अपरा-प्रकृति से पृथक् करके उसे ब्रह्म की 'परा-प्रकृति' (Higher nature) के साथ मिलाने का है। इसी प्रक्रिया को श्री अरविंद आरोहण की प्रक्रिया कहते हैं।

जीव के लिए ब्रह्म की अपरा-प्रकृति और परा-प्रकृति का भेद जान लेना, और यह जान लेना कि मैं तो ब्रह्म की परा प्रकृति का ही अंश हूँ, मुझे 'अपरा' के झमेले में से निकल कर 'परा' की तरफ़ चलना है—यह 'ज्ञान' है; परा की तरफ़ न जाकर अपरा में उलझे रहना—यह 'अज्ञान' है। इस विचारधारा को तेरहवें अध्याय में अत्यन्त स्पष्ट कर दिया गया है। अपरा या निम्नतर प्रकृति 'क्षेत्र' है, परा या उच्चतर प्रकृति 'क्षेत्रज्ञ' है। 'क्षेत्र' तथा 'क्षेत्रज्ञ' एवं 'अपरा-प्रकृति' तथा 'परा-प्रकृति'—ये गीता के अपने शब्द हैं, इनके लिए सांख्य ने 'प्रकृति' तथा 'पुरुष'—इन शब्दों का प्रयोग किया है। जीव का आरोहण अपरा से परा को, निम्न से उच्च को, क्षेत्र से क्षेत्रज्ञ को, प्रकृति से पुरुष को हो—यह गीता का ध्येय है, परन्तु यह तभी हो सकता है जब हम इन दोनों प्रकृतियों के भेद को समझें, यह समझें कि ये दोनों एक नहीं, अलग-अलग हैं। यह श्री अरविंद की विचारधारा है।

४. सृष्टि की उत्पत्ति पर गीता, सांख्य तथा आधुनिक विचारक

सृष्टि की उत्पत्ति के संबंध में सांख्यकार का मत गीता को मान्य है। ईश्वर-कृष्ण ने तीसरी सांख्यकारिका में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन निम्न प्रकार किया है:

मूल-प्रकृतिरविकृतिः महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
शोडषकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥

इसका अर्थ यह है कि 'मूल-प्रकृति' अविकृति है, अर्थात् वह किसी का विकार नहीं, उसमें सत्व-रज-तम की साम्यावस्था है। 'महत्' आदि सात-तत्व 'प्रकृति-विकृति' कहलाते हैं, वे प्रकृति के निकट भी हैं, और उनमें विकार भी आ गया है। क्योंकि ये सात-तत्व पांच महाभूतों, पांच ज्ञानेन्द्रियों, पांच कर्मेन्द्रियों तथा मन—इनके 'कारण' (Cause) हैं, इसलिये इन सात-तत्वों को 'प्रकृति' कहते हैं, क्योंकि ये मूलप्रकृति के 'कार्य' (Effect) हैं, इसलिये इन्हें 'विकृति' भी कहते हैं। ये सात हैं—'महत्', 'अहंकार' और 'पंच-तन्मात्राएँ'। 'विकृतियाँ' सोलह हैं और वे हैं—पाँच 'महाभूत', पांच 'ज्ञानेन्द्रियाँ', पाँच 'कर्मेन्द्रियाँ' तथा 'मन'—ये सोलह 'विकृतियाँ' हैं, विकार हैं। पुरुष न प्रकृति है, न विकृति है, वह सिर्फ़ द्रष्टा है। इन सब की क्या व्याख्या है?

(क) **मूल-प्रकृति**—सांख्य का मत है कि सृष्टि का कोई मूल भौतिक तत्व है, जो अव्यक्त है, उसी से सारी सृष्टि उत्पन्न हुई है। अव्यक्त का अर्थ अदृश्य नहीं

है, प्रकृति के अव्यक्त होने का अर्थ है सृष्टि के घटक-तत्व की वह अवस्था जिसमें व्यक्त-सृष्टि अपने बीज रूप में सिमटी बैठी है। पाश्चात्य-विचारक सृष्टि के इस मूल-तत्व को 'नेबुला' (Nebula) कहते हैं। इसे ऋग्वेद में **'हिरण्यगर्भ'** कहा गया है। 'नेबुला' और 'हिरण्यगर्भ' दोनों का प्राकृतिक रूप ज्योतिर्मय है।

सांख्यकार सृष्टि का प्रारंभ दो स्वतंत्र मूल तत्वों से मानते हैं—प्रकृति तथा पुरुष। इन दोनों के संयोग से सृष्टि की टकसाल शुरू हो जाती है। प्रकृति कर्ता है, पुरुष द्रष्टा है। गीता के अनुसार भी प्रकृति कर्ता है, पुरुष द्रष्टा है, परन्तु प्रकृति सांख्य मत की तरह स्वतंत्र तत्व नहीं है, वह अपना सारा खेल ईश्वर की इच्छा के अनुसार करती है। वेदान्तवाले तो प्रकृति को किसी प्रकार का तत्व ही नहीं मानते, परन्तु जब एक बार शुद्ध ब्रह्म में ही मायात्मक प्रकृति-रूप विकार दृष्टिगोचर होने लगता है तब आगे सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम वेदान्त में भी सांख्य मत वालों जैसा ही चलता है। गीता सांख्य और वेदान्त के बीच की बात कहती है। 'प्रकृति' है—यह सांख्य की बात, 'प्रकृति नहीं है'—यह वेदांत की बात मिला कर गीता ने कह दिया—'प्रकृति स्वतंत्र न होकर ईश्वर के आधीन है'।

'मूल-प्रकृति' से, जो स्वयं अव्यक्त है, व्यक्त जगत् का विकास होता है, जैसे बीज में से वृक्ष का विकास होता है। सांख्य का विकास का सिद्धान्त **डार्विन** के विकास के सिद्धान्त से मिलता है। सांख्य तथा गीता दोनों में 'मूल-प्रकृति' (Primordial Matter) को 'प्रकृति' कहा है, उसके आगे जितना विकास है उसे 'विकृति' कहा है। प्रकृति में सत्व, रज, तम—ये गुण साम्यावस्था में रहते हैं, विकृति में कहीं सत्त्वगुण, कहीं रजोगुण, कहीं तमोगुण प्रधान हो जाता है। इन गुणों के संबंध में हमने १४वें अध्याय में विशेष तौर पर लिखा है।

(ख) **महत् या बुद्धि**—प्रकृति जब अव्यक्त से व्यक्त की तरफ़ विकसित होने लगती है, तब प्रकृति से प्रथम तत्व 'बुद्धि' उत्पन्न होती है। हम भी जब पहले-पहल कुछ करना चाहते हैं तब पहले क्रिया विचार में आती है। उपनिषद्, जो ब्रह्म को सृष्टि का आदि कारण मानते हैं, वे भी लिखते हैं : **'बहु स्याम् प्रजायेय'** (छा० ६, २, ३; तै० २.६)—प्रारंभ में परमात्मा को इच्छा हुई कि मैं एक से अनेक हो जाऊँ। हमारे करने की इच्छा तथा प्रकृति के करने की इच्छा में यह भेद है कि हम तो चेतन हैं, इसलिए हम अपनी बुद्धि को जान सकते हैं; प्रकृति चेतन नहीं है, जड़ है, उसमें चेतनता का पुरुष के संयोग से आभास हो रहा है, इसलिए वह अपनी बुद्धि को जान नहीं सकती। अचेतन, जड़ प्रकृति में सृष्टि प्रारंभ करने के समय यह जो बुद्धि का तत्व उत्पन्न हुआ, उसी को, 'कार्य-कारण का नियम' (Law of Causation) कहा जाता है। कार्य-कारण का नियम स्वयं जड़ है, परन्तु बुद्धिपूर्वक है, जड़ है इसी लिए अटल है, परन्तु बुद्धिपूर्वक है इसलिए कारण के पीछे कार्य आता है, और कार्य का कारण होता है। वेदों में पुरुष की चेतन बुद्धि को 'सत्य' तथा प्रकृति की जड़ बुद्धि को 'ऋत' कहते हुए कहा है : **'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत'**।

श्री तिलक लिखते हैं कि हेकल आदि अर्वाचीन सृष्टि-शास्त्रज्ञ भी अब कहने लगे हैं कि यदि यह न माना जाय कि मानवी इच्छा की बराबरी करनेवाली परन्तु अस्वयंवेद्य शक्ति जड़ पदार्थों में भी विद्यमान है तो गुरुत्वाकर्षण अथवा रासायनिक क्रिया का और लोह-चुंबक का आकर्षण तथा अपसारण, जो जड़ सृष्टि में दृग्गोचर होता है इनका मूल कारण ठीक-ठीक नहीं बतलाया जा सकता। प्रकृति में उत्पन्न होनेवाली बुद्धि अस्वयंवेद्य है, मनुष्य में उत्पन्न होनेवाली बुद्धि स्वयंवेद्य है, परन्तु हैं दोनों बुद्धि-तत्व, दोनों मूल में एक ही श्रेणी की हैं। सांख्य में जड़-जगत् के बुद्धि-तत्व को 'महत्' कहा गया है। इसे 'महत्' नाम दो कारणों से दिया गया है। पहला कारण तो यह है कि 'बुद्धि-तत्व' सब तत्वों से श्रेष्ठ है, इसलिये 'महत्' है, दूसरा कारण यह है कि 'बुद्धि-तत्व' के व्यक्त होने पर प्रकृति 'महत्' होने लगती है, कार्य-कारण के अनुसार विकसित होने लगती है, इसलिये भी इसे 'महत्' कहा गया है।

(ग) **अहंकार**—यद्यपि 'अव्यक्त-प्रकृति' में 'व्यक्त-बुद्धि' उत्पन्न हो जाती है, तो भी प्रकृति अभी तक एक ही बनी रहती है। इस एकता का भंग और नानात्व का उत्पन्न होना ही सृष्टि है। 'बुद्धि' के बाद उत्पन्न होनेवाले नानात्व को, पृथक्ता को ही 'अहंकार' कहते हैं। प्रकृति में यह अहंकार बुद्धि की तरह जड़ होने के कारण 'अस्वयंवेद्य' (Unconscious) है, मनुष्य में यह अहंकार चेतनता के कारण 'स्वयंवेद्य' (Conscious) है। प्रकृति के जड़ जगत् में—ईंट, पत्थर, वृक्ष, पृथ्वी, जल, वायु, सूर्य, चन्द्र—इन सब में 'मैं-तू' के रूप में स्वाभिमानपूर्वक अपनी पृथक्ता प्रकट नहीं की जा सकती; मनुष्य में चेतनता के कारण 'मैं-तू' रूप में स्वाभिमानपूर्वक अपनी पृथक्ता प्रकट की जा सकती है। मूल में जड़-चेतन दोनों के अहंकार, एक ही तत्व के दो रूप हैं। अहंकार बुद्धि का ही एक भाग है, जब तक बुद्धि न होगी तब तक अहंकार न होगा, अतएव सांख्यकार अहंकार को बुद्धि—'महत्'—के बाद का तत्त्व मानते हैं। जैसे बुद्धि के सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण के भेद के कारण अनेक रूप हैं इसी प्रकार अहंकार के भी इन गुणों के नानात्व के कारण नाना रूप हैं।

(घ) **पंच-तन्मात्राएँ**—प्रकृति की अव्यक्त तथा साम्यावस्था जब भंग हो जाती है, तब उसका रूप व्यक्त हो जाता है, उसके व्यक्त रूप को बुद्धि—महत्—कहते हैं। 'महत्' से 'अहंकार' पैदा होता है। 'अहंकार' से प्रकृति में भिन्न-भिन्न पदार्थ बनाने की शक्ति आ जाती है। अब आगे इसके विकास की दो शाखाएँ हो जाती हैं—'निरिन्द्रिय-पदार्थ' (Inorganic) तथा 'सेन्द्रिय-पदार्थ' (Organic)। अहंकार में तमोगुण के उत्कर्ष से निरिन्द्रिय-सृष्टि उत्पन्न होती है—पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश की; अहंकार में सत्वगुण के उत्कर्ष से सेन्द्रिय-सृष्टि उत्पन्न होती हैं—पेड़, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, मनुष्य। अभी तक प्रकृति की सूक्ष्मता कायम रहती है, इसलिए 'अहंकार' से उत्पन्न होनेवाले सोलह तत्व (पाँच महाभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन) अभी तक सूक्ष्म ही रहते हैं।

पाँच महाभूतों की इस सूक्ष्म अवस्था का नाम ही 'पंच-तन्मात्रा' है। जब पंच-तन्मात्राओं से पाँच महाभूत—पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश—बन जाते हैं, तब इन महाभूतों के संयोग से पहले 'निरिन्द्रिय' (Inorganic) तथा पीछे 'सेन्द्रिय' (Organic) सृष्टि की रचना होती है। प्रश्न खड़ा होता है कि पंच महाभूतों की सूक्ष्म अवस्था की ये 'पंच-तन्मात्राएँ' क्या हैं?

श्री तिलक का कहना है कि अर्वाचीन सृष्टिशास्त्रज्ञों ने सृष्टि के पदार्थों के तीन भेद—घन (Solid), द्रव (Liquid) और वायुरूपी (Gaseous)—किये हैं, परन्तु सांख्य का वर्गीकरण इससे भिन्न है। सांख्य का कथन है कि सृष्टि के मूल तत्व उक्त तीन नहीं, पाँच हैं। वह कैसे? मनुष्य को सृष्टि के सब पदार्थों का ज्ञान केवल पाँच इन्द्रियों से हुआ करता है। इन इन्द्रियों की रचना कुछ ऐसी विलक्षण है कि एक इन्द्रिय से सिर्फ़ एक ही गुण का ज्ञान होता है। आँख से गन्ध, कान से देखना, त्वचा से मीठे कड़वे का ज्ञान, जिह्वा से शब्द, नाक से रंग का ज्ञान नहीं होता। जब इस प्रकार पाँच ज्ञानेन्द्रियों और उनके पाँच विषयों—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—का संबंध निश्चित है, तब यह प्रकट है कि सृष्टि के गुण पाँच हैं, कम-अधिक नहीं। क्योंकि इन्द्रियाँ केवल पाँच हैं, और प्रत्येक इन्द्रिय को केवल एक ही गुण का बोध हो सकता है, इसलिए सांख्यशास्त्रियों ने निश्चय किया है कि यद्यपि व्यक्त सृष्टि के पदार्थों में सब गुणों का मिश्रण दीख पड़ता है, तथापि 'मूल-प्रकृति' में निरा शब्द, निरा स्पर्श, निरा रूप, निरा रस और निरा गंध है। इसी को सांख्य में शब्द-तन्मात्रा, स्पर्श-तन्मात्रा, रूप-तन्मात्रा, रस-तन्मात्रा और गन्ध-तन्मात्रा कहते हैं। 'तन्मात्र'—अर्थात् उतनी छोटी-सी मात्रा, अर्थात् 'निरा', 'थोड़ा-सा'।

(ङ) **पंच महाभूत**—जब इन्द्रियाँ पाँच हैं, और प्रत्येक इन्द्रिय एक ही विषय का ज्ञान कर सकती है, दूसरे विषय का नहीं, तो इससे स्पष्ट है कि इन्द्रियों के विषय भी पाँच ही होने चाहियें, कम-अधिक नहीं। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश—ये पाँच महाभूत ही तो पाँच इन्द्रियों के विषय हैं। अगर हम मानें कि ये विषय पाँच नहीं, तीन हैं, तो इन्द्रियाँ भी पाँच न होकर तीन होनी चाहियें, क्योंकि इन्द्रियों का काम तो अपने-अपने, पृथक्-पृथक् विषय का ज्ञान करना है; अगर हम मानें कि ये विषय पाँच से अधिक हैं, तो इन्द्रियाँ भी पाँच से अधिक होनी चाहियें। जब इन्द्रियाँ पाँच ही हैं, उनसे जाननेवाले विषय भी पाँच ही हैं, तब महाभूत पाँच ही मानना युक्तियुक्त है। इस प्रकार हमने देखा कि 'निरिन्द्रिय-जगत्' (Inorganic World) के पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश—ये पाँच भेद हैं। 'सेन्द्रिय-जगत्' (Organic World) के कितने भेद हैं?

(च) **पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन**—पाश्चात्य विकासवादियों का कथन है कि प्रारंभिक जन्तु में सिर्फ़ त्वचा ही एक इन्द्रिय होती है, वही भिन्न-भिन्न परिस्थितियों से अन्य इन्द्रियों का रूप धारण कर लेती है। उदाहरणार्थ, त्वचा से प्रकाश के संयोग से आँख उत्पन्न हुई—इत्यादि। सांख्यवादियों का कहना है कि ऐसी बात नहीं है। यदि मूल-प्रकृति में ही पाँचों इन्द्रियों को उत्पन्न करने की

शक्ति न हो, तो प्रारंभिक जीव की त्वचा पर सूर्य के प्रकाश का चाहे कितना ही संयोग होता रहे, त्वचा से आँख कैसे बन सकेगी? डार्विन का सिद्धान्त सिर्फ़ इतना कहता है कि दो प्राणियों में—एक चक्षुवाला और दूसरा चक्षुरहित—इन दोनों में जब संघर्ष होता है तब चक्षुवाला अधिक समय तक टिक सकता है, दूसरा नष्ट हो जाता है, परन्तु डार्विन का सिद्धान्त इस बात का मूल कारण नहीं बतला सकता कि नेत्र आदि भिन्न-भिन्न पाँच इन्द्रियों की उत्पत्ति पहले हुई कैसे? इस प्रश्न का उत्तर सांख्य मत यह देता है कि ये सब ग्यारहों इन्द्रियाँ—पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और मन—एक ही मूल इन्द्रिय से क्रमशः नहीं उत्पन्न होतीं, किन्तु ग्यारहों-की-ग्यारह शुरूसे वर्तमान रहती हैं। 'सत्कार्यवाद' का यह तकाज़ा है कि ये ग्यारहों सूक्ष्म रूप में विद्यमान हों। पहले वे प्रकृति में अव्यक्त रूप में विद्यमान थीं, अब सृष्टि के विकसित होने पर व्यक्त रूप में आ जाती हैं। मन की गणना इन ग्यारहों में है, इस दृष्टि से मन प्रकृति का ही विकसित रूप है, इसी दृष्टि से मन जो-कुछ करता है वह आत्मा नहीं करता, मन ही करता है। कर्ता, भोक्ता मन है, आत्मा नहीं—यह सांख्य और गीता का मत है।

(छ) न प्रकृति न विकृतिः पुरुषः—इस प्रकार हमने देखा कि उपरिलिखित सांख्यकारिका में सृष्टि की उत्पत्ति का जो क्रम बतलाया है वह पाश्चात्य दार्शनिकों को भी सम्मत है। इस विवरण के अनुसार बुद्धि, मन आदि प्रकृति के गुण हैं, अतः प्रकृति ही कर्ता है, वही भोक्ता है। इसी को गीता ने कहा है: **'गुणाः गुणेषु वर्तन्ते'** (३–२८)। तो फिर पुरुष का क्या रूप है? पुरुष के लिए सांख्य का कथन है कि वह न प्रकृति है, न विकृति है, वह तो सिर्फ़ 'ज्ञः' है, ज्ञाता है, द्रष्टा है, प्रकृति-रूपी क्षेत्र का 'क्षेत्रज्ञ' है।

५. क्या जीवात्मा 'कर्ता' नहीं है?

गीता (१३-२९) में कहा गया है कि 'जीव' कर्ता नहीं है, 'प्रकृति' ही कर्ता है। सांख्य का भी यही मत है। जीव तो गीता (११-३३) के अनुसार 'निमित्तमात्र' है, असली कर्ता तो प्रकृति है। गीता का यह कथन गीता के इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिये है कि मनुष्य जो-कुछ करे निष्काम-भावना से करे, सकाम-भावना से न करे। जब कर्म करनेवाला ही मैं नहीं हूँ, तब सकामता रह ही कहाँ जाती है?

परन्तु क्या अनुभव यह बतलाता है कि मैं 'कर्ता' नहीं हूँ? अनुभव तो यही बतलाता है कि कर्म को करनेवाला मैं हूँ, प्रकृति नहीं है, प्रकृति तो मेरा साधन है, मैं प्रकृति का साधन नहीं हूँ। अनुभव यह बतलाता है कि मैं कर्म करने में स्वतंत्र हूँ, हाँ, फल मेरे अधीन नहीं है, फल भोगने में मैं परतंत्र हूँ। हमारा विचार है कि जीव को कर्म करने में स्वतन्त्र और फल भोगने में परतंत्र मान लेने पर भी कर्म के विषय में 'निमित्तमात्र' की धारणा ही जीवन का व्यावहारिक-दर्शन बना रहता है क्योंकि असली समस्या 'कर्म' की नहीं, 'कर्म-फल'

की है। जब कर्म का फल मेरे अधीन नहीं है, मैं जो चाहूँ वह फल भी हो सकता है, मैं जो न चाहूँ वह फल भी हो सकता है, तब सकाम-कर्म करने के स्थान में निष्काम-कर्म करना, फलासक्ति का त्याग करके कर्म करना, निमित्त-मात्र बनकर कर्म करना ही व्यावहारिक दृष्टि-कोण है क्योंकि सकाम-कर्म करने से तो घोर निराशा का सामना हर समय बना रहता है।

हमें यह ध्यान में रखना होगा कि गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय निष्कामता है, फलासक्ति का त्याग है। इस सिद्धान्त को मुख्य रखते हुए गीता का कोई द्वैतपरक अर्थ करे, कोई अद्वैतपरक, कोई कर्मपरक अर्थ करे, कोई भक्तिपरक या ज्ञानपरक—इससे गीता के केन्द्रीय विचार में कोई भेद नहीं पड़ता।

चौदहवाँ अध्याय

गुण-त्रय-विभाग-योग

गीता का मुख्य विषय निष्कामता, निस्संगता है। सकामता और संगभाव तभी उत्पन्न होता है जब हम अपने को कर्ता समझें, भोक्ता समझें। 'मैं कर्ता नहीं हूँ'—यह बुद्धि पैदा हो जाय तो सकामता, फल की आकांक्षा रह ही कैसे सकती है? इसी विचार की भूमिका तेरहवें अध्याय में रखी गई। श्रीकृष्ण ने कहा कि यथार्थ ज्ञान तो है ही यह कि हम क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के भेद को पहचानें, इन्हें एक-दूसरे से पृथक् कर दें, देह अलग है आत्मा अलग है—यह समझ लें, प्रकृति तथा पुरुष के भेद को जान लें। जब हम इनके भेद को जान लेंगे तब क्या होगा? तब गीता अगला कदम उठाती है और कहती है कि सब कर्म तो क्षेत्र कर रहा है, प्रकृति कर रही है, वही कर्ता है, आत्मा तो कर्ता है ही नहीं। तेरहवें अध्याय के २९वें श्लोक में कहा था: **'प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः'**—कर्म तो हर हालत में प्रकृति द्वारा हो रहे हैं, हम तो कर्मों को करनेवाले हैं ही नहीं, जब हम कर्म कर ही नहीं रहे तब फल की आशा कैसी, सकामता कैसी, संग कैसा? तो फिर कर्म कौन कर रहा है? कर्म कर रही है यह त्रिगुणात्मक सत्व-रज-तम वाली प्रकृति। इसके किये हुए कर्मों को यह आत्मा अपना किया हुआ समझ रहा है, इसीलिए प्रकृति में हो रहे भौतिक शीत-उष्ण तथा मानसिक सुख-दुःख यह अपने समझ रहा है। प्रश्न हो सकता है कि क्या ऐसा हो सकता है? सर्दी तो दूसरे को लग रही हो, अनुभव मैं कर रहा हूँ, दुःख दूसरे को हो, दुःखी मैं हो रहा हूँ? श्रीकृष्ण कहते हैं—यह जो हो ही नहीं सकता, यही हो रहा है। आत्मा तो द्रष्टा है, अकर्ता है, अभोक्ता है, फिर भी यह दृश्य, कर्ता, भोक्ता बना हुआ है। जीवन में हम देखते नहीं कि अनेक बार हम दूसरों के दुःखों से दुःखी होते हैं, दूसरे के सुख से सुखी होते हैं। गोली दूसरे को लगी, चिल्ला हम पड़े; खेल में जीत दूसरे की हुई, उछल हम पड़े। सिनेमा में जो दृश्य सामने आते हैं उनके साथ हम अपने को इतना एकाकार कर लेते हैं कि भोग दूसरा रहा होता है, भोगने हम लगते हैं। प्रकृति अपने तीनों गुणों के भोग भोगती रहे, हम अपने को उससे अलग रखें, अकर्ता, द्रष्टा बने रहें—यह 'क्षेत्र'- 'क्षेत्रज्ञ' का ज्ञान है। प्रकृति अपने सत्व, रज, तम गुणों से कैसे भोग कर रही है—इस बात का स्पष्टीकरण पिछले अध्याय में नहीं किया गया, उसी का स्पष्टीकरण चौदहवें अध्याय में किया गया है।

श्री भगवान् ने कहा : **मैं फिर तुझे ज्ञानों में परम, सर्वोत्तम ज्ञान बतलाऊँगा जिसे जानकर सब मुनि इस संसार से ऊपर उठकर परम सिद्धि को पहुँचे हैं ॥१॥**

इस ज्ञान का आश्रय लेकर जो मेरे 'साधर्म्य' में आ पहुँचे हैं वे सृष्टि की उत्पत्ति का समय आने पर भी जन्म नहीं लेते, सृष्टि का प्रलय आने पर भी दुःखी नहीं होते ॥२॥

इस श्लोक में 'साधर्म्य'-शब्द विशेष महत्व का है। **श्री सातवलेकर 'साधर्म्य'** पर लिखते हुए कहते हैं कि ईश्वर के जो धर्म हैं, गुण हैं, उनके समान साधक के गुण हो जाना 'साधर्म्य' है, जैसे तपा हुआ लोहा अग्नि के गुणों से युक्त हो जाता है। श्री **अरविंद** ने भी इस श्लोक के 'साधर्म्य'-शब्द को महत्वपूर्ण बतलाया है। वे कहते हैं कि मानव देह में जीव भी रहता है, परमात्मा भी रहता है, परन्तु जीव तो देह में प्रकृति के गुणों में बँधा रहता है, प्रकृति के भोग को अपना भोग मानने लगता है, परमात्मा मानव-देह में रहता हुआ भी प्रकृति के गुणों के वश में नहीं रहता, वह मानव-देह में रहता हुआ भी देह से अलग द्रष्टा बना रहता है। जीव ने यही करना है। जीव की मुक्ति का अर्थ यही है कि वह परमात्मा की तरह

श्री भगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१॥

परम्[3]–परम; **भूयः**[5]–फिर; **प्रवक्ष्यामि**[6]–बतलाऊँगा; **ज्ञानानाम्**[1]–ज्ञानों में; **ज्ञानम्**[4]–ज्ञान को; **उत्तमम्**[2]–श्रेष्ठ को; **यत्**[7]–जिसको; **ज्ञात्वा**[8]–जानकर; **मुनयः**[10]–मुनिजन; **सर्वे**[9]–सब; **पराम्**[12]–परम; **सिद्धिम्**[13]–सिद्धि को; **इतः**[11]–इस संसार से; **गताः**[14]–प्राप्त कर गये।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

इदम्[1]–इस; **ज्ञानम्**[2]–ज्ञान को; **उपाश्रित्य**[3]–समीप से आश्रय लेकर; **मम**[4]–मेरे; **साधर्म्यम्**[5]–समानधर्मता को; **आगताः**[6]–प्राप्त हुए; **सर्गे**[7]–सृष्टि के जन्म होने पर; **अपि**[12]–भी; **न**[8]–नहीं; **उपजायन्ते**[9]–जन्म धारण करते हैं; **प्रलये**[11]–प्रलय काल में; **न**[13]–नहीं; **व्यथन्ति**[14]–दुःखी होते हैं; **च**[10]–और।

मानव-देह में रहता हुआ भी अपने को उससे अलग समझे, यह समझे कि वह क्षेत्र नहीं, क्षेत्रज्ञ है, भोक्ता नहीं, द्रष्टा है। जब जीव भी अपने को परमात्मा की तरह देह से अलग समझने लगता है, तब वह परमात्मा के 'साधर्म्य' में पहुँच जाता है। यही तो गीता का लक्ष्य है।

आत्मा भोक्ता नहीं, द्रष्टा है, क्षेत्र नहीं, क्षेत्रज्ञ है, तो प्रश्न उठता है कि यह क्षेत्ररूपा प्रकृति कैसे पैदा हुई, और कैसे भोग भोगती है? इसी की व्याख्या करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं :

[प्रकृति और ब्रह्म]

'महद्-ब्रह्म' अर्थात् प्रकृति मेरी योनि है, उसमें मैं बीज डालता हूँ। हे भारत! (मेरे उस बीज) से समस्त जड़-चेतन उत्पन्न होते हैं ।।३।।

'महद्ब्रह्म'-शब्द 'महत्' तथा 'ब्रह्म' इन दो से बना है। 'महत्' का अर्थ है—बड़ा, 'ब्रह्म' का अर्थ भी है—'बड़ा'। यहाँ पर प्रकृति को बहुत बड़ा कहने के लिए 'महद्ब्रह्म'-शब्द का प्रयोग किया गया है। सृष्टि की उत्पत्ति के लिए महान् प्रकृति को दैवीय योनि तथा भगवान् को वीर्यदाता मान कर इन्हें सृष्टि के सब पदार्थों का माता-पिता सूचित किया गया है।

हे कौन्तेय! (मनुष्य-पशु-पक्षी आदि) सब योनियों में जो रूप उत्पन्न होते हैं उन सब की योनि 'महद्ब्रह्म' अर्थात् प्रकृति है, और उन्हें बीज देने वाला पिता मैं हूँ ।।४।।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ।।३।।

मम[2]—मेरी; **योनिः**[4]—योनि (मूलकारण); **महद्ब्रह्म**[3]—महद्-ब्रह्म, प्रकृति; **तस्मिन्**[6]—उसमें; **गर्भम्**[7]—बीज को; **दधामि**[8]—धारण करता हूँ अर्थात् डालता हूँ; **अहम्**[5]—मैं; **संभवः**[11]—उत्पत्ति; **सर्व-भूतानाम्**[10]—चराचरभूतों की; **ततः**[9]—उस बीज से; **भवति**[12]—होता है; **भारत**[1]—हे अर्जुन।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद् योनिरहं बीजप्रदः पिता ।।४।।

सर्वयोनिषु[2]—सब योनियों में; **कौन्तेय**[1]—हे अर्जुन; **मूर्त्तयः**[4]—रूप; **संभवन्ति**[5]—उत्पन्न होते हैं; **याः**[3]—जो; **तासाम्**[6]—उनका;

तीसरे श्लोक में 'महद्-ब्रह्म' और चौथे में 'ब्रह्म-महत्'—इन शब्दों का प्रयोग किया गया है। ये दोनों एक ही शब्द हैं, इसलिए इनका अर्थ भी दोनों स्थानों पर एक ही करना उचित है।

'महद् ब्रह्म' तथा 'ब्रह्म महत्' का एक और अर्थ भी हो सकता है। सांख्य परिभाषा में 'महत्' का अर्थ 'प्रकृति' है। 'प्रकृतेर्महान्'—यह सांख्य का वचन है। प्रकृति का पहला रूप महान् का ही तो है, महान् अर्थात् बड़े रूप में सब जगह फैली हुई 'प्रकृति' जिसे सांख्य की परिभाषा में 'महत्' या 'महान्' भी कहा जा सकता है। उसी 'महत्' को जब भगवान् प्रेरणा देते हैं तब सृष्टि-चक्र चल पड़ता है।

[सत्त्व, रज, तम]

जब प्रकृति में ब्रह्म अपना बीज डाल देता है तब प्रकृति, जो निश्चेष्ट थी, क्रियाशील हो जाती है और प्रकृति में क्रियाशीलता आते ही उसमें सत्त्व, रज, तम—ये गुण प्रकट हो जाते हैं।

हे महाबाहु ! प्रकृति से उत्पन्न होने वाले सत्त्व, रज, तम—ये गुण इस अव्यय देही को, आत्मा को, क्षेत्रज्ञ को देह में, शरीर में, क्षेत्र में बाँध लेते हैं ।।५।।

ब्रह्म का बीज प्रकृति में पड़ा है। संसार की हर वस्तु प्रकृति से बनी है इसलिए हर वस्तु में ब्रह्म का बीज है। बीज ही तो विकसित होकर वृक्ष बनता है। जब यह धारणा बन जाय कि हर वस्तु में ब्रह्म का बीज है, वह विकसित होकर ब्रह्म रूप धारण कर सकता है, तब जीवन का दृष्टिकोण ही बदल जाता है।

हे निष्पाप अर्जुन ! इन गुणों में से सत्त्वगुण निर्मल होने के कारण प्रकाशक और आरोग्यकर है। यह (सत्त्वगुण)

ब्रह्म महद् (महद् ब्रह्म)[7]–प्रकृति; **योनिः**[8]–योनि; **अहम्**[9]–मैं; **बीजप्रदः**[10]–बीज डालने वाला; **पिता**[11]–पिता हूँ।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।।५।।

सत्त्वम्[2]–सत्त्व; **रजः**[3]–रज; **तमः**[4]–तम; **इति**[5]–ये; **गुणाः**[7]–गुण; **प्रकृतिसंभवाः**[6]–प्रकृति से उत्पन्न होने वाले; **निबध्नन्ति**[11]–बाँध लेते हैं; **महाबाहो**[1]–हे महाबाहु; **देहे**[10]–शरीर में; **देहिनम्**[9]–देही को, आत्मा को; **अव्ययम्**[8]–अविनाशी को।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ।।६।।

तत्र[2]–उन गुणों में; **सत्त्वम्**[5]–सत्त्वगुण; **निर्मलत्वात्**[6]–निर्मल

आनन्द और ज्ञान के प्रति आसक्ति के कारण मनुष्य को बाँधता है ॥६॥

हे कौन्तेय! तू यह समझ ले कि रजोगुण रागात्मक है, यह तृष्णा के प्रति आसक्ति के कारण उत्पन्न होता है। यह देहधारी को कर्म के प्रति आसक्ति में बाँध देता है ॥७॥

हे भारत! तू यह समझ ले कि तमोगुण अज्ञानमूलक है, यह देहधारीमात्र को भ्रम में डाल देता है। यह मनुष्य को लापरवाही, आलस्य और निद्रा के पाश में बाँध देता है ॥८॥

होने के कारण; **प्रकाशकम्**[3]–प्रकाशक; **अनामयम्**[4]–आरोग्यकर है; **सुखसङ्गेन**[7]–सुख के प्रति आसक्ति के कारण; **बध्नाति**[10]–बाँधता है; **ज्ञानसङ्गेन**[9]–ज्ञान के प्रति आसक्ति के कारण; **च**[8]–और; **अनघ**[1]–हे निष्पाप अर्जुन।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥७॥

रजः[3]–रजोगुण; **रागात्मकम्**[2]–रागात्मक है; **विद्धि**[5]–जान; **तृष्णासङ्गसमुद्भवम्**[4]–तृष्णा के प्रति आसक्ति के कारण उत्पन्न; **तत्**[6]–वह; **निबध्नाति**[9]–बाँधता है; **कौन्तेय**[1]–हे अर्जुन; **कर्मसङ्गेन**[8]–कर्म के प्रति आसक्ति के कारण; **देहिनम्**[7]–देहधारी आत्मा को।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥८॥

तमः[5]–तमोगुण को; **तु**[1]–और; **अज्ञानजम्**[6]–अज्ञान से उत्पन्न, अज्ञानमूलक; **विद्धि**[7]–जान ले; **मोहनम्**[4]–भ्रम में डालने वाला; **सर्वदेहिनाम्**[3]–सर्व देहधारियों का; **प्रमादालस्यनिद्राभिः**[9]–लापरवाही, आलस्य (निरुद्यमता) और निद्रा के द्वारा; **तत्**[8]–वह; **निबध्नाति**[10]–बाँधता है; **भारत**[2]–हे अर्जुन।

हे भारत ! सत्त्वगुण मनुष्य को 'सुख' में, रजोगुण 'कर्म' में और तमोगुण ज्ञान को ढक कर 'प्रमाद' में लगा देता है ॥९॥

हे भारत ! रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्व-गुण उभर आता है; सत्त्वगुण और तमोगुण को दबाकर रजोगुण उभर आता है; सत्त्वगुण और रजोगुण को दबा कर तमोगुण उभर आता है ॥१०॥

जब इस देह में इन्द्रियों के सब द्वारों में प्रकाश तथा ज्ञान का उदय हो जाता है तब यह समझ लेना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ रहा है ॥११॥

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥९॥

सत्त्वम्[2]–सत्त्वगुण; **सुखे**[3]–सुख में; **संजयति**[4]–बढ़ता है, लगा देता है; **रजः**[5]–रजोगुण; **कर्मणि**[6]–कर्म में; **भारत**[1]–हे अर्जुन; **ज्ञानम्**[9]–ज्ञान को; **आवृत्य**[10]–ढककर; **तु**[8]–और; **तमः**[7]–तमोगुण; **प्रमादे**[11]–लापरवाही में; **संजयति**[13]–लगा देता है; **उत**[12]–और, भी अथवा या ।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

रजः[3]–रजोगुण को; **तमः**[4]–तमोगुण को; **च**[1]–और; **अभिभूय**[5]–दबाकर; **सत्त्वम्**[6]–सत्त्वगुण; **भवति**[7]–(प्रबल) होता है; **भारत**[2]–हे अर्जुन; **रजः**[9]–रजोगुण; **सत्त्वम्**[10]–सत्त्वगुण को; **तमः**[11]–तमोगुण को; **च**[8]–और; **एव**[13]–ही; **तमः**[14]–तमोगुण; **सत्त्वम्**[15]–सत्त्वगुण को; **रजः**[16]–रजोगुण को; **तथा**[12]–और (प्रबल होता है) ।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाशः उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद् विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥

सर्वद्वारेषु[4]–सब द्वारों में; **देहे**[3]–देहेन्द्रियों में; **अस्मिन्**[2]–इस; **प्रकाशः**[5]–प्रकाश; **उपजायते**[7]–उत्पन्न होता है; **ज्ञानम्**[6]–ज्ञान; **यदा**[1]–जब; **तदा**[8]–तब; **विद्यात्**[10]–जान ले; **विवृद्धम्**[13]–

हे भरत-कुल में श्रेष्ठ ! जब रजोगुण की वृद्धि होती है तब लोभ, प्रवृत्ति, कार्यों का प्रारंभ, अशान्ति और वस्तुओं की लालसा–ये सब उत्पन्न हो जाते हैं ॥१२॥

हे कुरु-नन्दन ! जब तमोगुण की वृद्धि होती है तब प्रकाश का अभाव, काम करने की इच्छा का अभाव, लापरवाही तथा मूढ़ता–ये उत्पन्न हो जाते हैं ॥१३॥

[सत्त्व, रज, तम का फल]

जब देहधारी आत्मा उस अवस्था में मरे जब सत्त्वगुण उभरा हुआ हो तब वह उत्तम ज्ञानियों के निर्मल लोकों को प्राप्त करता है ॥१४॥

बढ़ा हुआ; **सत्त्वम्**[12]–सत्त्व को; **इति**[9]–इस प्रकार से; **उत**[11]–अथवा ।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥

लोभः[4]–लोभ; **प्रवृत्तिः**[5]–प्रवृत्ति (रुचि); **आरम्भः**[7]–आरम्भ; **कर्मणाम्**[6]–कर्मों का; **अशमः**[8]–अशान्ति; **स्पृहा**[9]–इच्छा; **रजसि**[2]–रजोगुण में; **एतानि**[10]–ये; **जायन्ते**[11]–उत्पन्न होते हैं; **विवृद्धे**[3]–बढ़ने पर; **भरतर्षभ**[1]–हे अर्जुन ।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥

अप्रकाशः[4]–प्रकाश-हीनता; **अप्रवृत्तिः**[5]–कार्य में प्रवृत्ति का न होना; **च**[6]–और; **प्रमादः**[7]–लापरवाही; **मोहः**[9]–मूढ़ता; **एव**[11]–ही; **च**[8]–और; **तमसि**[2]–तमोगुण में; **एतानि**[10]–ये; **जायन्ते**[12]–उत्पन्न होते हैं; **विवृद्धे**[3]–बढ़े हुए होने पर; **कुरुनन्दन**[1]–हे अर्जुन ।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥

यदा[1]–जब; **सत्त्वे**[3]–सत्त्व के; **प्रवृद्धे**[4]–बढ़े हुए होने पर; **तु**[8]–तो; **प्रलयम्**[5]–मरने के काल को; **याति**[6]–पहुँचता है; **देहभृत्**[2]–

जब देहधारी रजोगुण की अवस्था में मरे, तब कर्मों में आसक्त लोगों में जन्म लेता है, और तमोगुणी अवस्था में मर कर मूढ़ योनियों में जन्म लेता है ।।१५।।

सुकृत कर्म का फल सात्विक और निर्मल होता है; राजस कर्म का फल दुःख होता है; तामस कर्म का फल अज्ञान होता है ।।१६।।

सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुण से लोभ उत्पन्न होता है, तमोगुण से असावधानी, मूढ़ता और अज्ञान उत्पन्न होता है ।।१७।।

देहधारी; **तदा**[7]–तब; **उत्तमविदाम्**[9]–उत्तम ज्ञानियों के; **लोकान्**[11]–लोकों को; **अमलान्**[10]–निर्मल; **प्रतिपद्यते**[12]–प्राप्त करता है।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ।।१५।।

रजसि[1]–रजोगुण की दशा में; **प्रलयम्**[2]–मरण को; **गत्वा**[3]–प्राप्त करके; **कर्मसङ्गिषु**[4]–कर्म में आसक्त लोगों में; **जायते**[5]–जन्म लेता है; **तथा**[6]–और; **प्रलीनः**[8]–मरा हुआ, **तमसि**[7]–तमोगुण की अवस्था में; **मूढयोनिषु**[9]–मूढ (ज्ञान-शून्य) योनियों में; **जायते**[10]–जन्म लेता है।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ।।१६।।

कर्मणः[2]–कर्म का; **सुकृतस्य**[1]–पुण्य का; **आहुः**[7]–कहते हैं; **सात्त्विकम्**[4]–सात्त्विक; **निर्मलम्**[5]–निर्मल; **फलम्**[6]–फल है; **रजसः**[8]–रजोगुण का; **तु**[3]–तो; **फलम्**[9]–फल; **दुःखम्**[10]–दुःख; **अज्ञानम्**[13]–अज्ञान; **तमसः**[11]–तमोगुण का; **फलम्**[12]–फल है।

सत्त्वात् संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ।।१७।।

सत्त्वात्[1]–सत्त्वगुण से; **संजायते**[3]–उत्पन्न होता है; **ज्ञानम्**[2]–ज्ञान; **रजसः**[5]–रजोगुण से; **लोभः**[7]–लोभ; **एव**[6]–ही; **च**[4]–और;

जो लोग सत्त्वगुण में स्थिर होते हैं वे ऊपर की ओर उठते हैं, रजोगुण वाले लोग मध्य में रहते हैं और तमोगुणी लोग जघन्य गुणों और जघन्य वृत्ति में पड़े हुए अधोगति को जाते हैं ॥१८॥

जब द्रष्टा यह देख लेता है कि प्रकृति के इन तीन गुणों के अतिरिक्त दूसरा कोई कर्ता नहीं है, और इन गुणों से परे रहने वाला (जो भगवान् है उसे) देख लेता है, तब वह द्रष्टा 'मद्‌भाव' को, मेरे स्वरूप को पा लेता है ॥१९॥

जब देहधारी आत्मा देह से उत्पन्न होने वाले इन तीन गुणों को लाँघ जाता है (इन तीन गुणों के बन्धन में नहीं

प्रमादमोहौ[10]–लापरवाही और मूढता; **तमसः**[9]–तमोगुण से; **भवतः**[11]–होते हैं; **अज्ञानम्**[12]–अज्ञान; **एव**[13]–ही; **च**[8]–और।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

ऊर्ध्वम्[2]–ऊपर की ओर; **गच्छन्ति**[3]–जाते हैं, उठते हैं; **सत्त्वस्थाः**[1]–सत्त्वगुण में स्थित जन; **मध्ये**[5]–मध्य में; **तिष्ठन्ति**[6]–ठहरते हैं; **राजसाः**[4]–रजोगुण वाले; **जघन्यगुणवृत्तिस्थाः**[7]–जघन्य (हीन) गुणों और जघन्य वृत्ति में पड़े हुए; **अधः**[9]–नीचे की ओर; **गच्छन्ति**[10]–जाते हैं; **तामसाः**[8]–तमोगुण वाले लोग।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

न[6]–नहीं; **अन्यम्**[4]–दूसरे को; **गुणेभ्यः**[3]–गुणों के अतिरिक्त; **कर्तारम्**[5]–कर्ता को; **यदा**[1]–जब; **द्रष्टा**[2]–देखने वाला आत्मा; **अनुपश्यति**[7]–देख लेता है; **गुणेभ्यः**[9]–गुणों से; **च**[8]–और; **परम्**[10]–परम; **वेत्ति**[11]–जानता है; **मद्भावम्**[13]–मद्भाव अर्थात् मेरे स्वरूप को; **सः**[12]–वह; **अधिगच्छति**[14]–पा लेता है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

गुणान्[5]–गुणों को; **एतान्**[2]–इन; **अतीत्य**[6]–लाँघ कर; **त्रीन्**[4]–तीनों को; **देही**[1]–आत्मा; **देहसमुद्भवान्**[3]–देह से उत्पन्न; **जन्म-**

बँधा रहता), तब वह जन्म-मरण, वृद्धावस्था के दुःखों से मुक्त हो जाता है और अमर जीवन को प्राप्त करता है ॥२०॥

[त्रिगुणातीत का वर्णन]

अर्जुन ने कहा : **हे प्रभु ! जो सत्त्व-रज-तम—इन तीन गुणों को लाँघ जाता है उसकी क्या पहचान है ? उसका आचार, रहन-सहन कैसा होता है और वह इन तीन गुणों को कैसे लाँघ जाता है ॥२१॥**

श्री भगवान् ने कहा : **हे पांडव ! जो व्यक्ति प्रकाश (सत्त्वगुण), प्रवृत्ति (रजोगुण) और मोह (तमोगुण) के**

मृत्युजरादुःखैः[7]—जन्म, मृत्यु और बुढ़ापा रूप दुःखों से; **विमुक्तः**[8]—मुक्त हुआ; **अमृतम्**[9]—अमरता को; **अश्नुते**[10]—प्राप्त करता है ।

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते ॥२१॥

कैः[5]—किन; **लिङ्गैः**[6]—पहचानों से (युक्त); **त्रीन्**[2]—तीनों को; **गुणान्**[3]—गुणों को; **एतान्**[1]—इन; **अतीतः**[4]—लाँघने वाला, पार करने वाला; **भवति**[7]—होता है; **प्रभो**[10]—हे भगवन्; **किमाचारः**[9]—किस प्रकार के (कैसे) आचरण वाला; **कथम्**[11]—कैसे; **च**[8]—और; **एतान्**[12]—इन; **त्रीन्**[13]—तीनों; **गुणान्**[14]—गुणों को; **अतिवर्तते**[15]—लाँघ जाता है ।

श्री भगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥२२॥

प्रकाशम्[2]—प्रकाश (सत्वगुण); **च**[3]—और; **प्रवृत्तिम्**[4]—कर्म में प्रवृत्ति (रजोगुण); **च**[5]—और; **मोहम्**[6]—मूढ़ता (तमोगुण); **एव**[7]—ही; **च**[11]—और; **पाण्डव**[1]—हे अर्जुन; **न**[8]—नहीं; **द्वेष्टि**[10]—द्वेष करता है; **संप्रवृत्तानि**[9]—उत्पन्न हुए-हुओं को; **न**[12]—नहीं; **निवृत्तानि**[13]—दूर हुए-हुओं को; **कांक्षति**[14]—इच्छा करता है ।

उत्पन्न होने पर दुःख नहीं मनाता और जब ये न हों तब इनके लिये इच्छा नहीं करता ॥२२॥

जो उदासीन की भाँति स्थिर है, जो सत्त्व-रज-तम— इन गुणों द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता, जो यह समझता हुआ कि गुण ही अपना-अपना काम कर रहे हैं स्थिर रहता है और डिगता नहीं, अर्थात् विकार को नहीं पाता ॥२३॥

जो सुख-दुःख को समान समझता है, जो अपने में 'स्वस्थ' अर्थात् अपने में स्थिर रहता है, मग्न रहता है, जो मट्टी के ढेले, पत्थर और सोने को समान समझता है, जो प्रिय या अप्रिय वस्तु प्राप्त होने पर एक समान रहता है, जो धीर है, जो निन्दा और स्तुति को एक-समान समझता है ॥२४॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

उदासीनवत्[2]—उदासीन के समान; **आसीनः**[3]—स्थिर बैठा हुआ; **गुणैः**[4]—गुणों से; **यः**[1]—जो; **न**[5]—नहीं; **विचाल्यते**[6]—विचलित कर दिया जाता है; **गुणाः**[7]—ये गुण; **वर्तन्ते**[9]—अपने-अपने कार्य कर रहे हैं; **इति**[10]—इस प्रकार; **एव**[8]—ही; **यः**[11]—जो; **अवतिष्ठति**[12]—स्थिर रहता है; **न**[13]—नहीं; **इङ्गते**[14]—विचलित होता, चेष्टा करता है ।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्ठाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥

समदुःखसुखः[2]—जो दुःख और सुख को समान समझता है; **स्वस्थः**[1]—अपने में ही स्थित; **समलोष्ठाश्मकाञ्चनः**[3]—जो मिट्टी के ढेले, पत्थर और सोने को समान समझता है; **तुल्यप्रियाप्रियः**[5]—जो प्रिय और अप्रिय को समान समझता है; **धीरः**[4]—धीर; **तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः**[6]—जो अपनी निन्दा और बड़ाई को बराबर मानता है ।

जो मान और अपमान में एक-समान रहता है, जो मित्र-पक्ष और शत्रु-पक्ष में समान भाव रखता है, जिसने समस्त कर्मों का आरंभ त्याग दिया है, वह गुणातीत कहलाता है ॥२५॥

जो एकनिष्ठ भक्ति-योग से मेरी सेवा करता है, वह इन तीनों गुणों को लाँघ कर ब्रह्मरूप बनने के योग्य हो जाता है ॥२६॥

गीता में द्वितीय अध्याय में **'स्थितप्रज्ञ'** का, १२वें अध्याय में **'प्रियभक्त'** का, १३वें अध्याय में **'ज्ञानयोगी'** का और १४वें अध्याय में **'त्रिगुणातीत'** का जो वर्णन दिया गया है वह सब एक-सा है जिसका अभिप्राय यही है कि पूर्णता की स्थिति को किसी भी मार्ग से पाया जा सकता है, इसका एक मार्ग ही नहीं है, सब मार्ग उसी ब्रह्म को प्राप्त करने की तरफ़ जा रहे हैं।

क्योंकि अमर और अव्यय ब्रह्म का, शाश्वत धर्म का

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

मानापमानयोः[1]–मान और अपमान में; **तुल्यः**[2]–समान रहने वाला; **तुल्यः**[4]–समान रहने वाला; **मित्रारिपक्षयोः**[3]–मित्र और शत्रुओं के पक्षों में; **सर्वारम्भपरित्यागी**[6]–सर्व कर्मों के आरम्भों को त्यागने वाला; **गुणातीतः**[7]–गुणातीत, गुणों को लाँघने वाला; **सः**[5]–वह; **उच्यते**[8]–कहा जाता है।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

माम्[5]–मुझको; **च**[1]–और; **यः**[2]–जो; **अव्यभिचारेण**[3]–एकनिष्ठ, अविचल; **भक्तियोगेन**[4]–भक्ति-योग से; **सेवते**[6]–सेवा करता है; **सः**[7]–वह; **गुणान्**[9]–गुणों को; **समतीत्य**[10]–लाँघकर; **एतान्**[8]–इनको; **ब्रह्मभूयाय**[11]–ब्रह्मरूप बनने के योग्य; **कल्पते**[12]–समर्थ होता है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

ब्रह्मणः[2]–ब्रह्म का; **हि**[12]–ही, क्योंकि; **प्रतिष्ठा**[13]–निवासस्थान, आधार; **अहम्**[11]–मैं; **अमृतस्य**[4]–अमरता का; **अव्ययस्य**[1]–अविनश्वर

और परम आनन्द का (जिसे पाने के लिये साधक प्रयत्नशील हैं) निवास-स्थान मैं ही हूँ ॥२७॥

श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् में जिस ब्रह्मविद्या का वर्णन किया गया है, उसके अन्तर्गत जो योगशास्त्र है, उसमें जो कृष्णार्जुन-संवाद है, उस संवाद का 'गुण-त्रय-विभाग-योग'-नामक चतुर्दश अध्याय समाप्त हुआ।*

उपसंहार

इस अध्याय के मुख्य विषय दो हैं: (१) सत्व-रज-तम—इन तीन गुणों वाली प्रकृति तथा (२) प्रकृति का कर्तृत्व। इस संबंध में श्री तिलक, श्री विनोबा तथा श्री अरविंद के विचार हम यहाँ दे रहे हैं।

१. त्रिगुणात्मक प्रकृति के विषय में तिलक

(क) सत्कार्यवाद—श्री तिलक का कहना है कि इस अध्याय में सांख्य के प्रकृति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। कपिल के सांख्य-शास्त्र का पहला सिद्धान्त यह है कि जो गुण कारण में होंगे वही कार्य में होंगे। संसार में कोई सर्वथा नई वस्तु नहीं उत्पन्न हो सकती। यदि हम यह मान लें कि कारण में जो गुण नहीं हैं वे कार्य में स्वतंत्र रीति से उत्पन्न हो सकते हैं, तो फिर हम इसका उत्तर नहीं दे सकते कि पानी से दही क्यों नहीं बनता, दूध से ही दही क्यों बनता है। इस सिद्धान्त को **'सत्कार्यवाद'** कहते हैं। अर्वाचीन विज्ञान के ज्ञाताओं ने भी यही सिद्धान्त सत्य माना है।

(ख) प्रकृति की सत्ता—अगर 'सत्कार्यवाद' को मानें तो यह बात साफ़ सिद्ध हो जाती है कि सृष्टि शून्य से नहीं, किसी-न-किसी पदार्थ से उत्पन्न हुई है। हम जगत् में अनेक पदार्थ देखते हैं—पत्थर, सोना, चाँदी, जल, वायु आदि, ऐसे पदार्थ जिनके रूप तथा गुण भिन्न-भिन्न हैं। सांख्य-शास्त्र का दूसरा सिद्धान्त यह है कि ये सब भिन्न-भिन्न पदार्थ अन्त में जाकर किसी एक पदार्थ से उत्पन्न हुए हैं, ये अनेक होते हुए भी एक की ही अभिव्यक्ति हैं। विज्ञानवेत्ता भी पहले ९२ तत्व मानते थे जिनसे सृष्टि के सब पदार्थ बने हैं, अब विज्ञान ने भी यह स्वीकार कर लिया है कि इन ९२ के पीछे कोई एक ही भौतिक-तत्व है जिससे सारी सृष्टि उत्पन्न हुई है। सांख्य-शास्त्र में इस एक भौतिक-पदार्थ को 'प्रकृति' कहा जाता है।

का; **च**[3]–और; **शाश्वतस्य**[6]–नित्य; **च**[5]–और; **धर्मस्य**[7]–धर्म का; **सुखस्य**[10]–सुख का; **ऐकान्तिकस्य**[9]–परम, अखण्ड; **च**[8]–और।

*** इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे गुण-त्रय-विभाग-योगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः।**

(ग) **त्रिगुणात्मिका प्रकृति**—परन्तु यद्यपि सब पदार्थों में मूल तत्व एक ही है तथापि यदि इस मूल तत्व में गुण भी एक ही हो, तो 'सत्कार्यवाद' के अनुसार इस एक ही गुण से सृष्टि के अनेक गुणों का होना संभव नहीं है। सृष्टि में तो अनेक गुण हैं, फिर क्या किया जाय? इसलिए सब पदार्थों के गुणों का निरीक्षण करके सांख्यवादियों ने इन गुणों के सत्व, रज, तम—ये तीन भेद कर दिये हैं। ये तीन भेद किस आधार पर किये हैं? सांख्यवादियों का कहना है कि जब हम किसी पदार्थ को देखते हैं तब स्वभावतः उसकी दो अवस्थाएँ दीख पड़ती हैं—पहली शुद्ध, निर्मल या पूर्णावस्था; दूसरी उसके विरुद्ध निकृष्टावस्था। परन्तु साथ-ही-साथ निकृष्टावस्था से पूर्णावस्था की ओर उसके बढ़ने की उस पदार्थ की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर हुआ करती है—यही तीसरी अवस्था है। इन तीनों अवस्थाओं में से शुद्धावस्था या पूर्णावस्था को सात्विक, निकृष्टावस्था को तामसिक और प्रवर्तकावस्था को—एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाने को—राजसिक कहते हैं। इस प्रकार सांख्यवादियों का तीसरा सिद्धान्त यह है कि प्रकृति के एक तत्व होते हुए भी उसमें सत्व-रज-तम का नानात्व रहता है। ये तीनों गुण जब एक-समान होते हैं तब प्रकृति की साम्यावस्था होती है। सृष्टि के समय यह साम्यावस्था नहीं होती। सृष्टि के प्रारंभ में और अन्त में तीनों गुणों की साम्यावस्था होती है, सृष्टि के काल में इन तीनों में से कोई एक गुण प्रबल रहता है, दो निर्बल रहते हैं। पिंड में जब सत्वगुण प्रबल होता है तब अन्तःकरण में ज्ञान का उदय होता है, सत्य उभरने लगता है, चित्त शान्त रहता है; ब्रह्मांड में जब सत्वगुण प्रबल हो जाता है, तब संसार में शान्ति का राज्य होता है, प्रेम और सहानुभूति चारों तरफ़ दिखलाई देती है। पिंड में जब रजोगुण प्रबल होता है तब अन्तःकरण में लोभ जागृत हो जाता है, तृष्णा (इच्छा) बढ़ने लगती है, हम अनेक कामों में प्रवृत्त होने लगते हैं; ब्रह्मांड में जब रजोगुण प्रबल हो जाता है तब युद्ध-कलह छिड़ जाते हैं, झगड़े बढ़ने लगते हैं। पिंड में जब तमोगुण प्रबल होता है तब निद्रा, आलस्य, स्मृति-भ्रंश आदि दोष उत्पन्न हो जाते हैं; ब्रह्मांड में जब तमोगुण बढ़ जाता है तब देश तथा जाति पराधीन हो जाती है, कोई कितना भी अत्याचार करे सब पशु की तरह सहा जाता है।

२. प्रकृति के कर्तृत्व के विषय में तिलक

गीता में कहा है: **'कार्य-करणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते'** (१३-२०)—अर्थात् देह का जितना व्यापार है वह प्रकृति करती है, फिर कहा है: **'प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः'** (१३–२९)—अर्थात् प्रकृति ही सब कर्म करती है। इससे स्पष्ट है कि गीता आत्मा को कर्ता, भोक्ता नहीं मानती, प्रकृति को ही कर्ता, भोक्ता, मानती है, प्रकृति सब काम किया करती है, 'आत्मा उदासीन है, अकर्ता है। इस संबंध में श्री तिलक का क्या कहना है?

(क) **जड़ाद्वैतवाद या भौतिकवाद**—सृष्टि का मूल-तत्व क्या है—इस सम्बन्ध में एक विचार यह है कि इस सृष्टि के मूल में सिर्फ़ एक ही तत्व है। सृष्टि

की प्रत्येक नानात्ववाली वस्तु इंगित कर रही है कि उसका उद्भव एक ही तत्व से हुआ है। वह एक तत्व चेतन हो सकता है, या जड़ हो सकता है। चेतन मूल-तत्व को अन्तिम तत्व मानने वाले चेतनाद्वैती हैं, भारतीय दर्शनशास्त्र के वेदान्ती हैं; जड़ मूल-तत्व को अन्तिम तत्व माननेवाले जडाद्वैती हैं, आजकल के भौतिकवादी हैं। भौतिकवादी या जड़ाद्वैती आत्मा, अहंकार, बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ—सभी को जड़ प्रकृति का परिणाम मानते हैं। उनका कहना है कि बुद्धि, मन आदि सब शरीर के धर्म हैं, आत्मा तो है ही नहीं, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि जब मनुष्य का मस्तिष्क बिगड़ जाता है, या सिर में चोट लग जाती है, तब मानसिक शक्ति नष्ट हो जाती है। इसका यही अर्थ हो सकता है कि बुद्धि, मन आदि प्रकृति के, शरीर के धर्म हैं, इसी लिए कर्ता, भोक्ता प्रकृति है, शरीर है, आत्मा है ही नहीं, इसलिए उसका प्रश्न ही नहीं उठता।

(ख) **सांख्यवाद या प्रकृति-पुरुषवाद**—सांख्यकार कपिल मुनि जड़ाद्वैत या भौतिकवाद को नहीं मानते। वे अहंकार, बुद्धि, मन को जड़ प्रकृति ही के धर्म मानते हैं, परन्तु उनका कहना है जड़ प्रकृति से चैतन्य कीं उत्पत्ति नहीं हो सकती। हमारा अनुभव यह है कि एक प्रकृति है, दूसरा पुरुष है, एक जड़ है, दूसरा चेतन है, एक क्षेत्र है, दूसरा क्षेत्रज्ञ है; जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने ही कन्धों पर नहीं बैठ सकता, उसी प्रकार प्रकृति को जाननेवाला या देखनेवाला जबतक प्रकृति से भिन्न न हो, तब तक वह 'मैं यह जानता हूँ—वह जानता हूँ' इत्यादि भाषा का व्यवहार नहीं कर सकता। इसीलिए सांख्यशास्त्रवालों ने कहा है कि ज्ञाता और ज्ञेय, देखने वाला (द्रष्टा) और देखने की वस्तु (दृश्य) या जड़ प्रकृति को देखने वाला और जड़ प्रकृति —इन दोनों को पृथक्-पृथक् मानना चाहिए। तेरहवें अध्याय में इसी लिए क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का वर्णन किया गया है। अहंकार, बुद्धि, मन आदि आत्मा के धर्म नहीं प्रकृति के धर्म हैं, इसलिए प्रकृति ही कर्ता है, भोक्ता है, आत्मा नहीं। जड़ाद्वैती आत्मा को मानते ही नहीं, बुद्धि, मन आदि शरीर के ही धर्म मानते हैं, इसलिए शरीर को ही कर्ता-भोक्ता मानते हैं; सांख्यवादी आत्मा को मानते हैं, परन्तु बुद्धि, मन आदि को आत्मा का गुण न मान कर प्रकृति का, शरीर का गुण मानते हैं, इसलिए इनका भी कहना यही है कि प्रकृति ही कर्ता-भोक्ता है, आत्मा नहीं: आत्मा तो सिर्फ़ द्रष्टा है। जब हम देह तथा देही, प्रकृति तथा पुरुष, क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के इस भेद को समझ जाते हैं, तब हम यही देखने लगते हैं कि प्रकृति ही भोग रही है, वही कर्म कर रही है, तब हम निस्संग हो जाते हैं।

प्रश्न यह है कि अगर प्रकृति ही कर्ता है, पुरुष कर्ता नहीं है, तो प्रकृति में कर्तृत्व प्रारंभ कैसे हो जाता है? इसका उत्तर सांख्यकार यह देते हैं कि जिस प्रकार लंगड़े और अंधे की जोड़ी होती है, अंधे के कन्धे पर लंगड़ा बैठे तो दोनों एक-दूसरे की सहायता से मार्ग पर चल देते हैं, उसी प्रकार अचेतन प्रकृति और सचेतन पुरुष का संयोग हो जाने से सृष्टि के सब कार्य प्रारंभ हो जाते हैं। जिस प्रकार नाटक की रंगभूमि पर एक ही नटी प्रेक्षकों के मनोरंजनार्थ कभी एक तो कभी दूसरा

स्वाँग बना कर नाचती रहती है, उसी प्रकार पुरुष के लाभ के लिए यह प्रकृति सत्व-रज-तम गुणों की न्यूनाधिकता से अनेक रूप धारण करके उसके सामने नाचती रहती है। प्रकृति के इस नाच को देख कर, मोह से भूल जाने के कारण, जबतक पुरुष इस प्रकृति के कर्तृत्व को स्वयं अपना ही कर्तृत्व मानता रहता है और जबतक वह सुख-दुःख के काल में स्वयं अपने को फँसा रखता है, तब तक उसे मोक्ष नहीं मिलता; परन्तु जिस समय पुरुष को यह ज्ञान हो जाय कि त्रिगुणात्मक प्रकृति भिन्न है और मैं भिन्न हूँ उस समय वह मुक्त ही है (१३–२९, ३०; १४–२०') क्योंकि यथार्थ में पुरुष न तो कर्ता है और न बँधा ही है—यह सब प्रकृति का ही खेल है।

एक प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि जब निर्गुण पुरुष—आत्मा—कुछ भी नहीं कर सकता तब प्रकृति के साथ उसका संयोग हो जाने पर सृष्टि की प्रक्रिया कैसे प्रारंभ हो जाती है? इसका उत्तर सांख्यशास्त्री यह देते हैं कि गाय जिस प्रकार अपने बछड़े के लिए पौस आती है, जैसे लोहे के पास चुंबक लाने से लोहे में आकर्षण आ जाता है, उसी प्रकार प्रकृति के साथ पुरुष के संयोग होने से अचेतन, जड़ प्रकृति अपने सत्व-रज-तम गुणों को पुरुष के सामने फैलाने लगती है।

(ग) **सांख्य तथा गीता की दृष्टि में भेद**—सांख्यशास्त्र के अनुसार हमारा लक्ष्य प्रकृति तथा पुरुष का भेद, क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का पृथक्करण—इतना भर है। जहाँ इनका भेद हुआ वहाँ प्रकृति शान्त होकर बैठ जाती है, और पुरुष प्रकृति के गुणों से मुक्त होकर अपने निर्गुण रूप में आ जाता है। इसी को **कैवल्य पद** कहते हैं। 'कैवल्य'—अर्थात् केवलता, अकेलापन, या प्रकृति के साथ संयोग न होना। सांख्यमत के अनुसार प्रकृति तथा पुरुष—ये दो अनादि तत्व हैं, जीवन का लक्ष्य इन दोनों को अलग कर देना है, इसी का नाम 'कैवल्य' है, 'मोक्ष' है। गीता भी प्रकृति तथा पुरुष—इन दोनों तत्वों को अनादि मानती है, इन दोनों का अलग-अलग ज्ञान हो जाना जीवन का लक्ष्य मानती है, परन्तु सांख्य और गीता में भेद यह है कि जहाँ सांख्य इन दोनों के पृथक्करण तक रुक जाता है, वहाँ गीता इन दोनों तत्वों को स्वतंत्र नहीं मानती। गीता कहती है कि 'प्रकृति' ब्रह्म की अपरा प्रकृति है, 'जीव' ब्रह्म का अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (१५, ७)—और प्रकृति तथा पुरुष के अलग-अलग होने के ज्ञान के बाद जीव का लक्ष्य 'केवलता' में बैठ रहना नहीं, परन्तु ब्रह्म की तरफ़ आरोहण के लिए चल देना है। इससे स्पष्ट है कि गीता सांख्य-शास्त्र से आगे बढ़ गई है।

३. सत्व-रज-तम के संबंध में विनोबा

विनोबा का कथन है, कि आत्मा की गति स्वभावतः ही ऊर्ध्वगामी है, परन्तु जिस तरह किसी वस्तु के साथ कोई भारी वज़न बाँध दिया जाय, तो जैसे वह नीचे खिंचती चली जाती है, उसी तरह शरीर का यह भारी बोझ आत्मा को नीचे खींच ले जाता है। अगर किसी उपाय से देह और आत्मा को हम पृथक् कर सकें तो हमारी प्रगति ऊपर को हो सकती है।

सब जीवों की, सारे चराचर की जो प्रकृति है उसमें तीन गुण हैं। जिस तरह आयुर्वेद में कफ, पित्त, वात हैं, उसी तरह प्रकृति में सत्व, रज, तम ये तीन गुण भरे हुए हैं। सब जगह इन तीन गुणों का मसाला मौजूद है, कहीं कम, कहीं ज्यादा। जब इन तीनों से आत्मा को अलग कर लेंगे तभी देह से आत्मा को अलग किया जा सकेगा। देह से आत्मा को अलग करने का तरीका है इन तीन गुणों की परीक्षा करना, इन्हें जान लेना, इन्हें जानकर इनका निग्रह करना। ये तीन गुण हैं: तम, रज, सत्व। तम का स्वरूप है—आलस्य, नींद, प्रमाद; रज का रूप है—तृष्णा-संग, कर्म-संग; सत्व का रूप है—निर्मलता, प्रकाश, सुख-संग, ज्ञान-संग। पिंड में आत्मा के अतिरिक्त अहंकार, बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ—जो-कुछ है सब इन तीन गुणों से बना है; ब्रह्मांड में पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश—जो-कुछ है सब इन तीन गुणों से बना है। गीता का कहना है कि व्यक्ति तथा समष्टि का सब कर्म इन तीन गुणों द्वारा हो रहा है, आत्मा द्वारा नहीं—इसलिए ये गुण ही कर्ता हैं, आत्मा कर्ता नहीं, द्रष्टामात्र है। विनोबा ने इन तीनों गुणों का निम्न वर्णन किया है :—

तमोगुण—आलस्य, निद्रा, प्रमाद

(क) **आलस्य**—व्यष्टि में हम क्या देखते हैं? कोई काम करना है, परन्तु आलस्य के कारण हम नहीं करते। शरीर मोटा होता जाता है, डाक्टर कहते हैं शारीरिक श्रम करो, परन्तु हम हैं कि लोथ-की-लोथ पड़े रहते हैं। समष्टि में हम क्या देखते हैं? हम लोग चाहते हैं कि एकदम ज्यादा कमा लें ताकि बुढ़ापे में काम करना न पड़े। बुढ़ापे में तो आदमी को अधिक अनुभव होने के कारण और अधिक क्रियाशील हो जाना चाहिए, परन्तु हम बुढ़ापे में आराम से पड़े रहना चाहते हैं। लोग चाहते हैं कि काम न करना पड़े, आराम मिले, यही कारण है कि एक तरफ़ समाज में पूँजीपति वर्ग पैदा हो गया है जो किसी प्रकार का काम नहीं करता, जिस पर ज़ंग चढ़ गया है, जो समाज के लिए निरुपयोगी है, दूसरी तरफ़ मज़दूर-वर्ग पैदा हो गया है जो काम करता-करता घिस गया है, परन्तु जो कभी हड़ताल करता है, कभी 'काम-रोको' आन्दोलन करता है। आलस्य शरीर का तथा मन का तामसिक गुण है—इसे छोड़ना होगा।

(ख) **निद्रा**—तमोगुण का दूसरा परिणाम निद्रा है। हम जीवन का आधा समय निद्रा में बिता देते हैं, प्रातःकाल ७–८ बजे तक बिस्तर में पड़े ऊँघते रहते हैं। निद्रा का महत्व लम्बाई-चौड़ाई पर नहीं है। बिछौना कितना लम्बा था, उस पर मनुष्य कितनी देर तक पड़ा रहा, इस बात पर नींद अवलंबित नहीं है। कुँआ जितना गहरा होगा उतना ही उसका पानी मीठा और शीतल होगा; मन जितना चंचल होगा उतना ही अध्ययन बेकार होगा। यही बात नींद की है। यह गहरी होनी चाहिए, चंचल न होकर निःस्वप्न होनी चाहिए। शरीर थक कर जब चूर हो जाता है तब बिस्तर पर पड़ते ही मनुष्य मुर्दे की तरह पड़ जाता है। **शेक्सपीयर** ने कहा है: 'राजा के सिर पर मुकुट है, परन्तु सिर में चिंता है, उसे नींद नहीं

आती।' निद्रा मेरा-आप का और समाज के हर व्यक्ति का तामसिक गुण है, परन्तु इसे जीतना होगा। इसे जीतने का अर्थ है अच्छी, गहरी स्वास्थ्यकर नींद लेना, घंटों बिस्तर में सिर्फ़ ऊँघते न रहना।

(ग) **प्रमाद**—तमोगुण का तीसरा दोष प्रमाद है। प्रमाद का अर्थ है—असावधानता, विस्मृति। व्यष्टि में हम क्या देखते हैं? जब कोई हमारा निजी काम बिगड़ जाता है हम कह देते हैं: 'मैं सावधान नहीं रहा, भूल गया'। समष्टि में भी हमने दूसरे का काम नहीं किया, ऑफ़िस का काम पूरा करने से रह गया। क्यों रह गया? इस सब का कारण प्रमाद है, तमोगुण है। हम अपने समय का कोई हिसाब नहीं रखते, जो काम सामने दीखा कर लिया, बाकी का हमारी बला जाने। व्यक्ति को सतत सावधान रहना चाहिए, विचारशील, क्रियाशील रहना चाहिए; समाज को भी विचारशील तथा क्रियाशील रहना चाहिए। आज हमारे समाज में जो रूढ़ियाँ समाज-रूपी वृक्ष की जड़ों को घुन की तरह खाये जा रही हैं उनका कारण सामाजिक तमोगुण है, सामाजिक प्रमाद है।

श्री विनोबा का कहना है कि तमोगुण को जीतने का उपाय शारीरिक श्रम करना तथा हर बात में विचारशील एवं सावधान रहना है।

रजोगुण—तृष्णा-संग तथा कर्म-संग

रजोगुण तमोगुण का ही दूसरा पहलू है। तमोगुण से रजोगुण और रजोगुण से तमोगुण की प्राप्ति होती है। जहाँ एक है वहाँ दूसरा आया ही समझिये। व्यष्टि में जब शरीर बहुत सो चुकता है तब वह हलचल करने लगता है, जब बहुत दौड़-धूप कर चुकता है तब बिस्तर पर पड़ना चाहता है। फुटबाल का जन्म जैसे चारों ओर से ठोकरें खाने के लिए है, वैसे ही मनुष्य का जन्म रजोगुण और तमोगुण की ठोकरें खाने में ही बीतता है। समष्टि में समाज भी जब चिर निद्रा ले चुकता है तब जाग उठता है, पद-दलित राष्ट्र हिलने-डुलने लगते हैं; जो राष्ट्र उन्नति के उच्च शिखर पर बैठे होते हैं नीचे खिसकने लगते हैं। तमोगुण और रजोगुण का यह चक्र व्यष्टि तथा समष्टि में चला करता है। रजोगुण के दो प्रधान लक्षण हैं—तृष्णा तथा कर्म।

(क) ***तृष्णा या लालसा***—नाना प्रकार के कर्म करने की इच्छा को गीता ने तृष्णा-संग कहा है, यह लालसा का ही दूसरा नाम है। व्यष्टि तथा समष्टि दोनों इस लालसा से ग्रसे हुए हैं। व्यक्ति की इच्छाओं का कोई अन्त नहीं। पैदल चलते हैं तो साइकल चाहिए, साइकल है तो स्कूटर चाहिए, स्कूटर है तो मोटर चाहिए, मोटर है तो ब्यूक गाड़ी चाहिए। समाज की इच्छाओं का भी कोई अन्त नहीं। प्रत्येक देश एक-दूसरे से बढ़ जाना चाहता है। दूसरों ने एटम-बम बनाया तो हम भी क्यों न बनायें, एटम-बम बनाया तो हाईड्रोजन-बम बनायें। रजोगुण में शान्ति नहीं, अशान्ति है; लालसा व्यक्ति तथा समाज को बेचैन बनाये रखती है; व्यक्ति लड़ते-झगड़ते हैं, देश तथा समाज युद्ध पर आमादा हो जाते हैं।

(ख) कर्मासक्ति—रजोगुण का दूसरा दोष कर्म करने में अपार आसक्ति है। छोटा बच्चा जैसे एक कतरन को लेकर उसे फाड़ता है, फिर बनाता है, फिर फाड़ता है—ऐसे निरर्थक दौड़-धूप करने की प्रवृत्ति व्यक्ति तथा समाज में रजोगुण के कारण पायी जाती है। पर्वत के शिखर पर से गिरने वाला पानी यदि विविध दिशाओं में बहने लगे तो फिर वह कहीं का नहीं रहता, सारा-का-सारा बेकार हो जाता है। यदि वही एक दिशा में बहेगा तो आगे चलकर एक नदी बन जायगा, उसमें एक शक्ति उत्पन्न होगी।

श्री विनोबा का कहना है कि रजोगुण को जीतने का उपाय स्वधर्म का पालन करना, अपनी मर्यादा में बने रहना है। रजोगुण के प्रभाव से मनुष्य विविध धंधों में, विविध कार्यों में टाँग अड़ाता है, ऐसे कार्यों में जो उसके स्वधर्म के अनुकूल नहीं होते, इसीलिए किसी में भी सफल न होने के कारण अशान्त, चंचल बना रहता है। जब हम स्वधर्म में मग्न रहने लगते हैं तब रजोगुण फीका पड़ जाता है, क्योंकि तब चित्त एकाग्र रहने लगता है। वह स्वधर्म छोड़कर कहीं जाता ही नहीं, इससे चंचल रजोगुण का सारा ज़ोर ढीला पड़ जाता है। नदी जब शान्त और गहरी होती है तब कितना ही पानी उसमें बढ़ आये, वह उसे अपने पेट में समा लेती है। स्वधर्म में शक्ति लगा दोगे, तो फिर रजोगुण की दौड़-धूप करनेवाली वृत्ति समाप्त हो जायगी। लगेगा, मानो आपने चंचलता का मुँह ही कुचल दिया। यह रीति है रजोगुण को जीतने की।

सत्त्वगुण—निर्मलता, प्रकाश, सुख-संग, ज्ञान-संग

तमोगुण और रजोगुण के चले जाने पर शुद्ध सत्त्व गुण रह जाता है। तमोगुण मलिन है, रजोगुण पूरी तरह मलिन नहीं है, परन्तु उसमें मलिनता आ जाती है, सत्त्वगुण निर्मल है; तमोगुण में अन्धकार है, रजोगुण में धुंधलापन है, सत्त्वगुण में प्रकाश है; तमोगुण में दुःख है परन्तु उसकी प्रतीति नहीं है, रजोगुण में निरा दुःख है, सत्त्वगुण में सुख है, प्रसाद है, प्रसन्नता है; तमोगुण में गाढ़ अज्ञान है, रजोगुण में संशय है, सत्त्वगुण में ज्ञान है, निश्चय है। तमोगुण तथा रजोगुण को हमने जीतना है, सत्त्वगुण को प्राप्त करना है, परन्तु गीता कहती है कि हमारा अन्तिम लक्ष्य सत्त्वगुण को भी जीतना है।

तमोगुण को शारीरिक-श्रम तथा सावधानी से, रजोगुण को स्वधर्म में, मर्यादा में बने रहने से जीता जाता है, तो सत्त्वगुण को कैसे जीता जाता है?

पहला प्रश्न तो यह है कि सत्त्वगुण को जीतने की आवश्यकता क्या है? सत्त्वगुण तो उपादेय है, इसे क्यों जीता जाय? श्री विनोबा कहते हैं कि सत्त्वगुण का पहला दोष अहंकार है, अभिमान है, घमंड है; दूसरा दोष शुभ कार्यों में आसक्ति है। सत्त्वगुणी समझने लगता है कि उसने वह आत्म-प्रसाद पाया, जो किसी के पास नहीं है। यह घमंड सत्त्वगुण को ले डूबता है। वह शुभ गुणों में ऐसा आसक्त हो जाता है कि वे भी उसके सुख-दुःख के कारण बनने लगते हैं।

तो फिर सत्त्वगुण को कैसे जीतें ? सत्त्वगुण के दोनों दोषों को जीतने के दो उपाय हैं—सतत-अभ्यास तथा आसक्ति-त्याग।

(क) सतत-अभ्यास—जिस बात को हम लगातार करते हैं उसका अभिमान नहीं होता। सिंह को अपने शौर्य का, सूर्य को अपने प्रकाश देने का अभिमान नहीं होता, वह उनका स्वाभाविक गुण है। साँस हम चौबीसों घंटे लेते हैं, परन्तु हर किसी को कहते नहीं फिरते कि हम साँस लेते हैं। जिस बात को हम लगातार नहीं करते उसका अभिमान होता है। जब किसी बीमार को पन्द्रह दिन नींद न आयी हो और फिर ज़रा-सी नींद आ जाये तो वह सब से कहता है : 'कल तो भाई झपकी लगी थी।' रात के घने अन्धकार में देखिये जूगनू की ऐंठ। बीच-बीच में लुक-लुक करता है, फिर रुकता है, फिर लुक-लुक करता है, परन्तु उसका प्रकाश यदि सतत रहे तो उसकी ऐंठ नहीं रहेगी। सत्त्वगुणी वृत्ति का अभ्यास करने से उसका अभिमान नहीं रहता।

(ख) आसक्ति-त्याग—श्री विनोबा कहते हैं कि सत्त्वगुण का पहला दोष अहंकार है, तो दूसरा दोष आसक्ति है। 'अहंकार' और 'आसक्ति'—ये दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। 'अहंकार' चले जाने पर भी 'आसक्ति' बनी रह सकती है। उदाहरणार्थ, साँस लेने का अहंकार तो हममें नहीं होता, परन्तु साँस के बिना हम पाँच मिनट भी नहीं रह सकते। यहाँ 'अहंकार' नहीं है परन्तु 'आसक्ति' है। सत्त्वगुणी भूत-दया करता है, समाज-सेवा करता है, परन्तु भूत-दया और समाज-सेवा में ही इतना आसक्त हो जाता है कि यही उसके बन्धन के कारण बन जाते हैं। जैसे सतत-अभ्यास से अहंकार को जीता जाता है, वैसे 'मैं कुछ नहीं कर रहा, वही सब कर रहा है'—'मैं कर्ता नहीं, द्रष्टा हूँ, वही कर्ता है, भोक्ता है'—इस प्रकार सत्वगुण से प्राप्त फल को ईश्वरार्पण कर देने से आसक्ति पर विजय प्राप्त हो जाती है। आम का पेड़ अपना फल खुद नहीं खाता; उपयोग की अपेक्षा त्याग अधिक मधुर है।

तम-रज-सत्त्व—इन तीन गुणों तथा त्रिगुणातीत अवस्था की विनोबा ने जो व्याख्या की है वह हमने ऊपर दी है।

४. निस्त्रैगुण्यता के विषय में श्री अरविंद के विचार

चतुर्दश अध्याय में कहा गया है कि सृष्टि सत्व-रज-तम—इन तीन गुणों से बनी है, आत्मा का उद्देश्य तीनों गुणों को अतीत कर जाना है—**'गुणान् एतान् अतीत्य त्रीन्'** (२०)। यह पूछा गया है कि किस प्रकार इन तीनों गुणों को अतीत किया जा सकता है—**'कैः लिंगैः त्रीन् गुणान् एतान् अतीतः भवति'** (२१)। २५वें श्लोक में गुणातीत का वर्णन करके कहा गया है—**'गुणातीतः स उच्यते'**—ऐसे व्यक्ति को गुणातीत कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि गीता आत्मा को त्रिगुणातीत अवस्था पर लाना चाहती है। 'त्रिगुणातीत' का क्या अर्थ है ?

(क) अपरा प्रकृति तथा परा प्रकृति—हम सातवें अध्याय में अपरा तथा परा प्रकृति के संबंध में श्री अरविंद के विचार लिख आये हैं। श्री अरविंद का

कहना है कि गीता इस सृष्टि को ब्रह्म का ही विस्तार मानती है। ब्रह्म के दो रूप हैं—'अपरा-प्रकृति' (Lower nature) तथा 'परा-प्रकृति' (Higher nature)। सांख्य प्रकृति को ब्रह्म का रूप नहीं मानता, वह प्रकृति तथा पुरुष को स्वतंत्र सत्तावान् मानता है; गीता प्रकृति को स्वतंत्र नहीं मानती, ब्रह्म का ही निम्न रूप, अपर रूप मानती है। श्री अरविंद का कहना है कि गीता के अनुसार ब्रह्म के दो रूप हैं—अपरा प्रकृति तथा परा प्रकृति। अपरा प्रकृति तो यही संसार है, परा प्रकृति उसका अनादि, निर्गुण रूप है। अपरा तथा परा के अतिरिक्त एक तीसरा तत्व है जिसे 'जीव' कहते हैं। यह जीव गीता के अनुसार ब्रह्म का ही अंश है—**'ममैवांशः जीवभूतः'** (१५–७)—मेरा ही अंश जीव हुआ-हुआ है। यह जीव ब्रह्म का अंश है, अर्थात् परा-प्रकृति का अंश है। अंश तो वह 'परा-प्रकृति' (Higher nature) का है, परन्तु बंधा हुआ वह 'अपरा-प्रकृति' (Lower nature) के साथ है।

जीव के 'अपरा-प्रकृति' (Lower nature) के साथ बँधे होने का क्या अर्थ है? इसका अर्थ यह है कि 'अपरा-प्रकृति' के जो सत्व, रज, तम—ये तीन गुण हैं, उनके साथ जीव बँधा हुआ है। असल में तो वह ब्रह्म की 'परा-प्रकृति' का अंश है, जब वह 'परा-प्रकृति' का अंश है तब उसे 'अपरा' के बन्धन से अपने को छुड़ा कर 'परा' के साथ मिलने का प्रयत्न करना है—इसी का नाम 'पुरुषार्थ' है। अपरा त्रिगुणात्मक है, परा त्रिगुणातीत है। जब जीव ने अपरा से अपने को छुड़ाकर परा से मिलना है तब यही तो कहना होगा कि उसने त्रिगुणातीत होना है। श्री अरविंद के कथनानुसार त्रिगुणातीत की इसी अवस्था को प्राप्त करने पर जीव को **'कूटस्थ'** कहा जाता है।

(ख) त्रिगुणातीत होना साधर्म्य है, अमरता है, परा-सिद्धि है—त्रिगुणातीत का अर्थ हुआ तीन गुणों की प्रकृति से निकल कर ब्रह्म के अंश जीव का ब्रह्म के साथ मिल जाना। इसी को गीता ने 'साधर्म्य' कहा है। देह में ब्रह्म भी है, जीव भी है, परन्तु ब्रह्म देह के सत्व-रज-तम—इन तीन गुणों से बँधा हुआ नहीं है, जीव इनसे बँधा हुआ है। जीव ब्रह्म के साधर्म्य को नहीं पा रहा। क्यों नहीं पा रहा? क्योंकि उसने अपने को सत्व, रज, तम में बाँध लिया है। जीव का अपने को इनसे छुड़ा लेना ब्रह्म की सधर्मता को पा लेना है। इसी स्थिति को गीता ने **'मम साधर्म्यम् आगताः'** (१४–२) कहा है। इस 'साधर्म्य' को पा लेने का अर्थ क्या हुआ? इसका अर्थ हुआ—जीव का 'अपरा' से निकल कर 'परा' की तरफ़ पीछे को लौट जाना, अपने स्वरूप को लौट जाना, अपरा-प्रकृति में भटकना छोड़ देना।

श्री अरविंद कहते हैं कि साधारण लोग आत्मा के अमर होने का अर्थ यह समझते हैं कि शरीर मरणधर्मा है, आत्मा शरीर के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता—यह आत्मा की अमरता का अर्थ है। श्री अरविंद कहते हैं कि गीता जब आत्मा की अमरता की बात कहती है तब वह इतनी साधारण-सी बात नहीं

कहती, 'अमरता'-शब्द का प्रयोग करते हुए गीता एक असाधारण बात कहती है। वह क्या है? गीता कहती है कि जो साधक अपरा-प्रकृति (Lower nature) से अपना संबंध काट कर परा-प्रकृति (Higher nature) के साथ अपना संबंध जोड़ लेता है वह अमर है, उसको सर्ग और प्रलय व्यथित नहीं करते—**'सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च'** (१४–२)। आत्मा अमर तो सब का ही है, उस प्रकार की अमरता का यहाँ वर्णन नहीं है; यहाँ वर्णन उस अमरता का है जो अपरा-प्रकृति से संबंध तोड़कर परा-प्रकृति के साथ संबंध जोड़ने से उत्पन्न होती है। इसी अवस्था को गीता ने **'परा-सिद्धि'** (१४–१) कहा है। श्री अरविंद की परिभाषा में यह 'अतिमानस' (Supramental) के 'अवतरण' (Descent) तथा मानव के 'रूपान्तरण' की अवस्था है।

५. 'समदुःखसुखः स्वस्थः' आदि (१४-२४, २५) का तत्त्वार्थ

गीता में जगह-जगह कहा है—'सुख-दुःख में एक-समान रहे'। दूसरे अध्याय के ३८वें श्लोक में कहा है: **'सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ'**; दूसरे अध्याय के ६४वें श्लोक में कहा है: **'रागद्वेषवियुक्तैस्तु'**; चौथे अध्याय के १०वें श्लोक में कहा है: **'वीतरागभयक्रोधाः'**; चौदहवें अध्याय के २४-२५ श्लोक में कहा है: **'समदुःखसुखः स्वस्थः'**। इन सबका एक ही अर्थ है, और वह यह कि अनुकूल परिस्थिति हो, प्रतिकूल परिस्थिति हो—मन का संतुलन नहीं खोना चाहिए—**'समत्वं योग उच्यते'**—सब परिस्थितियों में मन एक-समान रखना चाहिए, यही योग है।

प्रश्न यह है कि इन सब श्लोकों में गीता ने जो-कुछ कहा है, वह क्या संभव है? श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह संभव है। कैसे? दुःख क्यों होता है? दुःख हमारे दुष्कर्मों का परिणाम है। अगर हम समझ लें कि कारण-कार्य का नियम अखंड है, हमने जो किया था वह हम भोग रहे हैं, जो हो रहा है वह टल नहीं सकता, तब हमारे पास सिवाय बर्दाश्त करने के दूसरा चारा रहता ही कौन-सा है? हम दुःखी इसीलिए होते हैं क्योंकि हम समझते हैं कि यह दुःख टल सकता है, अगर हम अन्तःकरण से समझ लें कि यह तो हमारा ही लाया हुआ है, यह तो कारण-कार्य नियम का अटल परिणाम है, अपरिहार्य है, तब मन की दशा बदल जाती है, तब मनुष्य दुःख से दुःखी नहीं होता, उसे सहने के लिए तय्यार हो जाता है, वीतराग-द्वेष हो जाता है, समदुःख-सुख हो जाता है, समत्व की अवस्था में आ जाता है। तब, यह जानकर कि यह मेरे ही कर्मों का परिणाम है, मनुष्य दुःख को भी सुख की तरह, हानि को भी लाभ की तरह, अपमान को भी मान की तरह, पराजय को भी विजय की तरह ही मानता है।

पन्द्रहवाँ अध्याय

पुरुषोत्तम-योग

यह हम अनेक स्थानों पर लिख आये हैं कि गीता को तीन भागों में बाँटा जाता है—कर्म-योग, भक्ति-योग तथा ज्ञान-योग। 'योग' का अर्थ यहाँ 'मार्ग' है। गीता ने सब मार्गों का समन्वय किया है, परन्तु प्रत्येक मार्ग पर छः-छः अध्यायों का एक-एक षट्क भी बनाया है। तेरहवें अध्याय से ज्ञान-योग की चर्चा चल रही है। उस अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, प्रकृति-पुरुष—इन दो नामों से देही को देह से, आत्मा को शरीर से अलग समझाने का प्रयत्न किया गया है। उसी विचार-धारा को आधार बना कर पंद्रहवें अध्याय में प्रकृति को 'क्षर' तथा पुरुष को 'अक्षर' कहा गया है, इन दोनों के अतिरिक्त, इनका नियन्त्रण करने वाली सत्ता को 'पुरुषोत्तम' कहा गया है, 'परमात्मा' कहा गया है। क्षर-अक्षर-पुरुषोत्तम—इनकी व्याख्या भिन्न-भिन्न टीकाकार भिन्न-भिन्न तौर से करते हैं, इसका निर्देश हम उपसंहार में देंगे, परन्तु यहाँ इतना लिख देना पर्याप्त है कि गीता ने क्षर तथा अक्षर—इन दोनों को 'पुरुष' का नाम दिया है, परमात्मा को 'पुरुषोत्तम' का नाम दिया है। इस प्रकार ये तीन पुरुष हो जाते हैं—दो तो 'क्षर' तथा 'अक्षर', तीसरा पुरुष है—'पुरुषोत्तम'। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का वर्णन क्षर-अक्षर—इन दो पुरुषों का वर्णन है। वह तेरहवें तथा चौदहवें अध्याय में हो चुका; पन्द्रहवें अध्याय में तीसरे पुरुष—'पुरुषोत्तम' का वर्णन करते हुए उसका क्षर-अक्षर से संबंध स्पष्ट किया गया है।

[संसार-वृक्ष का 'अश्वत्थ' के रूप में आध्यात्मिक वर्णन]

श्री भगवान् ने कहा : (सृष्टि के तत्व की गहराई को जानने वाले) बतलाते हैं कि एक 'अश्वत्थ' वृक्ष है, पीपल

श्री भगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

ऊर्ध्वमूलम्[1]—ऊपर की ओर जड़ों को किये हुए; **अधःशाखम्**[2]—नीचे की ओर शाखाओं को किये हुए; **अश्वत्थम्**[3]—पीपल का वृक्ष;

का पेड़ है। इसकी जड़ें ऊपर की ओर हैं, शाखाएँ नीचे की ओर हैं। यह पेड़ सनातन काल से चला आ रहा है– 'अव्यय' है। इस पेड़ के पत्ते वेदों के छन्द हैं। इस वृक्ष को जिसने जान लिया वह पुरुष सच्चा वेद-वेत्ता है॥१॥

इस (विश्व-वृक्ष) की शाखाएँ नीचे और ऊपर को फैली हुई हैं। इस की शाखाओं में विषयों की कोंपलें फूट रही हैं। ये कोंपलें और डालियाँ प्रकृति के सत्त्व, रज, तम– इन गुणों की (खाद से दिनों-दिन) बढ़ रही हैं। (जैसे इसकी जड़ें ऊपर की ओर हैं वैसे) इसकी कुछ जड़ें नीचे की ओर भी फैली हुई हैं। (इन्हीं के द्वारा) मनुष्य-लोक में कर्मों के अनुसार मानव का बन्धन होता है ॥२॥

(जिस प्रकार के संसार-वृक्ष का यह वर्णन किया गया) ऐसे रूप वाला (संसार-वृक्ष) यहाँ कहीं मिलता तो

प्राहुः[5]–कहते हैं; **अव्ययम्**[4]–अविनश्वर; **छन्दांसि**[7]–वेदों के छन्द; **यस्य**[6]–जिसके; **पर्णानि**[8]–पत्ते हैं; **यः**[10]–जो; **तम्**[9]–उसको; **वेद**[11]–जानता है; **सः**[12]–वह; **वेदवित्**[13]–वेद को जानने वाला है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

अधः[5]–नीचे; **च**[6]–और; **ऊर्ध्वम्**[7]–ऊपर; **प्रसृताः**[8]–फैली हुई हैं; **तस्य**[1]–उसकी; **शाखाः**[4]–शाखाएँ; **गुणप्रवृद्धाः**[2]–सत्त्व-रजः-तम–– इन गुणों से बढ़ी हुई; **विषयप्रवालाः**[3]–इन्द्रिय-विषयों की कोंपलों वाली; **अधः**[12]–नीचे; **च**[13]–और; **मूलानि**[11]–जड़ें; **अनुसंततानि**[14]–फैली हुई हैं; **कर्मानुबन्धीनि**[10]–कर्म के अनुसार बन्धन करने वाली; **मनुष्यलोके**[9]–मनुष्य-लोक में।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥

न[5]–नहीं; **रूपम्**[2]–रूप; **अस्य**[1]–इसका; **इह**[4]–इस संसार में; **तथा**[3]–वैसा; **उपलभ्यते**[6]–मिलता है; **न**[10]–नहीं; **अन्तः**[11]–अन्त;

नहीं है, न उसका (ऊपर की ओर) आदि मिलता है, न (नीचे की ओर) अन्त मिलता है, न (वह कहीं) प्रतिष्ठित अर्थात् जमा हुआ दिखाई देता है। (परन्तु) फिर भी यह अश्वत्थ-वृक्ष गहराई तक पहुँची जड़ों वाला है। इसको 'अनासक्ति' की दृढ़ तलवार से काट कर ।।३।।

फिर उस स्थान को खोज निकालना चाहिये जहाँ पहुँच कर फिर लौटा नहीं जाता। (इस प्रकार का साधक यह संकल्प करे कि) मैं उस आदि-पुरुष की ओर जाता हूँ जिससे विश्व की यह पुरातन धारा बह निकली है ।।४।।

(क) **इन श्लोकों का ब्रह्माण्ड-परक अर्थ**—इन श्लोकों में संसार को पीपल के वृक्ष से उपमा दी गई है। तीसरे श्लोक में यह भी कह दिया है कि ऐसा वृक्ष संसार में कोई दीखने में तो नहीं आता, परन्तु न दीखने पर भी उपमा का यह वृक्ष ऐसा विशाल है कि इसकी जड़ ऊपर दूर तक पहुँची हुई है। अन्य वृक्षों की जड़ नीचे को होती हैं, टहनियाँ ऊपर को, इसकी टहनियाँ नीचे को हैं, जड़ ऊपर को। इस उल्टे वृक्ष का क्या अर्थ है? अश्वत्थ-वृक्ष प्रकृति का सूचक है। प्रकृति की जड़, जहाँ से यह प्राण लेती है, ब्रह्म में है। ब्रह्म ऊपर है, इसलिए प्रकृति-रूपी अश्वत्थ-वृक्ष की जड़ अगर ब्रह्म में है, तो स्पष्ट है यह वृक्ष उल्टा है। ऊपर

न[10]—नहीं; **च**[9]—और; **आदिः**[8]—आदि; **न**[13]—नहीं; **च**[12]—और; **संप्रतिष्ठा**[11]—स्थिर स्थिति; **अश्वत्थम्**[17]—पीपल के वृक्ष को; **एनम्**[15]—इसको; **सुविरूढमूलम्**[16]—गहराई तक पहुँची हुई जड़ों वाले; **असंगशस्त्रेण**[19]—सङ्ग-रहितता अर्थात् अनासक्ति के शस्त्र से; **दृढेन**[18]—प्रबल, मजबूत; **छित्त्वा**[20]—काटकर।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ।।४।।

ततः[1]—उस कारण से; **पदम्**[3]—स्थान, गति को; **तत्**[2]—उस; **परिमार्गितव्यम्**[4]—ढूंढना चाहिये; **यस्मिन्**[5]—जिसमें; **गताः**[6]—पहुँचे हुए; **न**[8]—नहीं; **निवर्तन्ति**[9]—लौटते हैं; **भूयः**[7]—फिर; **तम्**[15]—उसे; **एव**[16]—ही; **च**[10]—और; **आद्यम्**[17]—आदि में उत्पन्न; **पुरुषम्**[18]—पुरुष को; **प्रपद्ये**[19]—ओर जाता हूँ; **यतः**[11]—जहाँ से; **प्रवृत्तिः**[13]—प्रवृत्ति; **प्रसृता**[14]—बह निकली है, फैली है; **पुराणी**[12]—पुरातन।

का क्या अर्थ है ? क्या ब्रह्म आसमान में है ? नहीं, ऊपर का अर्थ है—उत्कृष्ट, इस संसार से परे। ठीक ऐसे जैसे हम 'ऊपर के वर्ग'-शब्द का प्रयोग करते हैं। 'ऊपर के वर्ग' किसी के सिर पर थोड़े ही बैठे होते हैं, 'ऊपर के'—अर्थात्, उच्च-श्रेणी के। संसार-रूपी इस अश्वत्थ-वृक्ष की जड़ पर-ब्रह्म में है, वह उत्कृष्ट है, ऊपर है, इसलिए यह वृक्ष मानो उल्टा लटका हुआ है। इस वृक्ष की टहनियाँ नीचे को हैं। जब वृक्ष उल्टा लटका दिया तब टहनियाँ नीचे को तो हो ही गईं। संसार-वृक्ष की टहनियाँ क्या हैं ? प्रकृति से महान्, महान् से अहंकार, फिर पंचतन्मात्राएँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच महाभूत, मन—ये सब इस वृक्ष की टहनियाँ हैं। ये टहनियाँ और इनमें से हर टहनी सत्त्व, रज, तम—इन गुणों की खाद पाकर बढ़ती है। टहनियों पर फूट रही कोंपलें संसार के शब्द, रस, रूप, गंध, स्पर्श—ये पाँच विषय हैं। आत्मा को पाने के लिए इसी वृक्ष की जड़ों को ज्ञान के खड्ग से काटना है।

दूसरे श्लोक में कहा है कि मानुष-जन्म में जब इस रूपक को घटाया जाता है तब कर्मों के बन्धन के कारण ये टहनियाँ नीचे-ऊपर दोनों तरफ़ जाती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि मानुष-जन्म में कर्म के बन्धनों के कारण मनुष्य उच्च योनि में भी जा सकता है, निम्न योनि में भी जा सकता है। वृक्ष की टहनियाँ जन्मों की योनियाँ हैं। इस उल्टे वृक्ष पर नीचे से ऊपर चढ़कर, विषयों, इन्द्रियों के सहारे मूल प्रकृति में जाकर जब हम प्रकृति की जड़ को पकड़ कर उसे काट डालते हैं तब ब्रह्म में पहुँच जाते हैं क्योंकि इस वृक्ष की जड़ नीचे नहीं, ऊपर है, ब्रह्म में है।

संसार के इस वृक्ष को 'अश्वत्थ' कहा है। 'अश्वत्थ' का अर्थ है—'अ'—नहीं, 'श्वः'—कल, 'स्थ'—स्थिर रहने वाला—जिसके कल तक भी टिकने का भरोसा न हो वह 'अश्वत्थ'। यद्यपि यह कल तक भी नहीं टिकता तो भी यह सनातन है, धारावाहिक रूप में लगातार चल रहा है—इसलिए इसे 'अश्वत्थ' तथा 'अव्यय' इन विरोधी गुणों का कह दिया है। सृष्टि का व्यक्त रूप विनाशी है, अव्यक्त रूप अव्यय है, अविनाशी है—यही अर्थ है 'अश्वत्थ' और 'अव्यय' का।

(ख) **इन श्लोकों का पिंड-परक अर्थ**—श्री **सातवलेकर** ने इन श्लोकों को पिंड पर भी घटाया है। उनका कथन है कि हर-एक मनुष्य के शरीर में 'स्नायु-संस्थान' (Nervous System) है। ऊपर मस्तक में इसकी जड़ें हैं और समस्त शरीर में इस 'स्नायु-संस्थान' की छोटी-मोटी शाखाएँ फैली हैं। मस्तक ऊपर है जहाँ स्नायु-संस्थान की जड़ है, स्नायु-जाल नीचे सारे शरीर में फैला हुआ है, इसीलिए यह उल्टा लटका हुआ वृक्ष है। जैसे ब्रह्मांड में प्रकृति का सब कार्य-कलाप सत्त्व-रज-तम—इन तीन गुणों से चलता है, वैसे पिंड में भी इन तीन गुणों द्वारा ही बुद्धि तथा मन का व्यापार चलता है। यह नाड़ी-संस्थान विषयों का ज्ञान करता है इसलिए यह कहना भी युक्तियुक्त है कि विषयों की कोंपलें इन नाड़ी रूप टहनियों पर फूट रही हैं। कर्म का इन नाड़ियों से संबंध है ही। इस वृक्ष की टहनियों को छन्द-रूपी पत्तों ने ढका हुआ है। छन्द का अर्थ है—वेद और वेद

का अर्थ है ज्ञान। पिंड में 'अश्वत्थ' वृक्ष का अर्थ है—'अश्व-स्थ'—जिसमें घोड़े-ठहरते हैं। शास्त्रों में इन्द्रियों को घोड़ा कहा है—**'इन्द्रियाणि हयान् आहुः'**—इसलिए यहाँ 'अश्वत्थ' का अर्थ है—इन्द्रियाँ, यह स्नायु-संस्थान जिसमें इन्द्रिय-रूपी घोड़े बँधे हुए हैं। इस प्रकार जो लोग ब्रह्मांड तथा पिंड से विषयों के साथ बाँधनेवाली वासनाओं की जड़ें काटकर उस आदि-पुरुष तक पहुँच जाते हैं, जहाँ से विश्व की धारा बह निकली है, वे मुक्त हो जाते हैं।

(ग) **इस रूपक की अन्य स्थलों में तुलना**—संसार को वृक्ष की उपमा सिर्फ गीता में ही नहीं दी गई, उपनिषदों में भी की गई है। कठोपनिषद् (६–१) में कहा है :

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते॥

ऋग्वेद में एक वृक्ष पर बैठे दो पक्षियों का वर्णन आया है—**'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'**—जिनमें से एक तो वृक्ष की टहनी पर बैठा उसके फलों को भोग रहा है, दूसरा द्रष्टा बना उसे देख-भर रहा है। बाइबल में 'Tree of Life' का वर्णन आया है जिसके फल को आदम ने खा लिया और परमात्मा ने इस फल-भोग के कारण उसे पृथ्वी पर जन्म लेने के लिये भेज दिया।

इस प्रकार जो संसार-वृक्ष की वासना-रूपी जड़ों को काट देते हैं, उनके विषय में गीता कहती है :

जो लोग अभिमान और मोह से मुक्त हो गये हैं, जिन्होंने आसक्ति के दोष को जीत लिया है, जो दिन-रात आत्मा में निमग्न हैं, जिनकी सब कामनाएँ शान्त हो गई हैं, जो सुख-दुःख नाम के द्वन्द्वों से मुक्त हो गये हैं, वे उस 'अव्यय'—अविनाशी पद को प्राप्त करते हैं ॥५॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

निर्मानमोहाः[1]—मान और मोह से रहित जन; **जितसङ्गदोषाः**[2]—जीत लिये हैं आसक्ति के दोष जिन्होंने; **अध्यात्मनित्याः**[3]—नित्य (निरन्तर) आत्मा के चिन्तन में लीन; **विनिवृत्तकामाः**[4]—कामनाओं से रहित, शान्त-काम, गत-स्पृहः; **द्वन्द्वैः**[6]—सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से; **विमुक्ताः**[7]—छूटे हुए, रहित; **सुखदुःखसंज्ञैः**[5]—सुख और दुःख नाम वाले; **गच्छन्ति**[12]—प्राप्त करते हैं; **अमूढाः**[8]—मोह से रहित; **पदम्**[11]—पद को, प्राप्तव्य को; **अव्ययम्**[10]—अविनाशी; **तत्**[9]—उसको।

वह 'अव्यय' पद मेरा परम-धाम है। वहाँ पहुँच कर लौट कर नहीं आते। (वहाँ पर-ब्रह्म के कारण स्वतः इतना प्रकाश है कि) न वहाँ सूर्य को प्रकाश देना पड़ता है, न चन्द्र को, न अग्नि को। (ये तो स्वयं उसकी ज्योति से प्रकाशित होते हैं।) ॥६॥

[जीव का वर्णन]

पिछले श्लोकों में प्रकृति का परमेश्वर से संबंध बतलाया, अब आगे के ७ से ११ श्लोकों में जीव का रूप तथा जीव का परमेश्वर से संबंध स्पष्ट करते हुए गीता का कथन है :

मेरा ही एक अंश—'ममैवांशः', इस जीवन के संसार में—'जीवलोके', जीव बन कर—'जीवभूतः', सनातन काल से—'सनातनः' (मौजूद है)। (यह मेरा अंश 'जीव') प्रकृति में रहने वाली पाँचों इन्द्रियों और मन—इन छः को अपनी ओर खींच लेता है (और यह जन्म हो जाता है) ॥७॥

न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम ॥६॥

न[2]—नहीं; **तत्**[1]—उसको; **भासयते**[4]—प्रकाशित करता है; **सूर्यः**[3]—सूर्य; **न**[5]—नहीं; **शशाङ्कः**[6]—चन्द्रमा; **न**[7]—नहीं; **पावकः**[8]—अग्निः; **यद्**[9]—जिसको; **गत्वा**[10]—जा कर, पहुँच कर; **न**[11]—नहीं; **निवर्तन्ते**[12]—लौटते हैं; **तत्**[13]—वह; **धाम**[16]—स्थान, पद; **परमम्**[15]—परम; **मम**[14]—मेरा है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥

मम[3]—मेरा; **एव**[4]—ही; **अंशः**[6]—अंश; **जीवलोके**[1]—इस जीव लोक में, देह में; **जीवभूतः**[2]—शरीरधारी जीव रूप; **सनातनः**[5]—पुरातन; **मनःषष्ठानि**[8]—छठे मन के सहित; **इन्द्रियाणि**[9]—पाँच इन्द्रियों को; **प्रकृतिस्थानि**[7]—प्रकृति में ठहरे हुए; **कर्षति**[10]—खींचता है, अपने साथ ले लेता है।

जब (यह जीव) शरीर धारण करता है (इस जन्म में आता है) या जब यह इस शरीर को छोड़ता है, तब यह इन (छहों को—पाँचों इन्द्रियों और छठे मन को) साथ ले जाता है, ठीक ऐसे जैसे वायु गन्ध को अपने आशय से, अपने उद्‌गम-स्थान से अपने साथ ले जाती है ॥८॥

(जिस समय यह 'जीव' शरीर धारण करके इस जन्म में विराजता है तब) वह कान, आँख, त्वचा, जीभ, नाक और मन का आश्रय लेकर विषयों का सेवन करता है ॥९॥

सात-आठ-नौ—इन तीन श्लोकों में दो महत्वपूर्ण बातें कही गई हैं। एक है—'**ममैवांशः**'; दूसरी है—जीव के लिंग-शरीर की बात। आगे बढ़ने से पहले इन दोनों पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

(क) **ममैवांशः**—टीकाकारों ने गीता के '**ममैवांशः**'—इस पद को बहुत महत्व दिया है। 'अंश' का विचार गीता में १५वें अध्याय के अतिरिक्त ११वें अध्याय के ४२वें श्लोक में भी आया है। वहाँ कहा है : '**विष्टभ्य अहम् इदम् कृत्स्नम् एकांशेन**'—अपने एक अंश से मैंने इस संपूर्ण जगत् को धारण किया हुआ

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाऽप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥

शरीरम्[8]—शरीर को; **यत्**[7]—जो, जिसको; **अवाप्नोति**[9]—प्राप्त करता है; **यत्**[11]—जिसको; **च**[10]—और; **अपि**[6]—भी; **उत्क्रामति**[12]—छोड़ता है; **ईश्वरः**[5]—ईश्वर, समर्थ; **गृहीत्वा**[14]—ग्रहण कर; **एतानि**[13]—इनको; **संयाति**[15]—जाता है; **वायुः**[1]—वायु; **गन्धान्**[3]—गन्धों को; **इव**[4]—जैसे; **आशयात्**[2]—आशय से, मूल उद्‌गम-स्थान से।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

श्रोत्रम्[2]—कान को; **चक्षुः**[3]—नेत्र को; **स्पर्शनम्**[5]—त्वचा को; **च**[4]—और; **रसनम्**[7]—जीभ को; **घ्राणम्**[8]—नाक को; **एव**[12]—ही; **च**[6]—और; **अधिष्ठाय**[11]—आश्रय ले कर; **मनः**[10]—मन; **च**[9]—और; **अयम्**[1]—यह; **विषयान्**[13]—इन्द्रियों के विषयों को; **उपसेवते**[14]—सेवन करता है।

है। यही बात ऋग्वेद के पुरुष सूक्त (१०.९०.३) में कही गई है। वहाँ कहा है: **'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि'**—अर्थात्, उसके एक पाद से, एक अंश से यह विश्व बना है, तीन पाद, तीन अंश उसके द्युलोक में हैं। इसका यह अभिप्राय है कि यह जो चराचर जगत् दीखता है वह तो उसका कुछ ही अंश है, द्युलोक में देखें तो न-जाने यह सृष्टि कहाँ तक चली गई है।

वेद ने कहा, 'सृष्टि' ब्रह्म का एक पाद है, गीता ने कहा 'जीव' ब्रह्म का एक 'अंश' है। 'अंश' का स्पष्टीकरण करते हुए वेदान्त के समर्थक **शंकराचार्य** का कथन है कि जैसे आकाश सर्वव्यापक है, परन्तु घड़े का आकाश, घर के भीतर का आकाश—घटाकाश-मठाकाश—उसके अंश कहे जा सकते हैं, वैसे ब्रह्म का जीव अंश है। इस देह में जो ब्रह्म जीव-रूप में वर्तमान है, वह ब्रह्म का अंश है—**'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः'**। **रामानुज 'ममैवांशः'** की इससे भिन्न व्याख्या करते हैं। वे विशिष्टाद्वैत के समर्थक हैं। वे 'जीव' को परमात्मा का वास्तविक अर्थों में 'अंश' मानते हैं। 'जीव' परमात्मा का 'अंश' है, और उसने भगवान् में मिलना है। रामानुज का कहना है कि तभी तो गीता (१२–८) ने कहा है: **'निवसिष्यसि मयि एव'**—मुक्त होने पर मुझ में ही निवास करेगा। इसी आधार पर भक्तिमार्ग आगे बढ़ता है। श्री **अरविंद** रामानुज की व्याख्या के अनुसार ही जीव को ब्रह्म का सही अर्थों में 'अंश' मानते हैं।

(ख) **लिंग-शरीर**—उक्त तीन श्लोकों में श्री **तिलक** के अनुसार जीव की तीन अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। सातवें श्लोक में बतलाया कि सूक्ष्म या लिंग शरीर क्या है। लिंग शरीर पाँच इन्द्रियों तथा मन के संघात का नाम है। आठवें श्लोक में बतलाया कि लिंग शरीर इस स्थूल देह में कैसे प्रवेश करता है और कैसे इसमें से निकलता है। जैसे वायु गन्ध को लेकर चलता है, वैसे लिंग शरीर मन तथा इन्द्रियों को सूक्ष्म रूप में लेकर पुराने शरीर से निकलता और नये जन्म में प्रवेश करता है। नौवें श्लोक में कहा कि जब लिंग शरीर स्थूल देह धारण कर लेता है तब विषयों का उपभोग कैसे करता है। देह धारण करने के बाद वह कान, आँख, त्वचा, जीभ, नाक और मन का आश्रय लेकर विषयों का सेवन करता है।

यह जीव जो शरीर से निकल जाता है या जो शरीर में आकर स्थित हो जाता है (जन्म लेता है), और प्रकृति के सत्त्व-रज-तम—इन तीन गुणों के सम्पर्क में आकर

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

उत्क्रामन्तम्[1]–निकलते हुए (जीव) को; **स्थितम्**[3]–ठहरे हुए को; **वा**[2]–अथवा; **अपि**[7]–भी; **भुञ्जानम्**[4]–भोग करते हुए को; **वा**[5]–या; **गुणान्वितम्**[6]–सत्त्व आदि गुणों से युक्त को; **विमूढाः**[8]–मूर्ख

(सात्त्विक, राजसिक, तामसिक) भोग भोगता है, उसे मूढ़ लोग नहीं देख पाते, परन्तु जिन के ज्ञान की आँख है, वे उसे देख पाते हैं ॥१०॥

शरीर में आत्मा स्थित है, आत्मा में परमात्मा स्थित है—इस सत्य को प्रकट करते हुए गीता कहती है :

यत्नपूर्वक साधना में लगे हुए योगी लोग (जैसे शरीर में आत्मा को देख लेते हैं वैसे) आत्मा में परमात्मा को देख लेते हैं। 'अचेता' लोग, ऐसे लोग जो चित्त से, बुद्धि से काम नहीं लेते, 'अकृतात्मा' लोग, ऐसे लोग जो अपने अन्तःकरण को कृत-कृत्य, शुद्ध नहीं कर पाये, वे यत्न करने पर भी उसे नहीं देख पाते ॥११॥

[ईश्वर का वर्णन]

सूर्य में पहुँचा हुआ तेज जो समूचे जगत् को प्रकाशित करता है, और जो तेज चन्द्रमा और अग्नि में विद्यमान है वह मेरा ही तेज है—ऐसा जान ॥१२॥

(मोह-ग्रस्त) जन; **न**[9]—नहीं; **अनुपश्यन्ति**[10]—देख पाते हैं; **पश्यन्ति**[12]—देखते हैं; **ज्ञानचक्षुषः**[11]—ज्ञान की आँखों वाले, ज्ञानी।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

यतन्तः[5]—साधना में यत्नशील; **योगिनः**[1]—योगिजन; **च**[7]—और; **एनम्**[4]—इसको; **पश्यन्ति**[6]—देख पाते हैं; **आत्मनि**[2]—आत्मा में; **अवस्थितम्**[3]—ठहरे हुए परमात्मा को; **यतन्तः**[10]—यत्न करते हुए; **अपि**[11]—भी; **अकृतात्मानः**[9]—जो आत्मा को शुद्ध न कर पाये हों ऐसे अवश्यात्मा जन; **न**[13]—नहीं; **एनम्**[12]—इसको; **पश्यन्ति**[14]—देख पाते हैं; **अचेतसः**[8]—अज्ञानी।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

यत्[1]—जो; **आदित्यगतम्**[3]—सूर्य में विद्यमान; **तेजः**[2]—प्रकाश; **जगद्**[5]—संसार को; **भासयते**[6]—प्रकाशित कर देता है; **अखिलम्**[4]—

इस पृथ्वी में प्रविष्ट होकर मैं अपने ओज से, प्रताप से सब प्राणियों को धारण करता हूँ और रस से परिपूर्ण सोम—चन्द्रमा—बनकर सब ओषधियों का पोषण करता हूँ ।।१३।।

मैं प्राणियों के देह में जाकर, प्राण तथा अपान से युक्त वैश्वानर अग्नि बन कर चार प्रकार के अन्न का पाचन करता हूँ ।।१४।।

मैं सबके हृदय में बैठा हुआ हूँ; मेरे द्वारा स्मृति और ज्ञान होता है और मेरे द्वारा अपोहन अर्थात् संशय आदि

समूचे; **यत्**[8]—जो; **चन्द्रमसि**[9]—चन्द्रमा में; **यत्**[10]—जो; **च**[7]—और; **अग्नौ**[11]—आग में; **तत्**[12]—वह; **तेजः**[14]—प्रकाश; **विद्धि**[15]—जान; **मामकम्**[13]—मेरा ही।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ।।१३।।

गाम्[3]—पृथिवी (को) में; **आविश्य**[4]—प्रवेश करके; **च**[1]—और; **भूतानि**[6]—प्राणियों को; **धारयामि**[7]—धारण करता हूँ; **अहम्**[2]—मैं; **ओजसा**[5]—अपने प्रताप के द्वारा; **पुष्णामि**[14]—पोषण करता हूँ; **च**[8]—और; **ओषधीः**[13]—ओषधियों को; **सर्वाः**[12]—सब; **सोमः**[10]—चन्द्रमा; **भूत्वा**[11]—होकर; **रसात्मकः**[9]—रस से परिपूर्ण।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणाऽपानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ।।१४।।

अहम्[1]—मैं; **वैश्वानरः**[5]—अग्नि; **भूत्वा**[6]—होकर; **प्राणिनाम्**[2]—देहधारियों के; **देहम्**[3]—देह में; **आश्रितः**[4]—आश्रय लेकर; **प्राणापानसमायुक्तः**[7]—प्राण और अपान से युक्त; **पचामि**[10]—पचाता हूँ; **अन्नम्**[9]—अन्न को; **चतुर्विधम्**[8]—चार प्रकार के।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम् ।।१५।।

सर्वस्य[3]—सब के; **च**[1]—और; **अहम्**[2]—मैं; **हृदि**[4]—हृदय में; **संनिविष्टः**[5]—बैठा हूँ, निवास करता हूँ; **मत्तः**[6]—मुझसे; **स्मृतिः**[7]—

दोषों का नाश होता है; वस्तुतः मैं ही वह हूँ जिसको सब वेदों द्वारा जाना जाता है; मैं ही वेदान्त-शास्त्र का निर्माण करने वाला हूँ—वैदिक सिद्धान्तों का प्रतिपादक हूँ; मैं ही वेद का जानने वाला हूँ ॥१५॥

संस्कृत में 'अन्त' का अर्थ सिद्धान्त होता है, इसलिए हमने यहाँ 'वेदान्त'-शब्द का अर्थ 'वेदान्तशास्त्र' तथा 'वैदिक-सिद्धान्त' ये दोनों कर दिया है।

इन श्लोकों में गीता ने अनैन्द्रियिक तथा ऐन्द्रियिक—सब जगत् गिना दिया है। सूर्य-चन्द्र अनैन्द्रियिक हैं, वनस्पति, प्राणी, हृदय तथा मन वाला मनुष्य ऐन्द्रियिक हैं। इन श्लोकों में वही-कुछ कहा जो सातवें अध्याय के ८–९ श्लोकों में पहले कहा जा चुका है। वहाँ कहा है : **'रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशि-सूर्ययोः। प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु। पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ। जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु'**। भगवान् का वर्णन करते हुए गीता का कहना है कि संसार में जो-कुछ है वह उसी के तेज, उसी की प्राण-शक्ति के कारण है। इस नानाविध जगत् में से उसे खींच लिया जाए, तो यहाँ कुछ नहीं रहता।

[क्षर-अक्षर—'दो पुरुष' तथा परमात्मा 'पुरुषोत्तम' का वर्णन]

इस संसार में दो पुरुष हैं—एक 'क्षर' है, नश्वर है, दूसरा 'अक्षर' है, अविनश्वर है। सब भूतों को 'क्षर' कहते हैं, कूटस्थ को 'अक्षर' कहते हैं ॥१६॥

स्मरण करना; **ज्ञानम्**[8]–ज्ञान; **अपोहनम्**[10]–(ज्ञान के संशय-विपर्यय आदि दोषों का) दूर होना; **च**[9]–और; **वेदैः**[13]–वेदों द्वारा; **च**[11]–और; **सर्वैः**[12]–सब; **अहम्**[14]–मैं; **एव**[15]–ही; **वेद्यः**[16]–ज्ञेय, जानने योग्य; **वेदान्तकृत्**[17]–वेदान्तशास्त्र का कर्त्ता, वेद के सिद्धान्तों को प्रगट करने वाला; **वेदवित्**[19]–वेदज्ञ; **एव**[21]–ही; **च**[18]–और; **अहम्**[20]–मैं।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

द्वौ[6]–दो; **इमौ**[7]–ये; **पुरुषौ**[8]–पुरुष; **लोके**[1]–संसार में; **क्षरः**[2]–क्षर (विनश्वर); **च**[3]–और; **अक्षरः**[4]–अनश्वर; **एव**[5]–ही; **च**[12]–और; **क्षरः**[11]–क्षर; **सर्वाणि**[9]–सब; **भूतानि**[10]–प्राणिगण तथा पंचभूत; **कूटस्थः**[13]–कूटस्थ; **अक्षरः**[14]–अक्षर; **उच्यते**[15]–कहलाता है।

परन्तु इन दोनों से भिन्न एक अन्य उत्तम पुरुष है जिसे परमात्मा कहा जाता है। वह अव्यय है, ईश्वर है, वह तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर उनका भरण-पोषण करता है ॥१७॥

इन श्लोकों में पुरुष दो कहे गये हैं—'क्षर' तथा 'अक्षर'। 'अक्षर' के फिर दो भेद किये गये हैं—एक पुरुष तथा दूसरा पुरुषोत्तम, एक आत्मा तथा दूसरा परमात्मा। गीता के इस वर्णन को **शंकर** के अनुयायी अद्वैतवादी अपने ढंग से समझाते हैं, **रामानुज** के अनुयायी इसका द्वैत-परक अर्थ करते हैं। वह कैसे ?

(क) **अद्वैतवादी**—अद्वैतवादियों का कहना है कि गीता ने दो पुरुषों का वर्णन किया—क्षर तथा अक्षर। इनमें 'क्षर'—अर्थात् क्षीण हो जाने वाली तो व्यक्त प्रकृति है, यह बनी हुई, आँखों से दीखनेवाली सृष्टि; 'अक्षर'—अर्थात् क्षीण न होनेवाली प्रकृति वह प्रकृति है जिसे अव्यक्त-प्रकृति कहा जा सकता है. मूल-प्रकृति कहा जा सकता है। ये दोनों ब्रह्म के रूप हैं। इन्हीं दो रूपों को गीता ने सातवें अध्याय के ५वें श्लोक में—**'अपरा इयम्, तु इतः अन्याम् प्रकृतिं विद्धि मे पराम्'**—इस प्रकार ब्राह्मी-प्रकृति के 'अपरा' तथा 'परा'—ये दो नाम हैं। श्री अरविंद भी ब्रह्म के ये दो रूप मानते हैं—यह व्यक्त सृष्टि उसी ब्रह्म की 'अपरा-प्रकृति' (Lower nature) है; मूल, अव्यक्त प्रकृति उसी ब्रह्म की 'परा-प्रकृति' (Higher nature) है। अपरा तथा परा—ये दोनों जड़ नहीं, चेतन हैं, उसी ब्रह्म के रूप हैं—इसलिए इन दोनों को 'पुरुष' कहा है।

(ख) **द्वैतवादी**—द्वैतवादियों का कहना है कि गीता ने यहाँ प्रकृति, जीव तथा परमात्मा—इन तीन का वर्णन किया है। क्षर, अक्षर तथा इन दोनों से अन्य तीसरा परमात्मा—इन तीन का यहाँ स्पष्ट वर्णन है। क्षर-अक्षर इन दोनों को दो पुरुष कहा है, परमात्मा को पुरुषोत्तम कहा है।

हमारे मत में गीता ने यहाँ स्पष्ट तौर पर त्रैतवाद का वर्णन किया है। यह बात अगले श्लोक से भी स्पष्ट है जहाँ कहा है :

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

उत्तमः[1]–श्रेष्ठ; **पुरुषः**[2]–पुरुष; **तु**[3]–परन्तु; **अन्यः**[4]–दूसरा ही है; **परमात्मा**[11]–परमात्मा; **इति**[12]–इस प्रकार से; **उदाहृतः**[13]–कहा जाता है; **यः**[5]–जो; **लोकत्रयम्**[6]–तीनों लोकों में; **आविश्य**[7]–प्रवेश करके; व्याप्ति करके, व्याप्त होकर; **बिभर्ति**[8]–धारण-पोषण करता है; **अव्ययः**[9]–अनश्वर; **ईश्वरः**[10]–स्वामी।

क्योंकि मैं क्षर से परे हूँ, और अक्षर से उत्तम हूँ, इसलिये इस संसार में और वेद में, मैं 'पुरुषोत्तम' नाम से प्रख्यात हूँ ॥१८॥

हे भारत ! जो-कोई मोह से रहित होकर मुझ 'पुरुषोत्तम' को इस प्रकार जान लेता है, समझ लो कि वह 'सर्वविद्' हो गया, उसने सब-कुछ जान लिया; वह 'सर्वभाव' से मुझे भजता है, अपने मन-वचन-कर्म से मुझ में मगन रहता है और (इस प्रकार 'ज्ञान' और 'भक्ति' का मेल हो जाता है) ॥१९॥

इस श्लोक में 'असंमूढ़'-शब्द आया है। हमने इसका अर्थ 'मोहरहित' किया है। गीता के शांकरभाष्य पर टिप्पणी करने वाले श्री आनन्दगिरि ने 'असंमूढ़' का अर्थ यह किया है कि ऐसा व्यक्ति जो शरीर को आत्मा समझने के मोह से मुक्त हो गया है—क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ को अलग-अलग समझने लगा है, वह 'असंमूढ़' है। हम शरीर को ही आत्मा समझ कर उसके मोह में पड़े रहते हैं, इस मोह से रहित हो जाना ही 'असंमूढ़ता' है।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

यस्मात्[1]–जिस कारण से; **क्षरम्**[3]–क्षर (प्रकृति) से; **अतीतः**[4]–परे हूँ; **अहम्**[2]–मैं; **अक्षरात्**[6]–अक्षर (जीव) से; **अपि**[7]–भी; **च**[5]–और; **उत्तमः**[8]–उत्तम; **अतः**[9]–इसलिये; **अस्मि**[15]–हूँ; **लोके**[10]–इस संसार में; **वेदे**[12]–वेद में; **च**[11]–और; **प्रथितः**[14]–प्रसिद्ध; **पुरुषोत्तमः**[13]–पुरुषों में श्रेष्ठ (नाम से)।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

यः[2]–जो; **माम्**[5]–मुझ को; **एवम्**[3]–ऐसे; **असंमूढः**[4]–मोह-रहित हुआ; **जानाति**[7]–जानता है; **पुरुषोत्तमम्**[6]–पुरुषोत्तम (पुरुषों में श्रेष्ठ) को; **सः**[8]–वह; **सर्वविद्**[9]–सर्वज्ञ; **भजति**[12]–भजता है; **माम्**[11]–मुझ को; **सर्वभावेन**[10]–सर्वभाव से, सर्वात्मना; **भारत**[1]–हे अर्जुन।

हे पाप रहित अर्जुन! यह गुह्य से गुह्य शास्त्र मैंने तुझे बतलाया है। हे भारत! इसको जानने के बाद मनुष्य ज्ञानी बन जाता है और कृतकृत्य हो जाता है ॥२०॥

श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् में जिस ब्रह्मविद्या का वर्णन किया गया है, उसके अन्तर्गत जो योगशास्त्र है, उसमें जो कृष्णार्जुन-संवाद है, उस संवाद का 'पुरुषोत्तम-योग'-नामक पञ्चदश अध्याय समाप्त हुआ।*

उपसंहार

१. इस अध्याय पर श्री विनोबा के विचार

श्री विनोबा का कथन है कि परमार्थ की चेतना मनुष्य में उत्पन्न कर देना ही वेदों का कार्य है। वेदों के इस कार्य को गीता के इस अध्याय में पूर्ण रूप से कर दिया गया है। इस अध्याय में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि संसार की सार-भूत सत्ता वही भगवान् है। सूर्य में वही, चन्द्र में वही, पशु-पक्षी में वही, मनुष्य में वही। जब सूर्य अपने में कुछ नहीं, उसी से तेजवान् है, जब चन्द्र अपने में कुछ नहीं, उसी से आभायुक्त है, जब पशु-पक्षी, मनुष्य का यह देह अपने में कुछ नहीं, उसी से प्राणवान् और चेतनावान् है, तब मनुष्य की इस संसार के प्रति चेतना स्वयं धीमी पड़ जाती है, परमार्थ के प्रति चेतना प्रबल हो जाती है। उसी परमार्थ-चेतना को जगाना इस अध्याय का उद्देश्य है। इस उद्देश्य से जहाँ इस अध्याय में भगवान् के स्वरूप का वर्णन किया गया है वहाँ विनोबा ने इस अध्याय के क्रियात्मक पहलू पर प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि इस अध्याय में प्रकृति का सेवा के साधन के रूप में, जीवात्मा का सेवक के रूप में और परमात्मा का सेव्य के रूप में वर्णन है? वह कैसे?

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

इति[3]—इस प्रकार; **गुह्यतमम्**[5]—गुह्य से गुह्य; **शास्त्रम्**[6]—शास्त्र; **इदम्**[4]—यह; **उक्तम्**[8]—कहा है; **मया**[7]—मैंने; **अनघ**[1]—हे पापरहित अर्जुन; **एतत्**[9]—यह; **बुद्ध्वा**[10]—जान कर; **बुद्धिमान्**[11]—बुद्धिमान्; **स्यात्**[14]—हो जाये; **कृतकृत्यः**[13]—कृतार्थ, सफल-मनोरथ; **च**[12]—और; **भारत**[2]—हे अर्जुन।

*** इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे पुरुषोत्तम-योगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः।**

(क) **प्रकृति का सेवा के साधन के रूप में वर्णन**—श्री विनोबा का कहना है कि इस अध्याय के अन्त में कहा है कि जिसने पुरुषोत्तम के रूप को जान लिया, फिर वह सर्वभाव से पुरुषोत्तम की पूजा करता है, उसकी भक्ति करता है। भक्ति में सेवक पत्र-पुष्प के तौर पर कुछ भेंट करता है। भगवान् की सेवा में साधन यह प्रकृति है जिसे 'क्षर' कहा है। प्रकृति के 'क्षर' होने में बड़ा अर्थ है। सृष्टि का यह दूषण नहीं, भूषण है। इस क्षरता से सृष्टि में नित्य नवीनता है। कल के फूल आज काम नहीं दे सकते, वे निर्माल्य हो गये। सृष्टि 'क्षर' है, नाशवान् है—यह बड़े भाग्य की बात है। यह सेवा का वैभव है। रोज़ नवीन फूल सेवा के लिए तैयार मिलता है। उसी तरह मैं यह शरीर भी नया-नया धारण करके परमेश्वर की सेवा करूँगा। अपने साधनों को मैं नित्य नवीन रूप दूँगा और उन्हीं से उसकी पूजा करूँगा। इस नश्वरता के कारण ही सृष्टि में सौन्दर्य बना हुआ है। चन्द्र का रूप क्षर है, आज एक कला है, कुछ देर बाद पूर्ण कला है। अमावस्या की अंधेरी रात का भी आनन्द है, पूर्णमासी का भी आनन्द है। अंधेरी रात में तारे पूरी आज़ादी से खुलकर चमक उठते हैं, मानो पूर्णिमा क्या है परमेश्वर का ही मुख-चन्द्र चमक रहा है।

(ख) **जीवात्मा का सेवक के रूप में वर्णन**—जीवात्मा को गीता ने 'अक्षर-पुरुष' कहा है। 'अक्षर-पुरुष' का अर्थ है, कभी न थकनेवाला, सृष्टि के प्रारंभ से लेकर सेवा करनेवाला सनातन सेवक। जैसे हनुमान् राम के सामने सदैव हाथ जोड़कर खड़े हैं, उसी तरह के भगवान् के आजन्म सेवक को गीता ने 'अक्षर-पुरुष' कहा है।

(ग) **पुरुषोत्तम-परमात्मा का सेव्य के रूप में वर्णन**—प्रकृति तथा जीव के अतिरिक्त तीसरे पुरुष को इस अध्याय में अक्षर-पुरुषोत्तम कहा गया है। वही सूर्य-चन्द्र-पृथ्वी के पीछे इन्हें जीवन दे रहा है, वही पशु-पक्षी-मनुष्य को अनुप्राणित कर रहा है, वह अक्षर है। जब प्रकृति तथा पुरुष, देह तथा शरीर के पीछे इन्हें अनुप्राणित करने वाला वही है, तब क्या किया जाय ? १९वें श्लोक में कहा है: **'माम् एव जानाति माम् सर्वभावेन भजति'**—मुझे जाने और मुझे भजे। यहाँ प्रत्येक 'कर्म' के साथ 'ज्ञान' तथा 'भक्ति' को मिला देने की बात कही गई है। इन तीनों की जीवन को ज़रूरत है। तर्क से भले ही कर्म, ज्ञान, भक्ति को पृथक् सिद्ध किया जा सके, प्रत्यक्ष रूप से इन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। ऐसा होने पर भी यह बात नहीं कि भक्ति में विशेष गुण न हों। भक्ति की पुट लग जाने से कठिन-से-कठिन काम सुगम हो जाते हैं। भक्ति-भाव से कर्म का बोझ नहीं मालूम देता, कर्म की कठिनता चली जाती है, कितना भी कर्म करो वह न किये-सा मालूम देता है। तभी तो देशभक्त लोग हँसते-हँसते फाँसी पर चढ़ जाते हैं—उनके हृदय में देश के प्रति भक्ति जो होती है, अपार कष्ट पाने पर भी भक्ति के प्रभाव से वे कुछ भी नहीं मालूम होते। पानी पर पड़ी नाव को धकेलना कठिन नहीं है, परन्तु यदि उसी को धरती पर से खींच कर ले जाना हो तो कितनी मेहनत पड़ेगी। नाव के नीचे यदि

पानी होगा, तो हम सहज ही तर जायेंगे । इसी तरह यदि हमारी जीवन नौका के नीचे भक्ति-रूपी पानी होगा, तो वह आनन्द से खेयी जा सकेगी । परन्तु यदि शुष्क होगा, रास्ते में रेत पड़ी होगी, कंकड़-पत्थर होंगे, खड्डे-खाई होंगी, तो इस नौका को खींच कर ले जाना बड़ा कठिन काम हो जायगा ।

२. इस अध्याय पर श्री अरविंद के विचार

(क) **तीन पुरुष**—श्री अरविंद का कहना है कि इस अध्याय में तीन पुरुषों का वर्णन है जिनमें से दो पुरुष तो हैं—'क्षर' तथा 'अक्षर', और तीसरा पुरुष है 'पुरुषोत्तम' परमात्मा—'**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च . . . उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः** (१५–१६, १७) । इन तीनों के विषय में गीता के विचार क्या हैं ?

(i) **क्षर-पुरुष**—श्री अरविंद वेदान्तियों की तरह इस जगत् को माया नहीं मानते । उनका कहना है कि गीता भी जगत् को माया या भ्रम नहीं मानती । गीता (७–४) में जगत् को '**मे प्रकृतिः**'—'मेरी प्रकृति' कहा है, '**मे प्रकृतिः**'—अर्थात् मेरा ही व्यक्त हुआ रूप । गीता का कहना है कि जब हम इस माया को पार कर जाते हैं, तब यह जगत् लुप्त नहीं हो जाता, बल्कि इसके अर्थ का संपूर्ण हार्द बदल जाता है । आध्यात्मिक-दृष्टि में हमें जो-कुछ पता चलता है वह यह नहीं कि इस सब जगत् का कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है, इस सब का अस्तित्व तो है, परन्तु इसके वर्तमान भ्रान्त अर्थ से भिन्न, इसका एक दूसरा ही आशय है : वह आशय क्या है ? वह आशय यह है कि यह सब-कुछ जो दीखता है वह मिथ्या नहीं, अपितु '**मे प्रकृतिः**' है, भगवान् का आत्मा है । गीता के लिए यह जगत् वास्तविक है । त्रिगुणमयी माया की यह निम्नतर प्रकृति, जिसे गीता ने भगवान् का 'अपर' रूप कहा है, उसके पर रूप से, उसकी दैवी प्रकृति से उद्भूत हुई है । क्योंकि इस जगत् के रूप में ब्रह्म ही प्रकट हुआ है, इसलिए गीता ने इसे 'पुरुष' का नाम दिया है, और यह जगत् क्षर है, इसलिए इस जगत् को गीता ने 'क्षर' का नाम दिया है । ब्रह्म की दो प्रकृतियाँ हैं—अपरा तथा परा । यह जगत् उसी की अपरा प्रकृति है । जीव ने आरोहण करते हुए इस 'अपर' को 'क्षर-पुरुष' को छोड़कर, 'पर' में, 'पुरुषोत्तम' में जाना है, क्योंकि जीव उस 'पर' का, 'पुरुषोत्तम' का 'अंश' है—'**ममैवांशः सनातनः**' ।

(ii) **अक्षर-पुरुष**—गीता ने जिन दो पुरुषों का वर्णन किया है उनमें से पहला पुरुष 'क्षर'- प्रकृति है, दूसरा पुरुष 'अक्षर'-जीव है । यह 'जीव' क्या है ? श्री अरविंद का कहना है कि जैसे गीता जगत् को वेदान्तियों की तरह 'मिथ्या' नहीं मानती, 'पुरुष' मानती है—गीता ने जगत् को 'क्षर-पुरुष' का नाम दिया है—वैसे गीता जीव को '**जीवो ब्रह्मैव नापरः**'—जीव ब्रह्म ही है—ऐसा नहीं मानती, गीता जीव को ब्रह्म का 'अंश' मानती है । श्री अरविंद का कहना है कि गीता का श्लोक—'**ममैवांशः जीवलोके जीवभूतः सनातनः**' (१५–७)—'मेरा एक अंश ही

जीवों के जगत् में जीव बनता है'—अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस श्लोक में जीव को ब्रह्म का 'अंश' कहा गया है। इसका यह अर्थ है कि व्यष्टिगत आत्मा इस लोक के परे सनातन के अंदर विद्यमान है और सदा विद्यमान था क्योंकि वह स्वयं भी सनातन है। स्पष्टतः, जीव की इस समानता के इस विचार से प्रेरित होकर ही गीता ने ऐसे किसी भी शब्द का प्रयोग नहीं किया है जो जीव के पूर्ण लय की ओर ज़रा भी संकेत करता हो, बल्कि उसने पुरुषोत्तम के अन्दर निवास को ही जीव की सर्वोच्च स्थिति बतलाते हुए कहा है: **'निवसिष्यसि मयि एव'—'माम् एव एष्यसि'**—मुझ में ही निवास करेगा, मेरे पास ही पहुँचेगा। जीव के ब्रह्म में 'निवास' और 'लय' में ज़मीन-आसमान का भेद है। 'निवास' में उसका अस्तित्व बना रहता है, 'लय' में अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

श्री अरविंद का कहना है कि यद्यपि जीव मुक्तावस्था में ब्रह्म में निवास करता है, उसका अस्तित्व मिट नहीं जाता, वह मौजूद रहता है, फिर भी, क्योंकि वह ब्रह्म का ही अंश है, इसलिए यह जीव, यह पुरुष, उस पुरुषोत्तम से इतर नहीं है, उस पुरुषोत्त का ही अंश है। ईश्वर का 'अंश' होने के कारण यह अपनी सत्ता में साक्षात् ईश्वर ही है। ईश्वर अपने एकत्व के सनातन बहुत्व के द्वारा हमारे अन्दर अविनाशी जीव के रूप में सदा विद्यमान रहता है।

(iii) **पुरुषोत्तम**—श्री अरविंद का कहना है कि परब्रह्म परमेश्वर की दो प्रकृतियाँ हैं जिनका गीता (७–४) ने 'अपरा-प्रकृति' (निम्न-प्रकृति, Lower nature) तथा 'परा-प्रकृति' (दैवी-प्रकृति, Higher nature)—इन नामों से उल्लेख किया है। अपरा प्रकृति यह व्यक्त जगत् है, परा प्रकृति उसका निज अव्यक्त, सत्-चित्-आनन्द रूप है। जीव उस परा प्रकृति का 'अंश' है, वह परा-प्रकृति ही पुरुषोत्तम है, परमेश्वर है। जीव की मुक्ति का अर्थ क्या है? जीव की मुक्ति का अर्थ है—इस अपरा-प्रकृति (Lower nature) से अपने को छुड़ा कर, जिस परा-प्रकृति (Higher nature) का वह 'अंश' है, उसकी तरफ़ आरोहण करना। दैवी-प्रकृति में आरोहण करने के लिए सर्वप्रथम अपने-आपको सत्व-रज-तम—इन तीन गुणों वाली प्रकृति से ऊपर उठाकर पूर्ण आध्यात्मिक समता में प्रतिष्ठित करना होगा, जब तीन गुणों को हम पार कर लेंगे तभी तो साम्यावस्था प्राप्त होगी। साम्यावस्था को प्राप्त करते ही अपरा-प्रकृति छूट जाती है, और परा-प्रकृति का मार्ग खुल जाता है। इस प्रकार निम्नतर प्रकृति को पार कर जब हम उच्चतर प्रकृति में आ जाते हैं, तब क्षर-पुरुष (प्रकृति) को छोड़ कर यह अक्षर-पुरुष (जीव) पुरुषोत्तम (परमात्मा) के पास पहुँच जाता है। पुरुषोत्तम के पास पहुँचना तभी हो सकता है जब क्षर तथा अक्षर, क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का भेद, इनका पृथक्करण ठीक-ठीक दीखने लगता है। ऐसी दृष्टि खुल जाने पर हमारा अन्तरस्थ आध्यात्मिक पुरुष—जीवात्मा—अपने-आप को उन शाश्वत भगवान्, परम पुरुष, पुरुषोत्तम, परमेश्वर के प्रति अर्पित कर देता है जिनका कि

वह अंश है। इसी को **'ब्राह्मी-स्थिति'** कहा है, **'ब्रह्मभूयाय'** कहा है, 'भक्ति' कहा है, 'अर्पण' कहा है, **'भजामि'** कहा है।

(ख) **ब्रह्म का समग्र रूप**—सांख्यवादी प्रकृति और पुरुष—ये दो तत्व मानते हैं। प्रकृति को वे जड़ तथा पुरुष को चेतन मानते हैं। पुरुष अर्थात् जीव को वे अनेक मानते हैं। वेदान्ती एक ब्रह्म को ही सत् मानते हैं, जीव को ब्रह्म ही मानते हैं, प्रकृति को मिथ्या मानते हैं। श्री अरविंद के कथनानुसार गीता ब्रह्म के ही दो रूप मानती है—अपर तथा पर। ब्रह्म का पर रूप अव्यक्त, अनादि, निर्वैयक्तिक है; उसी का अपर रूप व्यक्त प्रकृति या जड़ जगत् कहलाता है; यह व्यक्त रूप मिथ्या नहीं, यथार्थ है, सत् है। ब्रह्म का अपर रूप उसकी 'निम्न-प्रकृति' (Lower nature) है, उसका पर रूप उसकी 'उच्च-प्रकृति' (Higher nature) है। जीव ब्रह्म का ही 'अंश' है। जीव की मुक्ति का अर्थ ब्रह्म की निम्न-प्रकृति से जो उसने अपनी एकता बना रखी है, उसे छोड़कर, उच्च प्रकृति से वह एकता बनाये—यह है। गीता कहती है कि जड़ प्रकृति को ब्रह्म का निम्न रूप तथा उसके तुरीय रूप को उसका उच्च रूप जान लेना, जीव को ब्रह्म का अंश समझ लेना—यही **'समग्र-ब्रह्म'** को जानना है। इसी को गीता ने **'कृत्स्नविदः'** कहा है, इसीको **'परोऽव्यक्तः'** कहा है। इसी समग्र रूप का १५वें अध्याय में वर्णन है।

श्री अरविंद कहते हैं कि हम अपने जीवन-काल में प्रकृति के जगत् में शक्तिशाली रूप में कार्य करते हुए भी आत्मा के नीरव, शान्त, अचल जगत् में विचरण कर सकते हैं, हमें वेदान्तियों की तरह इस संग्राममय जगत् से भागने की आवश्यकता नहीं, ठीक ऐसे जैसे भगवान् सृष्टि से उच्चतर हैं और फिर भी नित्य, निरंतर सृष्टि के कर्म में रत रहते हैं, रत रहते हुए भी इससे लिप्त नहीं होते—**'वर्त एव च कर्मणि'**।

(ग) **सांख्य तथा वेदान्त का गीता में समन्वय**—श्री अरविंद का कहना है कि गीता में समन्वयात्मक दृष्टि से विचार किया गया है। कर्म, भक्ति, ज्ञान का गीता में समन्वय तो है ही, सांख्य तथा वेदान्त के सिद्धान्तों की दृष्टि से भी समन्वय है। सांख्य प्रकृति तथा पुरुष को भिन्न-भिन्न मानता है, गीता में **'द्वाविमौ पुरुषौ लोके'** कहा है—इस संसार में दो सत्ताएँ हैं—क्षर तथा अक्षर। सांख्य पुरुष अनेक मानता है, श्री अरविंद के अनुसार गीता पुरुष या जीव की सत्ता परमार्थतः एक मानती है। चेतना की इस विविधता के आधार में चैतन्य-सत्ता एक ही है जो नाना रूप धारण किये हुए है। इस व्याख्या में गीता वेदान्त के निकट पहुँचती है, परन्तु वेदान्त में जीव को ब्रह्म ही मान लिया गया है, गीता जीव को ब्रह्म का अंश मानती है। सांख्य जगत् को सत् मानता है, अव्यक्त प्रकृति का व्यक्त रूप मानता है, वेदान्त जगत् को मिथ्या मानता है, गीता जगत् को सांख्य की तरह सत् मानती है, परन्तु वेदान्त का पुट लेकर इस सत् जगत् को ब्रह्म का ही अपर रूप मानती है। जगत् ब्रह्म का ही अपर रूप है—इसी बात को दर्शाने के लिए पन्द्रहवें अध्याय में कहा है

कि पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र सब जगह ब्रह्म-ही-ब्रह्म है। जहाँ तक इस जगत् को यह ब्रह्म का ही रूप मानती है वहाँ तक यह वेदान्त की विचारधारा के ही निकट पहुँच जाती है। श्री अरविंद के कथनानुसार गीता न शुद्ध सांख्य है, न शुद्ध वेदान्त है, इसमें सांख्य तथा वेदान्त का समन्वय करके अपना एक नवीन दृष्टि-कोण उपस्थित किया गया है, वही दृष्टिकोण श्री अरविंद के 'समन्वयात्मक योग' (Integral Yoga) का आधार है।

३. 'ममैवांशः जीवलोके' का अर्थ

गीता के १५वें अध्याय में 'जीव' के विषय में गीता ने कहा है : **'ममैवांशः'**। इसका श्री **अरविंद** ने जो अर्थ किया है वह हमने दे दिया है। इसका अद्वैतपरक तथा द्वैतपरक दोनों प्रकार का अर्थ भी किया जाता है। अद्वैतवादी इसका यह अर्थ करते हैं कि जीव उसी परब्रह्म का अंश है, तत्त्वतः जीव ब्रह्म ही है। द्वैतवादी इसका यह अर्थ नहीं करते। उनका कहना है कि यहाँ 'अंश' का अर्थ 'भाग' या 'हिस्सा' नहीं है। परब्रह्म का 'हिस्सा' या 'भाग' हो ही कैसे सकता है? जो सर्वव्यापक है उसका 'हिस्सा' तो तभी हो सकता है जब वह सर्वव्यापक न हो। अगर सर्वव्यापक का 'टुकड़ा' हो गया तो वह सर्वव्यापक कहाँ रहा? इसलिये—'जीव परब्रह्म का अंश है'—इसका अर्थ क्या हुआ? द्वैतवादियों की सम्मति में यहाँ **'ममैवांशः'** का अर्थ यह है कि जीव पूर्णरूप में नहीं, अपितु आंशिक रूप में ब्रह्म के समान गुणों वाला है। इसका अर्थ क्या हुआ? इसका अर्थ यह हुआ कि प्रकृति 'सत्' है, जीव 'सत्-चित्' है, ब्रह्म 'सत्-चित्-आनन्द' है। ब्रह्म के दो गुण—'सत्-चित्' जीव में हैं, 'आनन्द' ब्रह्म का ही गुण है, तभी वेद, उपनिषद्, गीता—सबका उद्देश्य जीव को 'आनन्द' तक पहुँचाना है।

न्याय-दर्शन के अनुसार 'इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुख-दुःख-ज्ञान'—ये आत्मा के लिंग हैं, गुण हैं; उपनिषद् के अनुसार **'स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च'**—ये ब्रह्म के लिंग हैं, गुण हैं। इस दृष्टि से इन बातों में तो जीव तथा ब्रह्म समान हैं। ये दोनों बातें 'सत्-चित्'—इन दो शब्दों में आ जाती हैं। जीव तथा ब्रह्म में मुख्य भेद यह है कि जीव में सुख के साथ दुःख बना रहता है, ब्रह्म में दुःख नहीं रहता, आनन्द-ही-आनन्द रहता है। इसी बात को सम्मुख रखकर गीता ने जीव को ब्रह्म का—**'ममैवांशः'**—कहा है, अर्थात् जीव अंश रूप में ब्रह्म के समान गुणोंवाला है। यह अर्थ करने पर **'मामुपेत्य'**—मेरे पास आकर, **'मन्मना भव मद्भक्तः'**—मुझ में मन लगाकर, मेरा भक्त होकर, **'मां नमस्कुरु'**—मुझे नमस्कार कर—आदि वाक्यों की संगति ठीक बैठ जाती है।

सोलहवाँ अध्याय

दैवासुर-संपद्-विभाग-योग

नौवें अध्याय के १२ और १३ श्लोकों में राक्षसी, आसुरी तथा दैवी प्रकृति का वर्णन किया गया है। वहाँ लिखा है : '**राक्षसीम् श्रासुरीम् चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः। . . . महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीम् प्रकृतिम् श्राश्रिताः**'—राक्षसी, आसुरी तथा दैवी प्रकृति का आश्रय लेने वाले व्यक्ति। इस प्रकार नवें अध्याय में गीता ने मानव-प्रकृति के तीन भेद किये। इनमें से दैवी प्रकृति सात्विक है, आसुरी राजसिक है, राक्षसी तामसिक है। गणेश गीता (१०, १–१०) में भी इन तीन प्रकृतियों का वर्णन करते हुए लिखा है : '**दैव्यासुरी राक्षसी च प्रकृतिस्त्रिधा नृणाम्**'—मनुष्यों की प्रकृति दैवी, आसुरी तथा राक्षसी—इन भेदों के कारण तीन प्रकार की है। गीता में मनुष्य की तीन प्रकार की प्रकृति का उल्लेख होने पर भी १६वें अध्याय में केवल दो प्रकार की प्रकृति का ही वर्णन किया गया है—दैवी तथा आसुरी का क्योंकि राक्षसी तथा आसुरी लगभग एक-सी हैं।

इन प्रकृतियों का वर्णन १६वें अध्याय में क्यों किया गया? पिछले अध्याय में प्रकृति, जीव तथा परमेश्वर का वर्णन है। इस वर्णन का अभिप्राय यह है कि जीव प्रकृति से नाता तोड़ कर परमात्मा से अपना नाता जोड़े। प्रकृति से नाता बनाये रखने से मनुष्य प्रकृति के गुणों से—सत्व, रज, तम से—बँधा रहता है। इनमें बँधे रहना ही आसुरी प्रकृति है। प्रकृति से नाता तोड़कर जीव का परमात्मा से नाता जोड़ना दैवी प्रकृति है। सोलहवें अध्याय में प्रकृति, जीव, परमात्मा का वर्णन करना, जीव का प्रकृति के साथ नाता तोड़कर परमात्मा के साथ नाता जोड़ना, इस वर्णन से स्वभावतः दैवी तथा आसुरी प्रकृति का प्रश्न उठ खड़ा होता है क्योंकि आसुरी-प्रकृति का अर्थ ही प्रकृति के साथ अपने को घुला-मिला देना है, और दैवी-प्रकृति का अर्थ ही प्रकृति के साथ नाता तोड़कर परमात्मा के साथ नाता जोड़ लेना है। आसुरी तथा दैवी प्रकृति का विचार सिर्फ़ गीता में या संस्कृत वाङ्मय में ही नहीं पाया जाता, संसार की इन दो परस्पर-विरोधी धाराओं का विचार विश्व के हर धर्म में पाया जाता है। इसी को संस्कृत-साहित्य में देवासुर-संग्राम नाम से कहा है, इसी को बायबल तथा कुरान में खुदा तथा शैतान के नाम से कहा है। विचार सब जगह एक ही है, और वह यह कि मानव-जीवन में दैवी तथा आसुरी—ये दो विरोधी प्रकृतियाँ काम कर रही हैं। इसलिए इन दोनों प्रकृतियों का वर्णन करते हुए गीता पहले दैवी प्रकृति का वर्णन करती है। दैवी-प्रकृति कैसी होती है?

[दैवी-प्रकृति के लोग]

श्री भगवान् ने कहा : हे भारत ! निर्भयता, अन्तः-करण की शुद्धि, ज्ञान और योग में निष्ठा, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता ॥१॥

अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, दूसरों के दोष न ढूँढना, प्राणियों पर दया, लोभ न होना, स्वभाव में मृदुता (कोमलता), लज्जाशीलता ॥२॥

तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, द्वेष न होना, अत्यन्त अभिमान न होना—ये उस व्यक्ति के गुण हैं जो 'दैवी-संपद्' लेकर जन्म लेता है ॥३॥

श्री भगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥

अभयम्[1]—निर्भीकता; **सत्त्वसंशुद्धिः**[2]—अन्तःकरण की विमलता; **ज्ञानयोगव्यवस्थितिः**[3]—ज्ञान और योग में निष्ठा; **दानम्**[4]—दान; **दमः**[5]—इन्द्रियों का दमन; **च**[6]—और; **यज्ञः**[7]—यज्ञ करना; **च**[9]—और; **स्वाध्यायः**[8]—स्वाध्याय, अथवा अपना अध्ययन—ज्ञान करना; **तपः**[10]—तप; **आर्जवम्**[11]—सरलता ।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥

अहिंसा[1]—अहिंसा; **सत्यम्**[2]—सत्य; **अक्रोधः**[3]—क्रोध का न होना; **त्यागः**[4]—त्याग; **शान्तिः**[5]—शान्ति; **अपैशुनम्**[6]—परदोषाविष्करण न करना; **दया**[8]—दया; **भूतेषु**[7]—प्राणियों पर; **अलोलुप्त्वम्**[9]—लोभ का न होना; **मार्दवम्**[10]—कोमलता; **ह्रीः**[11]—लज्जा; **अचापलम्**[12]—चपलता न होना ।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

तेजः[1]—तेज; **क्षमा**[2]—क्षमा; **धृतिः**[3]—धैर्य; **शौचम्**[4]—पवित्रता; **अद्रोहः**[5]—द्रोह न होना; **न**[6]—नहीं; **अतिमानिता**[7]—अधिक अभिमान

[आसुरी प्रकृति के लोग]

हे पार्थ ! दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य, अज्ञान— ये उस व्यक्ति के दुर्गुण हैं जो 'आसुरी-संपद्' लेकर जन्म लेता है ।।४।।

इस प्रकरण में गीता ने व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र में दिखाई दे रहे दो प्रकार के आधारभूत विचारों की तरफ़ संकेत कर दिया है। सद्गुण, दैवी-संपद्, मानव की उच्च प्रकृति एक तरफ़ है, दुर्गुण, आसुरी-संपद्, मानव की नीच प्रकृति दूसरी तरफ़ है। व्यक्ति को देखें, समाज को देखें, राष्ट्र को देखें—सब जगह इन दो प्रकृतियों का मुकाबिला है। मानव के व्यक्तिगत जीवन में भय, मलिनता, अज्ञान, दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध उसे असुर बनाये रखते हैं, इनका मुकाबिला करके उसे निर्भय, शुद्ध, ज्ञानी, नम्र, प्रेममय होना है, यही दिव्य गुण हैं, इन्हीं को पाकर वह प्रकृति से मुक्त होकर परमात्मा की तरफ़ ले जाने वाली राह पर चल सकता है। समाज भी सदा इन दुर्गुणों से आक्रान्त रहता है। व्यक्ति भयभीत जीवन व्यतीत करने लगें तो समाज स्वयं भयभीत रहने लगता है। गन्दा समाज, मूर्खों का समाज, अभिमान में दूसरों से अपने को ऊँचा और दूसरों को नीचा समझनेवाला समाज भारत में और युरोप में सब जगह पाया जाता है । इन सामाजिक दुर्गुणों को दूर करना और संपूर्ण विश्व में एकता का सूत्रपात करना ही सामाजिक दृष्टि से दैवी-संपद् है। हम जिस संपत्ति का संचय करते रहते हैं उसे गीता ने आसुरी-संपत्ति कहा है। आसुरी-संपत्ति का परित्याग कर हमें दैवी-संपत्ति का संचय करना है। राष्ट्र की दृष्टि से कुरुक्षेत्र के मैदान में एक तरफ़ पांडव, दूसरी तरफ़ कौरव लड़ने के लिए खड़े थे—यह देवों और असुरों के ही संग्राम का वह मूर्त्त रूप

होना; **भवन्ति**[12]–होते हैं; **संपदम्**[10]–सम्पत्ति को; **दैवीम्**[9]–दिव्य; **अभिजातस्य**[11]–जन्मे हुए का, प्राप्त हुए का; **भारत**[8]–हे अर्जुन।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ।।४।।

दम्भः[2]–दम्भ, पाखण्ड; **दर्पः**[3]–घमण्ड; **अभिमानः**[5]–अभिमान; **च**[4]–और; **क्रोधः**[7]–क्रोध; **पारुष्यम्**[9]–कठोरता; **एव**[11]–ही; **च**[6]–और; **अज्ञानम्**[10]–अज्ञान; **च**[8]–और; **अभिजातस्य**[14]–जन्म लिये हुए की; **पार्थ**[1]-हे अर्जुन; **संपदम्**[13]–सम्पत्ति को; **आसुरीम्**[12]–आसुरी, असुरों की।

था, जो अमूर्त रूप में हम सब के हृदयों में चला करता है। युद्ध में खड़े होकर यह घोषणा करना कि बाहर का संग्राम तो मनुष्य के मानव के भीतर चल रहे देवासुर संग्राम का प्रतीक है—यह गीता की ही विशेषता है। श्रीकृष्ण ने युद्धों के मैदान में बह रही नदियों का स्रोत मनुष्य के मन में देवासुर-प्रवृत्तियों में ढूंढ कर एक महान् सत्य पर अंगुली रख दी है। युनेस्को के विधान में लिखा है : 'War begins in the minds of men'—क्या गीता की यह घोषणा कि विश्व के युद्ध मानव-मन की दैवी-आसुरी प्रकृतियों के ही परिणाम हैं, हज़ारों वर्ष पूर्व उसी सत्य की घोषणा नहीं है जिसे आज संसार के महान् विचारक चिल्ला-चिल्ला कर कह रहे हैं ?

इन श्लोकों में जिस देवासुर-संग्राम का वर्णन है उसकी तरफ़ संसार के सब विचारकों की दृष्टि सदा से जाती रही है। विनोबा लिखते हैं कि बहुत प्राचीन काल से मानवीय मन में सदसत्-प्रवृत्तियों का जो झगड़ा चलता है, उसका रूपात्मक वर्णन करने की परिपाटी पड़ गई है। वेद में इन्द्र और वृत्र, पुराणों में देव और दानव, रामायण में राम और रावण, महाभारत में पांडव और कौरव, पारसी धर्म में अहुरमज्द और अहरिमान, ईसाई मज़हब में प्रभु और शैतान, इस्लाम में अल्लाह और इब्लीस—इस तरह के झगड़े सभी धर्म-ग्रन्थों में आते हैं। काव्य में स्थूल और मोटे विषयों का वर्णन सूक्ष्म वस्तुओं के रूपकों के द्वारा किया जाता है; धर्मग्रन्थों में सूक्ष्म मनोभावों का वर्णन उन्हें ठोस, स्थूल रूप देकर—देव और दानव का रूप देकर—किया जाता है। वैसे तो सब धर्मों में दैवी तथा आसुरी—इन दो प्रवृत्तियों का वर्णन है, परन्तु गीता की विशेषता यह है कि युद्ध के समय जब ये दो प्रवृत्तियाँ अपने उग्र रूप में सामने दिखाई दे रही हैं, जब एक ओर सद्गुण तथा दूसरी ओर दुर्गुण पांडवों और कौरवों के रूप में आकर आमने-सामने खड़े हो गये हैं, तब श्रीकृष्ण ने ऊँची आवाज़ उठाकर संसार का ध्यान इस सत्य की तरफ़ खींचा कि ये युद्ध युद्ध करने से समाप्त नहीं होंगे, सन्धियों से समाप्त नहीं होंगे, ये दैवी-संपद् और आसुरी-संपद् के आधारभूत तत्व को समझने से समाप्त होंगे। हम झगड़ते हैं पैसे के लिए, शक्ति के लिए, राज्य के लिए। क्यों ? क्योंकि इन्हीं को हम यथार्थ संपत्ति समझते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि ये सब-कुछ सम्पत्ति हैं, परन्तु आसुरी संपत्ति हैं। हमें आसुरी नहीं, दैवी-संपत्ति संचित करनी है।

यहां दैवी-संपद् के २६ गुण गिनाये हैं, आसुरी के कुल ६ अवगुण गिनाये हैं—इसका यह अभिप्राय नहीं कि इनकी संख्या इतनी ही है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से गुणों का ही विचार करना उचित है, दुर्गुणों पर अधिक बातचीत करना भी दुर्गुण पैदा करता है, इसलिए गीता ने ६ दुर्गुण गिना कर ही बस कर दिया है। हाँ, दुर्गुणों का जो भयानक परिणाम होता है उसकी तरफ़ गीता ने ६ से २० श्लोक तक हमारा ध्यान खींचा है ताकि इन के भयानक परिणामों को देखकर मनुष्य संभले। गुणों की संख्या भी छब्बीस ही हो, अधिक न हो, ऐसी बात नहीं है। गीता ने निर्देश-भर कर दिया है।

[दैवी तथा आसुरी प्रकृति के परिणाम]

दैवी संपद् मोक्ष देनेवाली और आसुरी संपद् बन्धन में डालनेवाली है। हे पांडव! तू दुःखी मत हो क्योंकि तू दैवी-संपद् लेकर जन्मा है ॥५॥

इस संसार में दो प्रकार के प्राणियों की सृष्टि है—दैवी तथा आसुरी। हे पार्थ दैवी का विस्तार से वर्णन किया जा चुका है, अब तू मुझ से आसुरी का वर्णन सुन ॥६॥

आसुरी-प्रकृति के लोग न यह जानते हैं कि क्या करना चाहिये, न यह जानते हैं कि क्या नहीं करना चाहिये—उन्हें

दैवी संपद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥

दैवी[1]—दैवी; **संपद्**[2]—सम्पत्ति या गुण; **विमोक्षाय**[3]—मोक्ष प्रदान के लिये; **निबन्धाय**[5]—बन्धन में डालने के लिये; **आसुरी**[4]—आसुरी; **मता**[6]—मानी जाती है; **मा**[8]—मत; **शुचः**[9]—शोक कर; **सम्पदम्**[11]—सम्पत्ति को; **दैवीम्**[10]—दैवी को; **अभिजातः**[12]—लेकर उत्पन्न है; **असि**[13]—तू है; **पाण्डव**[7]—हे अर्जुन।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥

द्वौ[5]—दो; **भूतसर्गौ**[4]—प्राणियों की सृष्टि; **लोके**[3]—इस संसार में; **अस्मिन्**[2]—इस; **दैवः**[6]—दैवीय; **आसुरः**[8]—आसुर; **एव**[10]—ही; **च**[7]—और; **दैवः**[9]—दैवीय; **विस्तरशः**[11]—विस्तार से; **प्रोक्तः**[12]—कहा है; **आसुरम्**[13]—आसुर को; **पार्थ**[1]—हे अर्जुन; **मे**[14]—मेरा (मुझसे); **शृणु**[15]—सुन।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

प्रवृत्तिम्[3]—कर्म में प्रवृत्ति को; **च**[4]—और; **निवृत्तिम्**[5]—कर्म से निवृत्ति को, कर्म न करने को; **च**[6]—और; **जनाः**[2]—लोग; **न**[7]—नहीं; **विदुः**[8]—जानते हैं; **आसुराः**[1]—आसुरी प्रकृति के लोग; **न**[10]—

'प्रवृत्ति' तथा 'निवृत्ति' का ज्ञान नहीं होता। उनमें न 'पवित्रता' पायी जाती है, न 'सदाचार' पाया जाता है, न 'सत्य' पाया जाता है। (पवित्रता शारीरिक गुण है, सदाचार मानसिक गुण है, सत्य आध्यात्मिक गुण है) ॥७॥

वे कहते हैं कि यह जगत् असत्य है, इसका कोई आधार नहीं है, इसका कोई ईश्वर नहीं है, यह 'अपरस्पर-संभूत' है—अर्थात् समाज में व्यक्तियों के परस्पर मिलने-जुलने से नहीं बना, कामना से ही (सामाजिक-सहयोग की भावना से नहीं, अपितु अपनी वैयक्तिक स्वार्थमयी कामना की पूर्ति से ही) बना है—यह 'काम-हैतुक' है, इसके सिवाय इस संसार के बनने का दूसरा कोई हेतु ही क्या हो सकता है ॥८॥

इस श्लोक में चारवाकों को आसुरी-प्रकृति का मानकर उनके मत का प्रतिपादन किया गया है। आजकल के भौतिकवादी भी इसी श्रेणी में आ जाते हैं। गीता के समय में सांख्यवादी तथा वेदान्ती अध्यात्मवाद के माननेवाले थे, चारवाक भौतिकवाद के मानने वाले थे। वेदान्ती कहते थे कि ब्रह्म **'सत्यस्य सत्यम्'**—सत्य का भी सत्य है—वही सत्य का सत्य जगत् का आधार, जगत् की प्रतिष्ठा है—**'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा'**—वही ईश्वर है, सहयोग से, एक-दूसरे की सहायता करने से सृष्टि चली और चल रही है। इन्हें गीता ने दैवी-संपद् के लोग कहा है। चारवाक कहते थे कि तुम कहते हो सृष्टि सत्य से चल रही है; गलत है, यह असत्य से चल रही

नहीं; **शौचम्**[11]—पवित्रता; **न**[12]—नहीं; **अपि**[17]—भी; **च**[14]—और; **आचारः**[13]—शिष्टाचार; **न**[15]—नहीं; **सत्यम्**[16]—सत्य; **तेषु**[9]—उनमें; **विद्यते**[18]—विद्यमान है।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥८॥

असत्यम्[5]—असत्य; **अप्रतिष्ठम्**[4]—आधार रहित; **ते**[1]—वे; **जगत्**[3]—इस संसार को; **आहुः**[2]—कहते हैं; **अनीश्वरम्**[6]—इसका कोई ईश्वर नहीं; **अपरस्परसंभूतम्**[7]—समाज परस्पर व्यक्तियों के मेल से नहीं बना; **किम्**[10]—क्या; **अन्यत्**[9]—और; **कामहैतुकम्**[8]—वैयक्तिक कामनाओं की पूर्ति के प्रयोजन वाला।

है। तुम कहते हो सृष्टि का आधार ब्रह्म है; गलत है, सृष्टि स्वयं चल रही है, निराधार है। तुम कहते हो इसे ईश्वर चला रहा है; ग़लत है, यहाँ कोई ईश्वर नहीं है। तुम कहते हो सृष्टि का क्रम परस्पर सहयोग से हुआ; ग़लत है, सृष्टि का मूल मंत्र 'काम-हैतुक' है, अपना-अपना स्वार्थ है। इस सृष्टि का अन्य कोई हेतु नहीं है।

इस दृष्टिकोण को पकड़ कर ये अल्पबुद्धि, नष्टात्मा, भयंकर कर्म करने वाले लोग जगत् के शत्रु बनकर उसके विनाश के लिये उभरा करते हैं ॥९॥

कभी तृप्त न होनेवाली लालसा का आश्रय लेकर, दंभ, मान, और मद से युक्त, मोह के कारण असद्-ग्रहों—दुष्ट, आसुरी इच्छाओं को ग्रहण करके—अपवित्र निश्चयों को मन में लेकर (आसुरी प्रकृति के लोग) कार्य में प्रवृत्त होते हैं ॥१०॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥

एताम्[1]—इस; **दृष्टिम्**[2]—दृष्टिकोण को; **अवष्टभ्य**[3]—पकड़ कर; **नष्टात्मानः**[4]—नष्ट आत्मा वाले; **अल्पबुद्धयः**[5]—क्षुद्रबुद्धि वाले; **प्रभवन्ति**[10]—समर्थ होते हैं; **उग्रकर्माणः**[6]—भारी भीषण कर्म करने वाले; **क्षयाय**[9]—नाश के लिये; **जगतः**[7]—संसार के; **अहिताः**[8]—अहितकारी।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

कामम्[3]—लालसा—कामना को; **आश्रित्य**[4]—आश्रय ले कर; **दुष्पूरम्**[2]—कभी न पूरी होने वाली; **दम्भमानमदान्विताः**[1]—दम्भ, मान और मद से युक्त लोग; **मोहात्**[5]—मूढ़ता से; **गृहीत्वा**[7]—ग्रहण करके; **असद्ग्राहान्**[6]—बुरे आग्रहों (सिद्धान्तों) को, आसुरी इच्छाओं को; **प्रवर्तन्ते**[9]—प्रवृत्त होते हैं; **अशुचिव्रताः**[8]—अपवित्र निश्चय करने वाले।

अपरिमित चिन्ताओं में, जो सृष्टि के प्रलय पर ही जाकर कहीं समाप्त होंगी, पड़े हुए, कामनाओं के परम भोगी, 'भोग ही सर्वस्व है'—यह जिन्होंने निश्चय कर लिया है ॥११॥

लालसाओं के सैकड़ों जालों में फँसे हुए, काम और क्रोध के पंजे में बँधे हुए ये (आसुरी-प्रकृति के लोग) अपनी कामनाओं की तृप्ति के लिये अन्यायपूर्ण उपायों द्वारा ढेर-की-ढेर सम्पत्ति का संचय करने के लिये प्रयत्न करते हैं ॥१२॥

यह आज मैंने प्राप्त कर लिया है; (कल) इस मनोरथ को पूरा कर लूँगा; यह (धन) तो मेरे पास है ही, फिर वह धन भी मेरा हो जायगा ॥१३॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥

चिन्ताम्[3]—चिन्ता को (में); **अपरिमेयाम्**[2]—अपरिमित को (में); **च**[5]—और; **प्रलयान्तान्**[1]—प्रलय होने पर ही जो समाप्त होती है, प्रलय (नाश) ही जिसका अन्त (परिणाम) है; **उपाश्रिताः**[4]—आश्रय लिये हुए; **कामोपभोगपरमाः**[6]—कामनाओं के भोग में तत्पर; **एतावत्**[7]—ऐसा, इतना; **इति**[8]—ही, इस प्रकार का; **निश्चिताः**[9]—निश्चय किये हुए ।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥

आशापाशशतैः[1]—सैकड़ों लालसाओं के जाल में; **बद्धाः**[2]—बंधे हुए; **कामक्रोधपरायणाः**[3]—काम, क्रोध के अधीन हुए; **ईहन्ते**[7]—चाहते हैं; **कामभोगार्थम्**[4]—कामनाओं की तृप्ति के लिये; **अन्यायेन**[5]—अन्यायपूर्ण उपायों से; **अर्थसञ्चयान्**[6]—धन-संग्रह को ।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

इदम्[3]—यह; **अद्य**[2]—आज; **मया**[1]—मैंने; **लब्धम्**[4]—प्राप्त कर लिया; **इमम्**[5]—इसको; **प्राप्स्ये**[7]—प्राप्त कर लूँगा; **मनोरथम्**[6]-

इस शत्रु को मैंने मार लिया, अन्य शत्रुओं को भी मार डालूँगा। मैं ईश्वर हूँ, मैं ही भोग करने वाला हूँ, मैं सिद्ध हूँ—सफल हूँ—बलवान् और सुखी हूँ ॥१४॥

'मैं ईश्वर हूँ—इसकी व्याख्या करते हुए डा० राधाकृष्णन लिखते हैं कि सत्ता प्राप्त करने और प्रभुत्व जमाने का प्रलोभन बहुत व्यापक रहा है। अन्य लोगों पर शासन करने की प्रवृत्ति ने मनुष्य को अपना दास बना दिया है। दैवी-प्रकृति की आत्माएँ इस प्रलोभन को अस्वीकार कर देती हैं, आसुरी-प्रकृति की आत्माएँ इन लक्ष्यों को अपना लेती हैं और वे अभिमान, आत्मश्लाघा, अति-लोभ, द्वेष, नृशंसता को गुण बतला कर उनकी प्रशंसा करती हैं।

मैं धनवान् हूँ, ऊँचे कुल में उत्पन्न हुआ हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा, मौज करूँगा—वे अज्ञान के कारण मूढ़ बने हुए (ऐसी बातें करते हैं) ॥१५॥

अभिलषित वस्तु को; **इदम्**[9]—यह; **अस्ति**[11]—मेरे पास है; **इदम्**[14]—यह; **अपि**[13]—भी; **मे**[8]—मेरे पास; **भविष्यति**[15]—होगा; **पुनः**[12]—फिर; **धनम्**[10]—धन।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥१४॥

असौ[1]—यह; **मया**[3]—मैंने; **हतः**[4]—मार दिया है; **शत्रुः**[2]—शत्रु; **हनिष्ये**[8]—मारूँगा; **च**[5]—और; **अपरान्**[6]—दूसरों को; **अपि**[7]—भी; **ईश्वरः**[10]—स्वामी, समर्थ हूँ; **अहम्**[9]—मैं; **अहम्**[11]—मैं; **भोगी**[12]—भोगी; **सिद्धः**[14]—सिद्ध अर्थात् सफल; **अहम्**[13]—मैं; **बलवान्**[15]—बलवान्; **सुखी**[16]—सुखी।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

आढ्यः[1]—धनवान्; **अभिजनवान्**[2]—उच्च कुल में उत्पन्न, बहु-कुटुम्बी; **अस्मि**[3]—हूँ; **कः**[7]—कौन; **अन्यः**[6]—अन्य; **अस्ति**[8]—है; **सदृशः**[5]—समान; **मया**[4]—मुझसे (मेरे); **यक्ष्ये**[9]—यज्ञ करूँगा; **दास्यामि**[10]—दूँगा; **मोदिष्ये**[11]—आनन्द लूँगा; **इति**[12]—इस प्रकार से; **अज्ञानविमोहिताः**[13]—अज्ञान से मूढ़ हैं।

चित्त की अनेक भ्रान्तियों में पड़े हुए, मोह-जाल से घिरे हुए, विषय और भोगों में आसक्त हुए ये (आसुरी प्रकृति के लोग) अपवित्रतापूर्ण नरक में जा गिरते हैं ।।१६।।

अपनी स्तुति आप करनेवाले, अकड़बाज़, धन तथा मान के मद में मस्त (ये आसुरी प्रकृति के लोग) दंभ से—पाखंड के साथ—शास्त्र की विधि को छोड़कर नाम के लिये यज्ञ किया करते हैं ।।१७।।

अहंकार, बल, घमंड, काम और क्रोध के वश में होकर ये असूया—दूसरे की निन्दा—करनेवाले (आसुरी प्रकृति के लोग) मुझ से, जो उनके देह में भी वर्तमान हूँ, दूसरों के देह में भी वर्तमान हूँ, द्वेष करते हैं ।।१८।।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ।।१६।।

अनेकचित्तविभ्रान्ताः[1]–चित्त की अनेक भ्रान्तियों में पड़े हुए; **मोहजालसमावृताः**[2]–मोह के जालों से घिरे हुए; **प्रसक्ताः**[4]–चिपटे हुए, फँसे हुए; **कामभोगेषु**[3]–कामनाओं के भोगों में; **पतन्ति**[7]–गिरते हैं; **नरके**[6]–नरक में; **अशुचौ**[5]–अपवित्र ।

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ।।१७।।

आत्मसंभाविताः[2]–अपनी श्लाघा में निरत; **स्तब्धाः**[3]–अकड़-बाज, हठी; **धनमानमदान्विताः**[4]–धन, मान और मद से युक्त; **यजन्ते**[8]–यजन करते हैं; **नामयज्ञैः**[6]–नाम के लिये या नाममात्र यज्ञों से; **ते**[1]–वे; **दम्भेन**[7]–पाखण्ड के कारण; **अविधिपूर्वकम्**[5]–बिना किसी यज्ञ के विधान को मानते हुए ।

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ।।१८।।

अहङ्कारम्[1]–अहङ्कार को; **बलम्**[2]–बल को; **दर्पम्**[3]–घमण्ड को; **कामम्**[4]–काम-वासना को; **क्रोधम्**[6]–क्रोध को; **च**[5]–और;

इन द्वेष करने वाले क्रूर व्यक्तियों को, जो संसार में नराधम हैं, अशुभ हैं, मैं बार-बार आसुरी योनियों में पटकता रहता हूँ ॥१९॥

जन्म-जन्म में आसुरी योनियों में पड़े हुए ये मूढ़ प्राणी, हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन, क्योंकि मुझे पा नहीं सकते, इसलिये मुझे न पाने से इससे भी अधिक अधम गति को जाते हैं ॥२०॥

[आसुरी-प्रकृति वालों के लिये नरक के तीन द्वार]

आसुरी-प्रकृति तथा उससे मिलनेवाली गति का वर्णन हो चुका। आसुरी-प्रकृति से छुटकारा कैसे मिले ? इस संबंध में श्रीकृष्ण कहते हैं :

संश्रिताः[7]–आश्रय लेकर; **माम्**[10]–मुझ को; **आत्मपरदेहेषु**[9]–अपने और दूसरों के देहों में (भी वर्त्तमान); **प्रद्विषन्तः**[11]–द्वेष करते हुए; **अभ्यसूयकाः**[8]–दूसरों की निन्दा करने वाले।

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

तान्[1]–उनको; **अहम्**[6]–मैं; **द्विषतः**[2]–द्वेष करने वालों को; **क्रूरान्**[3]–क्रूरों को; **संसारेषु**[7]–लोकों में; **नराधमान्**[4]–नीच पुरुषों को; **क्षिपामि**[12]–फेंकता हूँ; **अजस्रम्**[10]–लगातार; **अशुभान्**[5]–अशुभ कार्य करने वाले; **आसुरीषु**[8]–आसुरी; **एव**[11]–ही; **योनिषु**[9]–योनियों में।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

आसुरीम्[5]–आसुरी; **योनिम्**[6]–योनि को; **आपन्नाः**[7]–प्राप्त हुए; **मूढाः**[1]–मूर्ख; **जन्मनि**[3]–जन्म में; **जन्मनि**[4]–जन्म में अर्थात् जन्मजन्मान्तरों में; **माम्**[9]–मुझको; **अप्राप्य**[10]–न प्राप्त कर; **एव**[14]–ही; **कौन्तेय**[2]–हे अर्जुन; **ततः**[11]–फिर, वहाँ से, उससे; **यान्ति**[15]–प्राप्त करते हैं; **अधमाम्**[12]–अधम, निकृष्ट; **गतिम्**[13]–गति को।

(आसुरी-प्रकृति के द्वारा) आत्मा को विनाश की ओर ले जानेवाले तीन प्रकार के दरवाजे हैं। वे हैं : काम, क्रोध और लोभ। इसलिये मनुष्य को इन तीनों का त्याग करना चाहिये ॥२१॥

हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन! जो तम——अन्धकार——की ओर ले जानेवाले इन तीनों द्वारों से छूट जाता है, वह आत्मा का कल्याण करने वाले कर्मों का आचरण करता है, और इससे वह परम गति को पाता है ॥२२॥

[कर्तव्य-कर्म के लिये शास्त्र की प्रामाणिकता]

जो व्यक्ति शास्त्र के विधान को छोड़कर मनमाना आचरण करने लगता है, उसे न सिद्धि——सफलता——मिलती है, न सुख मिलता है, न उत्तम गति ही मिलती है ॥२३॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

त्रिविधम्[6]—तीन प्रकार का; **नरकस्य**[7]—नरक का; **इदम्**[5]—यह; **द्वारम्**[8]—द्वार; **नाशनम्**[10]—नाश करने वाला; **आत्मनः**[9]—आत्मा का, अपना; **कामः**[1]—काम; **क्रोधः**[2]—क्रोध; **तथा**[3]—और; **लोभः**[4]—लोभ; **तस्मात्**[11]—इस कारण से; **एतत्**[12]—इन; **त्रयम्**[13]—तीनों को; **त्यजेत्**[14]—छोड़ दे।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

एतैः[2]—इनसे; **विमुक्तः**[5]—छूटा हुआ; **कौन्तेय**[1]—हे अर्जुन; **तमोद्वारैः**[4]—अन्धकार की ओर लेजाने वाले द्वारों (साधनों) से; **त्रिभिः**[3]—तीनों से; **नरः**[6]—मनुष्य; **आचरति**[9]—आचरण करता है; **आत्मनः**[7]—आत्मा का, अपना; **श्रेयः**[8]—कल्याण को; **ततः**[10]—फिर; **याति**[13]—पहुँचता है; **पराम्**[11]—श्रेष्ठ; **गतिम्**[12]—गति को।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

यः[1]—जो; **शास्त्रविधिम्**[2]—शास्त्रोक्त विधान को; **उत्सृज्य**[3]—छोड़ कर; **वर्तते**[5]—आचरण करता है; **कामकारतः**[4]—मनमाने तरीके

इसलिये क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये—इस बात की व्यवस्था के लिये तू शास्त्र को ही प्रमाण समझ। शास्त्र में जो विधान बतलाया गया है, जो नियम बतलाये गये हैं, उन्हें जानकर तुझे इस संसार में अपना काम करते जाना चाहिये ॥२४॥

श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् में जिस ब्रह्मविद्या का वर्णन किया गया है, उसके अन्तर्गत जो योगशास्त्र है, उसमें जो कृष्णार्जुन-संवाद है, उस संवाद का 'दैवासुर-संपद्-विभाग-योग'-नामक चतुर्दश अध्याय समाप्त हुआ।*

उपसंहार

१. इस अध्याय पर सरसरी दृष्टि

(क) **दैवी तथा आसुरी प्रकृति**—इस अध्याय में जगत् को व्याप रही दो प्रवृत्तियों का हृदयग्राही चित्र खींचा गया है। कुछ लोग दैवी गुणों को संपत्ति समझते हैं, कुछ आसुरी गुणों को सम्पत्ति समझते हैं, और उन्हें बटोरने में लगे रहते हैं। दैवी-सम्पत्ति का संग्रह करने वालों को गीता ने 'दैवी-प्रकृति' का और आसुरी-संपत्ति का संग्रह करने वालों को 'आसुरी-प्रकृति' का कहा है। दैवी-प्रकृति के लोग संसार के बन्धन से छूट जाते हैं, आसुरी-प्रकृति के ईश्वर का

से; **न**[7]—नहीं; **सः**[6]—वह; **सिद्धिम्**[8]—सिद्धि को; **अवाप्नोति**[9]—प्राप्त करता है; **न**[10]—नहीं; **सुखम्**[11]—सुख को; **न**[12]—नहीं; **पराम्**[13]—परम; **गतिम्**[14]—गति को।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

तस्मात्[1]—उस कारण से; **शास्त्रम्**[4]—शास्त्र; **प्रमाणम्**[5]—प्रमाण है, निर्णायक है; **ते**[2]—तेरा; **कार्याकार्यव्यवस्थितौ**[3]—क्या करें क्या न करें इस वात की व्यवस्था में; **ज्ञात्वा**[8]—जान कर; **शास्त्रविधानोक्तम्**[6]—शास्त्र की विधि द्वारा विहित; **कर्म**[7]—कर्म को; **कर्तुम्**[10]—करने के लिये; **इह**[9]—इस लोक में; **अर्हसि**[11]—योग्य होना चाहिये।

* इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे दैवासुर-संपद्-विभाग-योगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः।

तिरस्कार करते हैं, अपने को ही सब-कुछ मानते हैं, धन-दौलत को जमा करने में लगे रहते हैं, जितना-कुछ जोड़ लिया उसे थोड़ा मान कर और अधिक की चिंता में लगे रहते हैं, ईर्ष्या-द्वेष-चिंता से व्याकुल रहते हैं, अपने-आप को स्वर्ग में समझते हैं, परन्तु नरक के दरवाजों के सामने खड़े नरक में घुसने की तय्यारी कर रहे होते हैं। गीता ने आसुरी-प्रकृति का जो वर्णन किया है वह पांच हज़ार साल बाद आज भी वैसे-का-वैसा सत्य है।

(ख) **काम-क्रोध-लोभ का पारस्परिक सम्बन्ध**—गीता के अनुसार आसुरी-प्रकृति वालों के नरक में जाने के तीन दरवाज़े हैं—काम, क्रोध, तथा लोभ। 'काम' का अर्थ है—वासना, इच्छा (Desire)। गीता में कहा है—**'संगात्संजायते कामः'**—विषयों के संग से 'कामना' उत्पन्न होती है। हमारी प्रत्येक गति-विधि का मूल आधार कामना है। संसार का प्रवाह ही 'कामना' के स्रोत से बह रहा है। जब 'कामना' अवरुद्ध होती है, उसके पूरा होने में रुकावट, बाधा आ जाती है, तब कामना 'क्रोध' का रूप धारण कर लेती है। अगर कामना अवरुद्ध नहीं होती, पूरी होती चली जाती है, तब वह 'लोभ' का रूप धारण कर लेती है, एक कामना की तृप्ति के बाद मनुष्य के मन में दूसरी कामना उठ खड़ी होती है। इस प्रकार 'काम' का एक सिरा 'क्रोध' है, दूसरा सिरा 'लोभ' है, 'क्रोध' और 'लोभ' दोनों 'काम' के ही दो रूप हैं। इन्हीं तीनों को गीता ने नरक के त्रिविध-द्वार कहा है।

२. इस अध्याय पर श्री विनोबा के विचार

दैवी तथा आसुरी सम्पत्ति के विषय में विचार करते हुए श्री विनोबा ने लिखा है कि आसुरी सम्पत्ति का आधार सत्ता, संस्कृति तथा संपत्ति—ये तीन हैं। इन्हीं की तरफ़ गीता में निर्देश किया गया है।

(क) **सत्ता**—जहाँ तक सत्ता का संबंध है, आसुरी प्रकृति का व्यक्ति कहता है कि सारी सत्ता, सारा प्रभुत्व मुझे चाहिए—**'ईश्वरोऽहम्'**। सारी दुनिया मेरे तंत्र में आ जानी चाहिए; जो मेरे तंत्र के अनुसार चलेगा वही 'स्व-तंत्र' कहलायेगा—'स्वतंत्र'-शब्द का अर्थ ही वह बदल देता है। एक समय था जब समाज में ब्राह्मणों की सत्ता थी, उनका प्रभुत्व था। शास्त्र वे लिखते, कानून वे बनाते, राजा उनके सम्मुख नतमस्तक होते। वह युग बदला। क्षत्रियों का युग आया। घोड़े छोड़े जाने लगे, दिग्विजय किये जाने लगे। फिर वैश्यों का युग आया। अब वैश्यों के हाथ से सत्ता जा रही है, मज़दूरों के हाथ में सत्ता आ रही है। जिसके हाथ में सत्ता आती है वह उसका अपने लिए उपयोग करता है, यही सत्ता का दुरुपयोग है, यही आसुरी-वृत्ति है। आज मज़दूर भी तो अपने लिए ही सत्ता का उपयोग करना चाहते हैं। इसी भावना से संसार में युद्धों का सूत्रपात हुआ है।

(ख) **संस्कृति**—सब कहते हैं, एक हमारी ही संस्कृति उत्कृष्ट है। सब की महत्वाकांक्षा है कि वही सारे संसार पर लादी जाय। मेरी संस्कृति के समान दूसरी कौन है—**'कोऽन्योस्ति सदृशो मम'**। अगर पूछा जाय कि तुम्हारी संस्कृति

ही क्यों लादी जाय, तो कहते हैं—वही सब से अच्छी है। अच्छी क्यों है? क्योंकि वह हमारी है। मुसलमान भी तो ऐसा ही समझते हैं कि कुरान शरीफ़ में जितना-कुछ लिखा है वही सच है। ईसाई भी ऐसा ही मानते हैं। अन्य धर्म का मनुष्य कितना ही उच्च-कोटि का क्यों न हो, वह जब तक ईसामसीह पर विश्वास नहीं लाता, तब तक उसे स्वर्ग मिलने वाला नहीं। हम सब भी यही मानते हैं। मैं इस कुल का हूँ, उस कुल का हूँ, मेरा कुल सब से श्रेष्ठ है। यही हाल पश्चिमी लोगों का है। वे कहते हैं, हमारी नसों में नार्मन लोगों का रक्त बहता है। इस प्रकार अपने को सब से बड़ा और दूसरों को छोटा समझना—यह सब अहंकार, दर्प, अभिमान, घमंड—आसुरी भाव है।

(ग) संपत्ति—संपत्ति के विषय में आसुरी-भाव का उल्लेख करते हुए गीता में कहा है: **'इदमस्ति इदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्'**—मेरे पास इतना धन है, और बाकी रहा-सहा भी मैं बटोर लूंगा। संसार की सारी सम्पत्ति मुझे चाहिये और मैं उसे प्राप्त करूँगा ही। क्या मैं उसे पाकर सब को बाँट दूंगा? नहीं, मैं उस पर साँप बन कर बैठूंगा, खुद खाऊँगा, दूसरों को खाने नहीं दूंगा। आज जो धनी-निर्धन का झगड़ा चल रहा है, कहीं हड़ताल, कहीं तालेबन्दी—यह सब सम्पत्ति को हड़पने की आसुरी-वृत्ति का ही परिणाम है।

३. इस अध्याय पर श्री अरविंद के विचार

(क) दैवी तथा आसुरी प्रकृति का आधार सत्व-रज-तम त्रिगुण—श्री अरविंद का कहना है कि गीता ने 'दैवी' तथा 'आसुरी' प्रकृति का जो भेद किया है उसका आधार सत्व, रज तम—ये तीन गुण हैं। गीता में 'देव' तथा 'असुर' का विभाग सारी-की-सारी मनुष्य जाति को ध्यान में रखकर नहीं किया गया। तामसिक मनुष्य, जो संपूर्ण मानव-समाज का कितना ही बड़ा भाग है, इसमें नहीं गिना गया। तामसिक मनुष्य तो क्रियाशील ही नहीं है इसलिए गीता ने उसे अपने क्षेत्र में से निकाल दिया है। जब तमोगुणी व्यक्ति भी क्रियाशील हो जाता है तब या तो वह 'रज:प्रधान' हो जाता है, या रज:प्रधान हो जाने के बाद 'सत्त्व-प्रधान' होने की उसमें क्षमता आ जाती है। सत्वप्रधान को गीता ने 'देव' तथा रज:प्रधान को 'असुर' कहा है, और गीता में इन दोनों का वर्णन है। गीता का मुख्य लक्ष्य आत्मा को नीचे से ऊपर ले जाना है, प्रकृति में से निकाल कर परमात्मा में ला बैठालना है—यह आत्मा का 'आरोहण' है। ऐसी हालत में तमोगुण, जो हिलना ही नहीं जानता, उसका कहाँ स्थान है? यही कारण है कि गीता ने अपने वर्णन में तीनों गुणों को आधार बनाते हुए सत्वप्रधान दैवी-प्रकृति तथा रज:प्रधान आसुरी-प्रकृति का ही वर्णन किया है, तम:प्रधान प्रकृति का वर्णन नहीं किया क्योंकि नीचे से ऊपर 'आरोहण' तमोगुण में नहीं होता, रजोगुण और सत्वगुण में हो सकता है और होता है।

(ख) **निस्त्रैगुण्यता तथा कर्म का विरोध**—श्री अरविंद कहते हैं कि गीता के अनुसार आत्मा के सम्मुख गतियाँ दो हैं—नीचे की ओर प्रकृति में गति, ऊपर की ओर परमात्मा में गति। नीचे की गति आसुरी है, ऊपर की गति दैवी है। नीचे की गति में आत्मा त्रिगुणात्मक जीवन में बँधा रहता है। तीनों गुण क्योंकि प्रकृति के गुण हैं इसलिए ऊपर की, परमात्मा में गति तभी हो सकती है जब प्रकृति को, अर्थात् प्रकृति के तीनों गुणों को छोड़ दिया जाय। इनका छोड़ देना ही गीता की परिभाषा में 'मोक्ष' है। इसी को **'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'** या **'गुणातीत'** कहा है। तो क्या निस्त्रैगुण्य का, गुणातीत का अर्थ कर्म का त्याग है? प्रकृति ही तो कर्म करती है, जब प्रकृति छूट गई तो गुण अपने-आप छूट गये। इसका अर्थ यह हुआ कि मुक्त आत्मा कर्म नहीं कर सकता। परन्तु गीता ने तो इससे उल्टी बात कही है। गीता कहती है कि मुक्त योगी गुणों की प्रक्रियाओं में से छुटकारा पा लेता है, और वह चाहे जो भी कर्म करे, चाहे जिस प्रकार भी रहे, प्रकृति से छुटकारा पाकर और परमात्मा में निवास करके वह उसी में चलता-फिरता, उसी में सब काम-काज करता है। गीता का कथन है: **'सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते'**—जिस किसी तरह का कर्म करता हुआ भी मुझ में ही कर्म करता है। गुणातीत होकर कर्म नहीं कर सकता क्योंकि कर्म प्रकृति करती है, और गुणातीत होकर भगवान् में ही कर्म करता है—गीता के इन परस्पर विरुद्ध दोनों कथनों का समन्वय क्या है?

(ग) **निस्त्रैगुण्यता तथा कर्म का समन्वय**—श्री अरविंद कहते हैं कि यह विरोध तभी तक विरोध जान पड़ता है जब तक हम प्रकृति के अन्दर विद्यमान अध्यात्म-सत्ता पर दृष्टिपात नहीं करते। आध्यात्मिक सत्य यह है कि जो शक्ति जगत् को चला रही है वह वास्तव में प्रकृति के गुण नहीं हैं। ये गुण तो हमारी साधारण प्रकृति का केवल निम्न पक्ष है, उसका एक यंत्र मात्र है। जगत् की वास्तविक चालक-शक्ति एक आध्यात्मिक भगवत्संकल्प है जो इस समय इन निम्न अवस्थाओं का प्रयोग कर रहा है, परन्तु जो स्वयं प्रकृति के गुणों द्वारा उस प्रकार सीमाबद्ध एवं नियंत्रित नहीं होता जिस प्रकार मानवीय संकल्प गुणों द्वारा सीमाबद्ध तथा नियन्त्रित होता है। दिव्य संकल्प-बल में ऐसी शक्तियाँ अवश्य होनी चाहियें, जिनसे प्रकृति के ये गुण उद्भूत होते हैं। कारण, निम्नतर सामान्य प्रकृति की प्रत्येक वस्तु पुरुषोत्तम सत्ता की उच्चतर आध्यात्मिक-शक्ति से ही निःसृत हुई है—**'मत्तः सर्वं प्रवर्तते'**; वह आध्यात्मिक मूल से रहित एक सर्वथा नवीन वस्तु के रूप में उद्भूत नहीं होती। आत्मा की मूल शक्ति में कोई ऐसी चीज़ अवश्य है जिससे हमारी प्रकृति का सात्विक प्रकाश एवं सुख, उसकी राजसिक गति तथा तामसिक जड़ता निःसृत हुई हैं और जिसके व्यक्त प्रकृति में दृश्यमान ये सत्व-रज-तम गुण अपूर्ण या हीन रूप हैं। किंतु इन स्रोतों के जिस अपूर्ण तथा विकृत रूप के अंदर हम निवास कर रहे हैं उसके परे जब हम एक बार इनके विशुद्ध रूप तक पहुँचते हैं तब हमें पता चलता है कि ज्यों ही हम आत्मा के अन्दर निवास करने लगते

हैं त्यों ही ये गतियाँ—सात्विक, राजसिक, तामसिक भाव—एक सर्वथा भिन्न रूप धारण कर लेती हैं। तब गति या कर्म शान्त नहीं हो जाता, अपितु आत्मा की गति एवं आत्मा का कर्म परमात्मा के कर्म के साथ अपने को मिला देता है। सनातन अध्यात्म सत्ता को सोने या विश्राम करने की आवश्यकता नहीं होती, वह न तो श्रांत होती है, न शिथिल। उसे अपनी क्लांत शक्तियों को फिर से नया और ताज़ा करने के लिये विराम की ज़रूरत नहीं, क्योंकि उसकी शक्ति अक्षय रूप में एकरस है, कभी न थकनेवाली तथा असीम है। परमेश्वर अपने कर्म के बीच भी शांत और सुस्थिर रहते हैं। मुक्त जीव इस स्थिर शांति में प्रवेश करता है तथा परमात्मा के शाश्वत कर्म (रजोगुण) तथा विश्रांति (तमोगुण) में भाग लेता है। प्रकृति का शुद्धतम गुण, अर्थात् सत्वगुण अवश्य सराहनीय है, परन्तु जब गुण-मुक्त आत्मा प्रकृति के इस सत्व के अवर प्रकाश एवं सुख से परे, इसके ऊर्ध्व एवं सुदूर उद्‌गम में, परमात्मा में पहुँचता है, तब वहाँ महत्तर ज्योति तथा आनन्द पाता है। सत्वगुणी आत्मा जब प्रकृति के सत्व गुण में विद्यमान होता है तब वह प्रकाश में होता है, सुख में होता है; जब वह प्रकृति में से निकल कर, प्रकृति के सत्व गुण में से भी निकल कर परमात्मा में निवास करने लगता है तब प्रकाश के स्थान पर वह ज्योतिः में आ जाता है, सुख से निकल कर आनन्द में आ जाता है। यह ज्योतिः तथा आनन्द (सत्त्वगुण) वह अवस्था है जिसमें मुक्त-आत्मा अधिकाधिक भाग लेता है।

श्री अरविंद का कहना है कि इस प्रकार प्रकृति के गुणों की सामान्य, हीन क्रिया के अधीन हुए बिना भी जीव मुक्तावस्था में कर्म करता है। श्री अरविंद ने इस प्रकरण में जो समाधान किया है वह गीता से नहीं लिया गया। उनका कथन है कि उनका यह कथन उनकी अपनी आध्यात्मिक-अनुभूति के आधार पर है। यह गीता का **'रहस्यम् उत्तमम्'** है जो साधक को अपनी आध्यात्मिक-अनुभूति से उपलब्ध होता है।

सत्रहवाँ अध्याय

श्रद्धात्रय-विभाग-योग

सोलहवें अध्याय में कहा गया है कि नरक के तीन द्वार हैं—काम, क्रोध, तथा लोभ। इन तीनों से मुक्त होकर ही आत्मा को परम गति प्राप्त होती है। हम देख चुके हैं कि 'काम' ही क्रोध तथा लोभ का उद्भव-स्थान है। 'काम' के अवरुद्ध होने से 'क्रोध' पैदा होता है, 'काम' के ही निर्बाध प्रवाह से 'लोभ' पैदा होता है। आत्मा के बन्धन का मुख्य कारण, नरक का महाद्वार 'काम' ही है। 'काम' के पीछे चलने के बजाय गीता ने 'शास्त्र' के पीछे चलने का उपदेश दिया है। श्री अरविंद का कहना है कि 'कामना' के नियम का अनुसरण करना हमारी प्रकृति का सच्चा विधान नहीं है। कर्मों का एक अधिक उच्च और न्यायसंगत आदर्श भी है। वह आदर्श कहाँ निहित है ? 'कामना' तो हमारी व्यक्तिगत है। इसका अनुगमन करना नरक में जाना है। 'कामना' के सिवाय दूसरा रास्ता क्या है ? मनुष्य जाति उच्च विधान की खोज सदा ही करती आयी है और जो-कुछ उसने उपलब्ध किया है वह उसके शास्त्र में लिपिबद्ध है। शास्त्र का अभिप्राय उन रीति-रिवाजों का समूह नहीं जिनमें से कुछ अच्छे होते हैं, कुछ खराब। शास्त्र का अभिप्राय है अंतर्बोध, अनुभव और श्रद्धा के द्वारा प्रस्थापित ज्ञान और शिक्षा; शास्त्र का अभिप्राय है जीवन की विद्या, कला, आचार-नीति और साथ ही जो श्रेष्ठ आदर्श मनुष्य-जाति को उपलब्ध हैं, वे सभी शास्त्र हैं। गीता ने सोलहवें अध्याय के अन्त में कहा है कि जो मनुष्य इस प्रकार के शास्त्र के नियमों का पालन करना छोड़कर अपनी अन्ध-प्रेरणाओं एवं कामनाओं का अनुसरण करता है वह इन्द्रिय-तृप्ति तो प्राप्त कर सकता है, सुख नहीं, वह पूर्णता की ओर नहीं बढ़ सकता, सर्वोच्च आध्यात्मिक-स्थिति नहीं प्राप्त कर सकता। कामना के पीछे चलना पशु-जगत् का नियम है। पशु में और मनुष्य में जो अन्तर है उस अन्तर को बढ़ाना ही संस्कृति का बढ़ाना है। यह अन्तर 'कामना' के पीछे चलने के स्थान में 'शास्त्र' के पीछे चलने से बढ़ता है। 'कामना' वैयक्तिक है, 'शास्त्र' सामाजिक है। 'कामना' का अर्थ स्वच्छंदता है, मनमाना करना है; शास्त्र का अर्थ सर्वसम्मत नियम में, जीवन के सर्वश्रेष्ठ विधान की विकसमान उपलब्धि में एकरस हो जाना है। वैयक्तिकता तथा स्वच्छंदता का दृष्टिकोण पशु

का है, यह निम्न-जीवन है; सामाजिक तथा सर्वसम्मत दृष्टिकोण मनुष्य का है, यह उच्च-जीवन है, शास्त्र का है। परन्तु 'शास्त्र' का विधि-विधान कितने ही उच्च आदर्शों को लेकर बना हो, समय आता है जब कि वह भी निर्जीव तथा निष्प्राण हो जाता है, अब तक की प्राप्त की हुई मानव-समाज की उपलब्धियाँ बोदी और थोथी हो जाती हैं। ऐसी अवस्था में 'काम' और 'शास्त्र' दोनों बेकार हो जाते हैं।

इस भूमिका में अर्जुन के हृदय में प्रश्न उठता है कि इन दोनों मार्गों से अलग क तीसरा दृष्टिकोण भी तो हो सकता है। 'कामना' को अपना प्रेरणा-सूत्र मानना पशु के स्तर पर विद्यमान व्यक्ति के लिए ठीक हो सकता है, 'शास्त्र' को अपना प्रेरणा-सूत्र मानना रूढ़िवादी व्यक्ति के लिए प्रमाण रूप हो सकता है, परन्तु जो पशु के स्तर से ऊपर उठ चुका हो, जो यह देख चुका हो कि शास्त्र रूढ़ि में परिणत हो चुका है, शास्त्र के विधि-विधान मृतप्राय हो चुके हैं, उसके लिए क्या मार्ग है? ऐसे व्यक्ति कौन-से होते हैं? ऐसे व्यक्ति वे होते हैं जो 'कामना' के पीछे भी नहीं चलना चाहते, शास्त्र की रूढ़ सीमा-रेखा को पार कर चुके होते हैं, और जो एक अधिक पूर्णत्व की ओर, आत्मा के पूर्ण विकास की ओर बढ़ना चाहते हैं। इनके प्रयास का स्वरूप होता है—'कामना' को छोड़ कर, 'शास्त्र' को छोड़-कर, एक शक्तिशाली अभियान करना, एक साहसिक विकास की ओर, एक नूतन विजय की ओर पग बढ़ाना। तो वह कौन-सा सूत्र है जिसका अनुसरण करना होगा, कौन-सा मार्ग-दर्शक प्रकाश है जिस पर भरोसा रखकर—'कामना' तथा 'शास्त्र' पर नहीं, पर उस तीसरे किसी तत्व पर भरोसा रखकर—हमें आत्मा के विकास के मार्ग पर चलना होगा? इसका गीता ने उत्तर दिया है—'श्रद्धा'। 'कामना' को छोड़कर 'शास्त्र', और शास्त्र को छोड़कर 'श्रद्धा' में आस्था रखना आत्मा के उत्तरोत्तर विकास का मार्ग है। 'कामना' पशु के स्तर की वैयक्तिक वस्तु है, जो चाहो करो; 'शास्त्र' व्यक्ति पर भरोसा छोड़ कर सामाजिक वस्तु है, 'मैं' प्रमाण नहीं परन्तु समाज का सर्वसम्मत विधि-विधान प्रमाण है; 'श्रद्धा' आध्यात्मिक वस्तु है, 'मैं' भी प्रमाण नहीं, समाज का विधि-विधान तथा रूढ़ियाँ भी निर्जीव हो चुकी हैं, वे भी प्रमाण नहीं, परन्तु 'श्रद्धा' प्रमाण है क्योंकि यह विश्व के परम सत्य को अंगीकार कर उसके प्रति अपने अन्तरतम को खोल देने का नाम है।

'श्रद्धा' का अभिप्राय 'अन्ध-श्रद्धा' नहीं है। 'श्रद्धा' तामसिक हो सकती है, राजसिक हो सकती है, सात्विक हो सकती है। गीता के पिछले अध्यायों में सत्व-रज-तम पर पर्याप्त बल दिया जा चुका है। सात्विक-श्रद्धा जब हम में प्रबल हो जाती है तब यह आत्मा भागवत, विश्वातीत, निरपेक्ष सत्ता में प्रवेश कर जाता है। इसी प्रसंग को लेकर गीता का सत्रहवाँ अध्याय प्रारंभ होता है।

[त्रिविध श्रद्धा]

अर्जुन ने कहा : हे कृष्ण ! जो लोग शास्त्रों के विधि-विधानों की परवाह न करते हुए, 'श्रद्धा' से युक्त होकर (जीवन रूपी) यज्ञ करते हैं, उनकी निष्ठा--मानसिक-स्थिति--कैसी होती है? उनकी मानसिक-स्थिति सात्विक होती है, राजसिक होती है, या तामसिक होती है ? ॥१॥

श्री भगवान् ने कहा : प्राणिमात्र की श्रद्धा तीन प्रकार की होती है। श्रद्धा के ये तीन प्रकार उनके स्वभाव से उत्पन्न होते हैं। (सात्विक-स्वभाव वालों की) सात्विकी-श्रद्धा, (राजसिक-स्वभाववालों की) राजसिकी-श्रद्धा, और (तामसिक-स्वभाव वालों की) तामसिकी-श्रद्धा होती है। अब इन (तीनों) के विषय में सुन ॥२॥

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

ये[2]–जो; **शास्त्रविधिम्**[3]–शास्त्र के विधान को; **उत्सृज्य**[4]–छोड़कर; **यजन्ते**[7]–यज्ञ करते हैं; **श्रद्धया**[5]–श्रद्धा से; **अन्विताः**[6]–युक्त; **तेषाम्**[8]–उनकी; **निष्ठा**[9]–निष्ठा, मानसिक-स्थिति; **तु**[10]–तो; **का**[11]–कैसी होती है; **कृष्ण**[1]–हे कृष्ण; **सत्त्वम्**[12]–सत्त्वगुण वाली; **आहो**[13]–अथवा; **रजः**[14]–रजोगुण वाली; **तमः**[15]–तमोगुण वाली।

श्री भगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

त्रिविधा[11]–तीन प्रकार की; **भवति**[13]–होती है; **श्रद्धा**[4]–श्रद्धा; **देहिनाम्**[1]–मनुष्यों की; **सा**[2]–वह; **स्वभावजा**[3]–स्वभाव से उत्पन्न, स्वाभाविक; **सात्त्विकी**[5]–सात्त्विकी श्रद्धा; **राजसी**[7]–राजसी श्रद्धा; **च**[6]–और; **एव**[12]–ही; **तामसी**[9]–तामसी श्रद्धा; **च**[8]–और; **इति**[10]–इस प्रकार से; **ताम्**[14]–उसको; **शृणु**[15]–सुन।

हे भारत ! सब लोगों की श्रद्धा अपने स्वभाव के अनुसार होती है। मनुष्य स्वभाव से ही श्रद्धामय है। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही होता है ॥३॥

सात्विक स्वभाव वाले व्यक्ति देवताओं की (श्रद्धा-पूर्वक) पूजा करते हैं, राजसिक स्वभाव वाले यक्षों और राक्षसों की (श्रद्धापूर्वक) पूजा करते हैं, तामसिक स्वभाव वाले भूतों-प्रेतों की (श्रद्धापूर्वक) पूजा करते हैं ॥४॥

'राक्षस' का अर्थ कोई सींगोंवाला बड़ा भारी दैत्य नहीं, जो भी व्यक्ति राक्षस स्वभाववाला हो वह राक्षस है। अपने समाज में जने-जने राक्षस फिरते हैं, उनकी पूजा भी होती है, वे बड़े-बड़े ओहदों पर विराजमान हैं। वे संसार के भोगों के स्वामी हैं, उनके गिर्द स्वार्थी, लोभी, लालची लोग चक्कर काटा करते हैं क्योंकि उनकी भी कुत्तों की तरह टुकड़ों पर आँख लगी होती है। ये सब राजसिक वृत्ति के लोग हैं। 'भूत-प्रेत' का अर्थ भूत-प्रेत तो है ही, आज के युग में भूत-प्रेत का एक नवीन अर्थ भी है। जो समाज में अपने स्वार्थों को लेकर आये, उठे, आगे बढ़े, परन्तु उनके स्वार्थों ने ही उन्हें भूत-काल का बना दिया, जिनकी अब समाज में प्रतिष्ठा नहीं रही—वे 'भूत'। 'प्रेत' का अर्थ है—प्र+इतः—जो अपने कर्मों के कारण भविष्य में जानेवाला है, टिकनेवाला नहीं, जो जीते-जी मरे के समान है, वह 'प्रेत'। तामसिक स्वभाववाले लोग ऐसों में श्रद्धा रखते हैं, दूसरे नहीं।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

सत्त्वानुरूपा[4]—सत्त्व (अन्तःकरण, चित्तवृत्ति) के अनुसार; **सर्वस्य**[2]—सब की; **श्रद्धा**[3]—श्रद्धा; **भवति**[5]—होती है; **भारत**[1]—हे अर्जुन; **श्रद्धामयः**[8]—श्रद्धा से युक्त; **अयम्**[6]—यह; **पुरुषः**[7]—मनुष्य; **यः**[9]—जो; **यच्छ्रद्धः**[10]—जैसी श्रद्धा वाला होता है; **सः**[11]—वह; **एव**[12]—ही; **सः**[13]—वह (वैसा ही होता है)।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

यजन्ते[3]—पूजा करते हैं ('यज्' धातु का 'देवपूजा-सङ्गतिकरण-दानेषु'—इन अर्थों में प्रयोग होता है); **सात्त्विकाः**[1]—सात्त्विक वृत्ति वाले लोग; **देवान्**[2]—देवताओं को; **यक्षरक्षांसि**[5]—यक्ष और राक्षसों को; **राजसाः**[4]—रजोगुण वृत्ति वाले; **प्रेतान्**[9]—प्रेतों को; **भूतगणान्**[11]—

(कई लोग श्रद्धा में निरे मूर्ख होते हैं। वे समझते हैं कि अपने शरीर को कष्ट देने से भगवान् मिल जाते हैं। ऐसे अन्ध-श्रद्धा वाले) दंभ और अहंकार से युक्त होकर काम और आसक्ति के बल पर उग्र तपों को करते हैं जिन (तपों) का शास्त्रों में कहीं भी विधान नहीं है ॥५॥

ये अपनी मूर्खता के कारण अपने शरीर में विद्यमान पंच महाभूतों के समूह को (व्यर्थ) में कष्ट देते हैं, और शरीर के भीतर निवास करने वाले मुझ को भी कष्ट देते हैं। इन लोगों को तू आसुरी-बुद्धि वाला समझ ॥६॥

जैसे 'श्रद्धा' मनुष्य के सात्विक, राजसिक, तामसिक स्वभाव के कारण तीन प्रकार की होती है, वैसें आहार, यज्ञ, तप, दान आदि भी सात्विक, राजसिक, तामसिक—इन तीन प्रकार के मानव-स्वभाव के कारण त्रिविध होते हैं। 'श्रद्धा' के त्रिवर्गीकरण के साथ-साथ गीता ने इनका भी वर्गीकरण कर दिया है। आहार,

---

भूतों के समूहों को; **च**[10]—और; **अन्ये**[6]—दूसरे; **यजन्ते**[12]—पूजा करते हैं; **तामसाः**[7]—तामसिक वृत्तिवाले; **जनाः**[8]—जन, लोग।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥

अशास्त्रविहितम्[3]—शास्त्रों के विधानों में न दीखनेवाले, शास्त्र-विरुद्ध; **घोरम्**[4]—कठोर; **तप्यन्ते**[6]—तप करते हैं; **ये**[1]—जो; **तपः**[5]—तप को; **जनाः**[2]—मनुष्य; **दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः**[7]—दम्भ और अहङ्कार से युक्तः; **कामरागबलान्विताः**[8]—काम (वासना, तृष्णा), राग (आसक्ति) और शारीरिक बल से युक्त।

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

कर्षयन्तः[7]—कष्ट देते हुए; **शरीरस्थम्**[1]—शरीर में ठहरे हुए; **भूतग्रामम्**[2]—पञ्चमहाभूतों के समूह को; **अचेतसः**[9]—मूढजन; **माम्**[5]—मुझको; **च**[3]—और; **एव**[6]—ही; **अन्तःशरीरस्थम्**[4]—शरीर के अन्दर विद्यमान; **तान्**[8]—उनको; **विद्धि**[11]—जान; **आसुरनिश्चयान्**[10]—आसुरी बुद्धि वाले।

यज्ञ, तप, दान का प्रसंगतः वर्गीकरण इसलिए कर दिया गया प्रतीत होता है क्योंकि संभवतः ये प्रश्न गीता के काल के जीवित-जागृत प्रश्न थे, और 'श्रद्धा' के साथ-साथ इन पर भी आनुषंगिक तौर पर प्रकाश डाल देना गीताकार को आवश्यक जान पड़ा। तभी गीता में कहा है :

आहार भी सब को तीन ही प्रकार का प्रिय होता है। यही हाल यज्ञ, तप और दान का है। इनके भेद को सुन ॥७॥

[त्रिविध आहार]

जो भोजन आयु, सात्विक-वृत्ति, बल, आरोग्य, सुख और उल्लास को बढ़ाते हैं, जो रसीले, स्निग्ध, शरीर को स्थिर बनाने वाले, रुचिकर होते हैं, वे सात्त्विक-वृत्ति वालों को प्रिय होते हैं ॥८॥

जो भोजन कटु अर्थात् चटपटे, खट्टे, नमकीन, बहुत गर्म, तीखे, रूखे और जलन उत्पन्न करने वाले होते हैं, जो

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥७॥

आहारः[1]–भोजन; **तु**[7]–तो, परन्तु; **अपि**[2]–भी; **सर्वस्य**[3]–सबका; **त्रिविधः**[4]–तीन प्रकार का; **भवति**[6]–होता है; **प्रियः**[5]–प्रिय; **यज्ञः**[9]–यज्ञ; **तपः**[10]–तप; **तथा**[8]–और; **दानम्**[11]–दान; **तेषाम्**[12]–**भेदम्**[14]–भेद को, प्रकार को; **इमम्**[13]–इसको; **शृणु**[15]–सुन।

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः[1]–आयु, बुद्धि (अन्तः-करण), बल, नीरोगता, सुख, उल्लास को बढ़ाने वाले; **रस्याः**[2]–रसीले; **स्निग्धाः**[3]–स्निग्ध, चिकनाई वाले; **स्थिराः**[4]–स्थिर; **हृद्याः**[5]–हृदय को रुचिकर; **आहाराः**[6]–आहार; **सात्त्विकप्रियाः**[7]–सात्त्विक वृत्ति वाले मनुष्यों को प्रिय हैं।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः[1]–कटु (चरपरे), खट्टे, नमकीन, बहुतगर्म, तीखे, रूखे और जलन उत्पन्न करनेवाले;

दुःख, शोक और रोग को उत्पन्न करते हैं, वे राजसिक-वृत्ति वालों को प्रिय होते हैं ॥९॥

जो भोजन देर का पड़ा हुआ हो, नीरस हो, सड़ गया हो, बासी हो, जूठा हो, गंदा हो, ऐसे भोजन तामस-वृत्ति वालों को प्रिय होते हैं ॥१०॥

जैसे सात्त्विक व्यक्ति को सात्त्विक आहार, राजस व्यक्ति को राजस आहार तथा तामस व्यक्ति को तामस आहार प्रिय होता है, वैसे सात्त्विक आहार से वृत्ति सात्त्विक हो जाती है, राजस आहार से वृत्ति राजस तथा तामस आहार से वृत्ति तामस हो जाती है। इसीलिए शास्त्रों में सात्त्विक आहार पर विशेष बल दिया गया है। छान्दोग्य (७.२६.२) में लिखा है : 'आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः'—आहार शुद्ध होगा तो शरीर, वाणी, मन भी शुद्ध होंगे।

[त्रिविध यज्ञ]

जो यज्ञ फल की आकांक्षा छोड़कर, यज्ञ करना हमारा कर्तव्य है—यह समझकर, शास्त्र की विधि के अनुसार, मन का समाधान (एकाग्रता) करके किया जाता है वह सात्त्विक-यज्ञ है ॥११॥

आहाराः[3]–भोजन; **राजसस्य**[4]–राजसिक वृत्तिवाले को; **इष्टाः**[5]–प्रिय होते हैं; **दुःखशोकामयप्रदाः**[2]–दुःख, शोक और रोग को देने वाले।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

यातयामम्[3]–एक प्रहर पहले बना हुआ; **गतरसम्**[4]–नीरस; **पूति**[6]–सड़ा हुआ; **पर्युषितम्**[7]–बासा; **च**[5]–और; **यत्**[1]–जो; **उच्छिष्टम्**[8]–जूठा; **अपि**[11]–भी; **च**[9]–और; **अमेध्यम्**[10]–गन्दा, अपवित्र; **भोजनम्**[2]–भोजन; **तामसप्रियम्**[12]–तामसिकों को प्रिय होता है।

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

अफलाकांक्षिभिः[9]–फल की इच्छा रहित मनुष्यों से; **यज्ञः**[2]–जो यज्ञ; **विधिदृष्टः**[3]–शास्त्रविहित, विधिपूर्वक देखभाल से; **यः**[1]–

हे भरत-कुल में श्रेष्ठ अर्जुन ! जो यज्ञ किसी फल को लक्ष्य में रखकर या दंभ के लिए, अपना वैभव-ऐश्वर्य प्रदर्शित करने के लिए किया जाता है, समझ ले कि वह राजसिक-यज्ञ है ॥१२॥

जो यज्ञ विधिहीन है, जिसमें अन्नदान नहीं किया जाता, जिसमें मन्त्र-पाठ नहीं होता, दक्षिणा नहीं दी जाती, वह तामस-यज्ञ कहलाता है ॥१३॥

यज्ञ के संबंध में विशेष रूप से चर्चा गीता में अन्य कई जगह हो चुकी है। गीता ने अपने समय के प्रचलित यज्ञ के अर्थ को ही बदल दिया था। कर्मकांड के क्रिया-कलाप, विधि-विधान को उस समय यज्ञ कहा जाता था। गीता ने यज्ञ का अर्थ त्याग, बलिदान, उत्सर्ग कर दिया। इन अर्थों में जो यज्ञ करते हैं, वे जो-कुछ करते हैं, अपना कर्तव्य समझ कर करते हैं, फल की आशा से नहीं। ऐसे लोग कर्म करते-करते प्राणों का उत्सर्ग तक कर जाते हैं, परन्तु अपने कर्तव्य-पथ से इधर-

---

जो; **इज्यते**[10]—यजन किया जाता है; **यष्टव्यम्**[4]—यज्ञ करना ही चाहिये; **एव**[5]—ही; **इति**[6]—इस प्रकार से; **मनः**[7]—मन को; **समाधाय**[8]—समाधान करके, एकाग्र करके; **सः**[11]—वह (यज्ञ); **सात्त्विकः**[12]—सात्त्विक होता है।

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

अभिसन्धाय[6]—लक्ष्य करके; **फलम्**[5]—फल को; **तु**[1]—परन्तु; **दम्भार्थम्**[8]—दम्भ के लिये, दिखावे के लिए; **अपि**[4]—भी; **च**[7]—और; **एव**[9]—ही; **यत्**[3]—जो; **इज्यते**[10]—यजन किया जाता है; **भरतश्रेष्ठ**[2]—हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन; **तम्**[11]—उस; **यज्ञम्**[12]—यज्ञ को; **विद्धि**[14]—जान; **राजसम्**[13]—राजस।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

विधिहीनम्[1]—विधि-हीन; **असृष्टान्नम्**[2]—जिसमें अन्नदान नहीं किया जाता; **मन्त्रहीनम्**[3]—मन्त्र पाठ से रहित; **अदक्षिणम्**[4]—दक्षिणा से रहित; **श्रद्धाविरहितम्**[5]—श्रद्धा से शून्य; **यज्ञम्**[6]—यज्ञ को; **तामसम्**[7]—तामस; **परिचक्षते**[8]—कहते हैं।

उधर नहीं डिगते। यही सच्चे अर्थों में यज्ञ है, इसे गीता ने सात्विक-यज्ञ का नाम दिया है। तामस-यज्ञ का वर्णन करते हुए कहा है कि इसमें अन्नदान नहीं होता, दक्षिणा नहीं दी जाती। गीता का कहने का अभिप्राय अन्नदान या दक्षिणा से यही है कि यज्ञ तभी यज्ञ कहलाता है, जब उसमें दिया जाय, भर-भर कर दिया जाय, अन्न तथा दक्षिणा तो देने का प्रतीक है। हम देते रहें, संग्रह न करें—यही सात्विक-यज्ञ की भावना है, जहाँ देना नहीं, लेना है, वहाँ तामसिक-वृत्ति आ खड़ी होती है।

यज्ञ एक 'कर्म' है। गीता ने 'यज्ञ' को 'निष्काम-कर्म' कहा है। ११वें श्लोक में सात्विक यज्ञ को 'विधि-दृष्ट कर्म' कहा है—'विधिदृष्ट' अर्थात् शास्त्रों के द्वारा आदिष्ट। शास्त्रों में 'कर्म' के चार प्रकार कहे गये हैं: काम्य, निषिद्ध, नित्य तथा नैमित्तिक। 'काम्य-कर्म' सकाम-कर्म हैं, जैसे सारी दुनिया करती है; 'निषिद्ध-कर्म' तो बुरे होने के कारण निषिद्ध हैं ही; 'नित्य-कर्म' वे हैं जो हमें हर रोज करने चाहियें; 'नैमित्तिक-कर्म' वे हैं जो किसी विशेष निमित्त से, विशेष कारण से किये जाते हैं। गीता सात्विक-यज्ञ को नित्य-कर्म की श्रेणी में गिनती है। स्वार्थ का त्याग करना, बलिदान के लिए तैयार रहना—सात्त्विक-यज्ञ है।

[त्रिविध तप]

आगे के प्रकरण में गीता ने पहले तप के कायिक, वाचिक तथा मानसिक—ये तीन भेद किये हैं। फिर आहार तथा यज्ञ के समान कायिक, वाचिक, मानसिक के सत्व-रज-तम के आधार पर तीन भेद किये हैं, जो निम्न हैं:

देवताओं, ब्राह्मणों, गुरुओं और विद्वानों की पूजा करना, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसापूर्वक जीवन बिताना—यह सब शरीर का तप कहलाता है ॥१४॥

ऐसे वाक्य बोलना जिनसे दूसरे लोग उद्विग्न न हो जायें, जो सत्य होने के साथ-साथ प्रिय हों, हितकारी हों;

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम्[1]—देव, ब्राह्मण, गुरु और विद्वान् की पूजा; **शौचम्**[2]—पवित्रता; **आर्जवम्**[3]—सरलता; **ब्रह्मचर्यम्**[4]—ब्रह्मचर्य; **अहिंसा**[6]—अहिंसा; **च**[5]—और; **शारीरम्**[7]—शारीरिक; **तपः**[8]—तप; **उच्यते**[9]—कहलाता है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

अनुद्वेगकरम्[3]—किसी को उद्विग्न न करने वाला; **वाक्यम्**[6]—

वाङ्मय का स्वाध्याय करना और स्वाध्याय किये हुए का अभ्यास रखना—यह वाणी का तप कहलाता है ॥१५॥

मन को प्रसन्न रखना, सौम्यता, मौन, आत्म-संयम और चित्त की शुद्ध भावना—यह सब मन का तप कहलाता है ॥१६॥

इन तीनों प्रकार के तपों को यदि मनुष्य फल की आकांक्षा छोड़कर लगन और परम श्रद्धा के साथ करे तो (कायिक, वाचिक, तथा मानसिक तप) सात्त्विक कहलाते हैं ॥१७॥

वचन; **सत्यम्**[5]–सत्य; **प्रियहितम्**[4]–प्रिय और हितकारी; **च**[1]–और; **यत्**[2]–जो; **स्वाध्यायाभ्यसनम्**[8]–स्वाध्याय किये का अभ्यास; **च**[7]–और; **एव**[9]–ही; **वाङ्मयम्**[10]–वाणी संबंधी; **तपः**[11]–तप; **उच्यते**[12]–कहलाता है ।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

मनःप्रसादः[1]–मन की प्रसन्नता रखना; **सौम्यत्वम्**[2]–सौम्यता; **मौनम्**[3]–अधिक न बोलना; **आत्मविनिग्रहः**[4]–आत्म-संयम; **भावसंशुद्धिः**[5]–चित्त की भावना शुद्ध रखना; **इति**[6]–इस प्रकार का; **एतत्**[7]–यह; **तपः**[9]–तप; **मानसम्**[8]–मानस, मन-सम्बन्धी; **उच्यते**[10]–कहलाता है ।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

श्रद्धया[5]–श्रद्धा से; **परया**[4]–श्रेष्ठ, अत्यधिक; **तप्तम्**[6]–तप किया हुआ; **तपः**[9]–तप; **तत्**[7]–वह; **त्रिविधम्**[8]–तीन प्रकार का है; **नरैः**[3]–मनुष्यों से; **अफलाकांक्षिभिः**[1]–फलों की इच्छा न करने वाले; **युक्तैः**[2]–योग में लगे हुए; **सात्त्विकम्**[10]–सात्त्विक; **परिचक्षते**[11]–कहते हैं ।

जो (कायिक, वाचिक तथा मानसिक) तप सत्कार, मान एवं पूजा प्राप्त करने के लिए या दंभ के लिए—पाखंड, दिखावे, प्रदर्शन के लिए—किये जाते हैं, वे राजस कहलाते हैं, वे देर तक चलते नहीं, अस्थिर होते हैं ॥१८॥

जो (कायिक, वाचिक तथा मानसिक) तप मूर्खतापूर्ण दुराग्रह के साथ अपने-आपको कष्ट देकर या दूसरों को हानि पहुँचाने के लिए किये जाते हैं, वे तामसिक कहलाते हैं ॥१९॥

[त्रिविध दान]

जो दान, 'देना उचित है'—ऐसा समझकर अपने ऊपर प्रत्युपकार न करने वाले को, देश, काल तथा पात्र का

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

सत्कारमानपूजार्थम्[4]—सत्कार, मान और पूजा को प्राप्त करने की इच्छा से; **तपः**[3]—तप; **दम्भेन**[5]—दम्भ से; **च**[1]—और; **एव**[6]—ही; **यत्**[2]—जो; **क्रियते**[7]—किया जाता है; **तत्**[8]—वह; **इह**[11]—इस संसार में; **प्रोक्तम्**[13]—कहा है; **राजसम्**[12]—राजस; **चलम्**[10]—चञ्चल; **अध्रुवम्**[9]—अस्थिर ।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

मूढग्राहेण[3]—मूढता वश आग्रह से; **आत्मनः**[4]—अपनी; **यत्**[1]—जो; **पीडया**[5]—कष्ट सहकर; **क्रियते**[9]—किया जाता है; **तपः**[2]—तप; **परस्य**[7]—दूसरे के; **उत्सादनार्थम्**[8]—उखाड़ने के प्रयोजन से; **वा**[6]—या; **तत्**[10]—वह; **तामसम्**[11]—तामसिक; **समुदाहृतम्**[12]—कहा जाता है ।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

दातव्यम्[2]—देने योग्य है; **इति**[3]—इस प्रकार से; **यत्**[4]—जो; **दानम्**[5]—दान; **दीयते**[11]—दिया जाता है; **अनुपकारिणे**[10]—अपने ऊपर उपकार न करने वाले को; **देशे**[6]—देश में; **काले**[7]—काल में; **च**[1]—

विचार करके दिया जाता है, उस दान को सात्त्विक-दान माना गया है ॥२०॥

परन्तु जो दान किसी उपकार के बदले में प्रत्युपकार की आशा से या भविष्य में किसी लाभ की आशा से दिया जाता है, या जिसे देते हुए दानदाता क्लेश अनुभव करता है, उस दान को राजसिक-दान माना गया है ॥२१॥

जो दान देश, काल तथा पात्र का विचार किये बिना, बिना उचित सत्कार के, अथवा तिरस्कारपूर्वक दिया जाता है, वह दान तामस-दान कहा गया है ॥२२॥

जैसे यहाँ आहार, यज्ञ, तप और दान के सात्विक, राजसिक, तामसिक—ये तीन भेद दर्शाये गये हैं, वैसे ही १८वें अध्याय के २० से ३९ श्लोकों में ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुख के सात्विक, राजसिक, तामसिक—ये तीन भेद बतलाये गये हैं जिनका १८वें अध्याय में वर्णन होगा।

और; **पात्रे**[9]–पात्र (अधिकारी) में; **च**[8]–और; **तत्**[12]–वह; **दानम्**[13]–दान; **सात्त्विकम्**[14]–सात्विक; **स्मृतम्**[15]–कहा गया है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

यत्[1]–जो; **तु**[2]–परन्तु; **प्रत्युपकारार्थम्**[3]–किसी उपकार के बदले में प्रत्युपकार की आशा से; **फलम्**[6]–फल को; **उद्दिश्य**[7]–आशा करके; **वा**[4]–अथवा; **पुनः**[5]–फिर; **दीयते**[10]–दिया जाता है; **च**[8]–और; **परिक्लिष्टम्**[9]–क्लेश के साथ; **तद्**[11]–वह; **दानम्**[12]–दान; **राजसम्**[13]–राजस; **स्मृतम्**[14]–कहा जाता है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

अदेशकाले[6]–देश और काल को न देखकर; **यत्**[2]–जो; **दानम्**[3]–दान; **अपात्रेभ्यः**[7]–दान के अनधिकारियों को; **च**[1]–और; **दीयते**[8]–दिया जाता है; **असत्कृतम्**[4]–सत्कार न करके; **अवज्ञातम्**[5]–निरादर करके; **तत्**[9]–वह; **तामसम्**[10]–तामसिक; **उदाहृतम्**[11]–कहा जाता है।

[त्रिविध मंत्र--ओं तत् सत्]

सत्रहवें अध्याय में भिन्न-भिन्न तत्वों का त्रिक बतलाया गया है, अन्त में परमात्मा का भी त्रिक बना कर उसका वर्णन कर दिया है। परमात्मा का श्रुतियों-स्मृतियों में नाम 'ओं' कहा है, फिर उसका त्रिक कैसा ? 'ओं'—अर्थात् परमात्मा, जिसे हम 'वह' अर्थात् 'तत्' कह सकते हैं, वह परमात्मा ही इस विश्व में 'सत्' है, भले ही न दीखता हो, न दीखता हुआ भी वही न दीखनेवाला 'सत्' है, बाकी सब-कुछ जो दीखता है, वह क्षण-भंगुर है, 'असत्' है—यज्ञ, तप, दान, कर्म आदि में जो-कुछ 'सत्' है, उसी के कारण है, उसी में श्रद्धा रहे तो ही इनमें 'सत्' का भान हो सकता है, उसमें श्रद्धा नहीं तो इनमें भी कुछ नहीं रखा—इस प्रकार के विचार अगले श्लोकों में कहे गये हैं। 'ओं तत् सत्' का अर्थ तो इतना ही है कि ओंकार ही सत् है, परब्रह्म परमात्मा ही सत् है, परन्तु क्योंकि ओं+तत्+सत्—ये त्रिक बन जाता है, इसलिए त्रिकों का वर्णन करते हुए त्रिकात्मक इस मन्त्र को यहाँ डाल दिया है। जब डाल ही दिया है तब भाषा के लालित्य के कारण २३वें श्लोक को 'ओं' से, २५वें श्लोक को 'तत्' से, २६वें श्लोक को 'सत्' से प्रारंभ किया गया है।

'ओं+तत्+सत्'--यह ब्रह्म का तीन प्रकार का निर्देश अर्थात् संकेत माना जाता है। प्राचीन काल में ब्रह्म से ही ब्राह्मण ग्रन्थ, वेद तथा यज्ञ निर्मित हुए ॥२३॥

इसलिए ब्रह्मवादी लोगों की शास्त्रों के विधान द्वारा बतलाई गई यज्ञ, दान, तप रूपी क्रियाएँ सदा 'ओं' का उच्चारण करके प्रारंभ की जाती हैं ॥२४॥

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

ॐतत्सत्[1]–ओम्+तत्+सत्; **इति**[2]–यह, इस प्रकार से; **निर्देशः**[5]–निर्देश; **ब्रह्मणः**[4]–ब्रह्म का; **त्रिविधः**[3]–तीन प्रकार का; **स्मृतः**[6]–कहा गया है; **ब्राह्मणाः**[9]–ब्राह्मण ग्रन्थ; **तेन**[7]–उस ब्रह्म से; **वेदाः**[11]–वेद; **च**[10]–और; **यज्ञाः**[13]–यज्ञ; **च**[12]–और; **विहिताः**[14]–किये गये, विधान द्वारा बतलाये गये; **पुरा**[8]–प्राचीन काल में।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

तस्मात्[1]–उस कारण से; **ओम्**[6]–ओम्; **इति**[7]–इस प्रकार से; **उदाहृत्य**[8]–उच्चारण करके; **यज्ञदानतपःक्रियाः**[4]–यज्ञ, दान और

'तत्'--अर्थात् वही ब्रह्म सब-कुछ है--(इस भावना को हृदय में धारण करके), फल की आशा न रखकर, यज्ञ-दान-तप आदि नाना प्रकार की क्रियाएँ मोक्ष की चाहना वाले लोगों द्वारा की जाती हैं ॥२५॥

'तत्' शब्द का प्रयोग 'वास्तविकता' तथा 'भलाई' के अर्थ में किया जाता है। हे पार्थ! 'प्रशंसनीय'-कार्य के लिए भी 'तत्'-शब्द का प्रयोग किया जाता है ॥२६॥

यज्ञ, तप और दान में दृढ़ता से स्थिर रहना भी 'सत्'

तप की शास्त्रोक्त क्रियाएँ; **प्रवर्तन्ते**[9]–प्रवृत्त होती हैं; **विधानोक्ताः**[3]–शास्त्रविहित; **सततम्**[5]–सदा; **ब्रह्मवादिनाम्**[2]–ब्रह्मवादियों की।

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥२५॥

तद्[1]–वह 'तत्'; **इति**[2]–इस प्रकार से; **अनभिसन्धाय**[4]–किसी भी प्रकार का विचार या आशा न करके; **फलम्**[3]–फल को; **यज्ञतपःक्रियाः**[6]–यज्ञ, तप और अनेक क्रियाएँ; **दानक्रियाः**[8]–दान देने का कार्य; **च**[7]–और; **विविधाः**[5]–अनेक प्रकार की; **क्रियन्ते**[10]–की जाती हैं; **मोक्षकांक्षिभिः**[9]–मोक्ष चाहने वालों के द्वारा।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

सद्भावे[4]–वास्तविकता के भाव में; **साधुभावे**[6]–भलाई में; **च**[5]–और; **सत्**[1]–सत्; **इति**[2]–इस प्रकार से; **एतत्**[3]–यह; **प्रयुज्यते**[7]–प्रयुक्त होता है; **प्रशस्ते**[10]–प्रशंसनीय; **कर्मणि**[11]–कर्म में; **तथा**[8]–और; **सच्छब्दः**[12]–'सत्'-शब्द; **पार्थ**[9]–हे अर्जुन; **युज्यते**[13]–प्रयुक्त होता है।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

यज्ञे[2]–यज्ञ में; **तपसि**[3]–तप में; **दाने**[5]–दान में; **च**[1]–और; **स्थितिः**[6]–स्थिर रहना; **सत्**[8]–सत्; **इति**[9]–इस प्रकार से; **च**[4]–

कहलाता है। 'तत्' अर्थात् इन प्रयोजनों को लेकर किया गया कर्म भी 'सत्' कहलाता है ।।२७।।

इन श्लोकों में मूलभूत विचार तो एक ही है। वह विचार यह है कि सृष्टि का सब-कुछ वही परब्रह्म है, वही ओंकार है, असली सत्ता उसी की है। बाकी 'तत्-सत्' का भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रयोग गीताकार के भाषा पर अधिकार का सूचक है।

[असत्]

हम इस अध्याय के प्रारंभ में 'कामना'-'शास्त्र'-'श्रद्धा'—इन तीनों के पारस्परिक संबंध पर लिख आये हैं। अपनी 'कामना' को आधार बनाकर साधक जीवन के मार्ग पर नहीं चल सकता, 'कामना' के पीछे चलना तो पशु के स्तर का जीवन है। 'शास्त्र' के पीछे चल सकते हैं, परन्तु शास्त्र अपने समय की समस्या का समाधान करता है, समय बदल जाने पर नवीन शास्त्र की आवश्यकता पड़ती है, पुराना शास्त्र रूढ़ि का रूप धारण कर निर्जीव हो जाता है। ऐसी अवस्था में किसी महान् शक्ति में, विश्व का धारण करने वाली सत्ता में विश्वास ही मनुष्य का मार्ग-दर्शक हो सकता है। उसी को गीता ने 'श्रद्धा' कहा है। 'श्रद्धा' की उत्पत्ति उपनिषदों में 'श्रत्' से, 'सत्' से बतलाई है। इसी लिए 'श्रद्धा' के इस प्रकरण का प्रारंभ गीताकार ने 'सत्' के वर्णन से किया है, और 'सत्' का वर्णन करने के बाद इस अध्याय का उपसंहार 'अश्रद्धा' से, 'असत्' से करने लगे हैं।

अश्रद्धा से जो यज्ञ किया जाता है, जो दान दिया जाता है, जो तप किया जाता है, हे पार्थ ! वह 'असत्' कहा जाता

और; **उच्यते**[10]–कहलाता है; **कर्म**[13]–कर्म; **च**[11]–और; **एव**[7]–ही; **तदर्थीयम्**[12]–इन प्रयोजनों के लिए; **सत्**[15]–सत्; **इति**[16]–इस प्रकार से; **एव**[14]–ही; **अभिधीयते**[17]–कहा जाता है।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ।।२८।।

अश्रद्धया[2]–अश्रद्धा से; **हुतम्**[3]–जो यज्ञ किया जाता है; **दत्तम्**[4]–दान दिया जाता है; **तपः**[6]–जो तप; **तप्तम्**[5]–(तप) किया जाता है; **कृतम्**[9]–जो कार्य किया जाता है; **च**[7]–और; **यत्**[8]–जो; **असत्**[10]–असत्; **इति**[11]–इस प्रकार से; **उच्यते**[12]–कहा जाता है; **पार्थ**[1]–हे अर्जुन; **न**[14]–नहीं; **च**[16]–और; **तत्**[13]–वह; **प्रेत्य**[15]–मरने पर; **नो**[17]–नहीं; **इह**[18]–इस संसार में।

है, 'तत्'—वह न मरने पर लाभ देता है, न यहाँ जीते-जी कोई लाभ देता है ॥२८॥

श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् में जिस ब्रह्मविद्या का वर्णन किया गया है, उसके अन्तर्गत जो योगशास्त्र है, उसमें जो कृष्णार्जुन-संवाद है, उस संवाद का 'श्रद्धात्रय-विभाग-योग' नामक सप्तदश अध्याय समाप्त हुआ।*

उपसंहार

१. इस अध्याय पर श्री विनोबा के विचार

श्री विनोबा कहते हैं कि इस अध्याय में, और अध्याय के अन्त में जो 'यज्ञ'-'दान'-'तप' का त्रिक दिया गया है वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वह कैसे ?

हम इस संसार में तीन संस्थाओं से घिरे रहते हैं। एक संस्था हमारा अपना 'शरीर' है, दूसरी संस्था यह 'सृष्टि' है, तीसरी संस्था हमारे और सृष्टि के बीच का 'समाज' है। यज्ञ का सृष्टि से, दान का समाज से और तप का शरीर से संबंध है। इनका परस्पर क्या संबंध है ?

(क) **यज्ञ तथा सृष्टि**—सृष्टि से हम रोज़ काम लेते हैं। जहाँ हम रहते हैं उसे हम दूषित करते रहते हैं। हवा से हम साँस लेते हैं, परन्तु फेफड़ों में भर कर उसे दूषित कर बाहर छोड़ देते हैं। कुएँ से पानी भरते हैं, परन्तु कुएँ के आस-पास कीचड़ कर देते हैं। सृष्टि को जो हम रोज़-रोज़ खराब करते रहते हैं उस क्षति को पूरा कर देना 'यज्ञ' कहलाता है।

(ख) **दान तथा समाज**—माँ-बाप, गुरु, मित्र ये सब हमारे लिए मेहनत करते हैं। समाज का हमारे ऊपर जो ऋण चढ़ता जाता है उसे चुकाने के लिए दान की व्यवस्था की गई है। दान का अर्थ परोपकार नहीं, दान का अर्थ समाज का ऋण चुकाने का प्रयोग है। समाज से मैंने अपार सेवा ली है। जब मैं संसार में आया, तो दुर्बल और असहाय था। इस समाज ने मुझे छोटे से बड़ा किया, इसलिए मुझे समाज की सेवा करनी चाहिए। 'परोपकार' कहते हैं—दूसरे से कुछ न लेकर की हुई सेवा को, परन्तु यहाँ तो हम समाज से पहले ही भरपूर ले चुके हैं। समाज के इस ऋण से मुक्त होने के लिए जो सेवा की जाय वही 'दान' कहलाता है।

(ग) **तप तथा शरीर**—शरीर को भी हम दिनोंदिन क्षीण करते रहते हैं। मन, बुद्धि, इन्द्रियों से काम लेते हैं, इनमें विकार उत्पन्न करते रहते हैं। शरीर के विकारों की शुद्धि का साधन है—'तप'।

*** इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रय-विभाग-योगो नाम सप्तदशोऽध्यायः।**

श्री विनोबा का कहना है कि गीताकार ने कर्म कैसा करना चाहिए—इसका संक्षिप्त उत्तर यज्ञ-दान-तप—इन तीन शब्दों में दे दिया। इनसे सृष्टि सुन्दर होगी, समाज सुन्दर होगा, शरीर सुन्दर होगा। परन्तु यज्ञ-दान-तप—ये तो बाह्य वस्तुएँ हैं। हम यज्ञ भी करें, और दिखावे के लिए करें; दान भी दें, समाज सेवा भी करें और अपने ढोल पीटने के लिए ही करें; शारीरिक तप भी करें और केवल उसका प्रदर्शन मात्र करें, कीलों के तख्त पर लेटे रहें—यह सब बाह्य है, आन्तर नहीं है। इसीलिए गीता ने 'श्रद्धा' पर बल दिया है। जो-कुछ हो, बाह्य न होकर आन्तर हो, हृदय के भीतर से हो, श्रद्धा से हो। आन्तरिक-भावना से किया हुआ यज्ञ, दान, तप 'सत्' है, आन्तरिक-भावना के बिना किया हुआ यह सब-कुछ 'असत्' है।

२. इस अध्याय पर श्री अरविंद के विचार

श्री अरविंद ने 'कामना'-'शास्त्र'-'श्रद्धा'—आध्यात्मिक-जीवन के विकास में इन तीनों के सापेक्षिक संबंध पर विचार किया है। संक्षेप में उनका कथन निम्न है :

(क) **कामना का जीवन**—१६वें अध्याय में कामना के जीवन के विषय में कहा है : **'नरकस्य द्वारं नाशनम् आत्मनः कामः'**—कामना का जीवन आत्मा का नाश कर देता है, नरक का द्वार है। यह व्यक्तिगत जीवन है, स्वच्छंदता का जीवन है। वैयक्तिक कामना हमारी प्रकृति की असंस्कृत अवस्था से संबंध रखती है। यह अज्ञान या मिथ्याज्ञान और अनियंत्रित या कुनियंत्रित राजसिक अहंकार से प्रेरित होती है। कामना का जीवन पशु-स्तर का जीवन है।

(ख) **शास्त्र का जीवन**—गीता ने १६वें अध्याय के २४वें श्लोक में कहा है : **'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते'**—कामरत जीवन के स्थान में शास्त्रीय जीवन बिताना अच्छा है। शास्त्र के द्वारा नियन्त्रित जीवन संस्कृति का परिणाम होता है। वह मनुष्य के सात्विक अंश का एक प्रयास होता है जो राजसिक तथा तामसिक अहंकार को अतिक्रांत कर चुका होता है। एक कदम और आगे बढ़ने के लिए शास्त्र की रूढ़ि का जीवन एक साधन होता है, अतः मनुष्य जाति को पहले इसमें से गुज़रना ज़रूरी है।

परन्तु देखा जाता है कि व्यक्ति तो कितनी ही बार, और समाज अपने जीवन में किसी भी क्षण, शास्त्र से मुँह मोड़ लेता है, उससे ऊब जाता है, और किसी अन्य विधान की खोज में निकल पड़ता है जिसे वह अब जीवन का यथार्थ विधान स्वीकार करने या उच्चतर सत्य के रूप में मानने की ओर अधिक झुक जाता है। यह तब होता है जब प्रचलित शास्त्र जीवंत वस्तु नहीं रहता और ह्रसित या रूढ़ि होकर रीति-रिवाजों और लोकाचारों का ढेर हो जाता है। इस समय एक नया सत्य, जीवन-यापन का एक अधिक पूर्ण विधान अनिवार्य रूप से आवश्यक हो जाता है।

(ग) **श्रद्धा का जीवन**—क्योंकि मनुष्य की अन्तरात्मा कामना को छोड़कर, शास्त्र को छोड़कर, इनसे परे, इनसे ऊपर विद्यमान किसी सत्य की खोज में, उसके आविष्कार में, उसके पता लगाने के लिए निकल पड़ती है, इससे प्रतीत होता है कि एक ऐसा सनातन धर्म है, सनातन सत्य है, सनातन आदर्श है जिसे पाने के लिए, खोज निकालने के लिए मनुष्य की सब शक्तियाँ प्रयत्नशील हैं। सत्य की खोज में मूसा ने एक धर्म चलाया, परन्तु उसकी संकीर्णता और अपूर्णता के कारण उसे छोड़ दिया गया, उसके स्थान पर ईसा का धर्म प्रकट हुआ, जिसने पुराने अपूर्ण का उच्छेद कर नये जीवन का संदेश दिया। परन्तु मानव की खोज क्या यहाँ आकर रुक गई ? मानव ने ईसा के धर्म को भी छोड़ा। जितने मत-मतांतर हैं, शास्त्र हैं, सब को छोड़ कर और तोड़-फोड़ कर मानव की खोज किसी नये सत्य और शक्ति की ओर अग्रसर हो रही है, और उसी की खोज में लगी रहती है।

'कामना' के पीछे आधार होता है मनुष्य का अपनी इच्छा के अनुसार स्वतंत्र काम करने का, परन्तु वह मानव के लिए वैसी सुरक्षित या सन्तोषजनक नहीं रहती जैसी पशु के लिए होती है; 'शास्त्र' के पीछे आधार होता है चिर-प्रचलित विधान का, प्राचीन विधि-विधानों की सफलता का, परन्तु वह अवस्थाओं के बदल जाने पर मनुष्य की शास्त्र के प्रति आस्था को उठा देती है। इन दोनों मार्गों को छोड़कर जब मानव किसी सनातन सत्य की खोज में निकलता है तब उस खोज का आधार क्या होता है ? श्री अरविंद का कहना है कि वह मार्ग-प्रदर्शक प्रकाश जिस पर भरोसा रखकर मानव की सत्य के प्रति खोज जारी रहती है 'श्रद्धा' है। 'श्रद्धा' का मतलब क्या है ? जिस सत्ता को मनुष्य अपनी तथा जगत् की सत्ता के सत्य के रूप में देखता या समझता है उस पर विश्वास करने तथा उसके अनुसार जीवन यापन करने के संकल्प का नाम 'श्रद्धा' है। यह संकल्प तामसिक भी हो सकता है, राजसिक भी हो सकता है, सात्विक भी हो सकता है। अज्ञानयुक्त संकल्प तामसिक है, अक्षम है, इस प्रकार की श्रद्धा किसी वास्तविक सत्य तक नहीं पहुँच सकती; स्वेच्छाचारी संकल्प राजसिक है, इस प्रकार की श्रद्धा महापंक की ओर ले जा सकती है; मनुष्य का उद्धार सात्विक-श्रद्धा से ही हो सकता है, सात्विक-श्रद्धा से मनुष्य का परमात्मा की तरफ़ अभियान प्रारंभ हो जाता है। इसी सात्विक-श्रद्धा पर सत्रहवें अध्याय में बल दिया गया है, इसी श्रद्धा के लिए गीता ने कहा है : **'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः'**।

अठारहवाँ अध्याय

मोक्ष-संन्यास-योग

अठारहवाँ अध्याय गीता का अन्तिम अध्याय है। इसमें अबतक कहे गये सब मन्तव्यों का उपसंहार है। गीता में जगह-जगह संन्यास तथा त्याग का वर्णन आता है, कर्म करने तथा कर्मफल छोड़ने का वर्णन आता है, सात्विक-राजसिक-तामसिक वृत्तियों का वर्णन आता है। इन सब का उपसंहार इस अध्याय में पाया जाता है। गीता का मानव-जीवन से घनिष्ठ संबंध है। यह एक प्रकार का जीवन-शास्त्र है। गीता में जीवन के जिन क्रियात्मक प्रश्नों को छुआ गया है, उनकी झाँकी इस अन्तिम अध्याय में देखी जा सकती है।

[संन्यास तथा त्याग के लक्षण]

अर्जुन ने कहा : **हे महाबाहु ! हे हृषीकेश ! हे केशि-निषूदन कृष्ण ! मैं 'संन्यास' तथा 'त्याग' का पृथक्-पृथक् तात्विक रूप, यथार्थ रूप जानना चाहता हूँ ॥१॥**

श्री भगवान् ने कहा : **बुद्धिमान् लोग काम्य कर्मों के**

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥१॥

संन्यासस्य[4]–संन्यास का; **महाबाहो**[1]–हे महाबाहु; **तत्त्वम्**[7]–तत्त्व को; **इच्छामि**[10]–चाहता हूँ; **वेदितुम्**[9]–जानने के लिये; **त्यागस्य**[6]–त्याग का; **च**[5]–और; **हृषीकेश**[2]–हे इन्द्रिय-जयी कृष्ण; **पृथक्**[8]–अलग रूप से; **केशिनिषूदन**[3]–हे केशी दैत्य को मारने वाले कृष्ण। षूद-क्षरणे हिंसायां च––इस धातु से निषूदन का अर्थ है 'मारनेवाला'।

श्री भगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

काम्यानाम्[2]–इच्छितों का; **कर्मणाम्**[3]–कर्मों का; **न्यासम्**[4]–छोड़ना; **संन्यासम्**[5]–संन्यास; **कवयः**[1]–क्रान्तबुद्धि वाले; **विदुः**[6]–

त्याग को 'संन्यास' कहते हैं, और सब कर्मों के फलों के त्याग को विद्वान् लोग 'त्याग' कहते हैं ।।२।।

गीता के समय में संन्यास-मार्ग बहुत प्रचलित था। इसे सांख्य-मार्ग भी कहते थे, वेदान्त-मार्ग भी कहते थे। इस मार्ग के अनुयायी कर्ममात्र को छोड़ने का उपदेश देते थे। उनका कहना था कि कर्म सदा सकाम होता है, किसी इच्छा से, किसी लाभ की दृष्टि से किया जाता है। वह लाभ मिलता नहीं, इसलिए मनुष्य कष्ट में पड़ा रहता है। इस कष्ट से बचने का उपाय सिर्फ़ यही है कि 'कर्म' का ही त्याग कर दिया जाय। इसी का नाम' संन्यास' है। गीताकार का कथन है कि 'संन्यास' अक्रियात्मक है। कर्म तो करना ही पड़ता है—'**न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठति अकर्मकृत्** (३-५)—मनुष्य एक क्षण भी बिना काम के टिक कर नहीं बैठ सकता। तो फिर वह क्या करे। गीता का मार्ग यह है कि वह काम तो करे, परन्तु फल को भगवान् को समर्पित कर दे। 'कर्म' का त्याग करने के स्थान में कर्म के 'फल' का त्याग करे। यही 'संन्यास' तथा 'त्याग' में अन्तर है। 'संन्यास' में काम्य-कर्मों को छोड़ना पड़ता है—और कर्म तो सभी 'काम्य' हैं, इसलिए सब कर्मों को छोड़ना पड़ता है; 'त्याग' में कर्मों को नहीं छोड़ना पड़ता, उनके फल को छोड़ना पड़ता है। 'संन्यास' कर्म छोड़ने की बात करता है, जो संभव नहीं है; 'त्याग' कर्म छोड़ने की बात नहीं करता, कर्म-फल छोड़ने की बात करता है, इसलिए त्याग संन्यास से बड़ा है, परन्तु बड़ा होता हुआ भी त्याग संन्यास की अपेक्षा कठिन है क्योंकि किसी काम को छोड़ देना आसान है, काम करके उसका फल छोड़ देना आसान नहीं है। अर्जुन ने इन दोनों के भेद को ही जानना चाहा है।

हम पहले देख चुके हैं कि गीता की दृष्टि हर क्षेत्र में समन्वय की दृष्टि है। गीता ने ज्ञान-योग तथा कर्म-योग का भी समन्वय किया है। ज्ञान-योग का आधार संन्यास है, कर्म-त्याग है; कर्म-योग का आधार कर्म करना है। इन दोनों के विरोध को कैसे मिटाया जाय? गीता का कहना है कि ज्ञान-योग या संन्यास अगर कर्म-त्याग पर आश्रित है, तो कर्म-योग कर्म के फल की आशा के त्याग पर आश्रित है; दोनों में त्याग आ जाता है इसलिए दोनों एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं। इस श्लोक का अर्थ **शंकराचार्य** ने वेदान्त को आधार बना कर किया है, मीमांसकों ने कर्मकांड को आधार बना कर किया है, परन्तु इसका सीधा-सादा अर्थ इतना ही है कि कर्म के दो भेद होते हैं—फल की आशा को लेकर किये गये 'काम्य-कर्म' और फल की आशा को छोड़ कर किये गये 'निष्काम-कर्म'। इन

जानते हैं; **सर्वकर्मफलत्यागम्**[8]—सब कर्मों के फलों के त्याग को; **प्राहुः**[10]—कहते हैं; **त्यागम्**[9]—त्याग को; **विचक्षणाः**[7]—चतुर, विद्वान् जन।

दोनों में से गीता 'काम्य' अर्थात् 'सकाम-कर्म' के स्थान पर 'निष्काम-कर्म' करने को श्रेष्ठ मानती है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए गीता कहती है :

कुछ मनीषियों का कथन है कि 'कर्म' सदा दोषयुक्त होता है, (यह दोष रहित हो ही नहीं सकता इसलिये) इसका 'त्याग' कर देना चाहिये; दूसरे लोग कहते हैं कि 'यज्ञ', 'दान', 'तप' और 'कर्म' का कभी त्याग नहीं करना चाहिये ।।३।।

हे भरतकुल में श्रेष्ठ ! इस त्याग के विषय में मेरा निर्णय सुन ! हे पुरुषव्याघ्र--पुरुषों में व्याघ्र के समान तेजस्वी अर्जुन--'त्याग' (सत्त्व, रज, तम--इन) तीन प्रकार का बताया गया है ।।४।।

'यज्ञ'-'दान'-'तप'-'कर्म'--त्याज्य नहीं हैं, इन्हें तो करना ही चाहिये। 'यज्ञ'-'दान'-'तप' तो विद्वान् को (भी) पवित्र कर देते हैं ।।५।।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ।।३।।

त्याज्यम्[7]–छोड़ने योग्य; **दोषवत्**[6]–दोष से युक्त; **इति**[3]–इस प्रकार से; **एके**[1]–एक पक्ष वाले; **कर्म**[5]–कर्म को; **प्राहुः**[4]–कहते हैं; **मनीषिणः**[2]–विद्वान् लोग; **यज्ञदानतपःकर्म**[11]–यज्ञ, दान, तप ये जो कर्म हैं; **न**[12]–नहीं; **त्याज्यम्**[13]–छोड़ने चाहियें; **इति**[10]–ऐसा; **च**[8]–और; **अपरे**[9]–दूसरे पक्ष वाले लोग ।

निश्चयं मे शृणु तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ।।४।।

निश्चयम्[5]–निश्चय को; **मे**[4]–मेरे; **शृणु**[6]–सुन; **तत्र**[2]–उस; **त्यागे**[3]–त्याग में; **भरतसत्तम**[1]–हे भरत-कुल में श्रेष्ठ अर्जुन; **त्यागः**[8]–त्याग; **हि**[10]–निश्चय से; **पुरुषव्याघ्र**[7]–हे पुरुषों में श्रेष्ठ; **त्रिविधः**[9]–तीन प्रकार का; **प्रकीर्तितः**[11]–कहा है ।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।।५।।

यज्ञदानतपःकर्म[1]–यज्ञ, दान और तप जो ये कर्म हैं; **न**[2]–नहीं; **त्याज्यम्**[3]–छोड़ना चाहिये; **कार्यम्**[5]–करना चाहिये; **एव**[6]–ही;

और (सब प्रकार के) 'कर्म' अगर आसक्ति और फलाशा छोड़कर किये जायें, तो (सभी) 'कर्म' करने ही चाहियें। हे पार्थ ! यह मेरा निश्चित और अन्तिम मत है ॥६॥

जो कर्म 'नियत' कर दिये गये हैं (शास्त्रों में जिनका विधान किया गया है--ब्रह्मचारी को यह करना चाहिये, गृहस्थी को यह, वानप्रस्थी और संन्यासी को यह), उनका त्याग उचित नहीं है। अज्ञानवश उनका त्याग कर देना 'तामस-त्याग' कहलाता है ॥७॥

जो व्यक्ति किसी 'नियत' कर्म का इसलिये त्याग कर देता है कि उसके करने में उसे मानसिक दुःख होता है या

तत्[4]–उसको; यज्ञः[7]–यज्ञ; दानम्[8]–दान; तपः[10]–तप; च[9]–और; एव[12]–ही; पावनानि[12]–पवित्र करने वाले होते हैं; मनीषिणाम्[11]–मनस्वियों के, विद्वानों के।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥

एतानि[2]–इन, ये; अपि[4]–भी; तु[3]–तो; कर्माणि[5]–कर्म; सङ्गम्[6]–आसक्ति को; त्यक्त्वा[9]–छोड़कर; फलानि[8]–फलों को; च[7]–और; कर्त्तव्यानि[10]–करने चाहियें; इति[11]–यह; मे[12]–मेरा; पार्थ[1]–हे अर्जुन; निश्चितम्[13]–निश्चित; मतम्[15]–मत; उत्तमम्[14]–श्रेष्ठ।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥

नियतस्य[2]–निश्चित, शास्त्र-विहित; तु[1]–तो; संन्यासः[4]–त्याग; कर्मणः[3]–कर्म का; न[5]–नहीं; उपपद्यते[6]–उचित है, सम्भव है; मोहात्[7]–मूढ़ता से; तस्य[8]–उसका; परित्यागः[9]–परित्याग, छोड़ना; तामसः[10]–तामस; परिकीर्तितः[11]–कहा गया है।

दुःखमित्येव यत् कर्म कायक्लेशभयात् त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

दुःखम्[4]–दुःखदायी; इति[5]–इस प्रकार से; एव[3]–ही; यत्[1]–जो; कर्म[2]–कर्म; कायक्लेशभयात्[6]–काया को कष्ट होने के भय से;

शारीरिक कष्ट होता है, या कष्ट की संभावना है, भय है, वह 'राजस-त्याग' करता है, और उसे 'त्याग' का फल नहीं मिलता ॥८॥

हे अर्जुन ! जो व्यक्ति 'नियत' कर्म को अपना कर्तव्य समझ कर, (भले ही किसी प्रकार का कष्ट ही क्यों न हो) यह तो करना ही है, ऐसा समझ कर करता है, और उस कर्म के प्रति आसक्ति तथा फलाशा दोनों को छोड़ कर कर्म करता है, उसका त्याग 'सात्त्विक-त्याग' माना जाता है ॥९॥

गीता का कथन है कि 'कर्म' के दो दोष हैं—एक 'फलाशा', दूसरा 'आसक्ति'। हम कर्म का फल चाहते हैं, वह नहीं मिलता इसलिए कष्ट पाते हैं। कभी-कभी हम कर्म का फल भी नहीं चाहते, परन्तु उस कर्म के साथ हमारा इतना मोह हो जाता है, इतनी आसक्ति हो जाती है कि वह छूट जाय तो छटपटाने लगते हैं। जीवन की कला इसी में है कि हम कर्म करें परन्तु 'फल की आशा' तथा कर्म के प्रति 'आसक्ति'—दोनों को छोड़ दें। यही सात्विक-कर्म है, और गीता का कहना है कि यज्ञ, दान, तप तो सात्विक हैं ही, परन्तु प्रत्येक कर्म सात्विक है अगर उसमें आसक्ति न हो, फलाशा न हो।

जो व्यक्ति किसी अप्रिय कर्म से घृणा नहीं करता, किसी प्रिय कर्म में अनुरक्त नहीं हो जाता, वह (वास्तविक

त्यजेत्[7]—छोड़ दे; **सः**[8]—वह; **कृत्वा**[11]—करके; **राजसम्**[9]—रजोगुणी; **त्यागम्**[10]—त्याग को; **न**[14]—नहीं; **एव**[12]—ही; **त्यागफलम्**[13]—त्याग के फल को; **लभेत्**[15]—पा सकता है।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥

कार्यम्[2]—करना चाहिये; **इति**[3]—ऐसा; **एव**[4]—ही; **यत्**[5]—जो; **कर्म**[7]—कर्म; **नियतम्**[6]—नियत (शास्त्रविहित) है; **क्रियते**[12]—किया जाता है; **अर्जुन**[1]—हे अर्जुन; **सङ्गम्**[8]—आसक्ति को; **त्यक्त्वा**[11]—छोड़कर; **फलम्**[10]—फल को; **च**[9]—और; **एव**[14]—ही; **सः**[13]—वह; **त्यागः**[16]—त्याग; **सात्त्विकः**[15]—सात्त्विक; **मतः**[17]—माना गया है।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

न[3]—नहीं; **द्वेष्टि**[4]—द्वेष करता है; **अकुशलम्**[1]—अप्रिय; **कर्म**[2]—

अर्थों में) त्यागी है, सत्त्वगुणी है, मेधावी है, संशय से रहित है ॥१०॥

किसी भी देहधारी के लिए कर्मों का पूर्ण त्याग संभव नहीं है, परन्तु जो कर्म के फल को त्याग देता है, वही त्यागी कहलाता है (सिर्फ़ भगवा पहन कर सब काम छोड़ देना और अपने को संन्यासी कहते फिरना त्यागी का लक्षण नहीं है) ॥११॥

जिन्होंने कर्म के फल का त्याग नहीं किया उन्हें मरने के बाद कर्मों का तीन प्रकार का फल मिलता है—प्रिय, अप्रिय तथा प्रियाप्रिय; परन्तु जिन्होंने कर्म-फल का त्याग कर दिया है उन्हें कोई फल. नहीं मिलता (अर्थात्, उनके लिए 'कर्म' किसी प्रकार का बाधक नहीं होता) ॥१२॥

गीता का मुख्य लक्ष्य कर्म के फल का त्याग है। इसी बात को गीता ने भिन्न-भिन्न प्रकार से कहा है। इसी अभिप्राय से गीता 'संन्यास' आदि शब्दों का

कर्म को; कुशले[5]–प्रिय में; न[6]–नहीं; अनुषज्जते[7]–चिपटता है, आसक्त होता है; त्यागी[8]–कर्मफल को त्याग करने वाला; सत्वसमाविष्टः[9]–सत्त्वगुणी; मेधावी[10]–बुद्धिमान्; छिन्नसंशयः[11]–संशयरहित।

नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

नहि[5]–नहीं ही; देहभृता[1]–देहधारी से; शक्यम्[6]–संभव है; त्यक्तुम्[4]–छोड़ने के लिये; कर्माणि[3]–कर्मों को; अशेषतः[2]–पूर्णरूप से; यः[7]–जो; तु[10]–तो; कर्मफलत्यागी[8]–कर्म की फलेच्छा को त्यागने वाला है; सः[9]–वह; त्यागी[11]–त्यागी; इति[12]–इस प्रकार से; अभिधीयते[13]–कहा जाता है।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

अनिष्टम्[4]–अप्रिय; इष्टम्[3]–प्रिय; मिश्रम्[6]–अनिष्ट और इष्ट—दोनों से मिश्रित (युक्त), प्रियाप्रिय; च[5]–और; त्रिविधम्[7]–तीन प्रकार का; कर्मणः[2]–कर्म का; फलम्[8]–फल; भवति[10]–होता है;

भी कभी-कभी नवीन अर्थ कर देती है। 'संन्यास' का प्रचलित अर्थ कर्म छोड़ देना समझा जाता है। गीताकार के समय भी इस शब्द का यही अर्थ था। परन्तु क्योंकि गीता ने हर क्षेत्र में समन्वय करने की चेष्टा की है, इसलिए कहीं-कहीं 'संन्यास' का अर्थ कर्म का त्याग न करके कर्म के फल का त्याग—यह अर्थ किया गया है। जब गीता 'संन्यास' का अर्थ 'कर्म का 'त्याग'—यह करती है, तब 'संन्यास' का खंडन करती है, उसे असंभव बतलाती है; जब इसका अर्थ 'कर्म के फल का त्याग'—यह करती है, तब 'संन्यास' का मंडन करती है, संन्यास-योग (ज्ञान-योग, सांख्य-योग) तथा कर्म-योग को एक ही बतलाती है, इनके भेद को मिटा देती है।

गीता कर्म करने परन्तु आसक्ति तथा फलाशा को त्यागने का उपदेश देती है। यही कर्म-योग है, यही संन्यास-योग है, यही ज्ञान-योग है, यही सांख्य-योग है, यही सात्विकता है। इसका दार्शनिक आधार बतलाने के लिए गीताकार कहते हैं:

[फलाशा तथा आसक्ति के त्याग का दार्शनिक आधार]

हे महाबाहु ! कर्म का फल जिन कारणों से मिलता है, उन कारणों को सांख्य-सिद्धान्त में बतलाया गया है कि वे पाँच कारण हैं। (वे पाँच कारण क्या हैं)—यह मुझ से सुन ॥१३॥

(वे पाँच कारण हैं) : कार्य का स्थान, कर्ता, भिन्न-भिन्न प्रकार के साधन, भिन्न-भिन्न प्रकार की चेष्टाएँ तथा

अत्यागिनाम्[1]—जिन्होंने कर्म के फल को नहीं त्यागा है; **प्रेत्य**[9]—मर कर; **न**[14]—नहीं; **तु**[11]—तो; **संन्यासिनाम्**[12]—कर्म के फल को जिन्होंने त्याग दिया है; **क्वचित्**[13]—कहीं भी।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

पञ्च[5]—पाँच; **एतानि**[4]—ये, इन; **महाबाहो**[1]—हे महाबाहु अर्जुन; **कारणानि**[6]—कारणों को; **निबोध**[11]—जान; **मे**[10]—मेरे से; **सांख्ये**[7]—सांख्य; **कृतान्ते**[8]—सिद्धान्त में; **प्रोक्तानि**[9]—कहे गये हैं; **सिद्धये**[3]—सिद्धि के लिये; **सर्वकर्मणाम्**[2]—सब कर्मों की।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

अधिष्ठानम्[2]—कार्य का स्थान (आधार); **तथा**[3]—और; **कर्ता**[1]—कर्ता; **करणम्**[7]—साधन; **च**[5]—और; **पृथग्विधम्**[6]—भिन्न-भिन्न

पाँचवाँ भाग्य—दैव (अर्थात्, वह कारण जो हमारी समझ से बाहर है) ॥१४॥

मनुष्य अपने शरीर, अपनी वाणी तथा अपने मन से जो भी कोई उचित या अनुचित कर्म प्रारम्भ करता है उसमें ये पाँच हेतु, पाँच कारण होते हैं ॥१५॥

तब ऐसी हालत में (जब प्रत्येक कर्म के पाँच कारण हैं) जो व्यक्ति केवल अपने को कर्म का कर्ता मानने लगता है, वह ऐसा असंस्कारी बुद्धि के कारण समझता है; वह दुर्मति कुछ समझता ही नहीं ॥१६॥

प्रकार के; **विविधाः**[9]–अनेक प्रकार के; **च**[8]–और; **पृथक्चेष्टाः**[10]–भिन्न-भिन्न चेष्टाएँ; **दैवम्**[14]–दैव, भाग्य; **च**[11]–और; **एव**[12]–ही; **अत्र**[1]–यहाँ; **पञ्चमम्**[13]–पाँचवाँ।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

शरीरवाङ्मनोभिः[2]–शरीर, वाणी और मन से; **यत्**[7]–जिस; **कर्म**[8]–कर्म को; **प्रारभते**[9]–प्रारम्भ करता है; **नरः**[1]–मनुष्य; **न्याय्यम्**[3]–न्यायसङ्गत; **वा**[4]–या; **विपरीतम्**[5]–विपरीत; **वा**[6]–या; **पञ्च**[12]–पाँच; **एते**[11]–ये; **तस्य**[10]–उसके; **हेतवः**[13]–हेतु (कारण) हैं।

तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

तत्र[6]–वहाँ; **एवम्**[2]–इस प्रकार से; **सति**[3]–होने पर; **कर्त्तारम्**[9]–कर्त्ता को; **आत्मानम्**[8]–अपने-आप को; **केवलम्**[7]–केवल; **तु**[1]–तो; **यः**[4]–जो; **पश्यति**[10]–देखता है; **अकृतबुद्धित्वात्**[5]–असंस्कारी बुद्धि के कारण; **न**[13]–नहीं; **सः**[11]–वह; **पश्यति**[14]–देखता है; **दुर्मतिः**[12]–बुरी बुद्धि या मान्यता वाला।

जो अहंकार की भावना से मुक्त है (अर्थात् जो 'निष्काम' है), जिसकी बुद्धि निर्लिप्त है (अर्थात् जो 'निस्संग' है), वह इन सब लोगों को मारता हुआ भी नहीं मारता, वह (कर्म करता हुआ भी कर्मों के) बन्धन में नहीं पड़ता ।।१७।।

गीता ने 'फलाशा' तथा 'आसक्ति' के त्याग का उपदेश दिया है। फलाशा तथा आसक्ति का मूल कारण 'अहंकार' है। मैंने यह किया, इसलिए मुझे फल मिलना चाहिए? फलाशा तथा आसक्ति बुद्धि में निर्लेप-भाव न होने के कारण होते हैं। जिस व्यक्ति में 'मैं' का, 'अहंकार' का भाव न रहा, और जो किसी बात में लिप्त होकर काम नहीं करता, निस्संग रह कर काम करता है, जो समझता है कि 'मैं' नहीं कर रहा, मुझ द्वारा 'वह' कर रहा है, और वह जो-कुछ मुझ से करा रहा है उसमें मैं क्यों लिप्त होऊँ—ऐसी अध्यात्म-भावना का व्यक्ति अगर किसी का वध भी करता है, तो वह निस्संगता से, निस्स्वार्थभाव से करता है, इसलिए उसका दोष उसे नहीं लगता, ठीक ऐसे जैसे किसी को फाँसी पर चढ़ा देने का दोष जज को नहीं लगता, इसलिए नहीं लगता क्योंकि जज जो-कुछ करता है निस्संग तथा निर्लेप भाव से करता है, स्वार्थ तथा द्वेष भाव से नहीं करता।

डॉ० राधाकृष्णन इस श्लोक की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि मुक्त मनुष्य अपने को विश्वात्मा का उपकरण बना देता है, इसलिए जो-कुछ वह करता है, वह स्वयं नहीं करता, विश्वात्मा उसके माध्यम से विश्व की व्यवस्था को बनाये रखने के लिए कर्म करता है। वह भयंकर कर्मों को भी किसी स्वार्थपूर्ण उद्देश्य या इच्छा के बिना करता है, केवल इसलिए कि यह उसका आदिष्ट कर्म है, यह उसका अपना कर्म नहीं, भगवान् का कर्म है। इस श्लोक का यह अर्थ नहीं है कि हम दंड से मुक्त होकर अपराध करते रह सकते हैं। जो व्यक्ति अपने

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते ।।१७।।

यस्य[1]–जिसका; **न**[4]–नहीं; **अहंकृत:**[2]–अहंकार से युक्त, अहंकार से भरा; **भाव:**[3]–भावना, विचार, क्रिया (कर्म); **बुद्धि:**[6]–बुद्धि; **यस्य**[5]–जिसकी; **न**[7]–नहीं; **लिप्यते**[8]–लिप्त (आसक्त) होती है, फंसती है; **हत्वा**[12]–मारकर; **अपि**[13]–भी; **स:**[9]–वह; **इमान्**[10]–इन; **लोकान्**[11]–लोगों को (जन-समुदाय को), सब लोकों को; **न**[14]–नहीं; **हन्ति**[15]–मारता है; **न**[16]–नहीं; **निबध्यते**[17]–बंधता है, बन्धन में पड़ता है।

'अहम्' को छोड़ देता है, वह विशाल आत्मिक-चेतना में जीवन-यापन करता है, उसे कोई पाप करने का प्रलोभन नहीं रहता। बुरे कर्म अज्ञान और पृथक्-चेतना के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं, और परमात्मा के साथ एकता की चेतना के फल-स्वरूप केवल अच्छे काम ही हो सकते हैं।

'सब लोगों को मारता हुआ भी नहीं मारता'—यह एक ऐसी स्थापना है जो समझ में नहीं आती, परन्तु अगर हम एक कातिल की देश के लिए युद्ध में शत्रु का संहार करने वाले वीर से तुलना करें, तो गीता का कथन स्पष्ट हो जाता है। कातिल के हृदय में कत्ल करने के बाद वासना बनी रहती है, उसका हृदय अशान्त रहता है, चिताग्रस्त रहता है, व्याकुल रहता है। देश के लिए जो शत्रुओं का संहार करता है वह सैंकड़ों का खून बहाकर भी वासनाहीन रहता है, उसका मन शान्त तथा प्रसन्न होता है। इसका कारण यही है कि कातिल में 'अहम्' है, 'अहंकार' है, कर्म के प्रति आसक्ति है; देश के लिए युद्ध करने वाले के हृदय में 'अहम्' नहीं, 'अहंकार' नहीं, उसके हृदय में देश है, देश के प्रति उसने अपने को समर्पित किया है, जो-कुछ उसने किया है वह उसका किया नहीं, देश का किया है; उसके हृदय में आसक्ति भी नहीं है, उसने अपने लिए कुछ नहीं किया इसलिए परिणाम कुछ भी क्यों न हो वह परिणाम से बँधा हुआ तो है, परन्तु उसमें लिप्त नहीं है—वह निरहंकार तथा निर्लिप्त है—इसलिए वह मारता हुआ भी नहीं मारता। जो सकामता से, लिप्तभाव से संहार करता है वह अगर मारता है, तो सचमुच मारता है।

[त्रिपुटी की विविधता]

गीता का मुख्य विषय 'ज्ञान' और 'कर्म' है। वेदान्त, सांख्य, ज्ञान—इन तीनों को गीता ने एक ही कोटि में गिना है और इनको आधार बना कर 'ज्ञान-योग' एवं कर्म को आधार बना कर 'कर्म-योग' की चर्चा गीता में की गई है। क्योंकि सत्रहवें अध्याय में अनेक त्रिकों का—तीन-तीन के वर्गों का—वर्णन किया गया है, इसलिए 'कर्म' का दार्शनिक विवेचन करते हुए इस प्रकरण में गीता ने कर्म के त्रिक का उल्लेख किया है। क्योंकि 'कर्म' का उल्लेख करते ही 'ज्ञान' भी सामने आ जाता है, इसलिए यहाँ 'कर्म' तथा 'ज्ञान'—इन दोनों को तीन-तीन में बाँट कर गीता ने 'कर्म' के त्रिक तथा 'ज्ञान' के त्रिक का परिगणन कर दिया है। गीता का कहना है कि प्रत्येक 'कर्म' पहले 'ज्ञान' के स्तर पर आता है। मैंने घड़ा बनाना है, तो पहले घड़े का ज्ञान होना चाहिए—घड़े का विचार 'ज्ञान' है, घड़े का बन जाना 'कर्म' है; घड़े का 'ज्ञान' न हो, तो घड़े का 'कर्म' बन नहीं सकता। इसलिए यहाँ 'ज्ञान' तथा 'कर्म' दोनों की चर्चा है, और दोनों के त्रिकों का वर्णन है। 'ज्ञान' तथा 'कर्म' के त्रिक कौन-से हैं ?

कर्म की प्रेरणा देने वाले त्रिक हैं---'ज्ञाता' (Knower), 'ज्ञेय' (Known) तथा 'ज्ञान' (Knowledge)। (जब ज्ञान से कर्म होने लगता है तब) कर्म के अंग हैं---'कर्ता' (Actor), 'कर्म' (Action) तथा 'करण' (Instrument)। ('ज्ञाता'-'ज्ञेय'-'ज्ञान' के त्रिक को वेदान्तशास्त्र में 'त्रिपुटी' कहा जाता है।) ॥१८॥

(इन छहों में 'ज्ञान'-'कर्म'-'कर्ता'---ये तीन ही मुख्य हैं) सांख्यशास्त्र में गुणों के भेद के कारण 'ज्ञान'-'कर्म'-'कर्ता'---इन तीनों के तीन-तीन प्रकार के विविध भेद कहे गये हैं। इन भेदों को तू भली प्रकार सुन ॥१९॥

[त्रिविध ज्ञान]

जिस ज्ञान के द्वारा (मनुष्य) सब भूतों में---जड़-चेतन में---एक ही अविनाशी सत्ता को देखता है, (जिस ज्ञान के

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्त्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

ज्ञानम्[2]–ज्ञान; **ज्ञेयम्**[3]–ज्ञान का विषय; **परिज्ञाता**[1]–ज्ञान का कर्ता, जाननेवाला; **त्रिविधा**[4]–तीन प्रकार की; **कर्मचोदना**[5]–कर्म के प्रेरक; **करणम्**[7]–करण, साधन; **कर्म**[8]–क्रिया; **कर्त्ता**[6]–कर्म करने वाला; **इति**[9]–ऐसे; **त्रिविधः**[10]–तीन प्रकार के; **कर्मसंग्रहः**[11]–कर्म के संग्रह (इन तीनों के होने से कर्म का होना सम्भव है)।

ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

ज्ञानम्[1]–ज्ञान; **कर्म**[3]–कर्म; **च**[2]–और; **कर्त्ता**[5]–कर्त्ता; **च**[4]–और; **त्रिधा**[9]–तीन प्रकार से; **एव**[6]–ही; **गुणभेदतः**[7]–गुणों के भेद के कारण से; **प्रोच्यते**[10]–कहा जाता है; **गुणसंख्याने**[8]–सत्त्व-रज-तम---इन गुणों के निरूपण में, सांख्य-शास्त्र में; **यथावत्**[13]–अच्छी तरह; **शृणु**[14]–सुन; **तानि**[11]–उनको; **अपि**[12]–भी।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

सर्वभूतेषु[3]–सब प्राणियों में; **येन**[1]–जिससे; **एकम्**[4]–एक को;

द्वारा मनुष्य) विभक्तों में अविभक्त को देखता है, उस ज्ञान को तू सात्त्विक-ज्ञान समझ ॥२०॥

और, जो ज्ञान (अर्थात् जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य) सब भूतों में--जड़-चेतन में--उनकी पृथक्ता के कारण (सत्ता को एक न देखकर) विविध जानता है, उस ज्ञान को तू राजसिक-ज्ञान समझ ॥२१॥

परन्तु जो ज्ञान किसी एक कार्य को ही सब-कुछ मान लेता है, वह 'अहैतुक' है--कारण का पता नहीं लगाता, 'अतत्त्वार्थ' है--तत्त्व का पता नहीं लगाता, अल्प है--संकीर्ण है, संपूर्ण की दृष्टि से नहीं देखता, ऐसा ज्ञान तामस-ज्ञान कहलाता है ॥२२॥

इन श्लोकों की व्याख्या करते हुए श्री तिलक लिखते हैं: "अपने बाल-बच्चों और स्त्री को ही सब-कुछ, सारा संसार समझ लेना तामस-ज्ञान है। इससे

भावम्[6]–सत्ता को; **अव्ययम्**[5]–अविनश्वर को; **ईक्षते**[8]–देखता है; **अविभक्तम्**[7]–अविभक्त को; **विभक्तेषु**[2]–विभक्तों में; **तत्**[9]–वह, उस; **ज्ञानम्**[10]–ज्ञान को; **विद्धि**[12]–जान ले; **सात्त्विकम्**[11]–सात्त्विक।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

पृथक्त्वेन[8]–पृथक्ता से; **तु**[1]–तो; **यत्**[2]–जो; **ज्ञानम्**[3]–ज्ञान; **नानाभावान्**[7]–अनेकविध भावों को; **पृथग्विधान्**[6]–अलग-अलग प्रकार के; **वेत्ति**[9]–जानता है; **सर्वेषु**[4]–सब ही में; **भूतेषु**[5]–भूतों में; **तत्**[10]–वह; **ज्ञानम्**[11]–ज्ञान को; **विद्धि**[13]–जान; **राजसम्**[12]–राजस।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

यत्[1]–जो; **तु**[2]–तो; **कृत्स्नवत्**[5]–सब कुछ के समान; **एकस्मिन्**[3]–एक ही में; **कार्ये**[4]–कार्य में; **सक्तम्**[6]–लगा हुआ है; **अहैतुकम्**[8]–युक्ति-शून्य, अज्ञात कारण वाला; **अतत्त्वार्थवद्**[9]–तत्त्वार्थ (यथार्थता) से रहित; **अल्पम्**[10]–अपूर्ण; **च**[7]–और; **तत्**[11]–वह; **तामसम्**[12]–तामस; **उदाहृतम्**[13]–कहा गया है।

कुछ ऊँची सीढ़ी पर पहुँचने से दृष्टि अधिक व्यापक हो जाती है। बाल-बच्चे ही नहीं, गाँव और देश के लोग भी अपने हैं—यह समझने लगना राजस-ज्ञान कहा गया है। परन्तु इससे भी ऊँचे जाकर प्राणिमात्र में एक ही आत्मा को पहचानना, विभक्त में अविभक्त, अनेकता में एकता को देखना ही सात्त्विक-ज्ञान है। उपनिषदों में भी कहा है 'नेह नानास्ति किंचन'—जगत् में विविधता में एकता है, 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'—नानात्व देखना मृत्यु के चक्कर में पड़ना है।"

[त्रिविध कर्म]

वह कर्म, जो 'नियत' है (जिसे करना आवश्यक है, जो हमारा कर्तव्य-कर्म है), जिसे आसक्ति के बिना और राग-द्वेष के बिना किया जाता है, जिसे फल की इच्छा से रहित व्यक्ति द्वारा किया जाता है, ऐसा कर्म सात्त्विक-कर्म कहलाता है ॥२३॥

परन्तु जो कर्म फल की प्राप्ति की इच्छा वाले व्यक्ति द्वारा, अहंकार की भावना से प्रेरित होकर किया जाता है, जिसमें बहुत परिश्रम लगता है, ऐसा कर्म राजस-कर्म कहलाता है ॥२४॥

**नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत् तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥**

नियतम्[3]–नियत (शास्त्र-विहित); **सङ्गरहितम्**[4]–आसक्ति से रहित; **अरागद्वेषतः**[6]–बिना राग और द्वेष से; **कृतम्**[7]–किया गया है; **अफलप्रेप्सुना**[5]–फलेच्छा से रहित के द्वारा; **कर्म**[2]–कर्म; **यत्**[1]–जो है; **तत्**[8]–वह; **सात्त्विकम्**[9]–सात्त्विक; **उच्यते**[10]–कहलाता है।

**यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥**

यत्[1]–जो; **तु**[2]–तो; **कामेप्सुना**[6]–कामनाओं की इच्छा वाले के द्वारा; **कर्म**[3]–कार्य; **साहङ्कारेण**[8]–अहङ्कार से युक्त; **वा**[7]–या; **पुनः**[5]–फिर; **क्रियते**[9]–किया जाता है; **बहुलायासम्**[4]–बहुत परिश्रम से साध्य; **तत्**[10]–वह; **राजसम्**[11]–राजस; **उदाहृतम्**[12]–कहा जाता है।

इस श्लोक की व्याख्या करते हुए डॉ० राधाकृष्णन लिखते हैं : "जिस कर्म में बहुत परिश्रम लगता है, जो 'बहुलायास' है, उसे राजसिक क्यों कहा ? उसे राजसिक कहने का कारण यह है कि यह भावना कि हम किसी कष्ट में से गुज़र रहे हैं, कर्म के मूल्य को समाप्त कर देती है। चेतनापूर्वक यह अनुभव करना कि हम कोई बड़ा काम कर रहे हैं, कोई महत्वपूर्ण बलिदान कर रहे हैं, स्वयं बलिदान की विफलता है। परन्तु जब कोई काम किसी आदर्श के लिए किया जाता है, तब वह श्रम श्रम नहीं लगता, बलिदान बलिदान नहीं लगता। उसे पूर्णतया आत्म-चेतनारहित होकर, अहंकार की भावना को छोड़कर मुस्कराते हुए करना, जैसे कि सुकरात ने विष पिया था, सात्विक कर्म का ढंग है।"

जो कर्म, क्या 'परिणाम' होगा, क्या 'हानि' हो जायगी, किस-किस की 'हिंसा' होगी, अपना 'सामर्थ्य' भी उस काम को करने का है या नहीं—इन सब बातों पर विचार किये बिना मूर्खता से किया जाता है, वह तामस-कर्म कहलाता है ।।२५।।

इस श्लोक में 'तामस-कर्म' का लक्षण करते हुए गीता ने कहा है कि जब मनुष्य परिणाम का ध्यान किये बिना कर्म करता है तब वह कर्म 'तामस' कहलाता है। जो लोग समझते हैं कि गीता का फलाशा को त्याग कर कर्म करने के उपदेश का यह अर्थ है कि मनुष्य को कर्म करते हुए परिणाम का ध्यान नहीं रखना चाहिए—वे गीता का तत्व नहीं समझते। परिणाम का ध्यान किये बिना जो कर्म किया जाता है, उसे तो गीता ने 'तामस-कर्म' कहा है। फलाशा के त्याग का अर्थ तो यह है कि मनुष्य कर्म तो करे, परन्तु इस आग्रह से न करे कि इस कर्म का यही फल होगा। कर्म किया है तो फल तो होगा ही, कर्म का परिणाम न हो—यह कैसे हो सकता है, परन्तु हाँ, क्योंकि कर्म के फल में अनेक कारण हो सकते हैं इसलिए फल को भगवान्-भरोसे छोड़े, अपना कर्तव्य तो कर्म करना मात्र समझे। कर्म किया, और फल भगवान् के हाथ सौंप दिया।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ।।२५।।

अनुबन्धम्[3]—परिणाम को; **क्षयम्**[4]—नाश को; **हिंसाम्**[5]—हिंसा को; **अनवेक्ष्य**[8]—न देखकर; **च**[6]—और; **पौरुषम्**[7]—सामर्थ्य को; **मोहात्**[9]—मोह के कारण; **आरभ्यते**[10]—आरम्भ किया जाता है; **कर्म**[2]—कर्म; **यत्**[1]—जो; **तत्**[11]—वह; **तामसम्**[12]—तामस; **उच्यते**[13]—कहलाता है।

[त्रिविध कर्ता]

('ज्ञान' के बिना 'कर्म' नहीं होता, 'कर्ता' के बिना भी 'कर्म' नहीं होता, इसलिए 'कर्ता' का त्रिविध क्या है ?) जो कर्ता आसक्ति से मुक्त है, जो अहंकार की बातें नहीं करता, जो धैर्य और उत्साह से युक्त है, जो सफलता एवं विफलता में निर्विकार रहता है, वह कर्ता सात्त्विक कहलाता है ॥२६॥

जो कर्ता राग से, आसक्ति से प्रेरित है, जो अपने कर्मों का फल पाने के लिए उत्सुक रहता है, जो लोभी है, जिसका स्वभाव हिंसा करने का है, जो अपवित्र है, जो हर्ष और शोक से लिपायमान है, वह कर्ता राजसिक कहलाता है ॥२७॥

जो कर्ता 'अयुक्त' है—कहीं चित्त नहीं टिका सकता; 'प्राकृत' है—प्रकृति से जैसा आया था वैसे-का-वैसा बना

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

मुक्तसङ्गः[1]–आसक्ति रहित; **अनहंवादी**[2]–अहंकार-भरी बातें न बोलनेवाला; **धृत्युत्साहसमन्वितः**[3]–धैर्य और उत्साह से युक्त; **सिद्ध्यसिद्ध्योः**[4]–सफलता और असफलता दोनों में ही; **निर्विकारः**[5]–विकार से रहित; **कर्त्ता**[6]–कर्ता; **सात्त्विकः**[7]–सात्त्विक; **उच्यते**[8]–कहलाता है ।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

रागी[1]–राग वाला; **कर्मफलप्रेप्सुः**[2]–कर्म के फल की इच्छा वाला; **लुब्धः**[3]–लोभी; **हिंसात्मकः**[4]–हिंसात्मक वृत्तिवाला; **अशुचिः**[5]–अपवित्र; **हर्षशोकान्वितः**[6]–हर्ष और शोक से युक्त; **कर्त्ता**[7]–कर्ता; **राजसः**[8]–राजस; **परिकीर्तितः**[9]–कहा गया है ।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते ॥२८॥

अयुक्तः[1]–चञ्चल चित्तवाला; **प्राकृतः**[2]–साधारण, अशिक्षित; **स्तब्धः**[3]–हठी; **शठः**[4]–दुष्ट; **नैष्कृतिकः**[5]–दूसरों के काम को

है, अशिक्षित है, असंस्कृत है; 'स्तब्ध' है—हठी है; 'शठ' है—धोखेबाज है; 'नैष्कृतिक' है—निस्+कृत्=काटना, छेद करना—दूसरों के काम में छेद करता रहता है; 'अलस' है—आलसी है; 'विषादी' है—हर समय संसार में दुःख-ही-दुःख देखता है; 'दीर्घसूत्री' है—हर काम को या तो टालता जाता है या हर काम में देर लगा देता है, वह कर्ता तामस कहलाता है ॥२८॥

[त्रिविध बुद्धि]

हे धनंजय ! अब तू सत्त्व-रज-तम—इन तीन गुणों के अनुसार 'बुद्धि' और 'धृति' के तीन भेदों को सुन जिन्हें मैं पूरी तरह से अलग-अलग करके बतलाता हूँ ॥२९॥

हे पार्थ ! जो बुद्धि प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्ति-मार्ग के भेद को समझती है, जो करने योग्य कार्य और न करने योग्य कार्य में भेद कर सकती है, जो इस बात को समझती

बिगाड़ने वाला; **अलसः**[6]–आलसी; **विषादी**[7]–विषाद करनेवाला; **दीर्घसूत्री**[9]–कार्य को टालनेवाला; **च**[8]–और; **कर्त्ता**[10]–कर्ता; **तामसः**[11]–तामस; **उच्यते**[12]–कहलाता है ।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥२९॥

बुद्धेः[2]–बुद्धि के; **भेदम्**[8]–भेद को; **धृतेः**[4]–धृति के; **च**[3]–और; **एव**[5]–ही; **गुणतः**[6]–गुणों के भेद से; **त्रिविधम्**[7]–तीन प्रकार के; **शृणु**[12]–सुन; **प्रोच्यमानम्**[11]–कहे जाते हुए को; **अशेषेण**[9]–पूर्णतया; **पृथक्त्वेन**[10]–पृथक्ता से, अलग-अलग; **धनञ्जय**[1]–हे अर्जुन ।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

प्रवृत्तिम्[2]–प्रवृत्ति-मार्ग को; **च**[3]–और; **निवृत्तिम्**[4]–निवृत्ति-मार्ग को; **च**[5]–और; **कार्याकार्ये**[6]–करने योग्य और न करने योग्य

है कि किससे डरना चाहिए और किससे नहीं डरना चाहिए, क्या वस्तु आत्मा को बन्धन में डालती है, क्या बन्धन से छुड़ा देती है, वह बुद्धि सात्विकी होती है ।।३०।।

हे पार्थ ! जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य धर्म और अधर्म को, कार्य और अकार्य को ठीक-ठीक नहीं समझ पाता, वह बुद्धि राजसी होती है ।।३१।।

हे पार्थ ! जिस बुद्धि के द्वारा अन्धकार के आवरण से घिरा हुआ मनुष्य अधर्म को धर्म समझने लगता है, और सब बातों को उल्टा देखने लगता है, वह बुद्धि तामसी होती है ।।३२।।

[त्रिविध धृति]

'धृति' का अर्थ धारण करने की मानसिक शक्ति, मन का दृढ़ निश्चय है । धारण करना, अर्थात् टिकाये रखना, संभाले रखना, धैर्य बनाये रखना, धीरज रखना । सात्विक-धैर्य में मन-प्राण-इन्द्रिय—ये अपने वश में रहते हैं, आत्मा के साथ युक्त रहते हैं, व्यभिचारी नहीं होते, इधर-उधर नहीं भागते । राजसिक-धैर्य में धर्म-अर्थ-काम—इनको व्यक्ति प्रसंग से, अर्थात् विशेष संग से, आसक्ति से,

---

को; **भयाभये**[7]–भय और अभय को; **बन्धं**[8]–बन्धन को; **मोक्षम्**[10]–मोक्ष को; **च**[9]–और; **या**[11]–जो; **वेत्ति**[12]–जानती है; **बुद्धिः**[14]–बुद्धि; **सा**[13]–वह; **पार्थ**[1]–हे अर्जुन; **सात्त्विकी**[15]–सात्त्विकी है ।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ।।३१।।

यया[2]–जिससे; **धर्मम्**[3]–धर्म को; **अधर्मम्**[5]–अधर्म को; **च**[4]–और; **कार्यम्**[7]–कर्त्तव्य कर्म को; **च**[6]–और; **अकार्यम्**[9]–न करने योग्य कर्म को; **एव**[10]–ही; **च**[8]–और; **अयथावत्**[11]–जैसा है वैसे नहीं; **प्रजानाति**[12]–जानता है; **बुद्धिः**[14]–बुद्धि; **सा**[13]–वह; **पार्थ**[1]–हे अर्जुन; **राजसी**[15]–राजसी है ।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ।।३२।।

अधर्मम्[5]–अधर्म को; **धर्मम्**[6]–धर्म के रूप में; **इति**[7]–इस प्रकार से; **या**[2]–जो बुद्धि; **मन्यते**[8]–मानती है; **तमसा**[3]–अज्ञाना-

फलाकांक्षा से करता है। तामसिक धैर्य में स्वप्न-भय-शोक-विषाद-मद में ही-मनुष्य का जीवन टिका रहता है। इससे पहले प्रकरण में 'बुद्धि' के भेद बतलाये थे, परन्तु बुद्धि किसी काम की नहीं अगर उसमें टिकाऊपना नहीं, स्थिरता नहीं। उसी स्थिरता का नाम 'धृति' है। धृति के इस प्रकार के तीन भेद बतलाते हुए गीताकार कहते हैं :

हे पार्थ ! जिस धृति के द्वारा मनुष्य मन, प्राण, इन्द्रियाँ––इनकी गतिविधियों को एक केन्द्र में टिकाये रखता है, उन्हें इधर-उधर नहीं भागने देता, वह धृति सात्विक होती है ॥३३॥

हे अर्जुन ! जिस धृति के द्वारा मनुष्य धर्म, अर्थ, काम––इनके साथ चिपका रहता है, फल की इच्छा बनाये रखता है, हे पार्थ ! वह धृति राजसिक होती है ॥३४॥

न्धकार से; आवृता[4]–ढकी हुई; **सर्वार्थान्**[10]–सर्व अर्थों (बातों) को; **विपरीतान्**[11]–विपरीत, उलटा; **च**[9]–और; **बुद्धिः**[13]–बुद्धि; **सा**[12]–वह; **पार्थ**[1]–हे अर्जुन; **तामसी**[14]–तामसी कहलाती है।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥

धृत्या[5]–धृति के द्वारा; **यया**[3]–जिससे; **धारयते**[7]–धारण करता है; **मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः**[6]–मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को; **योगेन**[2]–योग से; **अव्यभिचारिण्या**[4]–इधर-उधर न भटकने वाली, एकनिष्ठ; **धृतिः**[9]–धैर्य; **सा**[8]–वह; **पार्थ**[1]–हे अर्जुन; **सात्त्विकी**[10]–सात्त्विकी है।

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

यया[6]–जिससे; **तु**[1]–परन्तु; **धर्मकामार्थान्**[8]–धर्म, अर्थ, काम को; **धृत्या**[7]–धृति के द्वारा; **धारयते**[9]–धारण करता है; **अर्जुन**[3]–हे अर्जुन; **प्रसङ्गेन**[5]–आसक्ति (लगाव) से; **फलाकांक्षी**[4]–फल की इच्छा करने वाला; **धृतिः**[11]–धृति; **सा**[10]–वह; **पार्थ**[2]–हे अर्जुन; **राजसी**[10]–राजसी है।

हे पार्थ ! जिस धृति के द्वारा मूर्ख मनुष्य निद्रा, भय, शोक, विषाद, मद—इनको नहीं त्यागता, वह धृति तामसिक होती है ॥३५॥

[त्रिविध सुख]

हे भरत-श्रेष्ठ ! अब तू मुझसे तीन प्रकार के सुख के विषय में सुन—ऐसे सुख के विषय में जिसमें दीर्घकाल तक रहने के कारण मनुष्य रम जाता है, और जिसमें उसके दुःख का अन्त हो जाता है। (सुख में रम जाना 'अस्त्यात्मक'—Positive—अनुभव है, दुःख का अन्त हो जाना 'नास्त्यात्मक'—Negative—अनुभव है) ॥३६॥

जो सुख प्रारम्भ में विष जैसा प्रतीत होता है, अन्त में

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

यया[3]–जिससे; स्वप्नम्[4]–निद्रा; भयम्[5]–भय; शोकम्[6]–शोक; विषादम्[8]–दुःख; मदम्[9]–मद, घमण्ड; एव[10]–ही; च[7]–और; न[11]–नहीं; विमुञ्चति[12]–छोड़ता है; दुर्मेधाः[2]–बुरी बुद्धि वाला, मूर्ख; धृतिः[14]–धैर्य; सा[13]–वह; पार्थ[1]–हे अर्जुन; तामसी[15]–तामसी है।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

सुखम्[2]–सुख; तु[3]–तो; इदानीम्[1]–अब; त्रिविधम्[4]–तीन प्रकार के; शृणु[6]–सुन; मे[5]–मुझ से; भरतर्षभ[7]–हे भरत कुल में श्रेष्ठ; अभ्यासात्[9]–अभ्यास से; रमते[10]–रमण करता है; यत्र[8]–जहाँ; दुःखान्तम्[12]–दुःख के अन्त को; च[11]–और; निगच्छति[13]–प्राप्त कर लेता है।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

यत्[1]–जो; तत्[2]–तो, वह; अग्रे[3]–पहले पहल; विषम्[4]–विष; इव[5]–सदृश; परिणामे[6]–अन्त में; अमृतोपमम्[7]–अमृत के सदृश;

अमृत के समान होता है, जो आत्मनिष्ठ बुद्धि के प्रसाद से प्राप्त होता है, वह सात्विक सुख है ॥३७॥

जो सुख विषय तथा इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न होता है, जो शुरू में अमृत के समान परन्तु परिणाम में विष के समान होता है, वह सुख राजसिक है ॥३८॥

जो सुख प्रारम्भ और अन्त में आत्मा को मोह में फँसाये रखता है, जो सुख निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद से उत्पन्न होता है, वह सुख तामसिक है ॥३९॥

इस पृथ्वी लोक पर कोई (मनुष्य) ऐसा नहीं है और

तत्[8]—वह; सुखं[10]—सुख; सात्त्विकम्[11]—सात्त्विक; प्रोक्तम्[12]—कहा गया है; आत्मबुद्धिप्रसादजम्[9]—आत्मा और बुद्धि के प्रसाद (निर्मलता) से उत्पन्न।

विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

विषयेन्द्रियसंयोगात्[4]—विषय तथा इन्द्रियों के संयोग से; **यत्**[1]—जो सुख; **तत्**[2]—तो, वह; **अग्रे**[5]—आदि में; **अमृतोपमम्**[6]—अमृत के समान है; **परिणामे**[7]—परिणाम में; **विषम्**[8]—विष; **इव**[9]—के समान; **तत्**[10]—वह; **सुखम्**[3]—सुख; **राजसम्**[11]—राजस; **स्मृतम्**[12]—स्मरण किया जाता है (कहलाता है)।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

यत्[1]—जो; **अग्रे**[3]—आदि में; **च**[4]—और; **अनुबन्धे**[5]—परिणाम में, अन्त में; **च**[6]—और; **सुखम्**[2]—सुख; **मोहनम्**[8]—मोह में डालने वाला; **आत्मनः**[7]—आत्मा का; **निद्रालस्यप्रमादोत्थम्**[10]—निद्रा, आलस्य और प्रमाद से पैदा होता है; **तत्**[9]—उसको; **तामसम्**[11]—तामस; **उदाहृतम्**[12]—कहते हैं।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

न[9]—नहीं; **तत्**[7]—वह; **अस्ति**[10]—है; **पृथिव्याम्**[2]—पृथिवी पर; **वा**[3]—या; **दिवि**[4]—स्वर्ग में; **देवेषु**[6]—देवों में; **वा**[5]—या; **पुनः**[1]—

देवलोक में कोई देवता ऐसा नहीं है जो प्रकृति द्वारा उत्पन्न सत्त्व-रज-तम——इन तीन गुणों से मुक्त हो ।।४०।।

[स्वभावज कर्म]

गीता का मन्तव्य यह है कि आत्मा कर्ता नहीं है, प्रकृति कर्ता है, और प्रकृति में क्योंकि सत्त्व-रज-तम—ये तीन गुण काम करते हैं, इसलिए सृष्टि का सारा चक्र इन गुणों का ही परिणाम है। मनुष्य क्या है ? मानव के मन की रचना में, उसके स्वभाव में ये ही गुण काम कर रहे हैं। इन गुणों की कमी या अधिकता के कारण ही कोई ब्राह्मण, कोई क्षत्रिय, कोई वैश्य तथा कोई शूद्र है। प्रत्येक व्यक्ति का 'स्वभाव' उसका अपना सात्विक, राजसिक, तामसिक गुण है। इसी भाव को लेकर गीताकार कहते हैं :

हे परंतप——शत्रुओं को तपाने वाले अर्जुन ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के अपने-अपने स्वभाव से उत्पन्न हुए सत्त्व-रज-तम——इन गुणों के कारण इनके कर्म अलग-अलग बंटे हुए हैं ।।४१।।

इस श्लोक में गीता ने 'स्वभाव' पर बल दिया है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना 'स्वभाव' होता है। अपने स्वभाव से, अन्तरात्मा में निहित संस्कारों और वासनाओं के बीज से, कोई सात्विक, कोई राजसिक, कोई तामसिक होता है, और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र कहलाता है। 'स्वभाव' पर इतना बल इसलिए दिया गया है कि मनुष्य जो-कुछ है जन्म-जन्मान्तर के संचित कर्मों के कारण बना है। इस 'स्वभाव' के कारण उसका एक निश्चित व्यक्तित्व बन गया है, इसलिए सामाजिक समस्याओं पर विचार करते हुए हमें 'व्यष्टि' को सम्मुख रख कर

फिर; **सत्त्वम्**[8]—प्राणी, व्यक्ति; **प्रकृतिजैः**[13]—प्रकृति से उत्पन्न; **मुक्तम्**[16]—मुक्त; **यत्**[11]—जो; **एभिः**[12]—इन; **स्यात्**[17]—होवे; **त्रिभिः**[14]—तीनों; **गुणैः**[15]—गुणों से।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ।।४१।।

ब्राह्मणक्षत्रियविशाम्[2]—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों का; **शूद्राणाम्**[4]—शूद्रों का; **च**[3]—और; **परन्तप**[1]—हे शत्रुओं को तपाने वाले अर्जुन; **कर्माणि**[5]—कर्म; **प्रविभक्तानि**[8]—बंटे हुए हैं; **स्वभाव-प्रभवैः**[6]—(मनुष्य के) स्वभाव (व्यवहार) से उत्पन्न; **गुणैः**[7]—गुणों से।

विचार करना होगा, 'समष्टि' को रख कर नहीं, क्योंकि 'व्यष्टि' का स्वभाव जैसा होगा 'समष्टि' वैसी बनेगी। 'स्वभावज' वर्ण-व्यवस्था तथा 'जन्मजात' जात-पात में भेद है।

शान्त-स्वभाव, आत्म-संयम, तपस्या, पवित्रता, सहन-शक्ति, सरलता, ज्ञान, अनुभव, आस्तिकता---ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं ॥४२॥

वीरता, तेज, धीरता, चतुरता, युद्ध में पीठ न दिखाना, दानशीलता और हुकूमत करना---ये क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं ॥४३॥

कृषि, गो-रक्षा, व्यापार---ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं; शूद्र का स्वाभाविक कर्म सेवा करना है ॥४४॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

शमः[1]—शान्ति-भाव; **दमः**[2]—आत्म-संयम; **तपः**[3]—तपस्या; **शौचम्**[4]—पवित्रता; **क्षान्तिः**[5]—सहिष्णुता; **आर्जवम्**[6]—सरलता; **एव**[11]—ही; **च**[7]—और; **ज्ञानम्**[8]—ज्ञान; **विज्ञानम्**[9]—परोक्ष-ज्ञान; **आस्तिक्यम्**[10]—आस्तिकता; **ब्रह्मकर्म**[13]—ब्राह्मण के कर्म; **स्वभावजम्**[12]—स्वाभाविक हैं।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

शौर्यम्[1]—शूरता; **तेजः**[2]—तेज; **धृतिः**[3]—धैर्य; **दाक्ष्यम्**[4]—दक्षता (चतुराई, साहस); **युद्धे**[7]—युद्ध में; **च**[6]—और; **अपि**[5]—भी; **अपलायनम्**[8]—न भागना; **दानम्**[9]—दान; **ईश्वरभावः**[11]—हुकूमत का भाव होना; **च**[10]—और; **क्षात्रम्**[13]—क्षत्रिय का; **कर्म**[14]—कर्म; **स्वभावजम्**[12]—स्वाभाविक होता है।

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यम्[1]—कृषि, गोरक्षा, व्यापार; **वैश्यकर्म**[2]—वैश्यों का कर्म; **स्वभावजम्**[3]—स्वभाव से ही उत्पन्न है; **परिचर्यात्मकम्**[4]—सेवात्मक; **कर्म**[5]—कर्म; **शूद्रस्य**[6]—शूद्र का; **अपि**[7]—भी; **स्वभावजम्**[8]—स्वाभाविक है।

अपने-अपने कर्म में जो व्यक्ति (अपने स्वभाव के अनुसार) लगा रहता है, वह सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। अपने कर्म में ही लगे रहने से मनुष्य सिद्धि को जैसे प्राप्त कर लेता है--वह सुन ।।४५।।

इस श्लोक में गीताकार कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अगर अपने स्वभाव के अनुसार अपने कर्तव्य को करता है, तो उसे सिद्धि प्राप्त होती है। इसका अर्थ यह है कि कोई काम ऊँचा नहीं, कोई नीचा नहीं। अगर अपना नियत कर्म ईमानदारी से किया, तो नीचा कहा जाने वाला कर्म ऊँचा कहे जाने वाले कर्म के समान-स्तर का है। कर्म का बाह्य रूप कुछ अर्थ नहीं रखता, कर्म का आन्तरिक रूप, किस भावना से कर्म किया गया है, यही महत्त्व की वस्तु है। **डा० राधाकृष्णन** इस श्लोक की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि समाज एक ऐसा संगठन हैं जिसमें सब को कर्म करना है, सब के कर्म करने से ही यह संगठन बना रह सकता है। इस संगठन को स्वस्थ बनाये रखने के लिए हर तरह का काम समान है, वह काम न होगा तो समाज बना ही कैसे रहेगा? सब मनुष्यों की क्षमताएँ समान नहीं होतीं, परन्तु समाज के लिए सब मनुष्य समान रूप से आवश्यक हैं, प्रत्येक मनुष्य अपना अंशदान करता है, अंशदान के रूप में सब का मूल्य समान है। इसीलिए गीता का कहना है कि मनुष्य अपने कर्म में, स्वधर्म में लगा रहे, तो उसे वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है जैसी समाज के स्वधर्म का पालन करने वाले किसी भी व्यक्ति को प्राप्त हो सकती है। यह सिद्धि कैसे प्राप्त होती है? गीताकार का कहना है:

जिससे सब प्राणी जन्म लेते हैं, जिससे यह सारा जगत्

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ।।४५।।

स्वे[1]–अपने; **स्वे**[2]–अपने; **कर्मणि**[3]–कर्म में; **अभिरतः**[4]–लगा हुआ, तत्पर; **संसिद्धिम्**[6]–सिद्धि को; **लभते**[7]–प्राप्त करता है; **नरः**[5]–मनुष्य; **स्वकर्मनिरतः**[9]–अपने कार्य में लीन; **सिद्धिम्**[10]–सिद्धि को; **यथा**[8]–जिस प्रकार से; **विन्दति**[11]–प्राप्त करता है; **तत्**[12]--उसको; **शृणु**[13]–सुन।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।।४६।।

यतः[1]–जिससे; **प्रवृत्तिः**[3]–जन्म, कर्म में चेष्टा; **भूतानाम्**[2]–प्राणियों का; **येन**[4]–जिससे; **सर्वम्**[6]–सब; **इदम्**[5]–यह; **ततम्**[7]–

व्याप्त है, उस परमात्मा की, अपने कर्म से पूजा करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त कर लेता है ।।४६।।

अपना धर्म––'स्व-धर्म'––यदि ठीक तरह पालन न किया जा सके, और दूसरे का धर्म––'पर-धर्म'––यदि पालन करने में आसान हो, तो भी 'स्व-धर्म' का पालन करना अधिक अच्छा है। स्वभाव के अनुसार 'नियत' कर्म को करने वाले व्यक्ति को पाप नहीं लगता ।।४७।।

हे कौन्तेय ! मनुष्य को अपने सहज स्वभाव के अनुसार जो कार्य हो उसे छोड़ना नहीं चाहिये चाहे उसमें दोष भी क्यों न हो क्योंकि जैसे आग धूएँ से ढकी रहती है वैसे सब कर्म किसी-न-किसी दोष से ढके रहते हैं ।।४८।।

फैला हुआ है व्याप्त है; **स्वकर्मणा**[9]–अपने कर्म से; **तम्**[8]–उसको; **अभ्यर्च्य**[10]–पूजा करके; **सिद्धिम्**[12]–सिद्धि को; **विन्दति**[13]–प्राप्त करता है; **मानवः**[11]–मनुष्य ।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।।४७।।

श्रेयान्[5]–श्रेष्ठ है; **स्वधर्मः**[4]–अपना धर्म; **विगुणः**[3]–गुणों से शून्य, भली प्रकार आचरण न किया हुआ; **परधर्मात्**[2]–दूसरे के धर्म से; **स्वनुष्ठितात्**[1]–भली प्रकार किये हुए; **स्वभावनियतम्**[6]–स्वभाव के अनुसार निश्चित; **कर्म**[7]–कर्म को; **कुर्वन्**[8]–करता हुआ; **न**[10]–नहीं; **आप्नोति**[11]–प्राप्त करता है; **किल्बिषम्**[9]–पाप को ।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।।४८।।

सहजम्[4]–सहज, स्वभाव के अनुकूल; **कर्म**[5]–कर्म को; **कौन्तेय**[1]–हे अर्जुन; **सदोषम्**[2]–दोष-युक्त को; **अपि**[3]–भी; **न**[6]–नहीं; **त्यजेत्**[7]–छोड़े; **सर्वारम्भाः**[12]–सब कार्य; **हि**[8]–निश्चय से; **दोषेण**[13]–दोष से; **धूमेन**[9]–धूम से; **अग्निः**[10]–आग; **इव**[11]–समान; **आवृताः**[14]–ढके हुए होते हैं, युक्त होते हैं ।

जिसने सब कहीं से आसक्ति को खींच लिया है, जिसने मन को जीत लिया है, जिसने कामनाओं को त्याग दिया है, वह इस प्रकार के संन्यास द्वारा उस परम सिद्धि को पा लेता है जिसे 'नैष्कर्म्य'—'कर्म का न होना' कहा जा सकता है ॥४९॥

[परम-सिद्धि की प्राप्ति]

हे कौन्तेय ! 'सिद्धि' को प्राप्त कर लेने के बाद व्यक्ति 'ब्रह्म' को, जो ज्ञान की पराकाष्ठा है, कैसे प्राप्त कर लेता है—यह मुझ से संक्षेप में सुन ॥५०॥

विशुद्ध बुद्धि से युक्त होकर, अपने-आपको धैर्य—अर्थात् दृढ़ता—पूर्वक संयम में रखकर, शब्द आदि इन्द्रियों के विषयों को त्याग कर, राग और द्वेष को नष्ट करके ॥५१॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

असक्तबुद्धिः[2]–आसक्तिरहित बुद्धि वाला; **सर्वत्र**[1]–सब जगह; **जितात्मा**[4]–जितेन्द्रिय; **विगतस्पृहः**[3]–निरीह; **नैष्कर्म्यसिद्धिम्**[7]–निष्कर्मता-रूप सिद्धि (सफलता) को; **परमान्**[6]–श्रेष्ठ; **संन्यासेन**[5]–संन्यास से; **अधिगच्छति**[8]–प्राप्त कर लेता है ।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

सिद्धिम्[2]–सिद्धि को; **प्राप्तः**[3]–प्राप्त करने वाला; **यथा**[4]–जैसे; **ब्रह्म**[5]–ब्रह्म को; **तथा**[7]–वैसे, और; **आप्नोति**[6]–प्राप्त करता है; **निबोध**[15]–जान ले; **मे**[13]–मेरे से; **समासेन**[14]–संक्षेप से; **एव**[12]–ही; **कौन्तेय**[1]–हे अर्जुन; **निष्ठा**[11]–स्थिति, अवस्था; **ज्ञानस्य**[9]–ज्ञान की; **या**[8]–जो; **परा**[10]–श्रेष्ठ ।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥

बुद्ध्या[2]–बुद्धि से; **विशुद्धया**[1]–विशुद्ध; **युक्तः**[3]–संयुक्त होकर; **धृत्या**[4]–धैर्य से, धारणा से; **आत्मानम्**[5]–अपने-आपको, स्वयं को;

एकान्त-स्थान का सेवन करने वाला, अल्प आहार करने वाला, वाणी-शरीर-मन को वश में रखने वाला, सदा ध्यान तथा एकाग्रता में तत्पर, वैराग्य की शरण लिये हुए ।।५२।।

अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और धन-सम्पत्ति को छोड़ कर, ममता से रहित होकर जो शान्त स्वभाव का हो जाता है, वह—'ब्रह्मभूय'—अर्थात् ब्रह्म के साथ एकाकार होने के योग्य—हो जाता है ।।५३।।

'ब्रह्मभूत'—अर्थात् ब्रह्म के साथ एकाकार होने पर साधक 'प्रसन्नात्मा' हो जाता है, न उसे कोई शोक होता है,

---

नियम्य[6]–संयम में करके; **च**[7]–और; **शब्दादीन्**[8]–शब्द आदि; **विषयान्**[9]–विषयों को; **त्यक्त्वा**[10]–छोड़कर; **रागद्वेषौ**[12]–राग और द्वेष को; **व्युदस्य**[13]–नष्ट करके, दूर करके; **च**[11]–और ।

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ।।५२।।

विविक्तसेवी[1]–एकान्तवासी; **लघ्वाशी**[2]–अल्पाहारी; **यतवाक्-कायमानसः**[3]–वाणी, काया और मन को नियन्त्रण में रखने वाला; **ध्यानयोगपरः**[4]–ध्यान-योग में लगा हुआ; **नित्यम्**[5]–सदा; **वैराग्यम्**[6]–वैराग्य को; **समुपाश्रितः**[7]–आश्रय लेने वाला ।

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।५३।।

अहङ्कारम्[1]–अहङ्कार को; **बलम्**[2]–बल को; **दर्पम्**[3]–अभिमान को; **कामम्**[4]–काम को; **क्रोधम्**[5]–क्रोध को; **परिग्रहम्**[6]–अधिक सम्पत्ति के संग्रह को; **विमुच्य**[7]–छोड़कर; **निर्ममः**[8]–ममता से रहित; **शान्तः**[9]–शान्त; **ब्रह्मभूयाय**[10]–ब्रह्म के साथ एकाकार (ब्रह्म-सारूप्य) होने के लिये; **कल्पते**[11]–योग्य हो जाता है ।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।।५४।।

ब्रह्मभूतः[1]–ब्रह्म से एकाकार हुआ-हुआ; **प्रसन्नात्मा**[2]–निर्मल आत्मा वाला मनुष्य; **न**[3]–नहीं; **शोचति**[4]–शोक करता है; **न**[5]–

न उसे कोई इच्छा रहती है। ऐसा व्यक्ति सब प्राणियों को सम-दृष्टि से देखने लगता है और मेरी परम भक्ति को प्राप्त कर लेता है ॥५४॥

गीता में '**ब्रह्मभूयाय कल्पते**' (१४-२६) तथा '**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा**' (१८-५४) आदि स्थलों में '**ब्रह्मभूय**' तथा '**ब्रह्मभूत**' शब्द आये हैं। इनका वेदान्त की दृष्टि से जो अर्थ किया जाता है वह तो है ही, परन्तु इनका अर्थ यह भी है कि मानव का आत्मा जब विशाल होने के मार्ग पर चल पड़ता है, जब उसकी दृष्टि अपने तक ही सीमित नहीं रहती, वह संपूर्ण विश्व में आत्मानुभूति करने लगता है, जब उसका दृष्टिकोण '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' का हो जाता है तब वह 'ब्रह्मभूय' तथा 'ब्रह्मभूत' कहलाता है। यही मानव की ब्रह्मरूपता है।

(वह) भक्ति के द्वारा इस बात को जान लेता है कि मैं तात्त्विक रूप में कितना हूँ, और कौन हूँ। उसके अनन्तर मुझे तत्त्व रूप में जान लेने पर वह मुझ में प्रवेश पा जाता है ॥५५॥

मेरा आश्रय पाकर सदा सब प्रकार के कर्मों को करता हुआ वह मेरे प्रसाद से, मेरी कृपा से शाश्वत अमर पद को प्राप्त करता है ॥५६॥

नहीं; **कांक्षति**[6]–कामना करता है; **समः**[9]–समान; **सर्वेषु**[7]–सब ही में; **भूतेषु**[8]–प्राणियों में; **मद्भक्तिम्**[11]–मेरी भक्ति को; **लभते**[12]–प्राप्त करता है; **पराम्**[10]–परम, श्रेष्ठ।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

भक्त्या[1]–भक्ति से; **माम्**[2]–मुझको; **अभिजानाति**[4]–पहचानता है; **यावान्**[7]–जितना; **यः**[5]–जो; **च**[6]–और; **अस्मि**[8]–हूँ; **तत्त्वतः**[3]–यथार्थ रूप से; **ततः**[9]–फिर; **माम्**[10]–मुझको; **तत्त्वतः**[11]–पूर्णता से; **ज्ञात्वा**[12]–जान कर; **विशते**[14]–प्रवेश करता है; **तदनन्तरम्**[13]–उसके बाद।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

सर्वकर्माणि[2]–सब कर्मों को; **अपि**[5]–भी; **सदा**[3]–सदा; **कुर्वाणः**[4]–करता हुआ; **मद्व्यपाश्रयः**[1]–मेरा आश्रय लेनेवाला;

५४वें श्लोक में 'मद्भक्तिम्'—मेरी भक्ति का वर्णन है, ५५वें श्लोक में 'तत्त्वतो ज्ञात्वा'—तत्व से जानकर—का वर्णन है, ५६वें श्लोक में 'सर्वकर्माणि' —सब कर्मों का वर्णन है। इस प्रकार ५४, ५५, ५६—इन तीन श्लोकों में 'भक्ति'-'ज्ञान'-'कर्म' का उल्लेख है। गीताकार का इन श्लोकों में अभिप्राय यही है कि इन तीनों मार्गों से मनुष्य भगवान् को ही प्राप्त करता है, ये तीनों मार्ग ब्रह्म-प्राप्ति के ही साधन हैं।

[संकटों से पार होने का उपाय]

अपने चित्त से सब कर्मों को मुझे समर्पित करके, मुझे ही अपना लक्ष्य समझता हुआ, 'बुद्धि-योग' का आश्रय लेकर, तू 'मच्चित्त' हो जा, अपने चित्त को निरन्तर मुझ में लगाये रख ॥५७॥

'बुद्धि-योग' का वर्णन गीता के दूसरे अध्याय के ४९, ५०, ५१ श्लोकों में पहले भी आ चुका है। 'बुद्धि-योग का अर्थ है—'बुद्धि की वह क्रिया जो जीवात्मा को प्रकृति से हटाकर परमात्मा से युक्त करे'। 'बुद्धि' का काम विवेक करना है, एक-दूसरे का भेद जानना है। जब 'बुद्धि' से प्रकृति तथा परमात्मा में भेद जान लिया तब आत्मा को स्पष्ट हो जाता है कि उसका असली लक्ष्य प्रकृति न होकर परमात्मा ही हो सकता है, तब साधक का चित्त अपने-आप भगवान् की तरफ़ दौड़ता है।

'मच्चित्त' होकर—अपने चित्त को मुझ में लगा कर, तू मेरी कृपा से सब संकटों को पार कर जायगा; परन्तु

मत्प्रसादात्[6]–मेरी प्रसन्नता (कृपा) से; **अवाप्नोति**[10]–प्राप्त करता है; **शाश्वतम्**[7]–शाश्वत, नित्य; **पदम्**[9]–पद को; **अव्ययम्**[8]–नष्ट न होने वाले।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

चेतसा[2]–चित्त से; **सर्वकर्माणि**[1]–सब कर्मों को; **मयि**[3]–मुझ में ही; **संन्यस्य**[4]–समर्पित करके; **मत्परः**[5]–मुझ में लीन; **बुद्धि-योगम्**[6]–बुद्धि-योग को, ज्ञान-योग को; **उपाश्रित्य**[7]–आश्रय लेकर; **मच्चित्तः**[9]–मुझ में ही चित्त लगाने वाला; **सततम्**[8]–निरन्तर; **भव**[10]–हो, बन जा।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥५८॥

मच्चित्तः[2]–मुझमें दत्तचित्त; **सर्वदुर्गाणि**[4]–सब कष्टों (कठि-नाइयों) को; **मत्प्रसादात्**[3]–मेरी प्रसन्नता (कृपा) से; **तरिष्यसि**[5]–

अगर अहंकार के कारण मेरी बात नहीं सुनेगा, तो विनष्ट हो जायगा ।।५८।।

गीता में जगह-जगह कहा है कि 'कर्ता' तू नहीं है, प्रकृति है; परन्तु प्रकृति भी तो जड़ है, वह भी जो-कुछ करती है, भगवान् की प्रेरणा से करती है। भगवान् की प्रेरणा न हो तो प्रकृति जड़-की-जड़ पड़ी रहे। इसलिए जो-कुछ हो रहा है उसी के किये से हो रहा है। ऐसी अवस्था में 'अहंकार' का स्थान कहाँ है? हम परमात्मा के विधि-विधान में 'अहंकार' के कारण ही तो हस्तक्षेप करने की सोचते हैं, परन्तु उसकी शक्ति के सामने हमारी शक्ति का रूप नदी के भयंकर प्रवाह को रोकने के लिए तिनके की शक्ति के समान भी नहीं है। इसीलिए जीवन-यात्रा का एकमात्र उपाय 'अहंकार' का त्याग है, अपनी इच्छा-शक्ति को उसी के सम्मुख अर्पित कर देना है, अपने सब कर्मों को भगवान् की पूजा में पुष्प रूप में चढ़ा देना है, क्योंकि गीता के अनुसार हम भी जो कर्म करते हैं, उन्हें हम नहीं करते, वही करता है।

[प्रकृति का वेग]

यदि 'अहंकार' के वश में होकर तू यह मान रहा है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, तो तेरा यह निश्चय व्यर्थ है, 'प्रकृतिस्त्वाम् नियोक्ष्यति'—'प्रकृति', अर्थात् संसार का संचालन करने वाली सत्ता तुझ से जो काम लेना चाहती है उस काम में तुझे जबर्दस्ती जोत देगी या तेरी प्रकृति अर्थात् तेरा स्वभाव तुझे युद्ध करने के लिए विवश कर देगा ।।५९।।

पार कर लेगा; अथ[6]—और; **चेत्**[7]—यदि; **त्वम्**[1]—तू; **अहङ्कारात्**[8]—अहङ्कार के वशीभूत होकर; **न**[9]—नहीं; **श्रोष्यसि**[10]—सुनेगा; **विनंक्ष्यसि**[11]—नष्ट हो जायेगा।

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ।।५९।।

यत्[1]—जो; **अहङ्कारम्**[2]—अहङ्कार को; **आश्रित्य**[3]—आश्रय लेकर; **न**[6]—नहीं; **योत्स्ये**[7]—युद्ध करूँगा; **इति**[4]—इस प्रकार से; **मन्यसे**[5]—मानता है; **मिथ्या**[11]—मिथ्या, व्यर्थ; **एषः**[8]—यह; **व्यवसायः**[10]—निश्चय; **ते**[9]—तेरा; **प्रकृतिः**[12]—प्रकृति, स्वभाव; **त्वाम्**[13]—तुझको; **नियोक्ष्यति**[14]—कार्य में लगायेगी।

हे कौन्तेय ! तू मोहवश जिस काम को नहीं करना चाहता उसे तू अपने स्वभाव से उत्पन्न होने वाले कर्म से बंधा हुआ विवश होकर करेगा ।।६०।।

[ईश्वर की शरण का गुह्य उपदेश]

हे अर्जुन ! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय-प्रदेश में बैठा हुआ है और वह (वहाँ से) उनको इस प्रकार घुमा रहा है मानो वे किसी यन्त्र पर चढ़े हुए हों ।।६१।।

हमारे सामने दो ही मार्ग हैं। या तो हम अपने 'अहंकार' के पीछे चल कर अपनी इच्छा के पीछे चलें, या भगवान् की इच्छा के पीछे चलें। जब हम अपनी इच्छा को, अपने अहंकार को प्रधान मान कर चलते हैं तब जीवन को विवशता, संकट, चिंता, दुःख, असफलता आ घेरते हैं; जब अपने को उसकी महान् इच्छा के प्रति अर्पण कर देते हैं—'मेरी इच्छा नहीं तेरी इच्छा पूर्ण हो'—यह भाव ले आते हैं, तब विवशता नहीं रहती, संकट छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, जीवन में प्रसाद भर जाता है।

इस स्थल की व्याख्या करते हुए डा० राधाकृष्णन लिखते हैं : 'परमात्मा हमारा स्वेच्छापूर्वक सहयोग चाहता है जिससे सौन्दर्य और अच्छाई का प्रसव-पीड़ा के बिना प्रयासहीन रूप से जन्म हो जाय। जब हम परमात्मा के प्रकाश के लिए अपने अहंकार का त्याग कर देते हैं, उस प्रकाश के लिए पारदर्शक माध्यम बन जाते हैं, तब वह अपने कार्य के लिए हमारा उपयोग करता है।'

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ।।६०।।

स्वभावजेन[9]–स्वभाव से उत्पन्न; **कौन्तेय**[1]–हे अर्जुन; **निबद्धः**[12]–बँधा हुआ; **स्वेन**[10]–अपने; **कर्मणा**[11]–कर्म से; **कर्तुम्**[5]–करने के लिये; **न**[4]–नहीं; **इच्छसि**[6]–अभिलाषा करता है; **यत्**[2]–जिसको; **मोहात्**[3]–मूढता के कारण; **करिष्यसि**[14]–करेगा; **अवशः**[13]–विवश हुआ-हुआ; **अपि**[8]–भी; **तत्**[7]–उसको।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।।६१।।

ईश्वरः[4]–ईश्वर; **सर्वभूतानाम्**[7]–सब प्राणियों के; **हृद्देशे**[8]–हृदय-प्रदेश में; **अर्जुन**[1]–हे अर्जुन; **तिष्ठति**[9]–ठहरा हुआ है;

हे भारत ! तू 'सर्वभाव' से, अपने संपूर्ण अस्तित्व को समेट कर उसी की शरण में जा। उसकी कृपा से तुझे परम शान्ति और शाश्वत भाव प्राप्त होगा ॥६२॥

गीता के ६१-६२ श्लोक एक दृष्टि से बहुत महत्व के हैं। अबतक गीता में श्रीकृष्ण अपने को भगवान् कहते आये हैं, यह कहते आये हैं कि तू मुझ में चित्त लगा—'मच्चित्त:', मुझे ही नमस्कार कर—'**मां नमस्कुरु**'। इन श्लोकों में कहा है : ईश्वर ही विश्व का चक्र चला रहा है, उसी की शरण में जा—'**तमेव शरणम् गच्छ**'। इससे स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण अपने को भगवान् तो कहते ही हैं, परन्तु कहते हैं ऐसे जैसे भगवान् की जगह बैठ कर वे भगवान् की बात अपने मुँह से कह रहे हों, अन्यथा '**तम् एव**'—उसी को, 'तत्-प्रसादात्'—उसके प्रसाद से—इन शब्दों का अर्थ कोई नहीं रहता। 'मेरी शरण में आ' का तो समाधान यह कह कर हो सकता है कि श्रीकृष्ण भगवान् की बात अपने मुँह से कह रहे हैं, मगर श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं तो 'उसकी शरण जा'—इस वाक्य का कोई समाधान नहीं हो सकता।

यह ज्ञान मैंने तुझे बतलाया, ऐसा ज्ञान जो सब रहस्यों से बड़ा रहस्य है। इस ज्ञान पर पूरी तरह से विचार करके—'यथा इच्छसि तथा कुरु'—जैसा चाहे वैसा कर ॥६३॥

भ्रामयन्[6]–घुमाता हुआ; **सर्वभूतानि**[3]–सब प्राणियों को; **यन्त्रारूढानि**[2]–यन्त्र पर चढ़े हुओं को; **मायया**[5]–अपनी माया से।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

तम्[3]–उसकी; **एव**[4]–ही; **शरणम्**[5]–शरण को; **गच्छ**[6]–जा, पहुँच; **सर्वभावेन**[2]–सर्वभाव से, सर्वात्मना; **भारत**[1]–हे अर्जुन; **तत्प्रसादात्**[7]–उसकी प्रसन्नता या कृपा से; **पराम्**[8]–श्रेष्ठ, परम; **शान्तिम्**[9]–शान्ति को; **स्थानं**[11]–स्थिति को, पद को; **प्राप्स्यसि**[12]–प्राप्त करेगा; **शाश्वतम्**[10]–सदा रहने वाले, नित्य।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

इति[1]–इस प्रकार का; **ते**[6]–तुझको; **ज्ञानम्**[4]–ज्ञान; **आख्यातम्**[7]–कहा है; **गुह्यात्**[2]–रहस्य से; **गुह्यतरम्**[3]–अधिक रहस्य; **मया**[5]–मैंने; **विमृश्य**[10]–विचार कर; **एतत्**[8]–यह, इसको; **अशेषेण**[9]–

अब तू मेरे परम वचन को फिर सुन ले—यह गुह्य, गुह्यतर, गुह्यतम वचन है। क्योंकि तू मेरा परम प्रिय है इसलिए मैं तुझे बतलाऊँगा कि तेरे लिए क्या हितकर है ।।६४।।

अपने को मुझ में लगा, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन कर, मुझे नमस्कार कर, ऐसा करने से तू मुझ तक पहुँच जायगा। क्योंकि तू मेरा प्रिय है इसलिए मैं तुझे सचमुच इस बात का वचन देता हूँ ।।६५।।

अगर श्रीकृष्ण सचमुच अपने को भगवान् ही मानते थे तो अर्जुन के सामने खड़े होकर क्यों कहने लगे कि तू मुझ तक पहुँच जायगा। पहुँचा हुआ तो वह था ही, पास ही तो खड़ा था। अगर श्रीकृष्ण भगवान् के नाम से यह सब-कुछ कह रहे थे, तब इस कथन में कोई आपत्ति नहीं उठती।

सब प्रकार से, पूर्णतया; **यथा**[11]—जैसा; **इच्छसि**[12]—चाहता है; **तथा**[13]—वैसा ही; **कुरु**[14]—कर।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ।।६४।।

सर्वगुह्यतमम्[1]—सब में गुह्यतम (रहस्यमय) को; **भयः**[5]—फिर; **शृणु**[6]—सुन; **मे**[2]—मेरे; **परमम्**[3]—श्रेष्ठ; **वचः**[4]—वचन को; **इष्टः**[9]—प्रिय; **असि**[10]—तू है; **मे**[7]—मेरा; **दृढ़म्**[8]—निश्चय से; **इति**[12]—ऐसे; **ततः**[11]—उस कारण से; **वक्ष्यामि**[15]—कहूँगा; **ते**[13]—तेरे; **हितम्**[14]—कल्याण को।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।।६५।।

मन्मनाः[1]—मुझ में लगाये हुए मन वाला; **भव**[2]—हो; **मद्भक्तः**[3]—मेरा भक्त; **मद्याजी**[4]—मेरा ही यजन करने वाला; **माम्**[5]—मुझको ही; **नमस्कुरु**[6]—नमस्कार कर; **माम्**[7]—मुझको; **एव**[8]—ही; **एष्यसि**[9]—प्राप्त करेगा; **सत्यम्**[11]—सच ही; **ते**[10]—तुझसे; **प्रतिजाने**[12]—प्रतिज्ञा करता हूँ, विश्वास दिलाता हूँ। **प्रियः**[14]—प्रिय; **असि**[15]—तू है; **मे**[13]—मेरा।

सब धर्मों को छोड़ कर तू केवल मेरी शरण में आ जा। तू दुःखी मत हो, मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा ॥६६॥

जब मनुष्य कर्म में से अपने कर्ता होने के भाव को निकाल देता है, भगवान् की शरण में आ जाता है, भगवान् का ही उपकरण बन जाता है, तब उसका सब किया भगवान् का किया हो जाता है। इस श्लोक की व्याख्या में डा० राधाकृष्णन लिखते हैं : जब हम उसकी ओर अभिमुख हो जाते हैं और उसे अपने संपूर्ण अस्तित्व में रम जाने देते हैं, तब हमारी ज़िम्मेदारी समाप्त हो जाती है। यह उस भगवान् के प्रति निश्शेष आत्म-समर्पण है जो हमें संभाल लेता है और हमें हमारी अधिकतम संभावित पूर्णता तक ऊपर उठाता जाता है।

इस गुह्य उपदेश को किसी ऐसे व्यक्ति को कभी मत देना जो तपस्वी नहीं है, भक्त नहीं है, जिसमें सेवा-भाव नहीं है, या जो मेरी निन्दा करता रहता है ॥६७॥

जो इस परम गुह्य रहस्य को मेरे भक्तों को सिखाता

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

सर्वधर्मान्[1]–सब धर्मों को; **परित्यज्य**[2]–छोड़कर; **माम्**[4]–मुझ को; **एकम्**[3]–एक ही को; **शरणम्**[5]–शरण में; **व्रज**[6]–जा; **अहम्**[7]–मैं; **त्वा**[8]–तुझ को; **सर्वपापेभ्यः**[9]–सब पापों से; **मोक्षयिष्यामि**[10]–छुड़ा दूंगा; **मा**[11]–मत; **शुचः**[12]–शोक कर।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

इदम्[2]–यह; **ते**[1]–तेरा, तुझे; **न**[4]–नहीं; **अतपस्काय**[5]–जो तपस्वी न हो उसको; **न**[8]–नहीं; **अभक्ताय**[9]–अभक्त को; **कदाचन**[3]–कदापि; **न**[11]–नहीं; **च**[7]–और; **अशुश्रूषवे**[12]–जिसमें सेवा करने की इच्छा नहीं है; **वाच्यम्**[6]–बताना चाहिये; **न**[16]–नहीं; **च**[10]–और; **माम्**[14]–मुझ को; **यः**[13]–जो; **अभ्यसूयति**[15]–निन्दा करता है।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

यः[1]–जो; **इमम्**[6]–इसको; **परमम्**[7]–परम, श्रेष्ठ; **गुह्यम्**[8]–रहस्य को; **मद्भक्तेषु**[9]–मेरे भक्तों में; **अभिधास्यति**[10]–कहेगा;

है और मेरे प्रति परम भक्ति करता है वह अवश्य ही मुझ तक पहुँच जायगा—इसमें सन्देह नहीं ॥६८॥

(ऐसे व्यक्ति की अपेक्षा) मनुष्यों में मेरा कोई अधिक प्रिय कार्य करने वाला नहीं है और इस संसार में उसकी अपेक्षा मुझे कोई अधिक प्रिय होने वाला नहीं है ॥६९॥

और जो व्यक्ति हमारे इस संवाद का अध्ययन करेगा, मेरी यह धारणा है कि वह मेरी ज्ञानयज्ञ द्वारा पूजा कर रहा होगा ॥७०॥

और जो व्यक्ति श्रद्धा से युक्त होकर, ईर्ष्या से रहित

भक्तिम्[4]–भक्ति को; **मयि**[2]–मुझमें; **पराम्**[3]–श्रेष्ठ; **कृत्वा**[5]–करके; **माम्**[12]–मुझ को; **एव**[13]–ही; **एष्यति**[14]–प्राप्त करेगा; **असंशयः**[11]–बिना किसी भी संशय के, संशय से शून्य।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

न[2]–नहीं; **च**[1]–और; **तस्मात्**[3]–उससे; **मनुष्येषु**[6]–मनुष्यों में; **कश्चित्**[7]–कोई भी; **मे**[4]–मेरा; **प्रियकृत्तमः**[5]–अधिक प्रिय कार्य करने वाला; **भविता**[15]–होगा; **न**[9]–नहीं; **च**[8]–और; **मे**[11]–मेरा; **तस्माद्**[10]–उससे; **अन्यः**[13]–दूसरा; **प्रियतरः**[12]–अधिक प्रिय; **भुवि**[14]–इस संसार में।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

अध्येष्यते[7]–अध्ययन करेगा; **च**[1]–और; **यः**[2]–जो; **इमम्**[3]–इस; **धर्म्यम्**[4]–धर्म-संगत; **संवादम्**[6]–संवाद को; **आवयोः**[5]–हम दोनों के; **ज्ञानयज्ञेन**[10]–ज्ञान के यज्ञ से; **तेन**[8]–उससे; **अहम्**[9]–मैं; **इष्टः**[11]–पूजित, प्रिय; **स्याम्**[12]–हूँगा; **इति**[13]–इस प्रकार से; **मे**[14]–मेरी; **मतिः**[15]–धारणा है।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

श्रद्धावान्[3]–श्रद्धा वाला; **अनसूयः**[5]–असूया रहित; **च**[4]–और; **शृणुयात्**[6]–सुने, सुनता है; **अपि**[7]–भी; **यः**[1]–जो; **नरः**[2]–मनुष्य;

होकर इस संवाद को सुनेगा, वह भी मुक्त होकर पुण्य कर्म वाले लोग जहाँ बसते हैं, उन शुभ लोकों को पावेगा ।।७१।।

हे पार्थ ! क्या तूने एकाग्रचित्त होकर यह सब-कुछ सुना ? हे धनंजय ! अज्ञान के कारण जो तुझे 'मोह' उत्पन्न हो गया था--आसक्ति उत्पन्न हो गई थी--वह 'मोह' दूर हुआ ? ।।७२।।

[उपसंहार]

अर्जुन ने कहा : हे अच्युत ! तेरी कृपा से मेरा 'मोह' नष्ट हो गया है, मुझे (स्व-धर्म की) स्मृति फिर प्राप्त हो गई है । अब मेरे संदेह दूर हो गये हैं, मैं स्थिर-चित्त हो गया हूँ, मैं तेरे कहे के अनुसार कर्म करूँगा ।।७३।।

सः[8]–वह; **अपि**[9]–भी; **मुक्तः**[10]–मुक्त हुआ; **शुभान्**[12]–शुभ; **लोकान्**[13]–लोकों को; **प्राप्नुयात्**[14]–प्राप्त करे; **पुण्यकर्मणाम्**[11]–पुण्य कर्म वालों के ।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ।।७२।।

कच्चित्[2]–क्या; **एतत्**[3]–यह; **श्रुतम्**[7]–सुना है; **पार्थ**[1]–हे अर्जुन; **त्वया**[4]–तूने; **एकाग्रेण**[5]–एकाग्र; **चेतसा**[6]–चित्त से; **कच्चित्**[9]–क्या; **अज्ञानसंमोहः**[11]–अज्ञान के कारण उत्पन्न मोह; **प्रनष्टः**[12]–दूर हो गया है; **ते**[10]–तेरा; **धनञ्जय**[8]–हे अर्जुन ।

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ।।७३।।

नष्टः[4]–नष्ट हो गया है; **मोहः**[3]–मोहः; **स्मृतिः**[6]–स्मृति; **लब्धा**[7]–प्राप्त की; **त्वत्प्रसादात्**[2]–तेरी कृपा से; **मया**[5]–मैंने; **अच्युत**[1]–हे कृष्ण; **स्थितः**[9]–स्थिर; **अस्मि**[10]–हूँ; **गतसन्देहः**[8]–मेरा सन्देह दूर हो गया हैं; **करिष्ये**[13]–करूँगा; **वचनम्**[12]–कथन; **तव**[11]–तेरा ।

संजय ने कहा : **इस प्रकार मैंने वासुदेव और महान् आत्मा पार्थ के बीच हुए इस रोमांचकारी अद्भुत संवाद को सुना ।।७४।।**

व्यास जी की कृपा से मैंने स्वयं इस परम गुह्य रहस्यमय योग को साक्षात् स्वयं योगेश्वर कृष्ण द्वारा उपदेश दिये जाते हुए सुना ।।७५।।

हे राजन् ! मैं कृष्ण तथा अर्जुन के बीच हुए इस अद्भुत और पुनीत संवाद को बार-बार स्मरण करके आनन्द से पुलकित हो उठता हूँ ।।७६।।

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ।।७४।।

इति[1]–इस प्रकार; **अहम्**[2]–मैं, मैंने; **वासुदेवस्य**[3]–श्री कृष्ण के; **पार्थस्य**[6]–अर्जुन के; **च**[4]–और; **महात्मनः**[5]–महात्मा के; **संवादम्**[10]–संवाद को; **इमम्**[7]–इस; **अश्रौषम्**[11]–सुना; **अद्भुतम्**[8]–अद्भुत, आश्चर्यजनक; **रोमहर्षणम्**[9]–रोमाञ्चित कर देनेवाले ।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात् साक्षात्कथयतः स्वयम् ।।७५।।

व्यासप्रसादात्[1]–व्यास की कृपा से; **श्रुतवान्**[12]–सुना है; **एतत्**[3]–यह; **गुह्यम्**[5]–रहस्यमय; **अहम्**[2]–मैंने; **परम्**[4]–श्रेष्ठ; **योगम्**[6]–योग को; **योगेश्वरात्**[10]–योगेश्वर से; **कृष्णात्**[11]–कृष्ण से; **साक्षात्**[7]–साक्षात्-सामने, प्रत्यक्ष; **कथयतः**[8]–कहते हुए; **स्वयम्**[9]–अपने आप ।

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ।।७६।।

राजन्[1]–हे राजन्; **संस्मृत्य**[8]–स्मरण करके; **संस्मृत्य**[9]–स्मरण करके; **संवादम्**[7]–संवाद को; **इमम्**[3]–इस; **अद्भुतम्**[6]–अद्भुत; **केशवार्जुनयोः**[2]–कृष्ण और अर्जुन के; **पुण्यम्**[4]–पुण्य; **हृष्यामि**[11]–प्रसन्न होता हूँ; **च**[5]–और; **मुहुर्मुहुः**[10]–बार-बार ।

और हे राजन् ! हरि के उस अद्भुत रूप को स्मरण कर-करके मुझे महान् विस्मय होता है, और मैं बार-बार पुलकित हो उठता हूँ ।।७७।।

जहाँ योगेश्वर कृष्ण है और जहाँ धनुर्धारी अर्जुन है, वहीं श्री होगी, वहीं विजय होगी, वहीं विभूति होगी, वहीं अचल नैतिकता होगी——यह मेरी निश्चित धारणा है ।।७८।।

श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् में जिस ब्रह्मविद्या का वर्णन किया गया है, उसके अन्तर्गत जो योग-शास्त्र है, उसमें जो कृष्णार्जुन-संवाद है, उस संवाद का 'मोक्ष-संन्यास-योग'-नामक अष्टादश अध्याय समाप्त हुआ ।*

उपसंहार

१. **गीता के निष्काम-कर्म का ऐतिहासिक विवेचन**——श्री तिलक ने ज्ञान-मार्ग तथा कर्म-मार्ग का ऐतिहासिक विवेचन किया है । उनका कहना है कि ज्ञान-मार्ग तथा कर्म-मार्ग के पारस्परिक संबंध तथा इनके विकास के हमारे इतिहास में चार क्रम दिखलाई देते हैं जो निम्न हैं :

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ।।७७।।

तत्[3]–उसको; **च**[7]–और; **संस्मृत्य**[8]–स्मरण करके; **संस्मृत्य**[9]–स्मरण करके; **रूपम्**[6]–रूप को; **अति**[4]–अधिक; **अद्भुतम्**[5]–अद्भुत; **हरेः**[2]–श्रीकृष्ण के; **विस्मयः**[12]–आश्चर्य; **मे**[10]–मुझ को; **महान्**[11]–महान्; **राजन्**[1]–हे राजन्; **हृष्यामि**[15]–हर्षित हो रहा हूँ; **च**[13]–और; **पुनःपुनः**[14]–बार-बार ।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ।।७८।।

यत्र[1]–जहाँ; **योगेश्वरः**[2]–योगेश्वर; **कृष्णः**[3]–कृष्ण हैं; **यत्र**[4]–जहाँ; **पार्थः**[6]–अर्जुन; **धनुर्धरः**[5]–धनुष को धारण करने वाला; **तत्र**[7]–वहाँ; **श्रीः**[8]–लक्ष्मी; **विजयः**[9]–विजय; **भूतिः**[10]–ऐश्वर्य; **ध्रुवा**[11]–निश्चल; **नीतिः**[12]–नीति; **मतिः**[14]–धारणा, विचार, निश्चय; **मम**[13]–मेरी ।

*** इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्ष-संन्यास-योगो नामाष्टादशोऽध्यायः ।**

(क) **मीमांसकों का कर्मकांड**—भारतीय इतिहास में सब से पहला समय वह था जब यज्ञ-याग आदि स्वर्ग प्राप्ति के साधक कर्मकांड का प्रारंभ हुआ। वैदिक-काल तथा ब्राह्मण-ग्रंथ-काल में कर्मकांड ही प्रधान था।

(ख) **उपनिषदों का ज्ञानकांड**—उसके बाद वह समय आया जब कर्म को सदोष कहा जाने लगा। इस युग के प्रतीक उपनिषद् हैं जिनमें कर्मकांड को **'प्लवाः ह्येते अदृढाः यज्ञरूपाः'** कहा गया—यज्ञ क्या हैं, संसार-रूपी समुद्र को पार करने के लिए बेभरोसे के बेड़े हैं। इस काल में कर्म की जगह संन्यास का महत्व बढ़ गया।

(ग) **स्मृतियों की आश्रम-व्यवस्था**—स्मृतियों ने एक नवीन विचार को जन्म दिया। इनका कहना था कि ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ में तो कर्म प्रधान जीवन बिताना चाहिए, परन्तु जब ज्ञान की आँख खुल जाये, तब वानप्रस्थ तथा संन्यास में प्रवेश कर जाना चाहिए, त्याग का जीवन बिताना चाहिए। स्मृतियों ने आश्रम-व्यवस्था में कर्म तथा ज्ञान को मिला दिया।

(घ) **गीता का निष्काम कर्म**—गीता का पन्थ इन तीनों पन्थों से भिन्न है। गीता का कहना है कि कर्म तथा ज्ञान में विरोध दीखता है। मीमांसक कहते हैं—कर्म ही करना चाहिए, गृहस्थ ही सर्वोत्तम है; उपनिषत्कार कहते हैं—कर्म नहीं करना चाहिए, संन्यास ही सर्वोत्तम है; स्मृतियाँ कहती हैं—कर्म पहले दो आश्रमों में करना चाहिये, ज्ञान पिछले दो आश्रमों में कर लेना चाहिए। ये तीनों कर्म तथा ज्ञान को परस्पर विरोधी मानते हैं, परन्तु गीता कर्म तथा ज्ञान में परस्पर विरोध नहीं मानती। कर्म इसीलिए तो ज्ञान से हीन है क्योंकि कर्म बन्धन का कारण है, ज्ञान बन्धन का कारण नहीं है। कर्म बन्धन का कारण क्यों है ? इसीलिए तो यह बन्धन का कारण है क्योंकि हमें कर्म के फल की आशा रहती है, कर्म में आसक्ति होती है। अगर कर्म में से फल की आशा को छोड़ दिया जाय, कर्म में से आसक्ति को निकाल दिया जाय, तो कर्म निष्काम हो जाता है, और इसका ज्ञान से कोई भेद नहीं रहता। संन्यासी का कर्म और निष्काम-कर्मी कर्म-योगी का कर्म एक स्तर पर आ जाते हैं। इसलिए श्री तिलक के अनुसार गीता गृहस्थ में रहते हुए, सब प्रकार के कर्म करते हुए, निष्कामता का उपदेश देती है, ऐसा गृहस्थ संन्यास ही है, गीता की परिभाषा में इस प्रकार के गृहस्थ तथा संन्यास में कोई भेद नहीं है।

२. **फलाशा के त्याग का दार्शनिक आधार**—कर्म करें और फल की आशा न करें—यह कुछ असंगत-सी बात है। इसका गीता ने दार्शनिक विवेचन किया है। गीता का यह अभिप्राय नहीं है कि कर्म करके फल होगा ही नहीं—यह सोचने लगें। फल क्यों नहीं होगा ? कर्म किया है तो फल तो होगा ही। गीता का कहना है कि कर्म के फल होने में एक कारण नहीं होता, अनेक कारण होते हैं। यदि बीज बोया जाय, पानी न मिले, खाद न हो, पत्थर-कंकड़ आ जायें, तो बीज फूटता नहीं, फूटता है तो अनेक कारणों के संयोग से फूटता है। इन्हीं को गीता

ने अधिष्ठान, कर्ता, करण, क्रियाएँ और दैव कहा है। जब किसी काम के अनेक कारण हैं तब मैं अपने को ही कारण क्यों समझूं और फल न मिले तो दुःखी क्यों होऊँ। श्री तिलक का कहना है कि गीता के फलाशा का त्याग तथा आसक्ति का त्याग—इन दोनों का यही अर्थ है। आसक्ति—अर्थात्, व्यर्थ का अपनी इच्छानुसार फल का आग्रह !

२. इस अध्याय पर श्री अरविंद के विचार

अठारहवें अध्याय में संन्यास, त्याग, स्वभाव, धर्म, चातुर्वर्ण्य, गुह्य-रहस्य आदि का वर्णन आया है। इन सब के सम्बन्ध में श्री अरविंद के विचार क्या हैं—इनका उल्लेख हम यहाँ करेंगे।

(क) **'संन्यास' तथा 'त्याग' में भेद**—गीताकार के समय में 'संन्यास' की विशेष चर्चा थी। यह कहा जाता था कि 'संन्यास' के द्वारा ही मुक्ति मिल सकती है। 'संन्यास' का अर्थ था—कर्म का 'त्याग'। गीता की दृष्टि क्योंकि समन्वय की दृष्टि है इसलिए गीता ने कर्म को सर्वथा छोड़ देने वाले, जड़वत् हो जाने वाले 'संन्यास' का सीधे तौर पर खंडन तो नहीं किया, परन्तु 'संन्यास' के आधार 'त्याग' को पकड़ कर उसका अर्थ ही बदल दिया। गीता ने कहा कि 'संन्यास' का अभिप्राय 'त्याग' ही तो है, परन्तु किसका 'त्याग'? 'संन्यास' का अर्थ सिर्फ़ बाह्य-कर्म का त्याग समझा जाता है, परन्तु सिर्फ़ बाह्य-कर्म का त्याग त्याग नहीं है। वाह्य-कर्म तो करना ही पड़ता है, बहुत नहीं तो जीवन-यापन के लिए थोड़ा-बहुत तो अवश्य ही करना होता है। वास्तविक त्याग 'कर्म' का त्याग नहीं, वह तो हो ही नहीं सकता, वास्तविक त्याग 'कामना' का त्याग है। 'कामना' के दो रूप हैं—'फलाशा' और 'आसक्ति'। 'कामना' के त्याग का अर्थ है—काम तो करना, क्योंकि काम न करना तो हो ही नहीं सकता, परन्तु 'फल' की आशा तथा कर्म में 'आसक्ति'—इन दोनों को त्याग देना। 'फल' की आशा तथा फल में 'आसक्ति' को त्यागने का गीता ने दार्शनिक आधार बतलाया है। गीता का कहना है कि कर्ता मैं हूँ ही नहीं, कर्ता प्रकृति है, प्रकृति के गुण हैं। जब कर्ता मैं नहीं हूँ तब मैं फल की आशा क्यों करूँ, और मैं कर्म में आसक्त क्यों होऊँ? इसी को गीता ने 'अहंकार' का त्याग कहा है। 'अहं' का वर्जन ही त्याग है। जब 'अहं' का वर्जन हो जाता है तब हम जो करते हैं वह हम नहीं करते, परन्तु हमारे लिए **'नियतं कर्म'**—विश्वात्मा, ने हमारे विकास के अनुसार हमारे लिए जो कर्म नियत किया है—वह करते हैं, उसी के लिए गीता ने कहा है: **'नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते'**—हमारे लिए विश्वात्मा ने जो कर्म नियत कर दिया है वह छोड़ा ही नहीं जा सकता। प्रचलित अर्थों में कर्मों को छोड़ देने का अर्थ 'संन्यास' कहा जाता था, गीता ने उसके मुकाबिले में 'त्याग' के एक दूसरे विचार को खड़ा कर दिया जिसका अर्थ था—कर्म करना, कर्मों को नहीं छोड़ना, परन्तु हमारे लिए विश्वात्मा द्वारा नियत कर्मों को करते हुए 'अहंता' को, 'अहंकार' को छोड़ देना। इस प्रकार गीता ने

'संन्यास' तथा 'त्याग' को एक नया अर्थ दे दिया और इस नये अर्थ के लिए 'संन्यास'-शब्द का प्रयोग करने के स्थान में 'त्याग'-शब्द का प्रयोग किया। त्याग का सात्विक रूप कर्म से पीछे हटना नहीं बल्कि व्यक्तिगत स्वार्थ तथा उसके मूल में रहने वाले 'अहं-तत्व' से पीछे हटना है। इसी विचारधारा को आधार बनाकर इस अध्याय में ३९वें श्लोक तक सत्व-रज-तम का विश्लेषण किया गया है। एक तरफ़ भगवान् 'कर्ता' हैं, दूसरी तरफ़ मैं 'कर्ता' हूँ—भगवान् को 'कर्ता' मान कर जगत् में व्यवहार करने की जो दृष्टि है वह सात्विक है, मैं को 'कर्ता' मानकर जगत् में व्यवहार करने की जो दृष्टि है वह राजसिक तथा तामसिक है। एक दृष्टि में अनासक्ति है, नैष्कर्म्य है; दूसरी दृष्टि में आसक्ति है, सकामता है।

(ख) **स्वभाव तथा स्वधर्म**—गीता ने आध्यात्मिक-विकास के कुछ व्यापक सिद्धान्त बतलाये हैं। ये सिद्धान्त सब मनुष्यों पर समान रूप से, बिना भेद-भाव के लागू होते हैं। उदाहरणार्थ, आसक्ति को छोड़ देना, निरहंकार होना आदि नियम सब के लिए समान रूप से कहे गये हैं, परन्तु इस समानरूपता के भीतर हम वैविध्य का भी एक शाश्वत नियम पाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति सार्वभौम नियमों के अनुसार ही नहीं, अपितु अपनी प्रकृति के अनुसार भी कर्म करता है, वह अपनी परिस्थितियों, प्रवृत्तियों, सामर्थ्य के नियम के अनुसार विभिन्न कर्तव्यों को करता तथा विभिन्न दिशा का अनुसरण करता है। अध्यात्म-साधना में इस वैविध्य को, प्रकृति के इस व्यक्तिगत नियम को क्या स्थान देना चाहिए ?

इस प्रश्न के उत्तर में गीता ने 'स्वभाव'-'स्वधर्म'-'नियत कर्म' तथा 'चातुर्वर्ण्य'—इन शब्दों का प्रयोग किया है। गीता का कहना है कि जिसका जो स्वभाव है वही उसका धर्म है, वही उसका कर्म है, वही उसे करना चाहिए, स्वधर्म में ही मर जाना श्रेय है, नियत कर्म ही करना उचित है, चातुर्वर्ण्य की सृष्टि भगवान् ने की है।

इन सब कथनों का मूलतः अभिप्राय एक ही है। इन कथनों का अभिप्राय यह है कि मनुष्य की जो अन्तरतम सत्ता है, उसका जो निज तत्व है, निज स्वरूप है, वह मूलतः तो एक ही है। उसी को गीता ने **'ममैवांशः सनातनः'** कहा है। श्री अरविंद का कहना है कि गीता के अनुसार 'जीव' परमात्मा का ही अंश है। इस दृष्टि से सब एक हैं, परन्तु आरोहण की दृष्टि से, परमात्मा में निवास करने की इस ऊर्ध्व-यात्रा में प्रत्येक जीव अपने भिन्न-भिन्न स्तरों पर विद्यमान है। जो जीव विकास के क्षेत्र में जिस स्तर पर विद्यमान है उस स्तर का क्रिया-कलाप उसका 'स्व-भाव' है, उस स्तर पर उसे जो-कुछ करना चाहिए वह उसका 'स्व-धर्म' है, उस स्तर के विपरीत किसी प्रकार का भी काम करना, भले ही वह सहज हो, 'पर-धर्म' है, उस स्तर के अनुकूल काम करना ही उसका 'नियत-कर्म' है, उस स्तर की जो मानसिक वृत्ति उसमें प्रबल हो रही हो वही उसका 'वर्ण' है।

श्री अरविंद का जीव के आरोहण से तथा आरोहण के भिन्न-भिन्न स्तरों से, भिन्न-भिन्न स्वभाव, स्वधर्म, नियत कर्म, वर्ण से क्या अभिप्राय है ? हम पहले

लिख आये हैं कि श्री अरविंद ब्रह्म की दो प्रकृतियाँ मानते हैं—'परा' (Higher) तथा 'अपरा' (Lower)। जीव, जो ब्रह्म का ही अंश है, अपरा से परा की तरफ़ आरोहण कर रहा है। इस आरोहण का नाम ही साधना है। इस आरोहण की प्रक्रिया में कोई किसी स्तर पर पहुँचा होता है, कोई किसी स्तर पर। जो जिस स्तर पर होता है उसके लिए उसी स्तर का कर्म करना उसका स्वभाव है, स्वधर्म है, नियत कर्म है, वर्ण है।

(ग) **श्री अरविंद तथा चातुर्वर्ण्य**—श्री अरविंद कहते हैं कि 'स्वधर्म' में मर जाने का कई लोग यह अर्थ करने लगते हैं कि गीता जन्म की वर्ण-व्यवस्था को मानती है। ऐसी बात नहीं है। गीता ने ब्राह्मण का लक्षण करते हुए कहा है : शम, दम, शुचिता, सहिष्णुता, ऋजुता, ज्ञान, आस्तिकता ब्राह्मण के लक्षण हैं; क्षत्रिय का लक्षण करते हुए कहा है : युद्ध, शासन-कार्य, राजनीति, नेतृत्व क्षत्रिय के लक्षण हैं। ये सब बातें बाहर की नहीं, आत्मा के भीतर की हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि गीता अन्दर की प्रवृत्ति को वर्ण मानती है, बाह्य वस्तु को नहीं। वर्णों की परिभाषा करते हुए गीता आभ्यंतर स्वभाव पर—शम, दम, शौर्य पर—बल देती है, जन्म पर नहीं। गीता का कहना इतना ही है कि 'अन्तर' के अनुकूल 'बाह्य' होना चाहिए, 'स्वधर्म' के अनुकूल 'कर्म' होना चाहिए। वर्ण-व्यवस्था का अभिप्राय आन्तरिक स्वभाव को बाह्य रूप में ढालना है, आन्तर और बाह्य का समन्वय ही वर्ण-व्यवस्था है। प्रचलित वर्ण-व्यवस्था बाहर पर बल देती है, अन्दर को छोड़ देती है, इसलिए प्रचलित वर्ण-व्यवस्था गीता की वर्ण-व्यवस्था नहीं है।

श्री अरविंद कहते हैं कि इसके स्थान पर कि हमारा 'अन्तर' अभिव्यक्त होकर 'बाह्य' का रूप धारण करे, हम चारों तरफ़ से एक षड्यंत्र के शिकार हो रहे हैं। हमारा परिवार, समाज, राष्ट्र और हमारे चारों ओर की सभी शक्तियों ने हमारी आत्मा पर अपना जुआ लादना शुरू किया हुआ है। हम मशीन के पुर्ज़े बने हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि हम वही नहीं होते जो-कुछ कि हम अपने को बनाते हैं, बल्कि वह होते हैं जो-कुछ कि हमें बनाया जाता है। परन्तु जितना ही हम ज्ञान में अग्रसर होंगे, उतना ही अधिक गीता के नियम का सत्य हम पर प्रकट होगा। बालक की शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे कि उसकी प्रकृति के अन्दर जो-कुछ भी सर्व-श्रेष्ठ, अत्यन्त शक्तिशाली, अत्यन्त आभ्यंतरिक और प्राणवंत है, वह बाहर प्रकट हो जाय, मनुष्य के कर्म और विकास को जिस ढाँचे में ढालना चाहिए वह उसके स्वभावगत गुण और सामर्थ्य का ही ढाँचा है। मनुष्य की उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति, देन और क्षमताओं द्वारा ही उसके कर्तव्य-कर्म निर्धारित होने चाहियें। जो व्यक्ति इस प्रकार स्वतंत्र रूप से विकसित होगा, वह एक जीवंत आत्मा और मन होगा। यह नियम केवल व्यक्ति के संबंध में ही नहीं बल्कि समाज, राष्ट्र एवं समष्टिगत मानव के संबंध में भी सत्य है। समाज तथा राष्ट्र को भी दूसरे समाजों और राष्ट्रों की नकल करने के स्थान में अपने आन्तरिक सत्य को, अपनी संस्कृति को, अपनी आत्मा को विकसित करना ही उनका विकास है।

जीवन में मनुष्य का कर्म एवं कर्तव्य कोई भी क्यों न हो, यदि वह कर्म अन्दर मे निर्धारित हो, अथवा यदि मनुष्य को ऐसा अवसर प्रदान किया जाय जिससे वह उस कर्म को अपनी प्रकृति की आत्म-अभिव्यक्ति बना सके, तो वह उसे विकास तथा महत्तर आंतरिक पूर्णता का साधन बना सकता है। और, उसका स्वाभाविक कर्म कोई भी क्यों न हो, यदि वह उसे आन्तरिक-भावना के साथ संपन्न करे, यदि वह अपने कर्म को अपने अन्तरस्थ भगवान् के उपयोग में लगा सके, तो वह कर्म भगवान् के पास ही ले जाता है, ऐसे कर्मों में कोई छोटा नहीं, कोई बड़ा नहीं होता।

(घ) **गीता का परम रहस्य**—इस अध्याय में श्रीकृष्ण ने यह फिर दोहराया है कि मैं तुझे परम रहस्य, गुह्य-गुह्यतर-गुह्यतम बात बतला रहा हूँ। वह गुह्यतम रहस्य क्या है? श्री अरविंद के अनुसार गीता हमारे अन्दर दो प्रकृतियाँ—मानो दो विभिन्न आत्माएं हों—ऐसा मानती है। हमारा एक आत्मा आत्म-ज्ञान से रहित है, यह हमारी प्रकृति की निम्नतर सत्ता है जो अहंकार, मन, इन्द्रियों के रूप में विषयों से बँधी हुई प्रकृति है। हमारे भीतर एक दूसरी विशुद्ध आत्म-सत्ता भी विद्यमान है जो स्वयं-प्रकाश है, परन्तु हमारे साधारण मन में हमारे लिए अनुभव-गम्य नहीं। समय-समय पर हमें अपने अंदर विद्यमान इस महत्तर सत्ता की झाँकियाँ तो मिलती हैं, परन्तु हम सचेतन रूप से उसके अंदर अवस्थित नहीं हैं, हम उसकी ज्योति, शांति और असीम गरिमा में निवास नहीं करते। इनमें से पहली वस्तु त्रिगुणात्मिका प्रकृति है, दूसरी प्रकृति निर्व्यक्तिक सत्ता है जो अहंभाव से मुक्त है, अचल है, अक्षर है, नित्य निर्विकार रहती हुई यह विश्व के कर्म को देखती है, उसे अनुमति प्रदान करती है परन्तु उसमें भाग नहीं लेती। इन दोनों के अलावा ब्रह्म का 'अंश' जीव एक तीसरा तत्व है जो त्रिगुणात्मिका प्रकृति में अपने को झोंके रखता है। जब यह अपने को त्रिगुणात्मिका प्रकृति में झोंके रहता है तब यह गीता का क्षर, सचल या परिवर्तनशील पुरुष होता है, वही जीव जब पुनः शुद्ध, नीरव आत्मा और मूल अध्यात्म सत्ता में समाहृत हो जाता है तो वह गीता का अक्षर, अचल, अपरिवर्तनशील पुरुष हो जाता है।

तो गीता का परम रहस्य क्या है? त्रिगुणात्मिका प्रकृति के निबिड़ बंधन से बाहर निकलना, आध्यात्मिक-स्वातंत्र्य लाभ करना, अज्ञान से जो-कुछ भी संबंध रखता है उसे पूर्ण रूप से बाहर निकाल फेंकना, अन्तरात्मा को शुद्ध अध्यात्म-सत्ता में रूपांतरित कर देना! इसी का नाम गीता ने '**ब्रह्मभूय**' कहा है। गीता का कहना है कि इस प्रकार त्रिगुणात्मिका प्रकृति से विच्छेद हम क्योंकर कर सकते हैं? इसे यह देखकर कर सकते हैं कि हम जिस अध्यात्म-सत्ता के अंश हैं, वह अध्यात्म-सत्ता जीव की तरह इस शरीर में तथा जगत् में रहती हुई अपने को शरीर से तथा जगत् से अलग रखे हुए है। उसी अध्यात्म-सत्ता का ही तो जीव एक अंश है, इसलिए इसका मूल स्वभाव अपने को शरीर से अलग रखने का ही है। 'अहंकार' के कारण यह अध्यात्म-सत्ता को छोड़कर त्रिगुणात्मिका प्रकृति से बँधा हुआ है। '**ब्रह्मभूय**' का

अर्थ है—प्रकृति के बंधन से छुटकारा पा जाना। परन्तु गीता कहती है कि '**ब्रह्म-भूय**' ही हमारा पूर्ण लक्ष्य नहीं है, यह तो केवल और भी महत्तर तथा अधिक अद्भुत भगवद्भाव—'**मद्भाव**'—के लिए एक विशाल आधार है।

३. इस अध्याय पर श्री विनोबा के विचार

श्री विनोबा का कहना है कि गीता ने कर्मों को तीन भागों में बाँटा है—सात्विक, राजसिक, तामसिक। गीता का सिद्धान्त है कि 'फलाशा' का त्याग तथा 'आसक्ति' का त्याग—इन दो प्रकार के त्याग करने से कर्म बन्ध करने वाला नहीं रहता। 'फलाशा' के त्याग से राजसिक तथा तामसिक कर्म अपने-आप छँट जाते हैं, आसक्ति के त्याग से सात्विक कर्म का, मनुष्य को कर्म के साथ बाँध देने वाला दोष, छूट जाता है। यह कैसे ?

(क) **फलाशा के त्याग से राजसिक तथा तामसिक कर्मों का त्याग**—जब यह कहा कि फलाशा को त्याग कर कर्म करो तब हिंसात्मक कर्म, असत्यमय कर्म, चोरी जैसे कर्म जो राजसिक हैं, तामसिक भी हैं, वे अपने-आप ढह जाते हैं, कटकर गिर जाते हैं क्योंकि वे फल की आशा के बिना किये ही नहीं जा सकते। फल-त्याग की कसौटी पर कसते ही ये कर्म हवा में उड़ जाते हैं। पहले यह देखना चाहिए कि जो कर्म मैं करना चाहता हूँ वह फल की लेश मात्र भी अपेक्षा न करते हुए करना संभव है क्या ? अगर फल की आशा के बिना वह कर्म करना संभव नहीं है, तो वह कर्म करने योग्य ही नहीं है, त्याज्य है।

(ख) **अनासक्ति से सात्विक कर्म करना उचित है**—क्योंकि राजसिक तथा तामसिक कर्मों में फल की आशा रहती है, और फल की आशा को ही गीता के अनुसार हमने त्यागना है, इसलिए राजसिक तथा तामसिक कार्य तो त्याज्य कोटि में आ गये। बाकी रहे सात्विक कर्म, ऐसे कर्म जो फल की आशा के बिना किये जा सकते हैं। गीता का कहना है कि इन कर्मों को मनुष्य करे, परन्तु उन्हें करता हुआ भी अहंकार की भावना को बीच में न आने दे। अहंकार की भावना बीच में आयी तो आसक्ति अपने-आप आ पहुँचेगी। जो मेरा है, जिसमें 'मैं' घुसा बैठा है, उसी के साथ तो आसक्ति होती है। कर्म करते हुए इस 'अहं' को, 'मैं' को निकाल फेंकना अनासक्ति-योग है, यही सात्विक कर्म है।

गीता का उपदेश फलाशा को त्याग कर, आसक्ति को त्याग कर कर्म करना है—यही निष्काम-कर्म है, यही कर्म-योग है, यही गीता का सार है।